'A Critical Study of the Historical & Cultural data in the Vikramankadeva-Charitam of Bilhana'

'विक्रमाङ्कदेवचरित के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों का आलोचनात्मक अध्ययन'

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी. फिल् उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्ता:—गोविन्द नारायण मालवीय
एम० ए० (प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व और संस्कृत) एल० टी०

निर्देशक:—डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल
एम० ए०, डी० फिल्, साहित्याचार्य
रीडर संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

आमुख

प्रस्तुत प्रबन्ध में बिल्हण विरचित विक्रमाङ्कदेवचरित महाकाव्य के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अध्ययन की पूर्णता के हेतु अध्येतव्य ग्रन्थ के कवि और उसकी रचनाओं तथा इतिहास परम्परा का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। अत: स्थूलत: यह प्रबन्ध पृष्ठभूमि, पूर्वार्ध (ऐतिहासिक) और उत्तरार्ध (सांस्कृतिक) शीर्षकों में विभक्त किया गया है। मैंने प्रस्तुत अध्ययन को यथाशक्य दुराग्रहों से मुक्त रखा है। बिल्हण स्वकालीन विवरणों के प्रस्तुतीकरण में स्वयं प्रमाण है। विरोधी साक्ष्यों के अभाव में हमें उनके विवरणों को असत्य घोषित करने का कोई अधिकार नहीं। अत: विक्रमाङ्कदेवचरित के तथ्यों पर अविश्वास किये बिना तात्कालिक अन्य साक्ष्यों--साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं, अन्य ग्रन्थ तथा अभिलेख आदि पुरातात्त्विक उपलब्धियों-- के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उनका आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

पूज्य पिता जी प्रो० बद्रीनाथ मालवीय के साहचर्य से मुझे आरम्भ से ही प्राचीन इतिहास एवं संस्कृत साहित्य के प्रति अनुराग हो गया था। अत: श्रद्धेय डा० लाल रमायदुपाल सिंह ने प्रस्तुत विषय पर शोध करने का आदेश एवं समुचित निर्देश देकर मुझे अनुगृहीत किया। परमपूज्य डा० राजबली पाण्डेय (कुलपति जबलपुर विश्वविद्यालय), प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी और डा० विश्वम्भर-शरण पाठक (क्रमश: सागर एवं गोरखपुर विश्व विद्यालयों के प्राचीन इतिहास विभाग के अध्यक्ष) के सत्परामर्श से अनेक ग्रन्थियों को सुलझाने में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है। गुरुवर्य डा० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल जी के विद्वता, प्रोत्साहन एवं वात्सल्य मिश्रित निर्देशन में यह कार्य अपनी परिणति को प्राप्त हुआ है। यह गुरुजी की कृपा ही थी, जो मैं समय आदि की प्रतीक्षा किये बिना ही समस्या समाधान के लिए उनके चरणों में जा पहुँचता था। अत: उक्त समस्त विद्वान् गुरुजनों के प्रति श्रद्धावनत मैं कृतज्ञताज्ञापन करने में भी संकुचित हो रहा

हूँ । इसके अतिरिक्त पाण्डुलिपि की स्वच्छ प्रतिलिपि तथा टाइप का संशोधन करने में सहधर्मिणी श्रीमती सरोजनी मालवीय बी०ए० तथा कु० उषा सेठ एम०ए०, एल०टी० से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई । अत: वे भी अविस्मरणीय हैं । अन्तत: उन समस्त विद्वानों, जिनकी कृतियों ने मेरा मार्गदर्शन किया है और शुभेच्छुओं, जिनकी शुभ कामनाएं मेरा संबल रहीं, के प्रति मैं हृदय से आभारी हूं। अनुसन्धान-प्रिय गुरुवर्य डा० आद्याप्रसाद मिश्र जी (प्रोफेसर व अध्यक्ष संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्व विद्यालय) से सतत प्रोत्साहन एवं सुविधाओं को प्राप्त कर हम अनुसन्धित्सु छात्र उनके चिर कृतज्ञ रहेंगे ।

टंकण की अपूर्णता के कारण पंचम वर्ण के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग किया गया है और संयुक्ताक्षर भी विकृत हो गये हैं । मुझे विश्वास है कि सुधीजन मुझे इस विवशता के लिए क्षमा कर देंगे ।

महाकवि बिल्हण की अभिलाषा थी कि सहृदय उनकी कृति के प्रति न्याय करें —

उल्लेखलीला-घटनापटूनां सचेतसां वैकटिकोपमानाम् ।
विचारशाणोपलपट्टिकासु मत्सूक्तिरत्नान्यतिथीभवन्तु ।।

विक्रमा० १।१६

अपनी सफलता के आकलनार्थ यह प्रबन्ध प्रस्तुत है । अस्तु !

गोविन्द नारायण मालवीय
— गोविन्दनारायण मालवीय

रक्षाबन्धन,
विक्रमाब्द, २०२६।

संकेत-सारिणी

१.	अ० हि० ड०	अर्ली हिस्ट्री आफ डेक्कन (याजदानी)
२.	इंडि०एन्टी० या इं०ए०	—इंडियन एन्टीक्वैरी
३.	एपी०इंडि० या० एइं०	— एपीग्राफिआ इंडिया
४.	एपी०क० या० ए०क०	— एपीग्राफिआ कर्णाटिका
५.	का०इं०इं०	कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडीकेरम्
६.	ज०अ०ओरि०सो०	जर्नल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी
७.	ज०आ०हि०रि०सो०	जर्नल आफ आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी
८.	ज०बा०ब्रा०रा०ए०सो०	— जर्नल आफ बाम्बे ब्रान्च आफ रायल एशियाटिक सोसायटी
९.	डा०क०डि०	—डाइनैस्टीज़ आफ कनारीज़ डिस्ट्रिक्ट्स
१०.	डा०हि०ना०इं०	डायनैस्टिक हिस्ट्री आफ नादर्न इंडिया
११.	बा०क०इं०	बाम्बे कर्णाटिक इंस्क्रिप्शन्स
१२.	व्यूलर रिपोर्ट	रिपोर्ट आफ ए टूअर इन सर्च आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट मेड इन कश्मीर राजपूताना एण्ड सैन्ट्र इण्डिया—ज०बा० ब्रा०रा०ए०सो० का अतिरिक्त नम्बर १८७७ ई०
१३.	रि०मैसूर एपी०	एनुअल रिपोर्ट आफ मैसूर एपीग्रैफी
१४.	रि०सा०एपी०	,, ,, साउथ इंडियन एपीग्रैफी
१५.	विक्रमा०	विक्रमांकदेव चरित
१६.	विक्रमांका०	विक्रमांकाभ्युदय
१७.	सा०इं०इं०	साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शन्स
१८.	हि०इं०सा०इं०	हिस्टारिकल इंस्क्रिप्शन्स आफ साउथ इंडिया
१९.	हैद०आर्कि०सी०	हैदराबाद आर्केलाजिकल सीरीज़

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

अध्याय-१ — १-४०

बिल्हण का आत्मपरिचय और रचनाएं- संस्कृत महाकाव्यों में कवि के आत्मवृत्त, बिल्हण की जन्मभूमि और उनके वंशज-मुक्तिकलश, ज्येष्ठ कलश, इष्टराम आनन्द, बिल्हण-जन्म और शिक्षा-दीक्षा, देशाटन, यात्रा अवधि का क्रमिक विभाजन, बिल्हण का व्यक्तित्व, रचनाएं- चौरपंचाशिका, कर्णसुन्दरी, विक्रमांकदेवचरित।

अध्याय-२ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि — ४१-८६

इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति, इतिहास परम्परा का विकास, इतिहास की परिभाषा, इतिहास की साहित्यिक परम्परा और साहित्यशास्त्र, चरित काव्यों की विशेषताएं, बिल्हण के पूर्ववर्ती प्रमुख चरित काव्य और विक्रमांकदेवचरित के साथ उनकी तुलना -हर्षचरित, गउडवहो और नवसाहसांकचरित, कश्मीर की इतिहास परम्परा और विक्रमांकदेवचरित।

अध्याय -३ पूर्वार्ध (ऐतिहासिक)

उत्तरी भारत का इतिहास। — ९०-१२६

(क) कश्मीर-अनन्तदेव, पट्टमहिषी सुभटा, अनन्त का चचेरा भाई क्षितिपति, अनन्त का पुत्र, कलश, कलश के तीन पुत्र। — ९०-११०

(ख) कान्यकुब्ज — १११-११३

(ग) अयोध्या — ११४-११७

(घ) नैपाल — ११८-११९

(ङ) गौड — ११९-१२१

(च) कामरूप — १२१-१२२

(छ) कार्लनर चक्रकोट — १२३-१२५

(ज) कालंजर — १२५-१३०

पृ० सं०

(झ) गोपाचल या ग्वालियर १३०-१३४
(ञ) दूब कुण्ड १३४-१४०
(ट) डाहल १४०-१५६
(ठ) मालवा १६०-१८४
(ड) गुजरात १८४-१८६

अध्याय-४ दक्षिणी भारत का इतिहास १८७-२३७

(क) मान्यखेट के राष्ट्रकूट १८७-१८८
(ख) करहाट के शिलाहार १८८-१९२
(ग) आलुपेन्द्र १९२-१९५
(घ) कोंकण के कदम्ब १९५-१९९
(ङ०) केरल १९९-२००
(च) पाण्ड्य २०१-२०६
(छ) सिंहल आदि द्वीप २०६-२०९
(ज) कांची गांगकुंडपुर के चोल २१०-२२१
(झ) वेंगि २२१-२३७

अध्याय-५ (क) चालुक्यों का इतिहास और विक्रमांकदेव का जीवन चरित। चालुक्यों की उत्पत्ति जाति , तैलप, सत्याश्रय,जयसिंहदेव,आहव-मल्ल । २३८-३१२

विक्रमांकदेव के पूर्वज— आहवमल्ल अथवा त्रैलोक्य मल्ल,प्रारम्भिक विजयें,चोल मालवा,डाहल कर्ण, कोंकण, चोल, कल्याण नगर का पुनर्निर्माण । २३८-२६५

(ख) राज्याभिषेक के पूर्व विक्रमांकदेव—सोमेश्वर, विक्रमांकदेव,और जयसिंह,का जन्म और विक्रम की प्रारंभिक शिक्षा दीक्षा,युवराज सोमेश्वर,सेनापति विक्रम,विजयें—चोल युद्ध, मालवराज की प्रतिष्ठा,गौड विजय,कामरूप विजय,चोल युद्ध,केरल,पाण्ड्य और सिंहल, चोल,वेंगि और चक्रकोट,दिग्विजय प्रशस्ति का मूल्यांकन,आहवमल्ल की मृत्यु । २६५-२८७

(ग) सोमेश्वर और विक्रम के पारस्परिक सम्बन्ध तथा विक्रम का राज्यारोहण, स्वयंवर में चन्द्रलेखा के साथ परिणय, विक्रम और सिंह-देव, चोल युद्ध । २८७-३१२

(घ) निष्कर्ष

उत्तरार्ध (सांस्कृतिक)

अध्याय-६ भूगोल ३१३-३६४

(क) उत्तरापथ-राज्य,नगर,नदियां,झील, पर्वत,जलवायु और उत्पाद । ३१३-३३६

(ख) पूर्वदेश-गौड, कामरूप राज्य औरउत्पाद ३३६-३४०

(ग) पश्चाद्देश-मालवा,सौराष्ट्र राज्य । ३४०-३४२

(घ) दक्षिणापथ-राज्य, नगर,अटवी, पर्वत, नदियां ३४२-३५८

(ङ०) मध्यदेश-राज्य,नगर,तीर्थ, वन, पर्वत नदी । ३५६ -३६४

अध्याय-७ समाज ३६५-४५४

(क) सामाजिक जीवन ३६५-४०८

वर्ण और जातियां-ब्राह्मण,क्षत्रिय, कायस्थ,अन्य जातियां
संस्कार
विवाह
आश्रम
नारी
खाद्य और पेय
वस्त्राभूषण और प्रसाधन
आमोद-प्रमोद
सामान्य विश्वास

(ख) आर्थिक जीवन ४०८-४२१

उपज
व्यवसाय
भारतीय राज्यों के परस्पर सांस्कृतिक सम्बन्ध और अन्तर्देशीय व्यापार
विदेशी व्यापार
आर्थिक जीवन

(ग) प्रशासनिक जीवन ४२१-४५४

राजतंत्र
राज्यांग
राज्याभिषेक,राजपुत्र की शिक्षा
विरुद
राजधर्म
सामन्त

पृ०सं०

सेना
रणक्षेत्र में सेना व विश्वास

अध्याय—८ बौद्धिक एवं कलात्मक जीवन ४५५–५३५

(क) शिक्षा ४५५-४६२
शिक्षण संस्थाएं—अग्रहार, ब्रह्मपुरी और मठ
(ख) शिक्षा का स्वरूप—ब्राह्मण, राजपुत्र और नारी शिक्षा ।

(ख) साहित्य ४६३-४८४

बिल्हण और काव्य के प्रयोजन,
बिल्हण और काव्य के हेतु
बिल्हण और काव्य सम्प्रदाय
बिल्हण की भाषा शैली ।

(ग) धर्म और तीर्थ ४८५-५१०
धार्मिक जीवन—वैष्णव, शैव, बौद्ध और नागपूजा
तीर्थ—पवित्र स्थल, नदियाँ

(घ) कला ५११-५३५

संगीत—गीत, वाद्य, नृत्य ।
स्थापत्य—पुर, प्रासाद, मन्दिर, मठ और अन्य भवन ।

उपसंहार ।

पृष्ठभूमि

अध्याय- १

विल्हण का आत्मपरिचय और रचनाएं

संस्कृत महाकाव्यों में कवि के आत्मवृत्त—

साहित्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के लक्षणों के अन्तर्गत कवि के आत्म-वृत्त के लिए कोई प्रावधान नहीं किया है। संस्कृत के समस्त महाकाव्यों में, उनके लेखकों के सम्बन्ध में छुटपुट और स्वल्प सूचनाएं उपलब्ध होती हैं। यह शैली परवर्ती काव्यों में भी दृष्टिगत होती है। आत्म-वृत्त के वर्णन की दो शैलियां प्रयोग में थीं — पहली में कवि महाकाव्य के वर्ण्य-वस्तु में यत्र तत्र आत्म संबंधी सूचनाएं प्रस्तुत कर देता था — जैसे बुद्धचरित, भट्टिकाव्य (रावण बध) शिशुपालवध आदि महाकाव्यों में। दूसरी शैली में विस्तार के साथ आत्मवृत्त, महाकाव्य के अन्त में प्रस्तुत किया गया। इस कोटि के संस्कृत महाकाव्यों में विक्रमाङ्कदेव-चरित का नाम सबसे ऊपर रखा जा सकता है।

प्रश्न यह है कि जब महाकाव्य के लक्षणों में इस वृत्त के लिए कहीं स्थान नहीं था, तो विल्हण को इसकी प्रेरणा कहां से मिली?

सर्वप्रथम काव्यों में विस्तार के साथ आत्मवृत्त उपस्थित करने का श्रेय बाण को है। बाण कृत हर्षचरित को ही लक्ष्य में रख कर रुद्रट[1] ने 'आत्मवृत्त' देना 'आख्यायिका' का एक अङ्ग मान लिया। सम्भवत: हर्षचरित से प्रभावित होकर ही विल्हण ने भी विस्तार के साथ आत्मवृत्त दिया है। अध्ययन की सुविधा के लिए हर्षचरित में वर्णित बाण के आत्मवृत्त का परिचय आवश्यक है।

' ब्रह्मलोक में ब्रह्मा पद्मासन पर बैठे हैं और विद्वद् गोष्ठी चल रही है। इसी बीच दुर्वासा और मन्दपाल मुनि में परस्पर विवाद हो गया। क्रोधोन्माद में दुर्वासा सामवेद का त्रुटिपूर्ण गान करने लगे। ब्रह्मा ने विवाद को टालना चाहा पर सरस्वती हँसी नहीं रोक सकीं। उसे हँसता देखकर दुर्वासा ने शाप दिया कि

---

१. अथ तेन कथैव यथा रचनीयाख्यायिकापि यत्नेन।
निजवंशं स्वं चास्यामभिदध्यान्न त्वगर्थेन ।। — काव्यालंकार, १६।२६

सरस्वती मर्त्यलोक में जन्म ले । ब्रह्मा ने दुर्वासा को समझा कर सरस्वती को आश्वासन दिया कि यह शाप पुत्र दर्शन पर्यन्त रहेगा । दूसरे दिन प्रात: सरस्वती ने सावित्री के साथ मर्त्यलोक में जाकर शोण नदी के बायें तट पर आश्रम बनाया । एक दिन अंगरक्षक तथा सैनिक से घिरा हुआ एक युवक आता दिखाई पड़ा । पास आकर मालती ने परिचय दिया - 'यह युवक च्यवन ऋषि और सुकन्या का पुत्र है । हमें च्यावन वन जाना है ।' दूसरे दिन मालती घोड़े पर आई और सरस्वती को दधीच का प्रेम-संदेश सुनाया । उत्तर में सरस्वती का आश्वासन पाकर मालती दधीच को वहां ले आई और दोनों एक वर्ष तक साथ साथ रहे । समय पर पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सारस्वत रखा गया और शाप की अवधि समाप्त होते ही सरस्वती ब्रह्मलोक को लौट गई । एक ब्राह्मणी अक्षमाला को दधीच ने सारस्वत के लालन-पालन के लिए नियुक्त किया । अक्षमाला के पुत्र वत्स से सारस्वत को स्नेह हो गया और उसके प्रेमवश सारस्वत ने प्रीतिकूट नामक निवास की स्थापना की ।[१]

इसी वत्स से वात्स्यायन वंश प्रारम्भ हुआ । फिर क्रम से उसी वंश में कुबेर, कुबेर से अच्युत, ईशान, हर, पाशुपत हुए । पाशुपत से अर्थपति और उससे भृगु, हंस, शुचि, कवि, महिदत्त, धर्म, जातवेदस्, चित्रभानु, त्र्यक्ष, अहिदत्त और विश्वरूप उत्पन्न हुए । चित्रभानु की पत्नी राजदेवी से बाण का जन्म हुआ । बचपन में मां दिवंगत हो गई और उपनयन आदि संस्कार करके चौदह वर्ष के बाण

---

१. तलवकार ब्राह्मण में सरस्वती नदी पर निवास करने वाले च्यवन ऋषि के पुत्र दधीच का उल्लेख है । महाभारत में एक कथा उल्लिखित है - ' एक बार जब दधीच ऋषि सरस्वती नदी के तट पर कठोर तप कर रहे थे, तो इन्द्र ने अलंबुषा नामक अप्सरा को उनका तप-भंग करने के लिए भेजा । काम-विह्वल ऋषि ने सरस्वती से सारस्वत नामक पुत्र को जन्म दिया । ' (शल्य पर्वत् सारस्वत पर्वन्) दाक्षिणात्य संस्करण, अ० ४६ और उत्तरी सं० अ० ५१व ५२) बाण ने इस आख्यान में कुछ परिवर्तन कर दिया है - १. ऋषि क्षत्रिय कुमार और नदी देवी के रूप में परिवर्तित हो गई । २. सरस्वती ने दुर्वासा के शाप से पृथ्वी पर जन्म लिया और ब्रह्मा ने पुत्र के कमल मुख-दर्शन पर्यन्त शाप से मुक्ति का आश्वासन दिया । बाणकृत यह परिवर्तन पुरुरवा और उर्वशी के आख्यान से पर्याप्त साम्य रखता है - पाठक, पृ० ३८-३९ ।

को छोड़ कर पिता भी स्वर्ग सिधारे । कुछ दिन बाण शोक-संतप्त रहे । यौवनारम्भ की अवस्था में वे घुमक्कड़ हो गये और देश देशान्तर में घूमते रहे । जिससे उनके ज्ञान और अनुभव की वृद्धि हुई । दीर्घ काल के बाद वे घर लौटे और कुटुम्बियों के साथ सुखपूर्वक रहने लगे । गर्मी के दिनों में एक दिन वे भोजन आदि से निवृत्त होकर निश्चिन्त बैठे हुए थे, हर्षदेव के भाई कृष्ण के दूत मेखलक ने उन्हें एक पत्र दिया और कहा कि 'हर्ष' से लोगों ने तुम्हारे विरुद्ध बहुत कुछ कहा है पर मैंने सम्राट को अनुकूल कर लिया है अतः शीघ्र जाओ । दूसरे ही दिन मेखलक के साथ बाण ने प्रस्थान किया । अवसर पाकर मेखलक ने बाण का हर्ष से परिचय कराया । पहले हर्ष ने घृणा से मुख घुमा लिया, पर बाण के स्पष्टीकरण करने पर और कुछ दिन साथ रहने पर बाण को अपना कृपापात्र बना लिया । शरद्काल में घर लौटने पर चचेरे भाइयों के अनुरोध पर बाण ने हर्षचरित सुनाना प्रारम्भ किया ।'[१] इस प्रकार दो उच्छ्वासों में वर्णित बाण का आत्मवृत्त हर्षचरित की कथा को अपना अंग बनाये हुए है ।

आत्मकथा की लेखन शैली में विल्हण बाण के ऋणी हैं । विल्हण ने भी हर्षचरित की भाँति ही अपने पूर्वजों को गोपादित्य द्वारा मध्यदेश से काश्मीर में लाकर खोनमुख अग्रहार में उनका बसाया जाना, खोनमुष की स्थिति, पूर्वजों का विवरण, पूर्वजों से चली आती हुई अध्ययन-अध्यापन तथा कर्मकाण्ड की परम्परा के उल्लेख के बाद अपनी शिक्षा दीक्षा और देशान्तर-यात्रा एवं फिर घर लौटने की इच्छा का विवरण दिया है ।

परन्तु विल्हण ने आत्मकथा को मौलिक ढंग से उपस्थित किया है । हर्षचरित बाण की आत्मकथा का एक अंश है, परन्तु बिल्हण ने उसे विक्रमाङ्कदेव के चरित से नितान्त पृथक् और ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में उपस्थित किया है,। बिल्हण का यह प्रयोग संस्कृत महाकाव्यों के इतिहास में सर्वथा अनूठा है ।

बाण ने अपने वंश की उत्पत्ति में दधीच – सरस्वती आख्यान को जोड़ कर सारस्वत के मित्र वत्स से वात्स्यायन वंश का प्रादुर्भाव वर्णित किया है

---

१. हर्षचरित प्रारम्भ से, उच्छ्वास ३, पृ० ४१

पर विल्हण ने सीधी ऐतिहासिक शैली से काश्मीर के साहित्यिक वातावरण के चित्रण के साथ साथ वहां के समकालीन राजवंश का प्रामाणिक परिचय भी दिया है और अपने पूर्वजों का वृत्त केवल काश्मीर नरेश गोपादित्य द्वारा खोनमुष में बसाये जाने की घटना से प्रारम्भ किया है। वे अपने वंश के मूल पुरुष के सम्बन्ध में बिल्कुल मौन हैं।

यद्यपि 'गउड वहो' महाराष्ट्री प्राकृत में लिखित काव्य में भी कवि ने ग्रन्थ के अन्त में आत्मवृत्त दिया है,[१] जिसमें आत्मप्रशंसा मात्र है, विल्हण की शैली से नितान्त भिन्न है।

बिल्हण की जन्मभूमि और उनके वंशज —

आत्मकथा की पृष्ठभूमि में विल्हण ने काश्मीर के श्रेष्ठ नगर प्रवरपुर की बौद्धिक समृद्धि, मन्दिर, मठों के उल्लेख के साथ समकालीन लोहरवंशी राजा अनन्तदेव के परिवार, विजय और अन्य कृत्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात् वह अपनी जन्मभूमि की स्थिति का उल्लेख करता है —

' उस प्रवरपुर से डेढ़ गव्यूति अर्थात् तीन कोस की दूरी पर 'जयवन' नामक उन्नत चैत्यस्थान है, जहां सर्पराज तक्षक का पवित्रजल वाला जलकुण्ड धर्म नाश करने के लिए उद्यत कलि के लिए चक्र (अस्त्र) का कार्य करता था।

' जिस (जयवन) के समीप समस्त गुण रूपी सम्पत्ति के द्वारा लब्ध-कीर्ति खोनमुष[२] नामक ग्राम है। गजों के निबन्धन के स्तम्भ रूपी यज्ञ-स्तम्भों से..

---

१. गउड वहो, श्लोक ७६७ से ८०४ द्वितीय संस्करण, पूना, १६२७ ·

२. व्यूलर ने 'खोनमुख' पाठ स्वीकार किया था (विक्रमा० १८।७१), परन्तु १८७७ ई० के अपने यात्रा विवरण में उन्होंने 'खोनमुष' पाठ ही शुद्ध माना है — 'राजतरंगिणी में उद्धृत खुनमुष या खोनमुष नाम वस्तुतः प्राचीन रूप रहा होगा। विक्रमाङ्कदेवचरित के खोनमुख में 'ख' जैन प्रतिलिपिक, जो 'ष' और 'ख' को एक-सा उच्चरित करते हैं, के कारण आ गया है। दूसरी ओर 'उ' के लिए 'ओ' के कारण विल्हण स्वयं थे क्योंकि आधुनिक काश्मीरियों की भांति वे भी इन दोनों ध्वनियों के उच्चारण की भिन्नता समझने में कम समर्थ थे। इस प्रकार 'उष' से ओह होकर वर्तमान खुनमोह हो गया और अन्य कश्मीरी शब्दों में भी मिलता है। जैसे रामुष' रामोह में परिवर्तित हो गया।'
— व्यूलर रिपोर्ट, ज०बा०ब्रा०रा०ए०सो०(अति०अंक) १८७७, पृ० ६७

युक्त होने के कारण मानों जहाँ तहाँ बंध जाने के भय से कल्कप हाथी प्रवेश नहीं करता था।

" भगवान शङ्कर के श्वसुर (हिमालय) के अंक में क्रीडा करने के कारण रमणीय (हिमालय के घर स्थित) अद्भुतकारी कथाओं का आदि स्रोत , उस (खोनमुख) के सम्बन्ध में क्या कहें (की कहाँ तक प्रशंसा करें) ? जिसका एक भाग स्वभाव सुन्दर कुंकुम को उत्पन्न करता है और दूसरा रस भरे सरयू (तट पर उत्पन्न) के गन्ने के खण्डों के सदृश पाण्डु (शुभ्र) द्राक्षा को उत्पन्न करता है।[१]

प्रवरपुर (वर्तमान श्रीनगर) से डेढ़ गव्यूति की दूरी पर जयवन (वर्तमान जैवन) नामक उन्नत चैत्य स्थान है। उस स्थान पर सर्पराज तक्षक का पवित्र जलकुण्ड है। उसके पास ही खोनमुष है। वर्तमान जैवन के पश्चिमी भाग से श्रीनगर तीन कोस की दूरी पर ही अवस्थित है, जैसा बिल्हण ने उल्लेख किया है। आज भी उसके निकट तक्षक सरोवर है, जो खुनमोह की ओर जैवन के अन्तिम घर के पश्चात् स्थित है और वहाँ तक्षक नाग की पूजा होती है।[२] ब्यूलर के खुनमोह की यात्रा की थी और उसका विवरण इस प्रकार दिया है, जो बिल्हण के विवरण की यथार्थता की पुष्टि करता है - "खुनमोह ६ या ७ मील की दूरी पर श्रीनगर के उत्तर-पश्चिम में स्थित है। सड़क वितस्ता के दाहिने तट से पन्द्रेथन होती हुई फिर नदी को छोड़कर उत्तर पूर्व की ओर जैवन को चली जाती है। जैवन से खुनमोह लगभग एक मील की दूरी पर है , इस मध्यवर्ती भाग की भूमि कुछ ऊंची है। खुनमोह के दो भाग हैं, जिनमें क्रमशः ५० और ६० घर हैं और पहाड़ी की ढाल पर पहला दूसरे के ऊपर अवस्थित है। निचला भाग उपरले भाग से पूर्व की ओर दो मील का कोण बनाता है जिसका एक छोर पन्द्रेथन के निकट वितस्ता तट का स्पर्श करता है, दूसरा नदी की ओर बढ़ता हुआ पाम्पुर के निकट तक जाता है। पहाड़ियों के उत्तरी भाग से, जो भस्मसार कहलाता है और ३०० फुट ऊंचा है , झरना निकलता है जो केवल अनुकूल वर्षों में ही बहता है। इसके पास कुछ सुन्दर चैनार वृक्ष हैं और इसके मुहाने पर एक चट्टान पर शारदा लिपि में संस्कृत का एक अभिलेख है, जिसमें उसकी प्रतिष्ठा सप्तर्षि संवत् ५१ में

---

१. विक्रमा० १८।७०-७२

२. ब्यूलर रिपोर्ट, पृ० ६, स्टायन, जि० १, पृ० ३६, टि-२२०

कही गयी है । लगभग १०० फीट ऊपर भुवनेश्वरी कुण्ड और वहाँ के पुजारी का घर है । उससे भी ऊपर शिखर के ऊपरी छोर के पास हर्षेश्वर तीर्थ है । ग्रीष्म ऋतु में पर्वत शृंखला से, खुनमोह के पूर्व की ओर एक लघु स्रोत प्रवाहित होता है , जिसमें ग्राम के छोटे कुण्डों से निकलने वाले दो स्रोत मिलते हैं । इन दोनों स्रोतों में पहला निचले खुनमोह के सामने बहता है और सोमनाग कहलाता है तथा उपरले खुनमोह में बहने वाला दूसरा स्रोत दामोदरनाग कहलाता है । खुनमोह में ~~बहने वाला~~ ब्राह्मण और मुसलमान रहते हैं । ब्राह्मणों में संस्कृत का स्वल्प ज्ञान अवशिष्ट है । वे या तो व्यापारी हैं और फारसी जानते हैं अथवा हर्षेश्वर तीर्थ के यात्रियों का कृत्य सम्पादित करने वाले पुजारी हैं । खुनमोह के दोनों भागों में चैनार वृक्ष हैं । उपरले खुनमोह में प्राचीन मन्दिरों के अवशेष मिलते हैं और निचले खुनमोह के कुछ दक्षिण केसर की क्यारियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं ।'[१]

बिल्हण ने खोनमुष को शंकर के श्वसुर हिमालय के अंक में लीला करने के कारण रमणीय कह कर हिमालय के ढाल पर उसकी स्थिति बतायी है । दूसरे वह उसे 'अद्भुत कथाओं का आदि स्रोत' कहता है, जो सम्भवत: भुवनेश्वरी और हर्षेश्वर तीर्थों से सम्बद्ध कथाओं की ओर इंगित करता है । आज भी निचले खुनमोह के निकट केसर क्यारियों की स्थिति से स्पष्ट है कि निचले खुनमोह में केसर और उपरले खुनमोह में द्राक्षा के बगीचे थे । केसर और द्राक्षा दोनों ही कश्मीर की प्रसिद्ध उपज सदा से रही है ।

' वहाँ (खोनमुख में) कौशिक गोत्र को यशस्वी बनाने में कुशल व्रत-परायण कुछ ब्राह्मण थे । गोपादित्य नरेश ने मध्यदेश के भूषण उन पवित्र ब्राह्मणों को कश्मीर प्रदेश का तिलक रूप बनाया (मध्यदेशीय ब्राह्मणों से काश्मीर को सुशोभित किया) ।

' इन्द्र के सदृश कीर्ति (इन्द्रपद) को प्राप्त करने के लिए उत्सुक जिन ब्राह्मणों के (शत) यज्ञों की धूमराशि से अन्तरिक्ष के व्याप्त हो जाने पर ॰

---

१. व्यूलर रिपोर्ट, पृ० ४,५

इन्द्र ने किसी की बात नहीं सुनी, न स्वर्ग की ही चिन्ता की, अपितु चित्रांकित हुआ सा क्षीण कान्ति वाला हो गया (अर्थात् इन्द्रपद छिन जाने के भय से स्तब्ध और कान्तिहीन हो गया)।[१]

इस विवरण से ज्ञात होता है कि कौशिक गोत्री ब्राह्मण मध्यदेश के रहने वाले थे, जिन्हें गोपादित्य नामक नरेश ने लाकर काश्मीर में बसाया था। इस समय ये ब्राह्मण खोनमुख ग्राम में निवास कर रहे थे। ये ब्राह्मण ब्रह्मपरायण थे और निरन्तर यज्ञादि कर्मकाण्डों में निरत रहा करते थे।

काश्मीर प्रदेश के समस्त ब्राह्मण अपने को काश्मीरक और सारस्वतों की एक शाखा कहते हैं।[२] यही नहीं पंजाबी ब्राह्मण एवं खत्री भी अपना यही गोत्र बताते हैं। अत: यह अनुमान[३] संगत माना जा सकता है कि ये ब्राह्मण सारस्वत वंश में उत्पन्न कौशिक गोत्री थे।

बिल्हण ने प्रवरपुर को सारस्वत कुल (ब्राह्मणों) का जनक कहा है।[४] इससे व्यक्त होता है कि प्रवरपुर में सारस्वतों की प्रधानता थी। कर्णसुन्दरी (१।१०) में बिल्हण ने अपने विषय में कहा है `पुरों को जलाने वाले भगवान् (शिव) की प्रियतमा (पार्वती ने अत्यधिक भाग्यशाली जिसे स्वयं पुत्र के समान

---

१. विक्रमा० १८।७३--७४

२. ब्यूह्लर रिपोर्ट, ज०बा०ब्रा०रा०ए०सो०, १८७७, पृ० १६

३. पाठक, पृ० ५६

४. विक्रमा० १८।६ में `ब्रूम: सारस्वतकुलभुव: किं निधे: कौतुकानां
तस्यानेकाद्भुतगुणकथाकीर्णकर्णामृतस्य।
यत्र स्त्रीणामपि किमपरं जन्मभाषावदेव
प्रत्यावासं विलसतिवच: संस्कृतं प्राकृतं च।।`

में `सारस्वत कुलभुव:` का अर्थ `सरस्वती के आदिधाम` भी किया गया है (भारद्वाज पृ० १८२), परन्तु यहां पर `सारस्वतकुल` का प्रयोग साभिप्राय प्रतीत होता है।

सारस्वती वाणी (सारस्वतों की वाणी) का पात्र बनाया ।[१] यहाँ विल्हण को 'सारस्वतों की विद्या का पात्र' कहने से उनका सारस्वतों से सम्बन्ध सूचित होता है ।

सारस्वतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक विवरण उपलब्ध हैं । तलवकार ब्राह्मण में उल्लिखित है कि दधीच के पिता च्यवन सरस्वती नदी के तट पर निवास करते थे ।[२] महाभारत के अनुसार महर्षि दधीच जब सरस्वती तट पर तप कर रहे थे, उस समय इन्द्र ने उनके पास अलंबुषा नामक अप्सरा को उनका तपभंग करने के लिए भेजा । देवताओं को अर्घ्य देते समय कामविह्वल ऋषि से गर्भवती हो सरस्वती (नदी) ने सारस्वत नामक पुत्र को जन्म दिया ।[३] हर्षचरित में दधीच क्षात्रिय पुत्र और नदी देवी के रूप में वर्णित है । सरस्वती ने दुर्वासा के शाप से मर्त्यलोक में जन्म लिया । शाप का अन्त सारस्वत नामक पुत्र प्राप्ति के पश्चात् होना वर्णित है ।[४] राजशेखर के काव्यमीमांसा (तृतीय अध्याय) में वर्णित है कि पुत्रेच्छा से तप करती हुई सरस्वती को ब्रह्मा ने वर दिया कि मैं तेरे लिए पुत्र उत्पन्न करता हूं । कालान्तर में सरस्वती के पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम सारस्वतेय पड़ा । उक्त प्रसंगों में प्राचीन ग्रन्थों तलवकार ब्राह्मण और महाभारत में वर्णित सरस्वती आख्यान से प्राचीनकाल में सारस्वतों की स्थिति सिद्ध होती है । यदि कुरुक्षेत्र के निकट बहने वाली प्राचीन नदी प्रसिद्ध सरस्वती के तट पर बसने के कारण दधीच के वंशज सारस्वत कहलाए[५] तो यह

---

१. ईं हो भाग्यमहानिधिर्दयितया देवस्य दग्धुः पुराम्
   पात्रं पुत्र इव स्वयं विरचितः सारस्वतीनां गिराम् । ..... १।१०
२. दी जैमिनी उपनिषद् ब्राह्मण, १८६ , जर्नल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसा० जि० १६, पृ० २५१ और जि० ११,१४५
३. शल्यपर्वन् (सारस्वतवर्थन्) दक्षिणी संस्करण, अ० ४६ ,उत्तरी संस्क०अ०५१,५२
४. हर्षचरित , प्रथम उच्छ्वास ।
५. जैसा कि आज भी प्राची सरस्वती तीर्थ, जो एक जलाशय मात्र है और यात्री वहाँ पितृ तर्पण करते हैं और दधीच तीर्थ--जहाँ पर कहा जाता है कि पहले कभी दधीच आश्रम था और यहीं पर दधीच ने इन्द्र को अस्थिदान दिया था-- की स्थिति से इसका समर्थन होता है --द्रष्टव्य कल्याण तीर्थांड्०क, पृ० ८१ --श्री ब्रह्मचारी मोहन जी का 'कुरुक्षेत्र शीर्षक निबन्ध' ।

कहा जा सकता है कि मध्यदेशीय विल्हण के पूर्वज सारस्वत शाखा के कौशिक गोत्री ब्राह्मण थे ।

स्टाइन ने लिखा है -" गोपादित्य जिसे तालिका में हम अधिक ऐतिहासिक मान सकते हैं, क्योंकि स्थानीय परम्परायें-जो अधिक विश्वस्त एवं प्राचीन प्रतीत होती है --उसको अनेक प्रसिद्ध स्थलों पर अग्रहारों को बसाने वाला कहती हैं । अनुश्रुतियां गोपादित्य को श्रीनगर के निकटवर्ती पहाड़ी -जिसका प्राचीन नाम गोपाद्रि था-पर स्थित ज्येष्ठेश्वर मन्दिर का निर्माता सिद्ध करती हैं और उस पहाड़ी (गोपाद्रि) के सीमावर्ती अनेक स्थलों का सम्बन्ध भी उसके साथ जोड़ती हैं । कल्हण द्वारा गोपादित्य को दी हुई कुछ उपाधियों का संकेत जो उसके लिए प्रशस्ति में प्रयुक्त हुई हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि ये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अभिलेखिक विवरणों से उद्धृत की गई हैं ।"[१] अब देखना है कि राजतरंगिणी से - जिसके विवरण की सत्यता की घोषणा स्टाइन महोदय ने की है -- बिल्हण की उक्ति को किस अंश तक समर्थन मिलता है । कल्हण ने गोपादित्य को वर्णाश्रम धर्म की रक्षा कर लोगों को आदि युग (सतयुग) का दर्शन कराने वाला कहा है ।[२] उसने (गोपादित्य) खोल, खागिक, हाडिग्राम और स्कन्दपुर नाम के और समाजासा तथा अन्य अग्रहार बसाये । गोपाद्रि पर ज्येष्ठेश्वर (मन्दिर) की प्रतिष्ठापना करके जिस कृती (गोपादित्य) ने आर्यदेश में उत्पन्न ब्राह्मणों से युक्त गोपाग्रहार का निर्माण किया उसने लशुन-भक्षकों को भूक्षीरवाटिका (नाम के ग्राम) में और निराचारी विप्रों को खासटा में भेज दिया । पवित्र देशों से अन्य पवित्र ब्राह्मणों को लाकर वश्चिक आदि अग्रहारों में बसाया । ' यह उत्तम लोकपाल है' इस प्रकार की उपाधि प्रशस्तियों में प्राप्त करने वाला जो (गोपादित्य) यज्ञ (आदि धर्मकृत्य) के

---

१. एम०ए०,स्टीमन,राजतर० -भूमिका, पृ० ७६, सं० १६६१

२. राजतरंगिणी, तरंग १।३३१

अतिरिक्त अन्यत्र पशुहत्या को सहन नहीं करता था ।"[1]

बिल्हण और कल्हण दोनों ही स्वीकार करते हैं कि गोपादित्य नामक काश्मीर नरेश ने अग्रहारों को बसाया था । बिल्हण के पूर्वज मध्यदेश से लाये गये थे जिसके लिए राजतरंगिणीकार ने आर्यदेश शब्द प्रयुक्त किया है जो अधिक व्यापक है । आर्यदेश सम्भवत: आर्यावर्त को ही कहा गया है । पूर्व पश्चिम में समुद्र से और उत्तर दक्षिण में हिमालय और विन्ध्य पर्वतों से घिरा हुआ प्रदेश आर्यावर्त कहलाता था ।[2] वाराणसी के पूर्व के प्रदेश पूर्वदेश , माहिष्मती से आगे दक्षिणापथ देवसभा और उसके बाद से पश्चाद्देश, पृथूदक पेहवा का ब्रह्मयोनि तीर्थ , जो थाणेश्वर से १४ मील पश्चिम में स्थित है - मधुसूदन टीका) से आगे उत्तरापथ और इनके मध्य में स्थित प्रदेश को 'मध्यदेश' कहते थे ।[3] अत: मध्यदेश बनारस से देवसभा से पूर्व तक और माहिष्मती से थाणेश्वर से १४ मील पश्चिम में स्थित पेहवा के ब्रह्मयोनि तीर्थ तक फैला हुआ था । इस प्रकार मध्यदेश आर्यावर्त का एक विशेष भाग था । यही नहीं उस समय के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण मध्यदेश में पाये जाते थे तथा दान आदि देकर राजा लोग उन्हें सम्मानित भी करते थे ।[4] यद्यपि कल्हण ने खोनमुष

---

१. सखोलखागिकाहाडिग्रामस्कन्दपुराभिधान् ।
शमाङ्गसम्मुखांश्चाग्रहारान्य: प्रत्यपादयत् ।। ३४०।।
ज्येष्ठेश्वरं प्रतिष्ठाप्य गोपाद्रावार्यदेशजा: ।
गोपाग्रहारान्कृतिना येन स्वीकारिता द्विजा: ।।३४१।।
भूक्षीरवाटिकायां यो निर्वास्य लशुनाशिन: ।
खासटायां व्यधाद्विप्रान्निजाचारविवर्जितान् ।। ३४२ ।।
अन्यांश्चानीय देशेभ्य: पुण्येभ्यो वश्चिकादिषु ।
पावनानग्रहारेषु ब्राह्मणान् स न्यरोपयत् ।।३४३ ।।
उत्तमो लोकपालोयमिति लब्ध प्रशस्तिषु ।
य: प्राप्तवान्विना यज्ञं वक्षमे न पशुक्षयम् ।। ३४४।। -राज० १।३४०--३४४

२. पूर्वापरयो:समुद्रयोर्हिमवद्विन्ध्ययोश्चान्तरमार्यावर्त: । वही पृ० २७६., सं० १६६१

३. वही, पृ० २७६ से २८६ मधुसूदन विवृति भी द्रष्टव्य है । और का०इ०इन्डी० भाग ४, खण्ड २, पृ० ५१४ में कलचुरि जाजल्लदेव द्वितीय के १६७-६८ ई० के

क्रमश: जारी

में ब्राह्मणों को बसाने का श्रेय स्पष्टत: गोपादित्य को नहीं दिया है तथापि वश्चिक आदि ग्रामों में पवित्र ब्राह्मणों को अन्य देशों से लाकर बसाये जाने के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि उसने खोनमुष का भी परिगणन कर लिया है ।

बिल्हण के पूर्वज —

मुक्तिकलश- बिल्हण ने अपने प्रपितामह मुक्तिकलश से लेकर अपने भ्राताओं का संक्षिप्त परिचय दिया है । उसने लिखा है कि मुक्तिकलश पवित्र चरित्र वाले इस ब्राह्मण कुल का प्रधान पुरुष था । वह निरन्तर अग्निहोत्र का अनुष्ठान किया करता था । वह चारों श्रुतियों और सर्व शास्त्रों का ज्ञाता था । वह दान-शील भी था ।[1] मुक्तिकलश के सम्बन्ध में बिल्हण के अतिरिक्त अन्य कोई निश्चित विवरण नहीं मिलता । अवन्तिवर्मन् के साम्राज्य में शिव स्वामी आदि विद्वानों के साथ मुक्ताकण का उल्लेख कल्हण ने किया है ।[2] अन्यत्र मुक्तिकलश नामक किसी कवि का एक श्लोक वल्लभदेव कृत सुभाषितावलि में मिलता है[3] और दूसरा क्षेमेन्द्र कृत कविकण्ठाभरण में प्राप्त होता है ।[4] बृहत्कथा मंजरी की रचना क्षेमेन्द्र ने

पिछले पृष्ठ का अवशेष —

मल्लर शिलालेख में भी सुरनदी गंगा से अलंकृत प्रदेश की मध्यदेश संज्ञा दी है ।

४. दी हैहयाज़ आफ़ त्रिपुरी एण्ड देअर मानुमेन्ट्स- बनर्जी, पृष्ठ २२-२३, सं० १९३१ ई० और राजा भोज -ले० विश्वेश्वरनाथ रेउ, सम्पादित भोज का १०७६ वि०सं० का पहला और दूसरा ताम्रपत्र ।

---

१. विक्रमांकदेवचरित, १८।७५-७७

२. मुक्ताकण: शिव स्वामी कविरानन्दवर्धन: ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येवन्तिवर्मण: ।।

३. असामान्योल्लेखं विरसहृदयाविभिन्नल
विधिं वन्दे निन्दाम्युतवतन जाने किमुचितम् ।
अनर्घं निर्माणं ललिततनु यस्येह भवती
न य: कृत्वापि त्वां परिहरति सर्वव्यसनिताम् ।।१४७३ ।।
वल्लभदेव कृत सुभाषितावलि: पीटर्सन पी० द्वारा संपा०, १८८६ बम्बई ।

४. द्विगुरपि सद्वन्द्वोऽहं गृहे च मे सततमव्ययीभाव: ।
तत्पुरुष कर्मधारय येनाहं स्यां वहुव्रीहि: ।। कविकण्ठाभरण श्लोक ३६ ।।

१०३७ ई० में की थी ।[१] वे मुक्तिकलश के कुछ ही बाद (लगभग ५० वर्षों बाद) हुए थे । इसलिए उनके द्वारा उद्धृत मुक्तिकलश का श्लोक निस्संदेह बिल्हण के प्रपितामह मुक्तिकलश का ही था । यदि राजतरंगिणी के मुक्ताकण को मुक्तिकलश का ही दूसरा परिवर्तित नाम मान लिया जाय तो मुक्तिकलश की स्थिति अवन्तिवर्मन् के राज्यकाल[२] ८५५-६से ८८३ ई० के मध्य में कहीं पर मानी जा सकती है । परन्तु प्रपितामह और प्रपौत्र के मध्य लगभग डेढ़ सौ वर्ष का अन्तर होना समीचीन नहीं प्रतीत होता, अत: मुक्तिकलश की एकता मुक्ताकण के साथ करना युक्ति संगत नहीं हो सकता ।

राजकलश—

इसी मुक्ति कलश से राजकलश नामक एक यशस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ । उसने अनेक यज्ञों का अनुष्ठान किया और बहुत से सार्वजनिक कार्य भी किये । द्राक्षाओं से परिपूर्ण उपवनों, स्थान स्थान पर निर्मल जल वाले कुओं (कूप), पौंसरे और शास्त्रों की व्याख्या के हेतु व्याख्याभवनों का निर्माण कराया ।[१] इस राजकलश के सम्बन्ध में भी अन्यत्र कोई सारगर्भित सूचना नहीं उपलब्ध होती । राजतरंगिणी में काश्मीर नरेश संग्रामराज के मन्त्री राजकलश का उल्लेख है, जिसके पुत्र का नाम प्रशस्तकलश था ।[२] हो सकता है बिल्हण के पिता ज्येष्ठकलश भी इसी मंत्री राजकलश के पुत्र रहे हों और बिल्हण ने प्रशस्तकलश के साथ वंशतालिका में सीधा सम्बन्ध न होने के कारण उन का नामोल्लेख नहीं किया होगा । संग्रामराज का शासन-काल १००३—१०२८ ई० है ।[३] पितामह और पौत्र के मध्य लगभग ५० वर्ष का अन्तर युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है । इस प्रकार राजकलश मन्त्री को बिल्हण का पितामह यदि स्वीकार कर लिया जाय तो उसका स्थिति काल ग्यारहवीं सदी का प्रथम चरण मान लेने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती ।

---

१. विक्रमांकदेवचरितम् —१८।७७—७८

२. राजतरंगिणी ७।२२,२४, और ५७२

३. स्टायन भा. १ भू. पृ. १०६

ज्यैष्ठकलश—

राजकलश से ज्यैष्ठकलश नाम के पुत्र का जन्म हुआ । वह क्षमाशील या पृथ्वी का सार,सारस्वत रस का निधान, श्रुतियों का कोष और यशस्वी था । इस विद्वान् ने प्रशंसनीय पतंजलि महाभाष्य की व्याख्या(टीका) का निर्माण किया । उसके घर का आंगन भी छात्रों से भरा रहता था । उसने इष्टापूर्त कर्मों में अतिथि सत्कार करने में, सेवकों को प्रसन्न रखने में तथा अन्य उचित क्रियाओं में दक्ष नागादेवी नाम की पत्नी प्राप्त की, जो दृष्ट (ऐहिक), अदृष्ट(आमुष्मिक) दोनों प्रकार के उपकरणों को प्राप्त करने में समर्थ थी और कल्याणसमूहों का पात्र थी ।[१] ज्यैष्ठकलश और उनकी पत्नी नागादेवी के सम्बन्ध में अन्यत्र कोई सूचना नहीं प्राप्त हुई । ज्यैष्ठकलश कृत पातंजलिमहाभाष्य की टीका का उल्लेख भी कहीं नहीं उपलब्ध होता है, परन्तु काश्मीर में महाभाष्य के अध्ययन-और उस पर भाष्य लिखने की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही थी,[२] जो बिल्हण के इस उल्लेख का आंशिक समर्थन करती है ।

इष्टराम—

इस ज्यैष्ठकलश के तीन पुत्र उत्पन्न हुए —इष्टराम, बिल्हण और आनन्द । इनमें इष्टराम सबसे बड़ा था । वह सैकड़ों राजसभाओं का सुन्दर भूषण था । काव्य रसिक उसके मुख में सकवि जननी सरस्वती को पौसरे वाली की भांति देखते थे ।[३] बिल्हण के अग्रज इष्टराम के सम्बन्ध में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है ।

आनन्द—

उनका सबसे छोटा भाई आनन्द था । वह काव्य-स्पर्धा में बड़े बड़े कवियों का मद-मर्दन करने में कुठार के सदृश था । उसकी जिह्वा पर साक्षात

---

१. विक्रमांकदेवचरितम् १८।७६,८०

२. कल्हण का कथन है कि अभिमन्यु (काश्मीर नरेश) के आदेश पर चन्द्राचार्य तथा अन्य विद्वानों ने महाभाष्य को सरल बनाया तथा नवीन व्याकरण की रचना की —राज० १।१७८ तथा स्टायन कृत अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड१,पृ० ३२

३. विक्रमांकदेवचरित, १८।८४

सरस्वती का निवास था ।[१]काश्मीर नरेश हर्ष के एक मन्त्री आनन्द का उल्लेख राजतरंगिणी में [२] मिलता है, उसके पिता या वंश का उल्लेख न होने से निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता कि यह बिल्हण का अनुज ही था । परन्तु विक्रमांकदेवचरित से ज्ञात होता है कि बिल्हण को हर्ष के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान था ।[३] यही नहीं हर्ष के राज्यारोहण की बात सुनने तक वह जीवित भी था ।[४] अत: समय की संगति के आधार पर, यदि दूसरा कोई आनन्द नामक व्यक्ति नहीं था तो इस आनन्द नामक हर्ष के मन्त्री को बिल्हण का छोटा भाई माना जा सकता है । बहुत संभव है विक्रमाङ्कदेवचरित की रचना के हो चुकने के बाद ही आनन्द हर्ष के मन्त्री बने हों । कल्हण ने हर्ष के मन्त्री के सम्बन्ध में एक घटना का इस प्रकार उल्लेख किया है कि परि-हास पुर की व्यवस्था करने वाला आनन्द बहुत क्रूर था । इसी से सभासद उसे 'वातगण्ड' कहते थे । घूसखोर मन्त्रियों के अनुरोध पर राजा हर्ष ने आनन्द को वामन मंत्री के स्थान पर नियुक्त किया । किन्तु वह द्वारपति बनना चाहता था,- इसलिए वह कन्दर्प के विरोधियों का अग्रणी बन गया । आनन्द के द्वारा प्रेरित होकर राजा हर्ष ने लोहर प्रान्त के विद्रोह के दमनार्थ कन्दर्प को मण्ड-लेश्वर बना कर भेजा । इस प्रकार उसने अपनी सूझ से कन्दर्प को अपने मार्ग से दूर हटा दिया ।[५] इस विवरण से बिल्हण की सूचनाओं से कोई विरोध नहीं आता । इस प्रकार के कृत्य राजनीति के क्षेत्र में होते ही रहते हैं । कल्हण की सूचनाओं से एक बात अवश्य ज्ञात होती है कि आनन्द बुद्धिमान था ।

अन्यत्र मंखक ने अपने काव्य श्रीकण्ठचरित के पच्चीसवें सर्ग में अनेक

---

१. विक्रमांकदेवचरित १८।८५

२. राजतरंगिणी ७।६६३-५

३. विक्रमांक १८।६४-६७

४. राजतर० ७।६३८

५. वही ७।६६३—६६७

कवियों के साथ 'श्र्यानन्द' का उल्लेख किया है। अनलकदत्त की तुलना बिल्हण से दिखा कर उसमें भुट्टश्रीवत्स का उल्लेख है। उसके बाद श्र्यानन्द का वर्णन है। यहाँ 'श्री' सम्मान सूचक शब्द को छन्द की दृष्टि से आनन्द में मिला देने से ही श्र्यानन्द बन गया है।[1]

बिल्हण-

जन्म और शिक्षा-दीक्षा- बिल्हण ज्येष्ठकलश के नागादेवी से उत्पन्न मँझले पुत्र थे।[2] विक्रमाङ्कदेव की रचना तक वे वृद्ध हो चुके थे।[3] विक्रमाङ्कदेवचरित के विवरण से हर्षदेव[4] राजकुमार ही प्रतीत होता है, अत: उसके राज्यारोहण के पूर्व यह ग्रन्थ समाप्त हो चुका था। यदि बिल्हण की आयु इस समय तक ५५-६० वर्ष के मध्य रही हो तो उसने १०३० ई० के लगभग जन्म लिया होगा।[5]

उसका यज्ञोपवीत आठ वर्ष की आयु में हुआ होगा।[6] वे बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि थे। अत: 'मुंज मेखला के निबन्धन काल से ही गम्भीर वेद-ध्वनियों से अव्यक्त नूपुर-नाद वाली वाग्देवता उसके मुख में निवास करती थी।[7] कालान्तर में बिल्हण ने वेद, वेदांग, पातंजलि-महाभाष्य में प्रतिपादित व्याकरणशास्त्र और साहित्यविद्या का अध्ययन किया। अत: वे प्रकाण्ड पण्डित हो गये।[8]

---

१. श्रीकण्ठचरित २५।८४

२. विक्रमा० १८।८०-८१

३. वही १८।१०३-१०५

४. वही १८।९४-९६

५. पाठक जी, १०४० ई० में उसका जन्म मानते हैं जो उचित नहीं। -ए०हि०इ०, पृ० ५६

६. मनु ब्राह्मणों की उपनयन आयु आठ वर्ष मानते हैं -मनु० २।२६

७. सान्द्रैर्वेदध्वनिभिरनभिव्यक्तमंजीरनादा
मौंजीबन्धात्प्रभृति वदने यस्य वाग्देवतासीत् ॥ विक्रमा० १८।८१
-कर्णसुन्दरी (उपसंहार), श्लोक - १

८. वही १८।८२-८३

विद्यार्जन के पश्चात् उन्होंने कुछ काल तक अध्यापन भी किया । शिष्यों के द्वारा बिल्हण का पर्याप्त यशोविस्तार हुआ ।[१] उनकी विशेष प्रसिद्धि कवि के रूप में हुई जैसा कि बिल्हण ने स्वयं लिखा है -" श्री वाग्देवी की मोहिनी चरण-धूलि (की कृपा) से विद्यारूपी कामिनियों का समूह जिस (बिल्हण) के मुख का दर्शक हो गया । इसके अतिरिक्त (बिल्हण के) साथ में प्रत्येक दिशा में गये हुए मनोहर काव्य जिस (बिल्हण की) कीर्ति की चंचलता/नियंत्रण करने वाले कंचुकी हुए ।"ऐसा कोई ग्राम, जनपद, राजधानी, अरण्य, उपवन और विद्या-मन्दिर न था, जहां विद्वान् , मूर्ख , वृद्ध, बालक, स्त्री या पुरुष सभी लोग रोमांचित होकर इसका काव्य न पढ़ते हों ।"[२]

देशाटन-

इस प्रकार पैतृक परम्परा से समस्त शास्त्रों का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेने के अनन्तर बिल्हण ने काश्मीर से देशाटन करने के लिए प्रस्थान किया[३]। इस समय उनकी आयु ३०-३२ वर्ष की रही होगी क्योंकि वह अध्ययन समाप्त करके कुछ काल तक अध्यापन भी कर चुके थे ।

इस सम्बन्ध में कल्हण का विवरण महत्वपूर्ण है -

" राजा कलश के शासनकाल में काश्मीर से आये हुए जिस (बिल्हण) को कर्णाट के नरेश पर्माडि (विक्रमांकदेव का दूसरा नाम) ने 'विद्यापति' बनाया ।

'कर्णाटक या कर्णाट के पर्वतीय प्रदेश में हाथियों के द्वारा प्रस्थान करते हुए जिसको राजा के समक्ष ऊंचा छत्र धारण किये हुए देखा जाता था ।[४]

---

१. निःसामान्यश्रुतगुणकथादचवादिज्वराणां
छात्रौघानां दिशि दिशि हठाचन्वतां यषशांसि ।
आसीदाशागजमदजलास्वादमत्तद्विरेफ
श्रेणीगीतध्वनिकलकलः केवलं सोऽन्तराय ।। १८।८८

२. वही १८।८३,८६ 'बन्धुराः सर्गबन्धाः' से स्पष्ट है कि बिल्हण ने कई काव्य लिखे थे ।

३. वही १८।८६

४. काश्मीरेभ्यो विनिर्यान्तं राज्ये कलशभूपतेः । विद्यापतिं यं कर्णाटश्चक्रे पर्माडिभूपतिः
प्रसर्पतः करिभिः कर्णाटकटकान्तरे ।राज्ञो ग्रे ददृशेतुंग यस्यैवातपवारणम् ।।
७।९३५,९३६
श्लोक ९।९३६ में 'कर्णाटकटकान्तरे' का अर्थ स्टायन ने कर्णाट के पर्वतीय प्रदेश किया है -- अनु०सं०१,पृ० ३४०, टि०भी०,व्यूहलर भूमिका, पृ० २१ में कर्णाट-कटक प्रदेश' अर्थ है । दोनों ही अर्थ संभाव्य हैं ।'.

ब्यूलर महोदय का अनुमान ठीक ही है कि कल्हण ने यहाँ पर कलश के प्रथम राज्यारोहण (१०६३ —१०८० ई०) का उल्लेख किया है।[१] कलश का द्वितीय राज्यारोहण अनन्तदेव की मृत्यु (१०८० ई०) के बाद हुआ था। उक्त विवरण में उसका उल्लेख स्वीकार करने पर समय की संगति नहीं बैठती क्योंकि १०८० ई० के लगभग बिल्हण अपनी यात्रा समाप्त करके विक्रमाङ्कदेव के दरबार में पहुँच गया था। अनन्तदेव ने प्रारम्भ में कलश को राज्य-भार दे दिया, परन्तु अनेक मन्त्रियों के समझाने पर वह पुन: अपना राज्य-कार्य करने लगा और कलश नाममात्र का ही महीपति रह गया।[२] एक बार शक्ति पाकर फिर उसके छिन जाने से कलश का चिढ़ जाना स्वाभाविक था। अत: यहीं से पिता पुत्र में वैमनस्य और संघर्ष का सूत्रपात हुआ, जिसका अन्त अनन्तदेव की मृत्यु के अनन्तर ही हो सका।[३] यह संघर्ष १०६३ के कुछ बाद प्रारम्भ हुआ होगा, अत: १०६३-६४ ई० में कभी बिल्हण ने काश्मीर का परित्याग कर दिया, क्योंकि इस संघर्ष की स्थिति में, उन्हें काश्मीर में राजाश्रय पाने की आशा नहीं थी। इसके अतिरिक्त राजपरिवार तरह तरह के कुचक्रों का केन्द्र बन गया था। अत: उपयुक्त राजाश्रय की खोज में उसने काश्मीर छोड़ा।

बिल्हण के लिए दूसरा आकर्षण था उसकी यश-लिप्सा की तृप्ति, जिसके लिए उसने कई स्थानों पर शास्त्रार्थ किये[४] और अपनी कविताओं से राजाओं को तृप्त किया।[५] यही कारण था कि शीघ्र ही उसके काव्य, उसके जीवन काल में ही काश्मीर से रामेश्वरम् तक प्रसिद्धि पा गये।[६]

---

१. विक्रमा० भूमिका, पृ० २२, राज० ७।२३०- २३३

२. राज० ७।२३०— २४५

३. वही ७।७४५ से ४७८

४. वही विक्रमा०, १८।८४, ८६, ८७, ६५

५. वही १८।६३—, १०१

६. वही १८।८८—१०१

तीसरे बिल्हण को प्रसिद्ध तीर्थों, विद्याकेन्द्र और राजसभाओं को देखने की लालसा थी। अत: वे मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग, अयोध्या, काशी, मालवा, गुजरात, कोंकण, सेतुबन्ध तक गये और कलचुरि कर्ण, गुजरात नरेश कर्ण तथा कर्णाट विक्रमांकदेव के दरबारों में रहे।

काश्मीर से प्रस्थान करने के बाद बिल्हण का प्रथम पड़ाव मथुरा नगरी में पड़ा, जहाँ कुछ काल तक ठहर कर उन्होंने विद्वद्गोष्ठियों में भाग लिया और अनेक विद्वानों को अपने पाण्डित्य से निरुत्तर किया। तत्पश्चात् भगवान कृष्ण की लीला-स्थली वृन्दावन में कुछ दिन व्यतीत किये — "जहाँ झूले पर झूलती हुई राधा के द्वारा त्रुटित कृष्ण की लीला स्थली के वृक्ष आज भी नहीं पनपे हैं, उसी वृन्दावन के सीमाप्रान्त में, वाद-विवाद में मथुरा के विद्वानों को परास्त करने वाले जिस (बिल्हण) ने कुछ दिन बिताये।"[1]

इस प्रकार अपना यशोविस्तार करते हुए[2] वह कान्यकुब्ज नगर में पहुँचा "जिस (कान्यकुब्ज) के सोपान की शोभा को प्राप्त करने वाले (सीढ़ी के सदृश) गगन चुम्बी मणिमय गृहों के द्वारा नभमण्डल का भूषण वैभव देवलोक से उतार लिया गया था उस कान्यकुब्ज नगर को, जिस (बिल्हण) की कीर्ति ने (प्रवेश) द्वार पर गंगा के कलकल (रूप निषेधाज्ञा) की उपेक्षा करके, अपने वशीभूत कर लिया।"[3] बिल्हण के विवरण से स्पष्ट है कि इस काल तक कान्यकुब्ज एक समृद्ध नगरी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि बिल्हण ने वहाँ स्वल्पकाल तक ही निवास किया।

---

१. विक्रमां० १८।८७ ब्यूलर (भू० पृ० १२) ने जल्पक्रीडा का अनुवाद वादविवाद में सुगमता से अर्थ किया है। वस्तुत: 'वादविवाद की क्रीडा से' अनुवाद होगा।

२. वही १८।८८, ८६

३. वही १८।६०

कान्यकुब्ज से वह प्रयाग गया" जहां (प्रयाग) कलि का संहार-कर्ता धर्म रूपी कृपाण मानों सुरनदी गंगा के प्रवाह रूपी म्यान में यमुना की तरंग के व्याज से प्रवेश कर रहा है, ऐसे (संगम से युक्त) तीर्थराज प्रयाग में जिस सुकृती (बिल्हण) ने विश्व के लिए अद्भुत अपने गुणों के द्वारा अर्जित धन को कितने ही बार नहीं दिया (अर्थात् अनेक बार दान किया)."[१]

तीर्थराज प्रयाग में दान के द्वारा पुण्य अर्जित करके वह वाराणसी गया।" वाराणसी पुरी में, जो इधर उधर विचरण करते हुए कलियुग के भय से समीप में आये हुए धर्म के मार्गश्रम का निवारण जल के छींटों से करती है उस गंगा नदी में स्नान कर दुष्ट नरेशों के दर्शन से उत्पन्न कलंक का प्रक्षालन कर लिया -' यह समझता हूं।"[२] यहां" कुनृपालोकनोत्थ: कलंक:" (अर्थात् दुष्ट नरेशों के दर्शन से उत्पन्न कलंक) इस अंश से प्रतीत होता है कि काश्मीर नरेश कलश और नरेश गोपाल द्वारा बिल्हण को पर्याप्त सम्मान नहीं मिला था।[३] वाराणसी में ही बिल्हण की भेंट डाहालनरेश कलचुरि कर्ण के साथ हुई -

डाहालदेश के नरेश उस कर्ण ने भी जिस (बिल्हण के आने के) समाचार को पाकर कानों के लिए अमृत-तुल्य (काव्य) रस समूह के स्वाद का अन्तस्तल में विस्तार किया (अर्थात् प्रसन्न हुआ)।

" जिस (रावण) का दाहिना हाथ स्फटिक गिरि (के अपर्याप्त भार से) से असंतुष्ट होने पर उसको वाम हस्त में रख कर क्षण भर के लिए हिमालय पर्वत की ओर अभिमुख हुआ था (उसे उठाने के लिए) रावण (पुलस्त्य के पुत्र) का दलन करने वाले सीतापति राम की राजधानी अयोध्या को इस (बिल्हण) ने (अपनी) सूक्ति-निर्झर से शीतल कर दिया। (अयोध्या की

---

१. विक्रमा० १८।६६

२. वही, १८।६२

३. दी प्रीडीसेसर्स आफ दी गाहड़वालज़, एन०बी०सान्याल, ज०ए०सो०बं०, जि० २१ पृ० १०३-६, हिस्ट्री आफ कन्नौज, त्रिपाठी, पृ० २८६-९०

की प्रशंसा में कवितायें बनायीं) ।

" डाहाल नरेश कर्ण के राज-भवन में गंगाधर नामक पण्डित (प्रतिभट्कवे: से प्रतीत होता है कि गंगाधर भी कवि था) को परास्त करके, पूर्व दिशा के प्रदेशों में ऐरावत के मद-जल से मतवाले होकर भटकने वाले भौंरों के समूह के गुंजन को तिरस्कृत करके (अर्थात् पूर्व प्रदेशवासी पण्डितों को परास्त करके) खेलवाड़ में ही प्रतिपक्षी पण्डितों को संत्रस्त कर देने वाले उस बिल्हण कवि की कथाओं ने मानों इन्द्र के कानों में भी संचरण किया (अर्थात् इन्द्रलोक तक उसका यश फैला) - ऐसा मैं अनुमान करता हूं ।"[१] कलचुरि कर्ण का राज्य विस्तार वाराणसी तक था ।[२] वह विद्वानों का सम्मान करता था । अत: वाराणसी में बिल्हण ने उसे अपनी कविताओं से प्रभावित किया । कर्ण ने प्रभावित होकर उसे अपनी राजधानी त्रिपुरी (वर्तमान 'तेवर' ग्राम , जबलपुर के निकट) में आमंत्रित किया होगा, जहां बिल्हण ने उसके सभापण्डित गंगाधर को परास्त किया ।[३] व्यूलर महोदय का अनुमान है कि यहीं बिल्हण ने राम की प्रशस्ति पर कोई काव्य लिखा होगा । परन्तु यह अधिक सम्भव है कि बिल्हण वाराणसी से अयोध्या गये हों और वहां के दृश्यों से प्रेरित होकर कुछ कवितायें अयोध्या की प्रशंसा में लिखी हों, क्योंकि वे सरयू तट पर स्थित और मयूरी की कूज से गुंजित अयोध्या नगरी से परिचित जान पड़ते हैं ।[४] विक्रमांकदेवचरित में राम से सम्बद्ध अयोध्या नगरी की प्रशंसा के कुछ श्लोक मिलते हैं । इसके अतिरिक्त सुभाषित-ग्रन्थों में भी राम से सम्बद्ध कुछ फुटकल श्लोक बिल्हण के नाम से संगृहीत हैं ।[६]

---

१. विक्रमा०१८।९३-५

२. का०इ०इ०, जि० ४, प्लेट सं० ४८

३. बुलेटिन आफ एन्सेन्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड आर्केलाजी सागर, जि० १,१९६७, पृ० ११५-११६ (लेखक का एतद्विषयक निबन्ध)

४. विक्रमा०, भू०, पृ० १८

५. विक्रमा० ६।६१

६. जल्हण कृत सूक्तिमुक्तावली, १८,१६ श्लोक, पृ० ३१६, ७,८ पृ० ३३१, ६ पृ०- ३२७, २२, पृ० ३२१, ६, पृ० ३१४ और सारंगधरपद्धति ३१, पृ० ६०६, ३ पृ० ६१४, पीटर्सन , संपा० १८८८ई०

डाहाल कर्ण के प्रासाद से बिल्हण (मालवा की राजधानी) धारा नगरी पहुँचा । उसे आया देखकर —" सचमुच वह भोज ही पृथ्वीपति था, दुष्ट राजा गण उस(भोज) की समानता को नहीं प्राप्त कर सकते । आप उस (भोज) के सामने (जीवित रहते) क्यों नहीं आये ? हाय खेद है" इस प्रकार धारा नगरी द्वार पर के उत्तुंग शिखरों के बुर्जों में बने घोंसलों में स्थित कपोतों के बहाने मानो सकरुण होकर कह रही थी ।"[१] अत: स्पष्ट है कि भोज जैसे कविबान्धव के दिवंगत हो जाने से धारा में बिल्हण को आश्रय मिलने की कोई आशा न थी, अत: उसे बहुत खेद था ।[२] क्योंकि उसे भोज से पर्याप्त सम्मान प्राप्त होने का विश्वास था । यही कारण है कि उसने भोज का नाम सदा गौरव के साथ लिया है ।[३]

धारा से निराश होकर बिल्हण गुजरात गया और सोमनाथ महादेव के दर्शन किये —" जो कांच नहीं बांधते हैं, अतएव सदा अशुद्ध रहते हैं और जो कुछ भी बोलते हैं, वह उपहसनीय होता है —ऐसे गुजरातियों के साथ मार्ग में परिचय के कारण हुए (मानसिक) सन्ताप को सोमनाथ महादेव के दर्शन से शान्त किया ।"[४] व्यूलर का कथन है कि यहां बिल्हण ने गुजरातियों के संस्कृत और प्राकृत के भ्रष्ट उच्चारण की ओर संकेत किया है ।[५] बिल्हण ने चौलुक्य कर्ण के आश्रय में भी कुछ (माह्या दिन) समय अवश्य विताया था और यहीं पर चौलुक्य-

---

१. विक्रमा० १८।९६

२. व्यूलर का अनुमान है कि भोज इस समय जीवित था और कुछ कारणों से, जिनका उल्लेख नहीं किया गया है, वह (बिल्हण) धारा नहीं गया अत: सम्राट भोज के दर्शन से वंचित रह गया ।" —विक्रमा०,भू०,पृ० १६,३ पृ० २३,टि० १,वस्तुत: भोज १०५५ई० के पूर्व ही दिवंगत हो चुका था (एपी० इन्डिका, जि० ३, पृ० ४८-५०)

३. विक्रमा० ३।७१, ६।१४४, १८।४७,

४. वही, १८।६७

५. विक्रमा०, भू०, पृ० १६

कर्ण के विवाह[१] पर कर्णसुन्दरी[२] नाटिका का प्रणयन किया था। परन्तु अपनी यात्रा के प्रसंग में चौलुक्य कर्ण के दरबार में अपनी उपस्थिति का उल्लेख बिलकुल न करना तथा गुजरातियों के सम्पर्क से हुए कष्टप्रद अनुभव के उल्लेख से स्पष्ट है कि बिल्हण ने इस वृत्त की उपेक्षा जानबूझ कर की है। सम्भवत: स्थानीय सभा पण्डितों की कुचेष्टाओं से असंतुष्ट होकर बिल्हण को चौलुक्य कर्ण के आश्रय का परित्याग करना पड़ा। यह भी संभव है कि गुजरातियों ने बिल्हण के कर्ण-कटु काव्य-पाठ का उपहास किया है। राजशेखर ने कहा है कि शारदा की कृपा से काश्मीरी सुकवि तो होते हैं, पर उनका काव्य-पाठ कानों में गुरुच के कटु कुल्ले के सदृश होता है।[३]

'सैकड़ों नरेशों के दर्शन की उत्सुकता से प्रेरित होकर वह (बिल्हण) सुपाड़ी के वृक्षों से श्यामल समुद्र तट को लांघ गया, जहां परशुराम के द्वारा फेंके गये तीक्ष्ण शरों के व्याज से निर्मित अर्गला (अवरोध) आज भी समुद्र के स्वच्छन्द प्रवाह को रोकती है।'[४] सोमनाथ से चलकर बिल्हण ने समीपस्थ बन्दरगाह 'वैरावल' में पड़ाव डाला होगा, जहां से उसने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। उसके अस्पष्ट विवरण से यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह किस स्थान पर ठहरा था? सम्भवत: यह स्थान गोकर्ण के निकट होनौर (Honore) था, जो कोंकण के अन्तिम छोर पर स्थित था जिसको समुद्र से निकालने वाले परशुराम कहे जाते हैं।[५] वहां से घूमता हुआ वह सेतुबन्ध रामेश्वर तक गया —

---

१. श्री अशोककुमार मजूमदार का अनुमान है कि यह विवाह १०७० ई० के लगभग हुआ था — चौलुक्य आफ गुजरात, पृ० ६३

२. दुर्गाप्रसाद और के०पी० परब द्वारा संपादित, नि०सा०प्रे०, बम्बई, १८८८ ई०

३. शारदाया: प्रसादेन काश्मीर: सुकविजन: ।
   कर्णे गुडूचीगण्डूषस्तेषां पाठक्रम: किमु ।।
   — काव्यमीमांसा, अ० ७, पृ० ८३, पटना, १९५४ ई०।

४. विक्रमा० १८।६८

५. विक्रमा० ब्यूलर कृत भू०, पृ० १९

" जो समुद्र के मस्तक को केशरहित (गंजा) करता हुआ रावण द्वारा अपहृत पुत्री सीता के (प्रेमवश) पीछे जाती हुई धात्री पृथ्वी के समान शोभित होता था, उस सेतु के पार इस (विल्हण) की कीर्ति मानों सीता के वृत्त को सुनने से भयभीत होकर, राक्षसों के पास बिल्कुल नहीं गयी"।[१] सेतुबन्ध का दर्शन करके वह पीछे लौटा ।

" साधारण नरेशों की ओर से विमुख विद्वानों में श्रेष्ठ वह (विल्हण) मन्द गति से (आराम के साथ घूमता हुआ) उत्सुकतावश दक्षिण दिशा को गया जहां चंचलनयनियों (कामिनियों) के स्तनमण्डल के विस्तार का , जिनका शिष्य कामदेव त्रैलोक्य का जेता होकर विराजमान है, वर्णन क्या करें ।"

" सुकृती जिस (बिल्हण) ने वहां चोलराज को भयभीत करने वाले चालुक्यराज (विक्रमांकदेव) से नीले छत्र और मदोन्मत्त गज समूह का पात्र (अधिकार वाले) 'विद्यापति' (प्रधान पण्डित) का पद प्राप्त किया । उस काल से इस (बिल्हण) में गजकेलि के औत्सुक्य-विलास में हिलती हुई भुजाओं के कारण शब्द करती हुई कंकणवाली राजलक्ष्मी सदा निवास करती थी ।"[२]

इस विवरण से स्पष्ट है कि अनेक नरेशों का दर्शन करता हुआ विल्हण कर्णाट नरेश विक्रमांकदेव के आश्रय में पहुंचा , जहां उसे पर्याप्त सम्मान और नील छत्र धारण करने तथा एक निश्चित संख्या तक हाथियों के रखने के अधिकार से युक्त प्रधान पण्डित का पद प्राप्त हुआ, जिसका उल्लेख कल्हण ने भी किया है — कल्याण कटक में या कर्णाट के पर्वतीय प्रदेश में हाथियों के द्वारा प्रस्थान करते हुए जिस (बिल्हण) को राजा के समक्ष ऊंचा छत्र धारण किये हुए देखा जाता था ।"[३] इस ग्रन्थ की समाप्ति पर्यन्त बिल्हण कर्णाट में ही था ।

---

१. विक्रमा० १८।९६

२. वही १८।१००,१०१

३. प्रसर्पतः करटिभिः कर्णाटकटकान्तरे ।
राज्ञोऽग्रे ददृशे तुंग यस्यैवातपत्रवारणम् ।। ७।९३६ राजतरंगिणी ।

बिल्हण को काश्मीर से आये लगभग पच्चीस वर्ष हो गये थे। अत: अब उन्हें जन्मभूमि की सुधि हो आई –

"प्रत्येक दिशा में (मैंने) धन प्राप्त किया, सम्पत्ति को सज्जनों के उपभोग में लगाया, सुयोग्य विद्वानों के साथ विवाद में कहाँ प्रशंसनीय विजय नहीं प्राप्त की। अब सार को ग्रहण करने में दक्ष बुद्धि के कारण प्राप्त प्रसिद्धि (प्रशंसा) वाले सज्जन काश्मीरियों के साथ मेरी शास्त्र चर्चा विषयक गोष्ठी शीघ्र हो।"[1] कल्हण के अनुसार इसका कारण है "कलश पुत्र हर्षदेव का राज्यारोहण"। हर्ष कवि, विद्वान् और कविबान्धव था।[2] अत: "उस बिल्हण ने त्यागी और सुकविबान्धव हर्षदेव को सुनकर (के राज्यारोहण का समाचार सुनकर) उस प्रकार की अनूठी (कर्णाट नरेश परमादि से प्राप्त) विभूति को तुच्छ समझ लिया।"[3] अत: दीर्घकालीन प्रवास से क्षुब्ध बिल्हण हर्षदेव के आश्रय को प्राप्त करने की इच्छा से काश्मीर लौटने को इच्छुक हुआ।

विक्रमांकदेवचरित की समाप्ति तक वह वृद्ध हो गया था, अत: गंगा तट पर पार्वती पति शंकर की आराधना में संलग्न वैरागी वृद्धों से उसे स्पृहा होने लगी थी "(मैंने) राजाओं की कृपा का कुछ अंश प्राप्त किया, वैभव के सूक्ष्म भाग के दर्शन किये, कुछ वाङ्मय का अध्ययन किया, (पाण्डित्य आदि) गुणों से कितनों (पण्डितों) को पराजित किया – इस प्रकार अज्ञानपरक कितने ही अनर्थ (दुष्कर्म) समूह को नहीं किया। अब मेरा संयमित और प्रबुद्ध मन सुरनदी गंगा (के सेवन) को चाहता है।

वायु से चंचल और ऊँची उठने वाली लहरों रूपी वस्त्र से युक्त गंगा के तटवर्ती प्रदेश में योगाभ्यास में निरत, स्थिर चित्त में गौरीशंकर को ~~स्थापित~~

---

१. विक्रमा०, १८।१०३

२. विक्रमा० १८।६४,६५ और राज० ७।९३७

३. त्यागिनं हर्षदेवं स श्रुत्वा सुकविबान्धवम्
बिल्हणो वंचनां मेने विभूतिं तावतीमपि ।।

— राज० ७।९३७

स्थापित किये हुए कुछ ही पुण्यात्मा व्यक्तियों की वृद्धावस्था के शेष दिवस व्यतीत होते हैं ।[१]
इस समय बिल्हण ५५- ६० वर्ष का अवश्य रहा होगा ।

बिल्हण की यात्रा अवधि का कृमिक विभाजन —

१०६३- ६४ ई० में कलश के प्रथम राज्यारोहण के बाद काश्मीर से बिल्हण ने प्रस्थान किया और १०६६ ई० के लगभग कान्यकुब्ज पहुँचा होगा ।[२]

कान्यकुब्ज से प्रयाग, वाराणसी, अयोध्या तक की यात्रा तथा उन स्थलों पर स्नान, दान और काव्य रचना में लगभग दो वर्ष लग गये होंगे । अयोध्या से बिल्हण पुन: वाराणसी होता हुआ कर्ण की राजधानी त्रिपुरी १०६८ ई० के लगभग पहुँचा होगा । त्रिपुरी में गंगाधर पण्डित को पराजित कर देने से उसे पर्याप्त प्रतिष्ठा मिली[३] । अत: वह कर्ण के शासनकाल के अन्त तक वहीं रहा होगा । कर्ण के पुत्र यश:कर्ण की प्रथम ज्ञात तिथि १०७३ ई० है ।[४] अत: बिल्हण १०७३ई० के पूर्व धारा नगरी चला गया । वहाँ अत्यल्पकाल तक ठहरने के बाद गुजरात नरेश चौलुक्य कर्ण (१०६६ ई०—१०६३) के आश्रय में रहा, जहाँ कर्णसुन्दरी नाटिका की रचना की । किन्हीं कारणों से (संभवत: स्थानीय पण्डितों की कुचेष्टाओं से) असंतुष्ट होकर १०७५-७६ ई० तक वह सोमनाथ का दर्शन करके परशुराम क्षेत्र (कोंकण) होता हुआ सेतुबन्ध रामेश्वरम् पहुँचा और लौटते समय कर्णाट विक्रमांकदेव की सभा में उपस्थित हुआ । आराम के साथ घूमते हुए इस यात्रा को उसने ४, ५ वर्षों में पूरा किया होगा और १०८० ई० तक कर्णाट पहुँचा होगा ।

विक्रमांकदेवचरित में वर्णित अन्तिम घटना विक्रम द्वारा चोलराज की पराजय है, जो १०८२ ई० के लगभग हुए जयसिंह के विद्रोह दमन के पश्चात् हुई थी ।

---

१. विक्रमा० १८।१०४,१०५
२. युवनच्वाङ् को काश्मीर से कन्नौज पहुँचने में लगभग २ वर्ष ७ माह लगे थे — थामस वाटर्स कृत 'आन युवन्-च्वाङ्स ट्रैवेल्स इन इंडिया, भारतीय संस्करण, वृ० १६६१, पृ० ३३३
३. विक्रमा० १८।६३,६५
४. का०इं०इं०, जि० ४,भू०पृ० १०४, एपी० इं०, जि० १२, पृ० २०६

इस ग्रन्थ की समाप्ति तक हर्षदेव राजा नहीं हो पाया था, अत: विक्रमांकदेव-चरित की समाप्ति १०८३ ई० से १०८८ ई० (हर्ष के राज्यारोहण के पूर्व) के मध्य हो चुकी थी । हर्ष के राज्यारोहण (१०८९ ई०) के पश्चात् बिल्हण काश्मीर वापस लौटा । अत: बिल्हण के प्रवास की अवधि लगभग छब्बीस वर्ष की थी, जो अविश्वसनीय नहीं है ।

बिल्हण का व्यक्तित्व–

बिल्हण का व्यक्तित्व बाण से मिलता जुलता है । उसके पूर्वज भी कर्मकाण्डी और ब्रह्मपरायण थे ।[१] वे चरित्रवान्,[२] चारों वेदों तथा शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित और दानी थे ।[३] बिल्हण के पिता सर्वशास्त्रज्ञ ज्येष्ठकलश इष्टा-पूर्त, अतिथि सत्कार और सेवकों के साथ सद्व्यवहार करते थे[४]। ज्येष्ठकलश का प्रांगण सदा छात्रों से सुशोभित रहता था ।[५] स्वयं बिल्हण ने भी अध्यापन कार्य किया था ।[६] इस प्रकार एक ओर बिल्हण को अपने पूर्वजों का विद्या-वैभव दाय में प्राप्त था दूसरी ओर उन पर काश्मीर के बौद्धिक वातावरण[७] का प्रभाव था । इस प्रकार एक ओर बिल्हण को अपने पूर्वजों का जो बौद्धिक धरातल प्राप्त हुआ उससे स्वाभाविक था कि वह यज्ञोपवीत होने के बाद से वेद-मंत्रों का पाठ करने लगा । साङ्गवेद, पतंजलि महाभाष्य, साहित्यशास्त्र और काव्य रचना में पारंगत हो गया । काव्य रचना में बिल्हण की विशेष अभिरुचि थी और चारों ओर उसके काव्यों की प्रसिद्धि थी ।[८]

---

१. विक्रमा० १८।७१,७३,७४,७५,७७

२. वही १८।७५ 'जगत्त्रयपवित्रभाजाम्'

३. वही १८।७६,७७,७९

४. वही १८।७९,८०

५. वही, १८।७९

६. वही १८।८८

७. वही १८।५-८,१६,२१,४४

८. वही १८।८३

उसकी दूसरी विशेषता थी देश देशान्तर में भ्रमण और राजकुलों के दर्शन की जिज्ञासा, जिसके द्वारा उसे तरह तरह के लोगों, विविध राजकुलों और विद्वद् गोष्ठियों के अनुभव प्राप्त हुए ।[१]

वे स्वाभिमानी भी थे,[२] जिसके कारण उनकी पटरी किसी राजा के साथ कठिनता से बैठती थी । स्थानस्थान पर वे राजाओं को अपने यशवर्धन के लिए कवियों के साथ मैत्री करने का उपदेश देते हैं ।[३]

उन्हें अपनी जन्मभूमि से विशेष प्रेम था तथा गर्व भी ।[४]

वृद्धावस्था में उनका रुझान धर्म की ओर विशेष हो गया था, वे सांसारिक वैभव से ऊब गये थे ।[५]

यद्यपि विल्हण शैव थे[६] तथापि उन्होंने शिवपुरी वाराणासी और सोमनाथ के दर्शन के साथ साथ वृन्दावन , अयोध्या, प्रयाग आदि कृष्ण, राम और गंगा सम्बन्धी तीर्थों की यात्रा भी की थी । विक्रमांकदेव चरित के प्रारम्भ में उन्होंने मुकुन्द , पार्वती, मुरारी, शिव, गणेश और सरस्वती की वन्दना की है ।[७] अत: स्पष्ट है कि विल्हण सम्प्रदाय विशेष के न होकर समस्त हिन्दू देवताओं में श्रद्धा रखते थे । उनमें संकुचित राष्ट्रीयता के दर्शन नहीं होते । वे काश्मीर से लेकर रामेश्वरम् तक के भू भाग पर तथा वहां के महान् व्यक्तियों (राम, कृष्ण, कर्ण, विक्रमांकदेव आदि) पर श्रद्धा और गर्व करते हैं ।

---

१. विक्रमां० १८।८१-१०४
२. वही १८।८२,८३,८८
३. वही, १८।१००,१०६,१०७ और १।२६,२७
४. वही, १८।७२,१०२
५. वही, १८।१०३-५
६. वही ६।३३, १८।१०७-८, कर्णसुन्दरी अन्त में (आत्मपरिचय) श्लोक १, शार्ङ्गधरपद्धति, पृ० ३१, श्लोक २४४, सदूक्तिकर्णामृत श्लोक, संख्या २३
७. विक्रमां०, १।१-६

बिल्हण की रचनाएं —

बिल्हण ने स्वयं लिखा है कि 'उसके साथ प्रत्येक दिशा में गये हुए मनोहर सर्गबन्ध (महाकाव्य) उसकी कीर्ति का नियंत्रण करने वाले कंचुकी हुए ।'[1] उसने सीतापति राम की राजधानी अयोध्या को अपने सूक्तिनिर्भर से शीतल किया था । अर्थात् अयोध्या और राम की प्रशस्ति पर कोई काव्य लिखा होगा[2]। यद्यपि सुभाषित ग्रन्थों में राम से सम्बद्ध कुछ श्लोक उद्धृत हैं[3] तथापि अभी तक बिल्हण द्वारा रचित कोई रामकाव्य प्रकाश में नहीं आया है । बिल्हण के नाम से सैकड़ों श्लोक सुभाषित ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, जिनमें अधिकांश विक्रमांकदेवचरित, कर्णसुन्दरी तथा चौरपंचाशिका (बिल्हण के नाम से प्रकाशित) काव्यों से उद्धृत हुए हैं । परन्तु अनेक ऐसे भी हैं, जो बिल्हण के नाम से प्रसिद्ध किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होते ।[4] अत: स्पष्ट है कि बिल्हण अनेक काव्यों का रचयिता था जो अभी तक प्रकाश में नहीं आ सके हैं ।

औफ्रेक्ट[5] (Aufrecht) ने भिन्न भिन्न बिल्हण के नाम से निम्नलिखित ग्रन्थों का उल्लेख किया है :—

१. कवण बिल्हण कवि — त्रिरूपकोश ।
२. बिल्हण — कर्मरत्नावलि ।
३. बिल्हण — मनोरमा ।

---

१. याता: सार्धं दिशि दिशि पुनर्बन्धुरा: सर्गबन्धा:
कीर्तें: पारिप्लवविदलने सौविदल्लाबभूवु: ।। १८।८३ ।।

२. विक्रमां० १८।६४

३. सूक्तिमुक्तावली, पृ० ३१६, श्लोक १८,१६, पृ० ३३१, पर ७,८ , पृ० ३२७ पर ६, पृ० ३२१ पर २२, पृ० ३१४ पर ६, और सारंगधरपद्धति (पीटर्सन संपादित) पृ० ६०६ पर ३१ , पृ० ६१४ पर ३ ।

४. सूक्तिमुक्तावलि: (बड़ौदा, १६३८), सारंगधरपद्धति) बम्बई, १८८८ ई०), सुभाषितावलि: (बम्बई, १८८६), सदूक्तिकर्णामृत (कलकत्ता, १६६५ ई०), वेणीदत्त कृत पद्यवेणी ।

५. कैटेलागस कैटेलागोरम, खण्ड १, पृ० ७७,३७३-४, १६६२ ई०

४. बिल्हण , जो ज्येष्ठ कलश का पुत्र था और ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ था । इसने कई काव्यों की रचना की थी —कर्णसुन्दरी चौरी-सुरतपंचाशिका, बिल्हणचरित, विक्रमांकदेवचरित, बिल्हणीयकाव्य, बिल्हणकाव्य, (चौरीसुरत पंचाशिका का दूसरा नाम है)

५. बिल्हणदेव — सूक्तिमुक्तावली काव्य ।

६. बिल्हणशतक

प्रोफेसर औफ्रेच का विचार है कि बिल्हण ने अलंकारशास्त्र पर भी एक संक्षिप्त पुस्तक लिखी थी ।[१] सरस्वती भवन पुस्तकालय वाराणसी में बिल्हण कृत'वीरसिंहचरित' ग्रन्थ का पता लगा है । परन्तु सुभाषित ग्रन्थों में उपलब्ध श्लोकों के अतिरिक्त काव्यरूप में अभी तक बिल्हण के नाम से तीन ग्रन्थ ही प्रकाशित हुए हैं :— १. चौर पंचाशिका २. कर्णसुन्दरी नाटिका और ३. विक्रमांकदेवचरित महाकाव्य ।

चौरपंचाशिका—

इसके कई संस्करण उपलब्ध हैं, परन्तु उनके श्लोकों में पर्याप्त संख्याओं में भिन्नताएं हैं । इसके कश्मीरी और दक्षिण भारतीय संस्करणों की पूर्वपीठिका में इस काव्य की रचना का स्रोत एक प्रणय कथा कही गयी है । इसमें कहा गया है कि बिल्हण महिलपत्तन नरेश वीरसिंह की पुत्री राजकुमारी चन्द्रलेखा या शशिकला का शिक्षक नियुक्त हुआ था । परस्परानुराग उत्पन्न हो जाने से दोनों ने गान्धर्व विवाह कर लिया । जब यह गुप्त रहस्य राजा को विदित हुआ, तो उसने बिल्हण के वध की आज्ञा दे दी । जब वह बधस्थल को ले जाया जा रहा था उस समय उसने अपनी प्रियतमा की स्मृति और उसके सम्पर्क से प्राप्त सुखों का वर्णन इन पचास श्लोकों में किया ।[3] दक्षिणी संस्करण के अनुसार बिल्हण की उक्त प्रेयसी का नाम यामिनीपूर्णतिलका था ,

---

१. विक्रमा०, व्यूलर कृत भूमिका, पृ० २४

२. ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट, जि० ७, क्र०सं० ४०५६८

३. डब्ल्यू० सोल्फ द्वारा सम्पादित, १८८६ ई०

जो पांचाल नरेश मदनाभिराम की पुत्री थी ।[१] इसके टीकाकार रामतर्कवागीश (१७९८ ई०) का कथन है कि जब चौरपल्ली के राजकुमार सुन्दर विद्या में अनुरक्त हो गया , तो वीरसिंह द्वारा उसको मृत्यु दण्ड दिये जाने पर, उसने कालिका से जो प्रार्थना की थी उसका निबन्धन उक्त काव्य में किया गया है । काव्य के शीर्षक की व्याख्या से उसका कवि चौर कहा गया । बिल्हण की आत्मकथा से स्पष्ट है कि वह किसी राज षड्यंत्र में सम्मिलित नहीं हुआ था । ऐसा प्रतीत होता है कि बिल्हण ने एक डाकू की राजकुमारी के प्रति प्रणय गाथा का वर्णन किया है, जिसमें दस्यु की दयनीय स्थिति चित्रित है ।[२] अभी तक उक्त वीरसिंह की पहचान नहीं की जा सकी है । यद्यपि व्यूलर, औफ्रेच, कीथ आदि विद्वान् पंचाशिका को भाषा शैली की सरलता के कारण विल्हण कृत मानते हैं[३] तथापि डा० डे का कथन है (चौरपंचाशिका की) कथा अनेक रूपों में उपलब्ध है तथा पात्रों के नाम तथा स्थान भी भिन्न भिन्न मिलते हैं । प्राचीनतम शतकों के संग्रहों की भांति तीस श्लोकों को छोड़कर, जो कश्मीर और दक्षिण भारतीय संस्करणों में एक ही हैं, इसका शेष पाठ बिल्कुल अनिर्णीत है । अत: यह स्पष्ट है कि बिल्हण का लेखकत्व उतनी ही अल्प दृढ़ता को साथ निश्चित किया जा सकता है, जितना कि चौर और सुन्दर का । दूसरी ओर यह असं-

---

१. जे० एरायल द्वारा सम्पादित, जर्नल एसियाटिक सीरीज़, ४, ११, पृ० ४६६
मद्रास कैटेलाग, २०,८००४ इसे चौर कवि की रचना कहता है ।
एडिस्क्रिप्टिव कैटेलाग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट (सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी) जि० ७ में चौर कविकृत चौर पंचाशिका क्र०सं०—४२६३५ (अ १६३३ई०), ४१६५२, ४१६६१(अपूर्ण) का विवरण है । इसके अतिरिक्त बिल्हण के नाम से भी चौ[illegible]पंचाशिका की प्रतियां है —क्र०सं० ४०७२७, ४१६५३ और सटीक प्रति (१६८४ ई० की) ४२६५१ ।

२. [illegible], [illegible] काव्य संग्रह, ३, पृ० ४४१-६३
कीथ इतिहास (अंग्रेजी), पृ० १८८, लंदन, १९५३ ई०

३. विक्रमा०, भूमिका, पृ० २४,टि० १, कीथ (अंग्रेजी), पृ० १८८

भव नहीं है कि ये श्लोक प्राचीन काल के किसी अज्ञात कवि के प्रचलित श्लोक रहे हों, जो कालान्तर में क्रमश: बिल्हण, चौर, सुन्दर और वररुचि के नाम से विविध कल्पित कथाओं के साथ प्रस्तुत किये गये। बिल्हण अपनी आत्मकथा में किसी राज-षड्यंत्र का उल्लेख नहीं करते। इसके अतिरिक्त कश्मीरी संस्करण जो अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है का एक श्लोक अभिनवगुप्त के लोचन कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित धनिक कृतदशरूपक की टीका में उद्धृत है, जो यह सिद्ध करता है कि यह काव्य दशमी शताब्दी में विद्यमान था।[1]

परन्तु डे महोदय ने पंचाशिका के जिस श्लोक की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, वह श्लोक सूक्तिमुक्तावलि: (पृ० १५२।२६) और सुभाषितावलि: (संख्या १२८०) में 'कलशक' का कहा गया है। दूसरे पंचाशिका के समस्त श्लोक 'अद्यापि' से प्रारम्भ होते हैं। अत: बहुत संभव है उक्त श्लोक किसी प्राचीन कवि का रहा हो और कश्मीरी संस्करण में प्रक्षिप्त रूप से समाविष्ट हो गया हो।

भोज ने भी सरस्वती कण्ठाभरण (पृ० १३६) और शृंगारप्रकाश[2] में पंचाशिका के दो श्लोकों को उद्धृत किया है। डा० राघवन इन श्लोकों को किसी अज्ञात कवि का मानते हैं।[3] भोज १०५५ ई० के पूर्व दिवंगत हो चुके थे और बिल्हण ने १०६३ ई० के लगभग (कलश के शासन काल में) कश्मीर छोड़ा था। अत: प्रश्न उठता है कि चौरपंचाशिका के श्लोक भोज को किस प्रकार उप-

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, डे और दास गुप्त, कलकत्ता, १९६२ ई० द्वि०सं० पृ० ३६८, टि० १ और पृ० ३६९
निद्रानिमीलि-दृश: आदि श्लोक चौरपंचाशिका, सोल्फ संख्या ३६, लोचन टीका — नि०सा०प्रे० संस्करण, पृ० ६० और काशी सं०सी०, १३५, पृ० १६३।
वक्रोक्तिजीवित, डे, १।५१,६५, दशरूपक सावलोक, नि०सा०प्रे०संस्करण ४।२३

२. 'अद्यापि तत्कनककुण्डलघृष्टगण्डम्' और 'अद्यापि तत्कनकचम्पक- दामगौरम्' इत्यादि शृंगारप्रकाश, खण्ड, २, अ० ६, पृ० २३६, खण्ड ४, अ० २६, पृ० ६८६

३. भोजाज् शृंगारप्रकाश, डा० वी० राघवन, पृ० ८५७, मद्रास, १९६३ ई०।

लब्ध हुए होंगे ? हमें राजतरंगिणी (७।१९०-३) से ज्ञात होता है कि भोज ने पुष्कल सुवर्ण भेज कर पद्मराज की संरक्षता में कपटेश्वर तीर्थ (वर्तमान कोठेर) में एक कुण्ड बनवाया था । भोज को उसकी प्रतिज्ञानुसार पद्मराज शीशे की कलशी में नित्य मुख प्रक्षालनार्थ उक्त पापसूदन तीर्थ का जल भेजता था । आज भी इस प्रकार का एक कुण्ड कुटहार परगना में कोठेर ग्राम में स्थित है, अनुश्रुतियां जिसका सम्बन्ध मालवाधिपति भोज के साथ जोड़ती हैं ।[१] भोज के शासन के अन्तिम कुछ वर्ष भीषण संघर्ष में व्यतीत हुए थे । अत: इस कुण्ड का निर्माण १०४० ई० के लगभग हुआ होगा । इस प्रकार भोज का कश्मीर से सीधा सम्बन्ध था । वह काव्य मर्मज्ञ था ही । अत: अपने प्रतिनिधि के माध्यम से बिल्हण के उक्त श्लोक उसके पास पहुंचे होंगे ।[२] भोज ने उन श्लोकों की सराहना भी की होगी । संभवत: इसी कारण से बिल्हण को भोज से न मिल सकने का खेद था ।[३]

विक्रमांकदेवचरित में एक स्थल पर चौर्य केलि का उल्लेख हुआ है 'देवलोक की स्वेच्छाचारिणी स्त्रियां पुष्पराज से सुवासित नन्दनवन के कुंजों में एकत्र हुई धूलि के कारण चौर्यकेलि के हेतु शय्या के उपयोग से तृप्त हो रही थीं ।[४] इसी प्रकार चौरपंचाशिका (१) का अथापि तां कनकचम्पकदामगौरीं आदि और विक्रमांकदेवचरित (६।३०) तथा गता चम्पक दामगौरी शरीरयष्टि : कृशता कृशहण्या: ।' में पर्याप्त विशेषण साम्य है । इसके अतिरिक्त चौर पंचाशिका ऋतुसंहार और मेघदूत से साम्य रखती है । विल्हण कालिदास के अनुगामी थे ।

---

१. स्टायन, अनुवाद, जि० १, पृ० २८४, पर टिप्पणी १९०-१९३ पर ।

२. राजशेखर ने लिखा है कि शिष्यादि को ' के माध्यम से कभी कभी शीघ्र ही कविताएं सर्वत्र फैल जाती है । सरल और रमणीय काव्यों को प्रचार अतिशीघ्र होता है , का०मी०, पृ० १२६, पटना ।

३. विक्रमा० १८।९६

४. नन्दनवनिकुंजपुंजितैः पांसुभिः कुसुमधूलिवासितैः ।
चौर्य[illegible]शयनाप्ययोगतस्तुष्यति स्म सुरप[illegible]: ।।५।९८

यही नहीं पंचाशिका की भाषा शैली भी विल्हण के अनुरूप है। ये साक्ष्य निर्णायक तो नहीं हैं, पर परोक्ष रूप से पंचाशिका को बिल्हण की कृति सिद्ध करते हैं। सुभाषितग्रन्थों में विल्हणके नामसे अनेक प्रणयसूचक श्लोक उपलब्ध हैं[१]। जो चौर पंचाशिका में नहीं मिलते हैं। अत: विल्हण ने भी उक्त विषय पर अवश्य कोई काव्य लिखा होगा। इससे प्रतीत होता है कि कालान्तर में अधिक प्रचलित होने से बिल्हण के पूर्व प्रचलित किसी अज्ञात कवि के श्लोक भी बिल्हण के नामसे विख्यात हो गये हों। और पंचाशिका के लेखकत्व तथा बिल्हण विषयक प्रणयकथा के लेखकत्व के सम्बन्ध में निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता,

---

१. स्पृशन्त्या: क्षामत्वं मदनशर[illegible]करात्
कुरंगाक्ष्यास्तस्या शृणु सुभग कौतूहलमिदम्।
अपूर्वेति त्रासात् परिहरति ताकेलिहरिणी
न विश्वेऽप्याश्वासं दधति गृहलीलाशकुनय: ।।१७।।
गृहीतं ताम्बूलं परिजनवचोभि: कथमपि
स्मरत्यन्त: शून्या सुभग विगतायामपि नशि।
तथैवास्ते हस्त: कलित[illegible]
स्तथैवास्यं तस्या: क्रमुकफल पाली परिचितम् ।।१८।।
तीव्र: कोऽपि विजृम्भते वर[illegible]ज्वर: ।
किं ब्रूम: सुभग त्वया परिजन: कौतूहलाद्दृश्यताम्।
कण्ठे शेषम[illegible]दृग्गिरा कृत्वा सखीनां तया
गौराङ्गत्वमनङ्गतापसुहृद: सर्वा: परित्याजिता: ।।१९।।
गलत्येका मूर्च्छा भवति पुररन्या यवनयो: ।
किमप्यासीन्मध्यं सुभग निखिलायामपि निशि।
लिखन्त्यास्तत्रास्या: कुसुमशरलेखं तव कृते।
समाप्तिं स्वस्तीति प्रथमपदभागोऽपि न गत: ।।२०।।

(जल्हण कृत सूक्तिमुक्तावलि: (११७६ शकाब्द), पृ० १५६)

कांचीदामक बन्धनं सललिता कर्णोत्पलैस्ताडना
हेलालिङ्गनविभ्रमाहितरुषा मौनेन निर्भर्त्सनम् ।।

(क्रमश: जारी)

क्योंकि न तो अभी तक वीरसिंह की पहचान की जा सकी है और न पंचाशिका का पाठ निर्णय ही हो सका है । यह आवश्यक नहीं कि यह चौर्य सुरति बिल्हण ने स्वयं की हो । वस्तुत: राजपरिवारों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं ।[१] बिल्हण को इसकी प्रेरणा उसी प्रकार की किसी घटना से मिली होगी ।

पिछले पृष्ठ का अवशेष –

किं पूर्वोचितमेतदत्र सहसा विस्मृत्य मन्योर्भरा-
न्मय्युत्कण्ठमनस्यदर्शनपथं यातास्यहो कोपने ।।१३७२ ।।
तद्रूपामृतपानदुर्ललितया दृष्ट्या क्व विश्राम्यतां
तद्वाक्यश्रवणाभियोगपरयो: श्रव्यं कुत: श्रोतयो: ।
एतैस्तत्परिरम्भनिर्भररसैरङ्गै: कथं स्थीयतां
कष्टं तद्विरहेण संप्रति वयं कष्टामवस्थां गता: ।। १३७३ ।।
सैका दिक्कृतपुण्यतामुपगता यत्रास्ति मुग्धेक्षणा
स्थानं तद्वसुधा बिभर्ति सफलं तत्पदाध्यासितम् ।
धन्यं तन्नभसोन्तरं व्रजति यत्तच्चक्षुषोर्गोचरं
तेभ्यो धन्यतरं ममैव हृदयं यत्तन्मयं वर्तते ।।१३७४ ।।
पश्याम: किमियं प्रपद्यत इति स्थैर्यं मया लम्बित
किमालपतीत्ययं खलु शठ: कोपस्तयाप्याश्रित: ।
इत्यन्योन्य[illegible]तुर तस्मिन्नवस्थान्तरे
सव्याजं हसितं मया धृतिहरो बाष्पस्तु मुक्तस्तया ।।१३७५ ।।
दैवाद्दासोपराधी यदि भवति तदस्ताड्यते बध्यते वा
मौनेनेन मानप्रकटनपटुना नीयते किंकरत्वम् ।
इत्थं तस्या मयोक्तं तरलतरदृशाप्यङ्कपाली प्रसक्तं
मुक्तं मुक्ता[illegible]लालीधवलरुचितया निर्वचोलोचनाम्भ: ।।१३७६ ।।
पादाङ्गुष्ठेन भूमिं किसलयमृदुना सापदेशं लिखन्ती
भूयो भूय: क्षिपन्ती मयि सितशबले लोचने लोलतारे ।
वक्त्रं ह्रीनम्रमीषत्स्फुरदधरपुटं वाक्यगर्भं दधाना
यत्सा नोवाच किंचित्स्थितमपि हृदये तन्मनो मे दुनोति ।। १३७७ ।।
(वल्लभदेव प्रणीत सुभाषितावलि)

---

१ राज० तरंग ७ – कलश ने जिन्दुराज की पत्नी से चौर्य सुरति करना चाहा था ।

कर्णसुन्दरी[1]—

बिल्हण के यात्रा विवरण से स्पष्ट है कि वह सौराष्ट्र गया था और सोमनाथ के दर्शन किये थे।[2] वहाँ अणहिल्लपाटण नरेश चालुक्य कर्ण की सभा में उसकी रची हुई कर्णसुन्दरी नाटिका अभिनीत हुई थी।[3] इसके अतिरिक्त कर्णसुन्दरी का अन्तिम श्लोक 'सहोदरा: कुंकुम केसराणा' आदि विक्रमांकदेव चरित (१।२१) में भी उपलब्ध है। भाषा और शैली में भी कर्णसुंदरी का विक्रमांकदेवचरित से पर्याप्त साम्य है। अत: निर्विवाद रूप से कर्णसुन्दरी बिल्हण की ही रचना है।

कर्णसुन्दरी की कथावस्तु ऐतिहासिक है। हेमचन्द्र के अनुसार कर्ण के जीवन की दो महत्वपूर्ण घटनाएं थीं --कर्ण का कदम्ब कन्या के साथ परिणय और पुत्र प्राप्ति के लिए लक्ष्मी की आराधना। बिल्हण ने प्रथम घटना को अपनी नाटिका का विषय बनाया है।

कर्णसुन्दरी नाटिका में चार अंक हैं और उसका नायक निस्सन्देह चौलुक्य कर्ण है। इसमें वर्णन है कि कर्ण स्वप्न में देखी हुई कर्ण सुन्दरी के सौन्दर्य को चित्र में देखकर उसके ऊपर मुग्ध हो गया। तत्पश्चात् कर्ण सुन्दरी राजप्रासाद में कूटनीतिज्ञ अमात्य के द्वारा राजा से परिचित कराई गई। इस घटना से महिषी में ईर्ष्या उत्पन्न हो गई अत: उसने प्रतिशोध लेने के लिए कर्णसुन्दरी के वेष में एक लड़के के साथ राजा का विवाह कराना चाहा। महाराज को ठगने का यह षड्यन्त्र चतुर अमात्य द्वारा विफल कर दिया गया और उसने कर्ण सुन्दरी वेषधारी बालक के स्थान पर वास्तविक कर्णसुन्दरी प्रस्तुत कर दी।

नाट्यगुणों की दृष्टि से आधुनिक समालोचकों ने इसे रत्नावली और विद्धशाल भंजिका की असफलप्रतिकृति माना है।[4] इस नाटिका में नरेश की प्रेम

---

१. दुर्गाप्रसाद और के०पी० परब द्वारा सम्पादित, १८८८, काव्यमाला ७, बम्बई
२. विक्रमा० १८।९७
३. कर्णसुन्दरी, प्रस्तावना, पृ० ३
४. हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, एस०एन० दास तथा गुप्ता और एस०के०डे०, पृ०४७२

कथा और राजमहल के षड्यन्त्र का सजीव चित्रण कर्ण की प्रेम गाथा की वास्तविकता को प्रकट करता है।

हेमचन्द्र द्वारा द्वयाश्रय काव्य में वर्णित प्रणय कथा निम्नलिखित है :— "एक दिन एक चित्रकार कर्ण की सभा में आया और चित्रों को प्रदर्शित किया। उन चित्रों के बीच एक चित्र अप्रतिम सुन्दरी का था। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह चित्र चन्द्रपुर[१] के कदम्ब जयकेशी की पुत्री 'मयणल्ला' का है चित्रकार ने बताया कि इस राजकुमारी ने विवाह के इच्छुक नरेशों को तिरस्कृत कर दिया और एक बौद्ध के द्वारा आपका चित्र दिखाये जाने पर तुरत विवाह के लिए तैयार हो गई। राजकुमारी प्रेम विह्वल होकर पक्षियों से प्रेमी के पास संदेश ले जाने की प्रार्थना करने लगी क्योंकि वियोग असह्य हो रहा था। उसने मुझे यह सूचना देने के लिए भेजा कि विवाह करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है। पिता (जयकेशी) ने इस प्रणय-व्यापार का समर्थन कर दिया है। यही नहीं संदेशवाहक को एक हाथी सहित अनेक उपहारों को देकर आपके पास भेजा है, कर्ण ने उपहारों को प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण किया और हाथी के निरीक्षण के हेतु उपवन में गया। एक लतागृह में मयणल्ला उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। उसे देखते ही कर्ण ने चित्र के संस्कार के कारण पहचान कर, अनेक प्रश्नों के द्वारा उसकी भावनाओं को जान लिया। तदुपरान्त धूमधाम के साथ उनका विवाह हो गया।[२]

मेरुतुंग ने इस कथा को भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है — "शुभकेशी कर्णाट नरेश को उनका अश्व वन में भगा लाया। जैसे ही छायादार वृक्ष के नीचे

---

१. द्वयाश्रय ६।६६—१०१, १५३

६६ वें श्लोक की टीका में अभयतिलक गणि ने चन्द्रपुर दक्षिण में बताया है (द्वया, भाग १, पृ० ७१५) फ्लीट (कनारीज़ डिस्ट्रिक्ट, पृ० ५६८) बेलगाम जिले के 'चन्दगढ' से और मोरेज़ ने 'चन्दोर से चन्द्रपुर की एकता स्थापित की है —मजूमदार, चौलुक्याज़ आफ गुजरात, टि० १२६, पृ० ४४१, वहाँ जयकेशी (१०५०-८० ई०) शासक था — कदम्बकुल (मोरेज़) — पृ० १७६-१८७

२. वही ६।८६—१७२

वह आराम कर रहा था, जंगल में आग लग गई । आश्रय देने के कारण हुए एहसान को सोचकर वह वृक्ष के साथ ही जल मरा । तत्पश्चात् अमात्यों ने उसके पुत्र जयकेशी को सिंहासन पर अधिष्ठित कर दिया ।

कालान्तर में उसके मयणाल्लदेवी नामक कन्या उत्पन्न हुई । उसे अपने पूर्व जन्म का वृत्त स्मरण था, जिसमें वह शैव भक्त थी और उसे बहुलोद नामक स्थान पर यात्री कर न दे सकने के कारण रोक दिया गया था, अत: वह सोमनाथ का दर्शन नहीं कर सकी थी । यह सोचकर कि बहुलोद में अनुचित यात्री कर बन्द करवा सकेगी , उसने गुर्जर नरेश से विवाह करने की योजना बनाई और अपने पिता को पूर्वजन्म का समस्त वृत्त निवेदित कर दिया । तब अपने अमात्यों के माध्यम से कर्ण के पास अपनी पुत्री का विवाह संदेश भेजा, परन्तु दुर्भाग्यवश कदम्ब कन्या बदसूरती के कारण अस्वीकृत कर दी गई ।

तब वह राजकुमारी पिता की अनुमति से कर्ण के पास गई जिसकी बदसूरती को देखकर कर्ण ने निश्चय कर लिया कि कभी उससे विवाह नहीं करूंगा । मयणाल्लदेवी और उसकी आठ सखियों ने गुजरात नरेश के लिए आत्महत्या का निर्णय किया । लड़कियों की मृत्यु को न देख सकने के कारण कर्ण की मां उदयमती भी उनके साथ मरने के लिए तत्पर हो गई । अत: कर्ण ने उस कुरूप राजकुमारी के साथ विवाह तो कर लिया, परन्तु उसकी उपेक्षा करने लगा । मुंजल नामक अमात्य ने राजा के अनुचित कार्य को सुना और एक योजना बनाई । उसने राजा की नीचकुलोद्भव प्रियतमा का वस्त्र प्राप्त किया और मैणाल्लदेवी को उसे पहना दिया और उसी वेष में उसे एक रात कर्ण के पास छोड़ दिया और प्रात: कर्ण पछताया, क्यों कि वह यह समझ रहा था कि उसने नीचकुलोद्भव प्रेयसी के साथ रात बिताई है । अत: प्रायश्चित के लिए जिस समय वह लाल तपाई हुई ताम्बे की मूर्ति का आलिंगन करने का निर्णय कर चुका था, उसी समय अमात्य ने वास्तविकता का अनावरण किया । कर्ण सुगमता से आश्वस्त हो गया क्योंकि मयणाल्लदेवी ने उस रात में कर्ण द्वारा दी हुई नामांकित अंगूठी को दिखा दिया था ।[१]

---

१. प्रबन्ध चिन्तामणि, जिन विजय मुनि, पृ० ७९-८० और सी०एच०,टानी, पृ० ५४-५५

तप्त ताम्बे की मूर्ति के साथ आलिंगन करने की कथा से मिलती हुई कथा मुहम्मद अवफि ने कुमारपाल (नहवील्म के गुरुपाल राय) से सम्बद्ध बताई है । अत: यह संभव है कि उस समय प्रचलित कथाओं को मेरुतुंग ने कर्ण की प्रणाय गाथा में जोड़ दिया हो ।[१] मेरुतुंग का विवरण सुनी हुई परम्पराओं पर आधारित है, इसी से उसका विवरण कुछ विकृत हो गया है ।

बिल्हण , हेमचन्द्र और मेरुतुंग तीनों कदम्ब कन्या के साथ हुए कर्ण के विवाह के विषय में एकमत हैं । अत: यह घटना यथार्थ है । बिल्हण के द्वारा 'कर्ण सुन्दरी (कर्ण की पत्नी या कर्ण की सुन्दर पत्नी) नाम विशेषण रूप में दिया हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि अन्य दो प्रमाण उसका नाम मयणल्ल या मयणल्ला देवी कहते हैं ।

मयणल्ला देवी को मेरुतुंग कुरूप और पति की उपेक्षिता कहता है, जबकि बिल्हण और हेमचन्द्र उसे सुन्दर और कर्ण की प्रिय महिषी कहते हैं । यदि वह कर्ण की प्रिय न होती, तो बिल्हण क्यों उसकी प्रणाय कथा को उसी की सभा में प्रस्तुत कर पाते । कलचुरि आश्रय से बिल्हण १०७३ ई० (जब यश: कर्ण राजा बन चुका था) के पूर्व चला आया था और १०७४ ई० तक मालवा होता हुआ गुजरात पहुँचा होगा । अत: यह विवाह उससे पूर्व हो चुका था । मजूमदार का अनुमान है कि यह विवाह १०७० ई० के लगभग हुआ था ।[२] 'कर्ण का प्रेम, रानी की ईर्ष्या, अमात्य का कूट प्रबन्ध और सुन्दरी नायिका जो दु:ख झेलने के लिए उत्पन्न हुई थी — बिल्हण के काल के घिसे पिटे विषय थे , परन्तु वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि वह एक निर्धारित ढांचे के अन्तर्गत वास्तविक कथा को पिरो रहा था ।'[३]

---

१. हि० आफ इंडिया इलि० और डाउसन, भाग २, पृ० १६८—६९ , चौलुक्याज् आफ गुजरात, टि० १२० और १३२, पृ० ४४१

२. वही, पृ० ६३

३. वही, पृ० ६२

विक्रमांकदेवचरित—

इस महाकाव्य की रचना बिल्हण ने विक्रमांकदेव के आश्रय-काल (१०८०- १०८६ ई० के पूर्व) में की थी । इसमें चालुक्य विक्रमांकदेव षष्ठ का जीवन चरित वर्णित है । उक्त महाकाव्य हमारे अनुसन्धान का विषय है, अत: प्रस्तुत प्रसंग में इसका उल्लेख मात्र ही किया गया है ।

अध्याय-२

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति-

निरुक्त[1] के अनुसार इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है — 'इति (इस प्रकार) ह (निश्चित रूप से) आस (था)' अर्थात् जो प्राचीनकाल में घटित हो चुका है, उसका विवरण इतिहास कहलाता है। इसी प्रकार अमर के नामलिंगानुशासन में इतिहास को पुरावृत्त कहा गया है। सर्वानन्द ने उसी की व्याख्या करते हुए कहा है, —जो परम्परा से कहा जा रहा है कि यह इस प्रकार हुआ' वह इतिहास है।[2] यास्क के अनुसार 'देवापि और शान्तनु कौरवों के भ्राता हुए' और' विश्वामित्र सुदास् पैजवन के पुरोहित हुए' [illegible] है।[3]

इतिहास परम्परा का विकास-

ऋग्वेद में राजप्रशस्ति का उल्लेख मिलता है। उसी के आधार पर राजाओं की दानस्तुति और देवस्तुतियां भी उपलब्ध हैं। जो प्राचीनतम इतिहास सम्बन्धी प्रकीर्णक उल्लेख हैं। ऋगेवद में राज प्रशस्ति सम्बन्धी सूक्त नहीं मिलते

---

१. निदान भूत:' इति ह एवमासीत्' इति य उच्यते स इतिहास: —२।३।१ पर दुर्गाचार्य की वृत्ति।

२. इतिहास: पुरावृत्तम् (१।६।४) पर सर्वानन्द की टीका — इति ह शब्द पारम्पर्योपदेशेऽव्ययम्। इतिहास्तेऽस्मिन्नितिहास:। शौनक कृत बृहद्देवता (४।४६) और महाभारत अनुशासन पर्व में(६७।३) भी इतिहास को पुरावृत्त कहा गया है।

३. निरुक्त २।३।१ और २।७।२

जबकि ऋषियों की प्रशस्तियों में पूरे पूरे सूक्त संकलित हैं। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में राजप्रशस्थियों से सम्बन्धित कुछ ऋचाएं उद्धृत हैं। वैदिक साहित्य में गाथा और नाराशंसी के उल्लेख से इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है।[१] यद्यपि गाथा और नाराशंसी धार्मिक परम्पराओं के अनुसार निर्मित हुए, तथापि वे पूर्णतः मानवीय कृति[२] होने के कारण वैदिक ऋचाओं (जो अपौरुषेय कही जाती हैं) से बिल्कुल पृथक स्थान रखती हैं।[३] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार गाथा-नाराशंसी 'ब्रह्म' का अधम प्रकार है और उनका पाठ करने वाले के दान को वर्जित कहा है। अथर्ववेद में गाथा और नाराशंसी की गणना इतिहास और पुराण के साथ की गई है और इनके जो स्वल्प उदाहरण वैदिक साहित्य में मिलते हैं, वे अपनी ऐतिहासिक प्रकृति को व्यक्त करते हैं।[४] अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर, क्षत्रिय-गायकों को अपने यजमानों के वीर कृत्यों को प्रकट करने वाली गाथाओं का गान करना चाहिए। इन गायकों को गाथिन : कहते थे जो प्रायः लोकभाषा में थी।[५] 'गाथा' शब्द का प्रथम दर्शन ऋग्वेद की परवर्ती ऋचाओं में उपलब्ध होता है।[६] नाराशंसी गाथाओं की भांति इन्द्र गाथा [७] और यज्ञ गाथाएं [८] भी प्राप्त होती हैं।

---

१. १०।१०।३ और ७।६।१,२ और पाठक, पृ० १ और टि० ४

२. काठक संहिता १४।५, तै० ब्रा० १।३।२।६ , ७।। के आधार पर मैक्डानल और कीथ गाथाओं को असत्य कहते हैं —

" Vedic texts themselves recognize that the literature thence resulting was often false to please the donors "

(वैदिक इन्डेक्स, भाग २, पृ० ८२, ८३

और विन्टरनित्स की भी वही धारणा है —

" The fact that, in these songs, panegyrics were more important than historical truth, is evident from the vedic texts themselves, for they declare these Gāthās to be lies".

(हिं० लिट०, जिल्द १, पृ० ३१४, टि० १)

परन्तु इन उदाहरणों का अभिप्राय केवल इन्हें मानव कृत बताना है, क्योंकि सारी मानवीय कृतियां अनृत (नश्वर) होती हैं — प्रकृतिं सत्यमित्याहुः विकारोऽनृतमुच्यते। वायु पुराण (भगवद्दत्त कृत, भारतवर्ष के बृहदितिहास०, जि०१, पृ० १६)

३. पाठक, पृ० २ ४. कात्यायन श्रौतसूत्रम २०।२।७ ५. भारतवर्ष का बृ०इति०पृ१६

६. ज०अ० ओरि० सोसा०, जि० १७, पृ० ६५ (शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

नाराशंसी का शाब्दिक अर्थ मनुष्य की प्रशस्ति है[१]। यह वैदिक ऋग्वेद में अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु कालान्तर में यह अपने शाब्दिक अर्थ से दिवंगत नरों के कार्यों एवं विचारों की प्रशस्ति के अर्थ में विकसित हुआ नाराशंसी जो नराशंस का विशेषण है, ऋग्वेद में गाथा और रैभीस के साथ प्रयुक्त हुआ है और इसका पृथक् अस्तित्व है, परन्तु परवर्ती मन्त्रों में यह गाथा के एक प्रकार के रूप में प्रयुक्त होने लगा।[२]

कालान्तर में गाथाओं के साथ साथ इतिहास और पुराण भी दैनिक पाठ के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिए गए।[३] विवाह, सीमन्तोन्नयन, अश्वमेध आदि अवसरों पर तत्कालीन शासक, योद्धाओं और सोम की प्रशंसा में गाथाएं गाई जाने लगीं। जनमेजय, परीक्षित, मरुत्त ऐक्ष्वाकु, क्रैव्य पांचाल और भरत (दुष्यन्त पुत्र) की गाथाएं ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। इसी प्रकार सूत्र साहित्य में भी दश नाराशंसियाँ, जो दश दिनों के क्रम में गायी जाती थीं, सुरक्षित हैं।[४]

अथर्ववेद में ऐहिक विषयों का प्रतिपादन हुआ है। इसमें ही स्पष्टतः 'इतिहास पुराण' की ऐतिहासिक परम्परा परिलक्षित होती है। गोपथ ब्राह्मण (१।१०) में इतिहासवेद (उदीची (उत्तर) और पुराण वेद 'ध्रुवा' (पैरों के नीचे

---

७. ऐतरेय ब्राह्मण ३०।६, ऋग्वेद ८।३०,१

८. ऋग्वेद ३६।७, ऐतरेय ब्राह्मण ३।४३ और 'यस्य यज्ञे पुरा गीता गाथा दिव्य महर्षिभिः'। वायुपुराण ७३।४१

---

१. येन नरा प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्रः। —निरुक्त ६।६

२. पाठक, पृ० ५

३. शबर भाष्य ६।५,६,८, गोपथ ब्राह्मण १।२१, तैत्तरीयआरण्यक २।९-११ आदि

४. पाठक, पृ० ५-६

की दिशा) से उत्पन्न कहे गये हैं ।[१] शतपथ ब्राह्मण (१३ काण्ड, अ० ४, ब्राह्मण ३) में अश्वमेध यज्ञ का विस्तृत वर्णन है । उसी प्रकरण में यज्ञीय अश्व-मोचन के दिन अमात्य और पुत्रों से परिवृत्त नरेश को होत्रि पारिप्लवाख्यान सुनाता है । पारिप्लव की दश रात्रियों में अष्टम और नवम इतिहास पुराण के लिए निर्धारित हैं ।[२] छान्दोग्योपनिषद् में अथर्वाङ्गिरस मधुकर हैं, इतिहास पुराण पुष्प हैं —उन्ही अथर्वाङ्गिरसों ने इन इतिहास पुराणों को अभितप्त किया । अभितप्त हुए उससे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, अन्न आदि रस उत्पन्न हुए ।[३] अत: इतिहास पुराण का अवतरण अथर्ववैदिक परम्परा से हुआ ।

पुराण लौकिक शास्त्र है और वेदों से भिन्न है । यह समयानुसार परिवर्तनशील है । इसीलिए तन्त्रवार्तिक (१।३।३) वेद को अकृत्रिम और पुराणों को कृत्रिम कहता है । कुमारिकाखण्ड (४०।१६८) में इतिहास और पुराण लोकगौरव से भिन्न भिन्न कहे गये हैं । पुराण के अर्थविशारद वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि के आधार पर पुराण संहिता का निर्माण किया ।[४] महर्षि वात्स्यायन ने लोकवृत्त को इतिहास पुराण का वर्ण्य-विषय कहा है ।[५] इस प्रकार लोकवृत्त इतिहास पुराण के वर्ण्य-विषय हुए और दोनों का वर्ण्य विषय एक होने से दोनों अभिन्न सिद्ध होते हैं । महाभारत अपने को एक ओर इतिहास[६]

---

१. श०भाष्य १३।४,३,१२, छान्दो०उ० ७२।१,२ अर्थशास्त्र १।३

२. उपाध्याय, पु० विमर्श, चौखम्भा , पृ० ५०-५५, १९६५ और घोषाल स्टडीज, पृ० १६,१७, कलकत्ता १९५७

३. अथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत: । इतिहास: पुराणं पुष्पं.... ते वा एते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपंस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत । —छा० ३।४।१।२

टि०-ये अथर्वाङ्गिरस और भृग्वाङ्गिरस ऋषिगण ही वैदिक [illegible] परम्परा के प्रवर्तक थे —दृष्टव्य, पाठक, ए०हि०इंडिया, पृ० ६ से १७

४. पु०विमर्श, उपा० पृ० ३६ और ६७

५. लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य विषय: —न्याय भाष्य —४।१।६१

६. उद्योग पर्व १३६।१८ और आदि पर्व २।२८५

कहता है तो अन्यत्र पुराण[1] भी कहता है । वायु पुराण अपने को इतिहासं पुरातनम् (१०३।४८,५१) कहता है, पुराण तो वह है ही । अत: प्रारम्भ में इतिहास और पुराण अभिन्न थे और उनके मध्य विभाजक रेखा खींचना अति कठिन है । परन्तु छान्दोग्योपनिषद् के भाष्य में शंकर के अनुसार दोनों भिन्न हैं (७ वीं शती) प्राचीन आख्यान का अंश इतिहास है, पर सृष्टि प्रक्रिया वर्णन पुराण है ।[2] प्रारम्भ में पुराणों का विषय लोकवृत्त था पर ५ वीं या ६ वीं शती तक उसमें धर्मशास्त्र का भी निवेश कर लिया गया ।[3] पुराणों के पंच लक्षणों के निर्माण तक, उसमें धर्मशास्त्र को स्थान नहीं मिल पाया था ।

पुराणों के पंचलक्षण प्रख्यात हैं — (१) सर्ग—जगत् के नाना पदार्थों की सृष्टि । (२) प्रतिसर्ग—प्रलय और पुन: सृष्टि । (३) वंश—ब्रह्मा से उद्भूत समस्त वंशों की वंश परम्परा । (४) मन्वन्तर—विविध काल-मान का सूचक । (५) वंश्यानुचरित —पूर्वोक्त वंशों में उत्पन्न ऋषियों और राजाओं का विशिष्ट विवरण ।[4] इन पंचलक्षणों में वंश और वंश्यानुचरित इतिहास की परम्परा के विकास में दृष्टव्य हैं । मनु से ही पौराणिक वंश-विवरण प्रारम्भ होता है । वे सूर्यवंश के प्रथम नरेश थे । उन्हीं से चन्द्र आदि वंश प्रवर्तित हुए । मनु के इक्ष्वाकु आदि नौ पुत्र और एक ऐल नामक कन्या थी, जिनसे भिन्न भिन्न राजवंशों का जन्म हुआ । उनके वंश-वृक्ष और उनकी कृतियों पर पुराण के इस भाग में विवरण मिलता है । पौराणिक वंशावली में शिशुनाम , नन्द, शुंग, कण्व, आन्ध्र, आन्ध्रभृत्य, मित्र नागवंशी नरेशों

---

१. आदि पर्व १।१७
कौटिल्य ने पुराण को इतिहास के अन्तर्गत माना है (१।५)

२. इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसो: संवादादि: `उर्वशी ह्यप्सरा इत्यादि ब्राह्मणमेव ।
पुराणं (असद्वा इदमग्र आसीदित्यादि शांकर भाष्य । पु० विमर्श, उपाध्याय कृत, पृ० ६

३. वही पृ० ४०

४. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंश्यानुचरितं चैति पुराणं पंचलक्षणम् ।। यह लक्षण किंचित् पाठभेद से समस्त पुराणों में मिलता है । विष्णु पु० ३।६।२४, मार्कण्डेय १३४।१३ और अग्नि १।१४ आदि ।

—उपाध्याय, पृ० १२५-१२७

से सम्बद्ध पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री मिलती है ।[१] इतिहास के पुरातात्त्विक उत्खननों से भी पुराणों की ऐतिहासिक सामग्री की यथार्थता की पुष्टि होती है ।[२]

इतिहास की परिभाषा —

सर्व प्रथम अर्थशास्त्र में इतिहास के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख मिलता है । कौटिल्य[३] ने ऋक्, साम, यजुर्वेदों के अतिरिक्त अथर्ववेद और इतिहास का उल्लेख किया है । इतिहास वेद के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र परिगणित हुए हैं ।[४]

१. पुराण— पंचलक्षण समन्वित पुराण साहित्य । (जिसमें धर्मशास्त्र सम्मिलित नहीं है)

२. इतिवृत्त — इसका शाब्दिक अर्थ 'घटना' है । भरतमुनि[५] इतिवृत्त को नाटक का शरीर कहते हैं और सागरनन्दी ने नाटक-लक्षण रत्नकोश में इतिवृत्त को आख्यान का पर्याय कहा है । अत: इतिवृत्त प्राचीन काल में घटित हुई घटनाओं का विवरण है) जो इतिहास के वर्तमान अर्थ के अधिक निकट है ।

३. आख्यायिका —यह इस समय तक आख्यान से सम्बद्ध साहित्य की एक विधा हो चुकी थी । क्योंकि कौटिल्य के पश्चात् पतंजलि

---

१. ए०इं० हिस्टा० ट्रैडीशन्स, एफ०ई० पार्जिटर , १६२२, क्रोनोलाजी आफ ए० इंडिया , डा० यस०एन० प्रधान, कलकत्ता, १६२७, हे०च० राय चौधरी, पो०हि०-
ए०इंडिया —पृ० २,३,६-६, २७-३६, ४०-४२,५०-५२,१०४;११४;—११७, २२५-२७, ४०६-४०८ और पुराणों की इक्ष्वाकु वंशावली, रायकृष्णदास, ना०प्र० पत्रिका, पृ० २२६-२५१ आदि ।

२. डा० सान्कलिया ने माहेश्वर और त्रिपुरी के उत्खननों से पुराण सम्मत कई महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं —पुराण ए०आर्कि० मग्नस् जर्नल,(इण्डि०)१६६६

३. अर्थशास्त्र, १।अ० ३

४. वही, अध्याय-५, पुराणम्- इतिवृत्तम् आख्यायिका—उदाहरणं धर्मशास्त्रम् , अर्थशास्त्रं चेति इतिहास: ।

५. नाट्यशास्त्र, इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरम् (१६।१) पर, सागरनन्दी टीका,इतिवृत्तम् आख्यानम् ।

महाभाष्य वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी आख्यायिकाओं का उल्लेख करता है ।

४. उदाहरण -- का भाव है, किसी वृत्त या चरित या सिद्धान्त को समझाने के लिए किसी प्रसिद्ध पूर्ववृत्त या घटना का उल्लेख करना । अत: यह इतिहास की एक शैली के रूप में प्रयुक्त है ।

५. धर्मशास्त्र-- इस साहित्य में मानवीय आचार व्यवहार का विवरण है ।

६. अर्थशास्त्र--सामाजिक अर्थ एवं राजनीति का शास्त्र ।

कौटिल्य की परिभाषा इतिहास का विस्तृत क्षेत्र निर्धारित करती है । इसमें राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास अन्तर्भूत हैं । डा० मजूमदार ने इस परिभाषा का निष्कर्ष उचित ही प्रस्तुत किया है --

" यह केवल ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं का ही अध्ययन नहीं करता अपितु उनसे सम्बद्ध परम्पराएं (अनुश्रुतियां) राजनीतिक सामाजिक, नैतिक और आर्थिक विचारधाराओं और उनके व्यावहारिक रूप, वैधानिक उपयोग और संस्थाओं आदि का अध्ययन प्रस्तुत करता है । अपने संवर्द्धित रूप में विशाल महाकाव्य महाभारत इसी प्रकार के इतिहास के अति निकट है ।"[१] जिनसेन कृत जैन ने आदि पुराण में इतिहास को प्रामाणिक पुरावृत्त कहा है और उसे इतिवृत्त, ऐतिह्य और आम्नाय के रूप में ग्रहण किया है ।[२]

यद्यपि कालान्तर में इतिहास का अर्थ संकुचित हो गया क्योंकि पुराण, , धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र स्वतंत्र विद्याओं के रूप में विकसित हुए, तथापि इतिहास की

---

१. " It seems to embrace the study not only of historical persons and events, but also of traditions concerning them, the political, social, moral, ~~moval~~ and economic theories and their practical applications, legal usages and institutions etc. The great epic Mahābhārata, in its extant form, closely corresponds to this type of Itihāsa."

Dr.R.C.Majumdar, Historians of India ,Pakistan & Cylon, P.14,London ,1961.

२. आदि पुराण १।२४-५ , वही मजूमदार, पृ० १५

कौटिल्यकृत परिभाषा के निकट अन्य उल्लेख भी हैं —

' धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष के उपदेश से युक्त कथारूप में प्रचलित पुरा-वृत्त इतिहास कहा गया है ।'[1]

इतिहास की साहित्यिक परम्परा और साहित्यशास्त्र —

वैदिक काल से मौखिक रूप में चली आती हुई यह इतिहास परम्परा ४००ई० पूर्व से ४०० ई० के मध्य तक साहित्यिक विधा को प्राप्त हो चुकी थी । डा० पाठक का कथन है —" वैदिक परम्परा का पतन और वैदिक परम्पराओं में अविश्वास करने वाले नंद तथा मौर्य राजवंशों का उदय हुआ, तदुपरान्त ब्राह्मण धर्म के उद्धारक सातवाहन, शुंग, कण्व राजवंशों के शक्ति में आने पर प्राचीन ब्राह्मण धर्म नये रूप में परिवर्तित होकर उपस्थित हुआ । फलत: वैदिक धर्म के निचले स्तर का धार्मिक साहित्य विकसित हुआ । इस प्रकार धार्मिक आवश्यकता के कारण इतिहास पुराण साहित्य को एक सुव्यवस्थित साहित्यिक विधा का रूप दे दिया गया, जिसमें विविध सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के निवेश से इतिहास का रूप विकृत हो गया ।[2] इसके अतिरिक्त महाभारत की परम्परा और शक प्रभावों के कारण युद्धप्रिय नरेशों में अपने कार्यों का विवरण सुरक्षित रखने की भावना का उदय हुआ और राजप्रशस्ति काव्यों का जन्म हुआ । फलत: राजाओं ने पाण्डुलिपि संग्रहालयों (आर्काइव्ज) का संरक्षण करना प्रारम्भ किया । इन संग्रहालयों के उल्लेख मौर्य युग से प्राप्त होने लगते हैं ।[3]

इस सुव्यवस्थित इतिहास ~~की~~ की साहित्यिक परम्परा की पृष्ठभूमि में

~~१. आदि पुराण १।२४-५, वही मजूमदार, पृ० १५~~

१. धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पुरावृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ।। —विष्णु पुराण की श्रीधर स्वामी कृत टीका में उद्धृत(१।१४) और आप्टे

२. पाठक, पृ० १८

३. अर्थशास्त्र, २।१५ आर०शामशास्त्री का अनुवाद, बंगलौर, १६१५

भी प्राचीन इतिहास-पुराण परम्परा थी । फलत: वंश परम्परा पृथक् रूप में अस्तित्व में आई । पौराणिक युग में सूतों[१] का कर्तव्य था कि वे देवताओं, ऋषियों और प्रतापी नरेशों की वंशावलियां तथा उनके कृत्यों को सुरक्षित रखें । उनको पुराणों में वंशशंसक, पौराणिक और स्तवक कहा गया है ।[२] पार्जिटर[३] महोदय ने बीस भिन्न भिन्न वंशों के वंशवृक्षों की तुलनात्मक सारिणी प्रस्तुत की है । उनका निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि ये पौराणिवंशावलियां कालान्तर में रुक गईं । उदाहरणार्थ मगध की राजवंशावली गुप्त राजवंश के उदय के पश्चात् नहीं मिलती । इसका कारण है[४] कि राजाओं ने पाण्डुलिपि संग्रहालयों (आर्काइव्स) का निर्माण किया, जहां वंशावलियों के विवरण सुरक्षित रखे जाने लगे । इससे सूतों का कार्य अधिक बढ़ गया । इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य पेशे भी ग्रहण कर लिये (१) क्षत्रियों के रथ, हाथी और अश्वों के चालक के रूप में (२) चिकित्सक के रूप में । यही नहीं मनुस्मृति में उनकी अधम उत्पत्ति भी मान ली गई (ब्राह्मण मां और क्षत्रिय पिता के प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न) इसके अतिरिक्त पुराण इस काल में अतिप्राचीन पवित्र ग्रन्थ माने जाने लगे । अत: उनमें नवीन वंशावली को जोड़ना आधुनिकता का सूचक समझा जाने लगा ।

'पुराण इतिहास' की वंश और वंश्यानुचरित ऐतिहासिक परम्परा बौद्ध जैन, और संस्कृत भाषाओं में विकसित होती रहीं । इन्हें इनकी प्रकृति के आधार पर पाठक जी ने चार भागों में वर्गीकृत किया है ।[५]

---

१. वायुपुराण, १।३१-३२, पद्मपुराण ५।१, २७-२८, पार्जिटर, पृ० १५
२. इ०ए०, जिल्द २२, पृ० २५३
३. पार्जिटर, पृ० १४४
४. डा० मजूमदार, हि०इ०पा०सी०, पृ० १६-१७
५. पाठक, पृ० १६

१. बौद्ध-वंश-परम्परा[1]—ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व इसका उदय हुआ । महा-वस्तु में वर्णित राजवंश, बुद्धवंश (सुत्तपिटक का) से प्रारम्भ होकर, सिंहल अट्ठकथा, दीपवंश, महावंश आदि ।

२. जैनवंश-परम्परा —अपने धर्म को जनसाधारण में प्रचार करने के लिए जैन-धर्मावलम्बियों ने भी इस वंश परम्परा को अंगीकृत किया । जिनसेन कृत हरिवंश रामायण आदि का जैन धर्म के अनुरूप निर्माण हुआ ।

३. राज सचिवालय और दरबार में पल्लवित परम्परा — मौर्य-काल से राज पाण्डु-लिपि ग्रन्थालयों (आर्काइव्स) के प्रचलन के निश्चित उल्लेख मिलते हैं । चीनी यात्री ह्वेनत्सांग, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, याज्ञवल्क्यस्मृति, बृहस्पति और व्यास 'पूर्वा' (प्राचीन इतिहास) दानपत्रों पर लिखवाने का आदेश करते हैं ।[2] इन वंशावलियों की सामग्री नैपाल, काश्मीर, गुजरात और आसाम में सुरक्षित है, क्योंकि ये प्रदेश मुस्लिम आदि विदेशी आक्रमणकारियों के प्रकोप से अपेक्षाकृत बहुत कम पीड़ित हुए ।[3] राज अभिलेखों में भी वंशावलियां संक्षेप में उपलब्ध होने लगीं ।

४. संस्कृत साहित्य में प्रचलित वंशपरम्परा — पुराणों के वंश और वंश्यानुचरित परम्परा में वंश साहित्य का प्रथम ग्रन्थ हरिवंश[4] उपलब्ध होता है । हरिवंश महाभारत का खिल होते हुए पुराणों के पंचलक्षणों से समन्वित है । उसमें अन्य पुराणों की भांति ही राजवंशावलियां मिलती हैं । पुराणों से उसमें यही अन्तर है कि वह महाभारत का खिल है । संस्कृत के वंश साहित्य को उनकी वर्णन प्रकृति

---

१. दृष्टव्य- दी पाली क्रॉनिकल आफ सीलोन और दी पाली कैनन एण्ड इट्स कमेन्ट्रीज़ ऐज ऐन हिस्टारिकल रिकार्ड ।
हि०इ०पा०सी०,पृ० २६-५६,१६६१

२ पाठक , पृ० १६,२०

३. मजूमदार, हि०इ०,पा०सी०,पृ० १७

४. हरिवंश, चित्रशाला प्रेस, पूना १६३६ और वीणापाणि, पाण्डेय का हरि० का०सां०अध्ययन, सूचना विभाग,उत्तरप्रदेश,१६६०

के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है -(१) वंश साहित्य-जिसके अन्तर्गत राजवंशावलियों का प्राधान्य है। रघुवंश, अश्मकवंश[१] क्षेमेन्द्र कृत शशिवंश[२] और नृपावली[३] हेलराजकृत पार्थिवावली,[४] एकादश राजकण्ठाः[५] हर्षकवि कृत गौडोर्वी-कुल-प्रशस्ति,[६] अतुल कृत मूषिक वंश,[७] रुद्रकृत राष्ट्रौयुधवंश[८] और कल्हण-कृत राजतरंगिणी इस श्रेणी के अन्तर्गत आयेंगी।

(२) व्यक्तिविशेष का चरित कथन- विविध शीर्षकों के आधार पर इनकी अनेक श्रेणियां हो सकती हैं -

क. चरित काव्य-अश्वघोष कृत बुद्धचरित, बाण कृत हर्षचरित, पद्मगुप्त परिमल कृत नवसाहसांकचरित, बिल्हण कृत विक्रमांकदेवचरित, सन्ध्याकरनन्दि कृत रामचरित आदि।

ख. अभ्युदय काव्य-शंकुक कृत भुवनाभ्युदय, सोमेश्वर कृत विक्रमांकाभ्युदय आदि

ग. वध काव्य (माघ) शिशुपाल वध, वाक्पतिराज कृत गौडवहो आदि

घ. विलास काव्य-जल्हण कृत सोमपाल विलास[९] बालचन्द्रसूरि कृत बसन्त-विलास आदि।

ङ. विजय काव्य-[१०] पाताल विजय (अनुश्रुति के अनुसार पाणिनि कृत), वासुदेव कृत (९ वीं शताब्दी) युधिष्ठिर विजय, रत्नाकर कृत हरविजय आदि।

---

१. भामह के काव्यालंकार में उल्लिखित १।३४(ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते)

२. क्षेमेन्द्र कृत कविकण्ठाभरण -सन्धि ३,४,५ में इस ग्रन्थ के ५ श्लोक उद्धृत हैं।

३. राजतरंगिणी १।१३

४. वही १।१७

५. वहीं १।१४

६ नैषध, ७।११०

७. ट्रावनकोर आर्के, सीरीज २, पृ० ८७-११३

८. कृष्णमाचारी द्वारा संपादित, गा०ओ० सीरीज, बड़ोदा, १९१७

९. श्रीकण्ठचरित, २५।७५

१०. पाठक, पृ० १०२

इस साहित्यिक परम्परा का प्रधानत: दो रूपों में विकास हुआ — गद्य और पद्य। गद्य के आख्यायिका और कथा दो रूप है। यद्यपि आख्यायिका और कथा वैदिक काल से स्मृत होते रहे तथापि उपलब्ध सर्वप्राचीन ग्रन्थों में वाणाकृत हर्षचरित और कादम्बरी ही आख्यायिका और कथा के स्वरूप निर्धारण में प्रधान सहायक है क्योंकि बाण ने हर्षचरित को आख्यायिका[१] और कादम्बरी को कथा[२] कहा है। बाण के वर्ण्य विषय के अनुसार यह स्पष्ट है कि महाकाव्य की परिधि के भीतर सत्यवृत्त का चित्रण आख्यायिका और कल्पनाप्रसूत कथावस्तु वाली कथा कहलाती थी। संभवत: इन्हीं ग्रन्थों को दृष्टि में रखकर अमरकोषकार (११००ई०) ने भी यही परिभाषा प्रस्तुत की है।[३]

भामह का कथन है कि आख्यायिका में कथावस्तु व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर रहती है। वक्ता स्वयं नायक होता है, कथा आकर्षक गद्य में वर्णित होती है, जो उच्छ्वासों में विभक्त क रहती है और बीच बीच में भावी [illegible] की सूचना के लिए वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग रहता है। कवि काव्यात्मक कल्पनाओं के प्रयोग में स्वतंत्र रहता है। कथा में कन्या-हरण, युद्ध, वियोग और नायक की अन्तिम विजय (अभ्युदय) का वर्णन रहे तथा कथा कल्पित रहे, वक्ता लेखक से भिन्न हो, उच्छ्वासों में विभक्त न हो और न वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का ही प्रयोग हो। उसकी भाषा संस्कृत या अपभ्रंश हो सकती है। दण्डी[४] और विश्वनाथ[६] कोई निश्चित नियम नहीं निर्धारित करते और भामह के नियमों को ही मान्यता देते हैं।

---

१. हर्षचरित, भूमिका श्लोक १६

२. कादम्बरी, भूमिका श्लोक २०

३. आख्यायिकोपलब्धार्था ----------- ।।५।।
प्रबन्ध कल्पना कथा ----------- ।।६।। का० १, वर्ग ६

४. काव्यादर्श १।२३-३०

५. काव्यालंकार १।२५,२६,२७,२८हेमचन्द्र कृत
काव्य[illegible] ८।७

६. विश्वनाथ भी इससे सहमत हैं —
आख्यायिका कथावत् कवेर्वंश[illegible]नम्।
अस्यामन्यकवीनाञ्च वृत्तं गद्यं क्वचित् क्वचित्।। साहित्य दर्पण ।।

इस प्रकार प्राचीन काव्यशास्त्रियों के परस्पर विरुद्ध विचारों से, हम आख्यायिका और कथा के निर्णीत स्वरूप के निर्धारण में असमर्थ हैं। " तो भी, प्रस्तुत विवाद से यह स्पष्ट है कि गद्य की दोनों विधाओं की एक विभाजक रेखा है। परम्परागत नियमों से भिन्न, आख्यायिका सामान्यत: व्यक्तिगत अनुभव का वर्णन करने वाली और आत्म कथा, परम्परा और अर्द्धऐतिहासिक थी, जबकि कथा निश्चितत: काल्पनिक जो (दण्डी के अनुसार) प्रथम पुरुष में वर्णित हो, परन्तु जो मुख्यत: कल्पनाप्रसूत हो। ये प्राचीन प्रकार कालान्तर में संशुद्ध हुए और यह संशोधन मुख्यत: बाण द्वारा अपने दो काव्यों में प्रस्तुत आदर्श पर आधारित हुआ।"[१] क्योंकि हम देखते हैं कि रुद्रट ने सार्वभौम नियमों के रूपों में बाण के काव्यों की प्रमुख विशेषताओं को उपस्थित किया है।

रुद्रट[२] का कथन है" कथा के प्रारम्भ में कुछ श्लोकों में देवताओं, गुरुओं के नमस्कार के साथ ~~संक्षेप रूप में~~ अपना और अपने वंश का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करे। फिर अनुप्रास युक्त लघु अक्षरों वाले गद्य से पुरवर्णन आदि (महाकाव्य के वर्ण्य विषयों) के द्वारा कथावस्तु का विस्तार करे अथवा दूसरी विधि के अनुसार प्रपंचपूर्ण अन्य कथा को उपन्यस्त करके प्राकरणिक कथा को प्रारम्भ करे। इसके अतिरिक्त कन्यालाभ-फल वाली शृंगारपरक कथा का संस्कृत तथा अन्य (प्राकृतादि) भाषाओं में अथवा अगद्य (छन्दोबद्ध) में विस्तार करे।"

" कथावत्‌ ही आख्यायिका में भी छन्दों में देव और गुरुओं को नमस्कार करके कवियों का परिचय दे। तदनन्तर नृप-भक्ति, परगुण संकीर्तन अथवा अन्य प्रयोजन को लेकर अक्लिष्ट रूप में रचना का कारण कहे। आख्यायिका भी गद्य में रचे और गद्य में ही अपना और स्ववंश कथन करे। इसमें भी सर्गवत् उच्छ्‌वासों में

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, ले० सुशीलकुमार दे, पृ० २०३-४, कलकत्ता, १९४७ प्रथम संस्करण।

२. काव्यालंकार १६।२० - ३२, विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला १३६, रामदेव शुक्ल, १९६६

रचना करे, जिसमें प्रारम्भ में दो श्लिष्ट आर्या छन्दों को सामान्य और उस (भावी घटना के संकेतार्थ) अर्थ में निबद्ध करे । वर्तमान और भावी अर्थों में संशयावस्था में अवसर के अनुकूल किसी पात्र से अन्योक्ति, समासोक्ति अथवा श्लेष अलंकारों में एक या दो का पाठ कराये । कथावस्तु के अनुरूप आर्या, अपरवक्त्र, पुष्पिताग्रा अथवा मालिनी आदि छन्दों में किसी एक का प्रयोग करे ।" प्रसंगानुकूल काव्य कथा, आख्यायिका में विरुद्ध प्रतीत होती हुई सप्रयोजन वस्तु और अन्तर्कथाओं का निबन्धन करे । नायक के राज्य विनाश आदि का, जिसका अन्त अभ्युदयकारी हो, वर्णन करे और मुनि के प्रसंग से मोक्ष का कथन करे । काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु (विक्रमाब्द ११२५) ने भी कथा और आख्यायिका के उदाहरण में क्रमश: कादम्बरी और हर्षचरित का ही उल्लेख किया है ।[१] यदि संस्कृत के गद्य साहित्य पर दृष्टिपात किया जाय तो कथा और आख्यायिका के काव्यशास्त्रों में दिये हुए विभेद का पालन परवर्ती गद्यकारों ने नहीं किया । वस्तुत: दण्डी, सुबन्धु और बाण ने गद्य लेखन के अपने स्वतंत्र शिल्पों को जन्म दिया । फलत: कथा और आख्यायिका के भेद के सम्बन्ध में उनमें परस्पर मतैक्य नहीं है ।

साहित्यिक विधा के रूप में वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी के उल्लेख पतंजलि महाभाष्य में उपलब्ध है । दण्डी कृत दशकुमार चरित और सुबन्धु कृत वासवदत्ता ग्रन्थ कल्पनाप्रसूत होने से आख्यायिका की कोटि में नहीं आते । केवल हर्षचरित आख्यायिका ही तथाकथित अर्थों में खरी उतरती है । हर्षचरित की कथावस्तु ऐतिहासिक है । साहित्यशास्त्र में वर्णित महाकाव्य के वर्ण्य विषय नगर, नदी, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय आदि के अनुसार बाण ने हर्षचरित के कथानक को पल्लवित किया है । इस शैली को उन्होंने संभवत: कालिदास के रघुवंश से ग्रहण किया है

---

१. काव्यालंकार (टीका), पृ० ४२० और ४२१

यदि इस प्रकार के वर्णनों को उसमें से हटाकर मूलवृत्त का अध्ययन किया जाय , तो उसमें विशुद्ध ऐतिहासिक तत्त्व मिलेगा ।

गद्य साहित्य की दूसरी विधा, जिसमें गद्य और पद्य का प्रयोग रहता है,[१] चम्पूकाव्य है । यह धारा बाण के गद्य शिल्प का आधार लेकर विकसित हुई, क्योंकि समास बहुला, अलंकृत, बृहद्वाक्यों वाली शैली का प्रयोग है और प्रख्यात कथावृत्त को लेकर चलने के कारण आख्यायिका के बिल्कुल निकट है । त्रिविक्रम भट्ट कृत नलचम्पू , और मदालसा चम्पू (६१५) सोमदेव सूरि कृत यशस्तिलक चम्पू (६५६ ई०) हरिश्चन्द्र कृत जीवन्धर चम्पू आदि उल्लेख्य हैं । हाल में ही राजा सोमेश्वर कृत (११२६- ११३८ ई० विक्रमांकाभ्युदय एक चम्पू काव्य प्रकाशित हुआ है ।[२] पाठक जी इसे आख्यायिका कहते हैं[३] जबकि गद्य पद्य मिश्रित शैली में लिखे होने से इसे चम्पू काव्य ही कहना अधिक समीचीन है । यह ग्रन्थ अपूर्ण है और इसके केवल तीन उल्लास ही उपलब्ध हैं ।

दृश्य काव्यों को, उनकी कथावस्तु के आधार पर, तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है -प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र । प्रख्यात नाटकों का इतिवृत्त इतिहासादि ग्रन्थों में प्रसिद्ध होता है - जैसे महाभारत, रामायण के आख्यानों पर आधारित नाटक, शाकुन्तल, वेणीसंहार उत्तररामचरित, बालरामायण आदि और विशुद्ध ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस, देवीचन्द्रगुप्तम् । उत्पाद्य नाटकों का इतिवृत्त काल्पनिक होता है जैसे मृच्छकटिक मालती-माधव आदि । मिश्र नाटकों में प्रख्यातवृत्त में कल्पना का विशेष पुट रहता है - जैसे मध्यम व्यायोग (भास कृत) पंचरात्र आदि नाटक । प्रस्तुत प्रसंग में प्रथम कोटि के नाटकोंका अध्ययन ही दृष्टव्य है । मुद्राराक्षस में नन्दवंश के उन्मूलन के पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य के पाटलिपुत्र में सुदृढ़ राज्य स्थापन के लिए चाणक्य की

---

१. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते, दण्डी काव्यादर्श १।३१ और साहित्य दर्पण ६।३३६

२. गायक० ओरि०सीरीज़-सं० ,१५०, नागर द्वारा संपादित , १९६६ ई०

३. पाठक, पृ० ८५

कूटनीतियों का सजीव चित्रण है । अत: यह नाटक चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक इतिहास का वर्णन करता है । चन्द्रगुप्त विषयक स्वल्प इतिहास सामग्री में मुद्राराक्षस का पर्याप्त योगदान है । दूसरे देवीचन्द्रगुप्तम् (जिसके कुछ उद्धरण-मात्र न्यायचन्द्र गुणाचन्द्र ने उद्धृत किये हैं) में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य द्वारा अग्रज रामगुप्त की पत्नी ध्रुवदेवी के साथ विवाह उल्लिखित है तथा सम-कालीन शक आक्रमणों का परिचय देता है, जिससे चन्द्रगुप्त ने गुप्त साम्राज्य की रक्षा की थी ।[१] ऐतिहासिक नाटकों में घटनाचक्रों को सरस बनाने तथा नाटकीय तत्वों [२] बीज आदि अर्थ प्रकृति और आरम्भ आदि अवस्थाओं, मुखादि सन्धियों , के अभिनिवेश में प्रयुक्त काल्पनिक तथ्यों से इतिहास के मूल ढाचे को पृथक करके इतिहास लेखन में उनका उपयोग किया जा सकता है । ये तथ्य वि[illegible] सिद्ध होंगे ।

उपलब्ध काव्यों में व्यक्ति विशेष के जीवन चरित से सम्बद्ध प्रथम महाकाव्य अश्वघोष कृत बुद्ध चरित है, परन्तु समकालीन नरेश के 'जीवन चरित' लिखने की परम्परा का प्रथम दर्शन सप्तम शती में होता है । इस कोटि की प्राप्त रचनाओं में बाणकृत हर्षचरित सर्वप्राचीन है । उसके पश्चात् तो ऐसी रचनाओं की भीड़ लग जाती है ।

इस परिवर्तन का कारण है वीरगाथात्मक इतिहास परम्परा का राज-दरबार से सम्बद्ध हो जाना, क्योंकि भ्रमणशील सूत और भृग्वाङ्गिरस वैतनभोगी दर-बारी, कवि और सान्धिविग्रहिक नियुक्त होने लगे ।[३] इस परिवर्तन के उदाहरण ३५७ ई० से ही उपलब्ध होने लगते हैं । खानदेश में स्थित वल्ल नरेशभूलुड (३५७ ई०),

---

१. विन्टरनित्स, हिष्टारिकल ड्रामाज इन संस्कृत लिटरेचर , कृष्णास्वामी काम० वा०, पृ० ३६०

२. दशरूपक, अवलोक टीका सहित

३. पाठक, पृ० २१

माहिष्मती नरेश सुबन्धु (४१७) ई० आदि नरेशों से ~~[illegible]~~ के राजाश्रय पाने के अनेक उदाहरण हैं ।[१] इस प्रकार प्राचीन इतिहास परम्परा राज दरबारों में केन्द्रित हो गई । फलत: अपने आश्रयदाता के पूर्वजों के संक्षिप्त वर्णन के साथ साथ उनका जीवन चरित वर्णन ही इन कवियों का लक्ष्य बन गया । अपने आश्रय दाता के जीवन काल में ही उनका जीवन इतिहास लिखने के कारण, उन कवियों ने आश्रयदाता के जीवन के अंश पर भी काव्य निर्माण करना प्रारंभ किया और उसे रघुवंश आदि प्राचीन महाकाव्यों के वर्ण्य-विषय, और शैली के अनुरूप पल्लवित किया । इन्हीं लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर लक्षण ग्रन्थों के निर्माण हुए । अत: इन जीवन चरितों के अध्ययन के लिए हमें साहित्यशास्त्रों में उल्लिखित महाकाव्य के लक्षणों के क्रमिक विकास को भी देखना होगा ।

शैली की दृष्टि से भामह ने काव्य के पांच भेद किये हैं – १. सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य । २. अभिनेयार्थ या नाटक । ३. आख्यायिका । ४. कथा । ५. अनिबद्ध या मुक्तक ।

महाकाव्य का लक्षण भामह,[२] दण्डी[३] और विश्वनाथ[४] ने बताया है । इन्हीं से मिलती जुलती परिभाषाएं अग्निपुराण,[५] काव्यानुशासन,[६] प्रतापरुद्र-यशोभूषण[७] में भी मिलती हैं पर रुद्रट[८] की भिन्न हैं महाकाव्य के लक्षणों के विकास की दृष्टि से १. नायक, २. कथा, ३. छन्द और रस, शैली, ४. वर्णन आदि का विश्लेषण ~~शीर्षकों में~~ किया जायगा ।

---

१. का०इ०ह०—४, पृ० ६, १८,२७,७०,७७ और पाठक, पृ० २२,२५

~~२. विन्टरनित्स, हिस्टारिकल ड्रामाज़ इन संस्कृत लिटरेचर, कृष्णस्वामी~~ का

२. भामहालङ्कार १|१८|२२

३. ~~दशरूपक अवलोक-टीका-सहित~~ काव्यादर्श १।१४-२२, चौखम्भा, १९५८

४. साहित्यदर्पण, ६।३१५-३६७

५. अ० ३३७

६. हेमचन्द्र, पृ० ३३०

७. वही, पृ० ९६

८. काव्यालंकार १६।५–१९, विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला १३६, वाराणसी

१. नायक —भामह का कथन है कि नायक महान् हो और आरम्भ में ही उसके वंश, वीर्य और श्रुत (ज्ञान) का वर्णन होना चाहिए। नायक महाकाव्य में आदि से अन्त तक व्याप्त रहे। दण्डी के अनुसार नायक चतुर और उदात्त रहे। विश्वनाथ के अनुसार नायक को धीरोदात्त क्षत्रियवंशी या देवता होना चाहिए। नायक एक अथवा एक ही वंश के अनेक व्यक्ति हो सकते हैं। परन्तु वह ऐतिहासिक पुरुष हो। दूसरी ओर रुद्रट के मतानुसार ऐतिहासिक और कल्पित दोनों प्रकार के नायक हो सकते हैं, पर उसे त्रिवर्ग में प्रवृत्त होना चाहिए। उसके अनुसार प्रतिनायक गुणी और कुलीन होना चाहिए।

२. कथा —रुद्रट प्रसिद्ध नायक को लेकर रचित कल्पित कथानक को भी महाकाव्य में स्वीकृति देता है।[1] परन्तु शेष शास्त्रकारों के अनुसार कथा ऐतिहासिक हो अथवा किसी सज्जन (कल्पित नहीं) पर आधारित होना चाहिए। कथा में दूत आदि पंच संधियां, चतुर्वर्गों का विवरण, तथा नायक की प्रतिनायक पर विजय दिखाना , तथा उसके वंश वीर्य और ज्ञान का विवरण होना चाहिए। हेमचन्द्र और विश्वनाथ के अनुसार मुख, प्रतिमुख आदि नाटक की पांचों सन्धियों का निवेश हो। पर विश्वनाथ चतुर्वर्गों में एक को सफल बनाने का उल्लेख करते हैं। नायक का वध प्रदर्शित नहीं करना चाहिए।

३. स्वरूप, रस, छन्द, शैली— सभी ने सर्गबन्ध महाकाव्य कहा है दण्डी के अनुसार सर्ग न बड़े हों, न छोटे हों, विश्वनाथ सर्गों की सीमा कम से कम आठ मानते हैं, पर सर्गान्त में भावी कथा का संकेत होना चाहिए।

---

१. उत्पाद्य प्रबन्ध में नायक(प्रसिद्ध कथावस्तु को समग्र अथवा अंश रूप में, वाणी से पूर्ण) प्रसिद्ध होता है, पर कथावस्तु कल्पित रहती है —जैसे माघकाव्य (शिशुपालवध) जब इतिहासादि में प्रसिद्ध कथावस्तु को, समग्र अथवा अंशरूप में, वाणी से पूर्ण किया जाता है तो वह अनुत्पाद्य कहलाती है। इनके उदाहरण क्रमशः अर्जुनचरित और किरातार्जुनीय हैं —(काव्यालंकार १६।३-४ और संस्कृत टीका) टीकाकार द्वारा प्रस्तुत शिशुपालवध और किरातार्जुनीय के उदाहरण से स्पष्ट है कि रुद्रट के उत्पाद्य और अनुत्पाद्य महाकाव्यों में वस्तुतः कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

सारे रसों की अभिव्यक्ति हो, विश्वनाथ वीर, शृंगार और शान्त में किसी एक को अंगी रस बनाने का उल्लेख करते हैं।

भामह के अनुसार शव्द-अर्थ का संयोजन अग्राम्य अर्थात् शिष्ट होना चाहिए और भाषा अलंकृत हो। कठिन व्याख्या योग्य प्रसंग न रहे ।

विश्वनाथ के अनुसार सर्ग में एक ही प्रकार के शव्दों एवं छन्दों का प्रयोग हो पर सर्गान्त में छन्द बदल जाना चाहिए यद्यपि एकही सर्ग में अनेक छन्दों के प्रयोग भी दिखाई देते हैं।

४. वर्णन—महाकाव्य में वर्ण्य विषयों की सूची क्रमश: बढ़ती ही गयी। दण्डी के अनुसार नगर, सागर, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय, वन-विहार, जल-क्रीडा, पान, रति-क्रीडा, वियोग, विवाह, पुत्रोत्पत्ति पंचसन्धि (मन्त्र, दूत, प्रयाण, युद्ध तथा नायक का अभ्युदय) है। विश्वनाथ और हेमचन्द्र ने महाकाव्य में दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की स्तुति का निवेश करने को कहा है। विश्वनाथ ने मृगया, स्वर्ग, मुनि आदि विषयों का वर्णन भी निविष्ट कर दिया है। उनके अनुसार महाकाव्य का प्रारम्भ नमस्क्रिया, आशीर्वाद या वस्तुनिर्देश से होना चाहिए। महाकाव्यों के नामकरण कवि वृत्त अथवा नायक के नाम पर होते हैं।

रुद्रट ने कथा विन्यास का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया है — " नायक के नगर का वर्णन, तदुपरान्त नायक का वंश परिचय हो और नायक शासन-कार्य में व्यस्त वर्णित हो। इसी बीच प्रतिनायक के कुकृत्यों से नायक को असंतोष हो और वह मंत्रियों से परामर्श करके प्रतिनायक के पास दूत भेजे या उस पर आक्रमण कर दे। युद्ध अभियान में नागरिकों के क्षोभ, जनपद, पर्वत , झील, मरुस्थल, सागर, द्वीप, भूभाग, स्कन्धावार, युवक-क्रीडाएं, सूर्यास्त , चन्द्रोदय, रात्रि , युवक गोष्ठी, संगीत, पान , और प्रसाधन के वर्णनों का समावेश हो तथा नवयुवक योद्धागण अपनी बधुओं से विदा होकर ~~सुख~~ युद्ध में सम्मिलित होने की सूचना दें। अन्त में युद्ध में नायक की विजय हो ।

महाकाव्यों के लक्षणों में तिथि क्रम के लिए कहीं पर भी विधान नहीं

है । इसका कारण यह है कि भारत में काल का निर्धारण कार्य की क्रमिक परम्परा के रूप में समझा जाता था ।[१] सांखायन आरण्यक (७) में कहा गया है कि काल गति, निवृति और स्थिति को मिलाकर जगत् को नियन्त्रित करता है । भर्तृहरि ने काल को जगत् नाट्य का सूत्रधार और कार्य की क्रमिक परम्परा का कारण (वाक्यपदीय ३,६,४-५ हेलराज की टीका) कहा है । प्राचीन काल में 'कार्य-कारण' के सिद्धान्त को विविध दर्शनों में भिन्न भिन्न नामों से अभिहित किया गया है - ~~न्याय~~ वेदान्त, सांख्य और न्याय में क्रमश: विवर्त , परिणाम और आरम्भ । इन सिद्धान्तों के अनुसार किसी भी वस्तु का विकास उसकी पृष्ठभूमि (कारण) और परिणाम (कार्य) के आधार पर सिद्ध किया जाता था, जो विकास का क्रम निर्धारित करता था । यह परिवर्तन परिवर्तनशील नाम रूप सत्य में ही होता है और इतिहास इसी कोटि में परिगणित होता है । अत: इतिहास में तिथिक्रम के स्थान पर घटना क्रम की सुरक्षा ही इन काव्यों की शैली बनी ।

चरित काव्यों की विशेषताएं -

नरेशों के जीवन चरित पर उनके सभापंडित द्वारा लिखित उपलब्ध सर्वप्रथम काव्य हर्षचरित है । यह काव्य परम्परा राजदरबारों में उत्पन्न और पल्लवित हुई । मौर्य युग से राजाओं द्वारा अभिलेख उत्कीर्ण कराये जाने के अनेक प्रमाण उपलब्ध है । शनै: शनै: राजाओं की दिग्विजय प्रशस्ति उनकी वंशावलियों आदि का संक्षिप्त परिचय भी इन अभिलेखों में उपनिबद्ध होने लगा । समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति और पुलकेशिन द्वितीय का एहोल अभिलेख आदि इसके प्रमुख उदाहरण है । परन्तु युद्धप्रिय और महत्वाकांक्षी नरेशों को इन संक्षिप्त प्रशस्तियों से संतोष न हुआ । फलत: राजदरबारों में नियुक्त कवियों से उन्होंने अपनी वंश-परम्परा और अपने जीवन-चरित लिखवाने प्रारम्भ कर दिये । ये इतिहासकार राजाश्रय में रहने के कारण अपने स्वामी की प्रतिष्ठा और यश के

---

१. पाठक, पृ० २८,२६

विस्तार के लिए अनेक जीवन चरित लिखने लगे ।[१] यही नहीं नरेश उन्हें इस प्रकार के काव्य लिखने के लिए प्रोत्साहित भी करते थे ।[२]

दूसरी सामान्य विशेषता इन काव्यों की यह है कि ये काव्य अपने आश्रयदाता के आंशिक जीवन ही प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि वे आश्रयदाता के जीवन-काल में ही उनका जीवन-चरित लिखते थे । आंशिक जीवन-चरित लिखने का कारण उन्होंने यह बताया कि महापुरुषों का समग्र जीवन चरित लिखना हमारी शक्ति के परे है ।[३]

तीसरी विशेषता है कि वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, जिसके विषय में इन लेखकों के कोई प्रमाण न था, तरह तरह की कथाएं गढ़ लीं ।[४]

---

१. गउडवहो, १०७४, नवसा० १।१३,१५,१६, विक्रमा० १।२६-३० और १८।१०६-७ बाण ने हर्ष के गुणों पर मुग्ध होकर भक्तिवशात् उनके चरित की रचना की है — हर्षचरित, प्र० अध्याय(उच्छ्वास) ,श्लोक १६,२०,२१

२. नैते कवीन्द्राः कृति काव्यबन्धे तदेष राज्ञा किमहं नियुक्तः ।
किं बालुकापर्वतके धरेयम् आरोप्यते सत्पुकुलाचलेषु ।।
—नवसा० १।६

और —

यच्चापलं किमपि मन्दभिया ममैवम् ।
आसूत्रितं नरपते नवसाहसाङ्क ।
अत्रैव हेतुरिह ते शयनीकृताग्र-
राजन्यमालिजुषा न कवित्वदर्पः ।। —नवसा०—अन्तिम श्लोक ।

३. कः खलु पुरुषायुषशतेनापि शक्नुयादविकलमस्यचरितु वर्णयितुम् । एकदेशे तु यदि कुतूहलं वः, सज्जा वयम् —हर्षचरित उच्छ्वास ३, पृ० ४१ काशी, वाराणसी, १६६५, इसी प्रकार विद्वद्वों से यशोवर्मा का चरित सुनाने के अनुरोध पर वाक्पति ने कहा कि शेष भगवान् भी उसका चरित कहने में असमर्थ हैं — गउडवहो—७७०-२, और नवसा०—१।१२

४ नवसा ११।६४-७२ (अग्निकुण्ड उत्पत्ति) , विक्रमा० १।३१-३७ (चुलुक उत्पत्ति)

चौथे इन काव्यों में काव्यशास्त्र में वर्णित महाकाव्य के लक्षणों का निर्वाह करना आवश्यक समझा गया ।

यही नहीं कवि आत्मवृत्त भी देने लगे, क्योंकि अपने आश्रयदाता के साथ वे भी यशस्वी बनना चाहते थे,[१] क्योंकि अपने * इसी यश के लोभ से प्रेरित होकर वे अपनी काव्य कला की क्षमता का प्रदर्शन करने लगे । हर्षचरित , गउडवहो , नवसाहसांकचरित,और विक्रमांकदेवचरित ने जहां अपने आश्रयदाता के जीवन चरित का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है, वहां वे उच्चकोटि के काव्य भी हैं । महाकवि बाण तो अपने उत्कृष्ट काव्य और गद्य रचना के लिए प्रसिद्ध हैं । वे परवर्ती लेखकों के अनुकरणीय और सचमुच `बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्` प्रशंसा के पात्र हैं । छठवीं विशेषता है, तिथि न देकर घटना क्रम का ही ध्यान रखा जाता था ।

बिल्हण के पूर्ववर्ती प्रमुख चरित काव्य और विक्रमांकदेवचरित के साथ उनकी तुलना—

हर्षचरित —

बाणभट्ट सम्राट् हर्षवर्धन (६०६—६०७ ई०) के समकालीन व आश्रित थे । हर्षचरित आख्यायिका है । हर्षचरित में बाण ने प्रथम दो उच्छ्वासों में अपने पूर्वजों तथा अपने आरंभिक जीवन का तथा हर्ष के साथ मिलन का विवरण दिया है । उसके बाद हर्ष के दरबार से घर लौटने पर अपने चचेरे भाइयों के अनुरोध पर बाण हर्ष के चरित का एक अंश इस प्रकार सुनाते हैं —" श्री कंठ जनपद की राजधानी थानेश्वर थी । भैरवाचार्य की सहायता से तान्त्रिक अनुष्ठान के द्वारा वहां पुष्पभूति को लक्ष्मी के दर्शन हुए तथा उसे वंश संस्थापना का वर प्राप्त हुआ । उसी राजवंश में प्रभाकरवर्द्धन और यशोवती के गर्भ से क्रमशः राज्य-

---

१ साहिज्जइ गउड वहो एस मए संपयं महारम्भो ।
 णिसुएमुयन्ति दप्पं जम्मि णरिन्दा करिन्दा च ।।

अर्थात् " (मैं) इस `गौध-वध` का अब महारम्भ करता हूं, जिसे सुनकर नरेन्द्र और कवीन्द्र अपना दर्प छोड़ देंगे ।" —गउड-वहो, १०७४, इसी प्रकार नवसा० १।१३ और विक्रमा० १।२८ में नृपचरित से अपनी वाणी को अलंकृत कहा गया है ।

वर्द्धन , हर्ष और राज्यश्री का जन्म हुआ । यशोवती के भाई ने अपने पुत्र भण्डि को उसके दोनों पुत्रों के सखा के रूप में प्रदान कर दिया । मालवराजकुमार कुमारगुप्त और माधवगुप्त भी दोनों राजकुमारों के पार्श्ववर्ती थे । कालान्तर में राज्यश्री का परिणय मौखरि ग्रहवर्मा के साथ सम्पन्न हुआ । एक बार दोनों भाई हूण विजय के लिए गये । मार्ग में हर्ष आखेट करने चला गया । किन्तु बीच में ही प्रभाकरवर्द्धन के रुग्ण होने की सूचना पाकर उन्हें वापस लौटना पड़ा । प्रभाकर-वर्द्धन की मृत्यु हो गई और रानी यशोवती सती हो गई ।

पितृशोक से विह्वल राज्यवर्द्धन ने हर्ष को राज्य देकर वैराग्य लेने की इच्छा की । परन्तु इसी समय उसे मालवराज द्वारा ग्रहवर्मा का वध और राज्यश्री के बन्दी बनाये जाने का संवाद प्राप्त हुआ । राज्यवर्द्धन ने उसे दण्ड देने के लिए प्रस्थान किया और हर्ष को घर पर ही छोड़ दिया । कुछ समय अनन्तर हर्ष को समाचार मिला कि सहज ही मालवराज को जीतने वाले अकेले नि:शस्त्र राज्यवर्द्धन का गौडाधिप ने धोखे से अपने ही भवन में बध कर दिया । क्षुब्ध हर्ष ने उससे प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा की । गजसेनाध्यक्ष स्कन्दगुप्त ने हर्ष को उत्साहित भी किया । अत: हर्ष ने विशाल सेना के साथ दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया । उसी समय प्राग्ज्योतिषेश्वर भास्करवर्मा के दूत हंसवेग ने भेंट के सहित अपने स्वामी का मैत्री-संदेश सुनाया । कुमार अर्थात् भास्करवर्मन् के पूर्वज नरकवंश में उत्पन्न क्रमश: भूतिवर्मन् चन्द्रमुखवर्मन् थे । उनसे उत्पन्न स्थितिवर्मन् या मृगांक और रानी श्यामदेवी का पुत्र भास्करवर्मन था । वह शिवभक्त था । इसी बीच हर्ष को राज्यश्री की मुक्ति और उसके विन्ध्यवन में चले जाने की सूचना प्राप्त हुई । अत: हर्ष भण्डि को गौडाधिप की ओर भेजकर स्वयं राज्यश्री के अन्वेषणार्थ विन्ध्यवन में विचरण करता हुआ एक शबर युवक की सहायता से बौद्धभिक्षु दिवाकर मित्र के आश्रय में पहुँचा । भिक्षु से सती होती हुई एक स्त्री की सूचना पाकर, हर्ष ने घटना स्थल पर पहुँच कर राज्यश्री को दिवाकर मित्र की सहायता से दिग्विजय सम्बन्धी अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के उपरान्त उसी के साथ गेरुवा वस्त्र धारण करने का वचन देकर उसे भिक्षुणी बनने से विरत किया । दिवाकर मित्र ने हर्ष को 'मन्दाकिनी' नामक एकावली जिसे पाताल

के नागों से लाकर नागार्जुन ने दक्षिणापथ के सम्राट सातवाहन को दी थी , भेंट की हर्ष ने दिवाकर मित्र से राज्यश्री का धर्म गुरु बनने का अनुरोध किया जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया । तदनन्तर हर्ष ने ससैन्य गंगातट पर पड़ाव डाला ।

बाण ने हर्षचरित की प्रस्तावना में वासवदत्ता के लेखक, गद्यकार भट्टार-हरिचन्द्र, सातवाहन (हाल) प्रवरसेन, भास कालिदास, बृहत्कथा, आढ्यराज का ससम्मान उल्लेख किया है।[१] उनके चारों चचेरे भाई वेद पुराण, महाभारत, व्याकरण, न्याय इतिहास पुराण में दक्ष थे।[२] अत: `बाण` को विविध शैलियों का ज्ञान था । उनके साहित्य पर दृष्टिपात करने पर उनके विपुल साहित्य और शास्त्र ज्ञान का परिचय मिलता है ।

हर्षचरित का प्रारंभ पुराण और महाभारत की शैली पर हुआ है ।[३] बाण बृहत्कथा से विस्मित हुए थे,[४] फलत: उससे घटनाओं को लेकर हर्षचरित को रोचक और विस्मयावह बनाया है । उदाहरणात: -पुष्यभूति और लक्ष्मी का आख्यान बृहत्कथा मंजरी (क्षेमेन्द्र) और कथासरित्सागर (सोमदेव), जो गुणाढ्यकृत बृहत्कथा पर आधारित है, के विद्याधरों का राजा बनने के हेतु एक सन्यासी की वैताल की साधना करने की कथा से मिलती जुलती है ।[५] भैरवाचार्य के द्वारा चमत्कारी खड्ग `अट्टहास` का दिया जाना और हर्ष को प्राग्ज्योतिष नरेश के दूत के द्वारा `आभोग` छत्र की प्राप्ति आदि का प्रचुर प्रयोग कल्पित कथाओं के प्रभाव का परिणाम है । हर्षचरित के अध्ययन से ज्ञात

---

१. हर्षचरित, श्लोक १०-१८

२. वही, पृ० ३६-४०

३. वही -तृतीय उच्छ्वास, पृ० ३६

हर्षचरितादभिन्नं प्रतिभाति हि मे पुराणमिदम् ।।३।।

और कस्य न द्वितीयमहाभारते भवेदस्य चरितकुतूहलम् ।। - पृ० ४१

४. हरलीलेव, नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा ।। १७ ।। , पृ० २

५. पाठक, पृ० ४४-४५

होता है कि बाण ने महाभारत, पुराण, बृहत्कथा की कथाओं को मूलवृत्त में पिरोते हुए कथावस्तु का रोचक विकास किया है। अलंकृत भाषा के प्रयोग में उन्हें सुबन्धु कृत वासवदत्ता का दाय प्राप्त था। परन्तु बाण ने भाव के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग किया है। अत: भाषा के माध्यम से वह अपने वर्ण्य विषय को प्रस्तुत करने में पूर्ण सफल हुए हैं।

बाण ने साहित्यशास्त्र की परम्परा को भी सुरक्षित रखा है। ऋतुवर्णन, सूर्योदय सूर्यास्त, नगर आदि महाकाव्य के वर्ण्य विषयों का वर्णन किया गया और नायक को धीरोदात्त चित्रित किया गया है — हर्षवर्द्धन आदर्श सम्राट, आदर्श स्वामी, मातृ-पितृ और भ्रातृ-भक्त हैं तथा भगिनी से अपरिमित स्नेह रखते हैं। इस प्रकार हर्ष सर्वगुण सम्पन्न हैं।

हर्षचरित' नाटकाख्यायिका है। अत: उसमें नाटकीय तत्व विद्यमान हैं।[१] हर्षचरित और 'रत्नावली' (हर्षकृत) नाटिका की कथावस्तु के विकास का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि बाण ने हर्षचरित का आधार रत्नावली को बनाया है।

रत्नावली नाटिका का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है — 'एक महात्मा ने भविष्यवाणी की थी कि सिंहल राज कन्या रत्नावली के साथ जिसका विवाह होगा वह व्यक्ति चक्रवर्तित्व प्राप्त करेगा। इस भविष्यवाणी की सूचना कौशाम्बी नरेश वत्सराज उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण को मिली। यौगन्धरायण ने देखा कि सिंहल नरेश रत्नावली का विवाह करके उसे पट्टमहिषी अपनी भतीजी की सौत नहीं बनाना चाहता। अत: उसने वासवदत्ता के अग्निकाण्ड में जल मरने की अफवाह उड़ा दी और सिंहल राज के पास पुन: रत्नावली का विवाह उदयन के साथ कर देने का प्रस्ताव भेजा। रत्नावली को एक जलपोत के द्वारा उदयन के पास भेजा गया। परन्तु दुर्भाग्य से पोत बीच समुद्र में ही नष्ट हो गया। परन्तु यौगन्धरायण के प्रयासों से रत्नावली बचा ली गई और अज्ञात रूप से उसी की संरक्षता में रहने लगी। शनै: शनै: यौगन्धरायण

---

१. पाठक, पृ० ४०

की उक्ति से रत्नावली वासवदत्ता से भगिनी का स्नेह और उदयन का प्रेम प्राप्त करने में सफल हुई । फलत: सम्राट उदयन ने चक्रवर्तित्व प्राप्त किया ।[1] पाठक जी के अनुसार दोनों काव्यों में निम्नलिखित समानताएं हैं ।[2] हर्ष चरित में भी हर्ष का चक्रवर्तित्व प्राप्त करने का वर्णन है । हर्षचरित में पुष्यभूति को लक्ष्मी ने वरदान दिया कि तुम्हारे वंश में हर्षवर्द्धन चक्रवर्ती नरेश होगा । हर्ष के जन्म पर राज्यज्योतिषी ने भी इसी को पुनरावृत्त किया और प्रभाकरवर्द्धन की मृत्युशय्या की उक्ति से भी यही व्यक्त होता है । हर्षचरित की समाप्ति में भी इसी का संकेत है ।

इसके अतिरिक्त दोनों काव्यों में चक्रवर्ती होने के वरदान प्राप्त होने का उल्लेख है `रत्नावली` को एक सिद्ध महात्मा द्वारा और पुष्यभूति को लक्ष्मीद्वारा ।

दोनों काव्यों में रमणी के साथ राजा के मिलन से चक्रवर्तित्व पाया जाना वर्णित है । रत्नावली को सिद्ध के वरदान के द्वारा और राज्यश्री को अपने नाम के अन्वर्थ और कान्यकुब्ज राज्य का स्वामित्व प्राप्त होने से यह सामर्थ्य उपलब्ध था । बाण ने भी दिवाकर द्वारा हर्ष को राज्यश्री के मिलन के पश्चात् एकवली रूप रत्नावली भेंट करायी जो, भावी चक्रवर्तित्व को प्राप्त कराने वाली थी और भुवन श्री की स्वयंबर माला के सदृश थी ।

रत्नावली की प्रस्तावना में सूत्रधार की उक्ति की भांति हर्ष चरित में भी भाग्यवशात् प्रियजनों के मिलन का उल्लेख है । हर्षचरित में भी पोत भंग होने का उल्लेख संभवत: रत्नावली को ही लक्ष्य करके किया गया होगा । सार्वभौम शासन भाग्य के रहस्यमय कृत्यों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता था ।

---

१. रत्नावली नाटिका, चौखम्बा

२. पाठक, पृ० ४१-४२

जिस प्रकार वासवदत्ता उदयन के रत्नावली के साथ विवाह के द्वारा चक्रवर्तित्व प्राप्त करने के मार्ग में बाधक थी उसी प्रकार हर्ष के मार्ग में राज्यवर्द्धन था। एक ओर रत्नावली ने पागल का सा आचरण करके उदयन व वासवदत्ता का प्रेम प्राप्त किया और यौगन्धरायण की योजना को सफलता प्रदान की। दूसरी ओर परिस्थितिवशात् गृहवर्मन् और राज्यवर्द्धन् की हत्याएं हुई और उसने हर्षवर्द्धन के लिए थानेश्वर और कन्नौज का एक साथ सम्राट बनने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

रत्नावली के कथानक के साथ हर्षचरित की कथावस्तु की तुलना करने पर यह स्पष्ट है कि नायक का अभ्युदय राज्यश्री बहिन के मिलन से कान्यकुब्ज की राज्यश्री की प्राप्ति -रूप फलागम की प्राप्ति पर्यन्त हर्ष-चरित की कथा का वर्णन है। अत: हर्ष का जीवनचरित अपूर्ण होते हुए भी 'हर्षचरित' काव्य पूर्ण है।[१]

कावेल और थामस ने हर्षचरित की भूमिका में ठीक ही लिखा है कि बाण ने हर्ष के शासनकाल की घटनाओं का यथार्थ चित्रण किया है।[२] हर्ष के अभिलेख स्वल्प हैं, अत: हर्षचरित और ह्वेनसांग के विवरण ही उसके इतिहास के प्रधान स्रोत हैं। हर्षचरित और ह्वेनसांग के यात्रा विवरण में कुछ परस्पर विरोधी उल्लेख हैं। बाण के अनुसार हर्ष के पूर्वजों की राजधानी ~~कान्यकुब्ज कहता है~~ स्थाणीश्वर थी, पर ह्वेनसांग[३] हर्ष की राजधानी

---

१. पाठक, २०-३१ परन्तु अन्य विद्वान् हर्षचरित को अपूर्ण मानते हैं -कीथ, पृ० ३१४, दे० और दास गुप्त -२२६, कृष्णमाचार्य, पृ० ४४६ और कवेल-थामस, भूमिका (हर्षचरित का अनुवाद), पृ० ११

२. अंग्रेजी अनुवाद, मोतीलाल बनारसीदास, १९६१, द्रष्टव्य- हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ६१-७० और हर्ष एण्ड हिज़ टाइम्स, पृ० ८१ से १९२ अप्रकाशित थीसिस, ले० डा० बैजनाथ शर्मा, १९६५, जबलपुर विश्वविद्यालय

३. बुद्धिस्ट रिकार्ड आफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड, जि० १, पृ० २०९

कान्यकुब्ज कहता है । वस्तुत: दोनों उक्तियों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ह्वेनसांग (६४३ ई०) के समय हर्ष दोनों स्थानों का स्वामी था और कान्य-कुब्ज प्रमुख राजधानी बन चुकी थी । ह्वेन सांग हर्ष को वैश्य जाति का कहता है, जो वैसे राजपूत (क्षत्रिय) थे ।[1] परन्तु हर्षचरित में इस संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलता, क्षत्रिय मौखरि नरेश ग्रहवर्मा के साथ राज्यश्री के परिणय से चीनी यात्री का विवरण समीचीन प्रतीत होता है । मालवनरेश द्वारा ग्रहवर्मन् की हत्या और गौडाधिप द्वारा राज्यवर्धन् का वध दो आकस्मिक घटनाएं हर्षचरित में उल्लिखित हैं । -डा० पाठक का विचार है " बाण ने दो रूपों में कथा का विकास किया है, एक तो मूल वृत, दूसरे उस वृत पर आरोपित घटनाओं की कहानी, सिंहासन के लिए भाई भाई में युद्ध होना स्वाभाविक है । संभवत: बाण ने अपने आश्रयदाता के दोषों को छिपाने के लिए रत्नावली के अनुकरण पर राज्यवर्द्धन का वध और राज्यश्री से मिलन की घटनाओं को उपन्यस्त किया है । यही कारण है कि बाण राज्यवर्द्धन के जन्म, राज्यारोहण और विजयों को कोई महत्व नहीं देता ।"[2]

बाण हर्ष का जीवन चरित लिख रहा है, अत: यदि वह राज्यवर्धन् के जीवन पर स्वल्प प्रकाश डालता है, तो इसमें वह अपराधी नहीं । यदि भाइयों में परस्पर युद्ध हुआ होता तो विक्रमांकदेवचरित की भांति बाण उसका भी उल्लेख अवश्य करता । अन्य कोई प्रमाण भी हर्ष के राज्यवर्द्धन के साथ हुए युद्ध का संकेत मात्र भी नहीं देते ।

वस्तुत: विरोधी प्रमाणों के अभाव में हमें बाण के विवरण को (उसी रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए, जब कि उनके समर्थन में हमें अन्य प्रमाण भी प्राप्त हैं । जैसे गृहवर्मन् का हत्यारा पूर्वी मालवा का अधिपति देवगुप्त रहा होगा ।

---

१. वही, पृ० २०६, टि० १२

२. पाठक, पृ० ४५-५५

जिसको जीतने के उल्लेख हर्ष के मधुवन और वंसखेर ताम्रपट्ट में है ।[१]

इसी प्रकार राज्यवर्द्धन का हत्यारा गौडाधिप शशाङ्क रहा होगा । हर्षचरित के टीकाकार शंकर ने उसका नाम शशांक[२] दिया है । ह्वेनसांग ने पूर्वी भारत में स्थित कर्णसुवर्ण (बंगाल, बिहार और उड़ीसा का कुछ भाग) बौद्ध-धर्म के शत्रु शशांक (शे०-शङ्ग-किय) का उल्लेख किया है ।[३] शशांक के सिक्कों से ज्ञात होता है कि वह शैव था । अत: यह संभव है कि असहिष्णु होकर उसने बौद्धों पर अत्याचार किया हो । हर्ष के अभिलेखों में राज्यवर्द्धन के देवगुप्त आदि का विजेता और शत्रुगृह में उसके प्राणत्याग करने का उल्लेख इन घटनाओं की पुष्टि करता है ।[४] हर्ष ने शशांक को पराजित कर भाई का प्रतिशोध लिया,

---

१. हिस्ट्री आफ कन्नौज, त्रिपाठी, पृ० ६५, टि० ५, और ६६ टि० १, १९५९ मोतीलाल बनारसीदास, और राजानो युति दुष्टवाजिन: इव श्रीदेव-गुप्तादय: ए०इ०, जि० ७, पृ० — १५५ और जि० १, पृ० ६७ , और जि० ४, पृ० २०८

२. तथा हि तेन शशांकेन विश्वासार्थं कन्या प्रदानं उक्त्वा प्रलोभितो राज्यवर्धन् स्वगेहे सानुचरो भुंजानेव छद्मना व्यापादित: । —

— जीवानन्द, कलकत्ता, १८७६

३. बील , पृ० २१०, हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ६६, टि० ४ , और पृ० ६७, टि० २

४. राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादय:
कृत्वा येन कशाप्रहार विमुखा: सर्वेसमं संयता: ।
उत्खाय द्विषतो विजित्य वसुधां कृत्वा प्रजानां प्रियं
प्राणानुज्झितवानरातिभवने सत्यानुरोधेन य: ।।

—ए०इ०, जि० ७, पृ० १५५ और० जि० १, ६७ और
वही, जि० —४, पृ० २०८

जिसमें उसे कामरूप नरेश भास्करवर्मा से पूरी सहायता मिली, जो स्वयं शशांक की साम्राज्यवादी नीति से सशंकित था।[1] हर्ष के राज्यारोहण के सम्बन्ध में ह्वेनसांग का कथन है कि भण्डी ने मंत्रियों के समक्ष हर्ष को राजा बनाने का प्रस्ताव रखा जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया, परन्तु हर्ष राज्य ग्रहण करने के पूर्व गंगा पर अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की मूर्ति से अनुमति लेने गया था।[2] श्री वी०ए० स्मिथ इस उल्लेख के आधार पर कहते हैं कि हर्ष के राज्यारोहण के पूर्व कोई अज्ञात अड़चन आ गई थी।[3] वस्तुत: बौद्ध ह्वेनसांग इस प्रसंग का उल्लेख करके यह बताना चाहता होगा कि हर्ष सदा अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की अनुमति से ही कार्य करता था। जैसे आज भी धर्मपरायण व्यक्ति भगवान का पूजन करके शुभ या महत्वपूर्ण कार्य का आरम्भ करता है।

हर्षचरित और विक्रमांकदेवचरित —

दोनों काव्यों पर रघुवंश का प्रभाव है। इसी एक वंश परम्परा की प्रेरणा से इन कवियों ने अपने आश्रयदाता के चरित और आत्मवृत्त का आरम्भ उनकी वंश परम्परा के विवरण से किया है। हर्षचरित में पुष्यभूति से और विक्रमांकदेवचरित में चालुक्य से, दोनों राजवंशों का प्रारम्भ कल्पित वृक्षों के द्वारा किया गया है। दोनों में क्रमश: उक्त वंशों के प्रथम स्वतंत्र शासक प्रभाकरवर्धन और तैलप से वंशवृक्ष का विस्तार हुआ है। नायकों के पिता प्रभाकरवर्धन् और आह्वमल्ल की प्रारम्भिक विजयों और सामान्य प्रशस्ति के बाद पुष्यभूति को लक्ष्मी के वरदान से और आह्वमल्ल को शिव के वरदान से चक्रवर्ती पुत्रों—हर्ष और विक्रम की प्राप्ति होती है।

राज्य और हर्ष पिता के प्रतिनिधि रूप में युद्ध में जाते हैं, तो विक्रमांक-

---

१. हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ६६, ६७, काणे हर्षचरित, भू०, पृ० ३५, मूल—उच्छ्वास ७, पृ० ६२, और आगे, बील, जिल्द १, पृ० २१७ — ८ और जि० २, पृ० १६६ —८

२. बील, पृ० २११—२१३

३. अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ३१२, द्वितीय संस्करण।

देवचरित में विक्रमादित्य आहवमल्ल के लिए दिग्विजय करता है। परन्तु हर्ष और रघु--राज्यारोहण के पश्चात् दिग्विजय यात्रा करते हैं। प्रभाकरवर्धन और आहवमल्ल दोनों की मृत्यु दाहज्वर से होती है। हर्ष को भाग्यचक्र से भाई और बहनोई की आकस्मिक हत्या से सहज ही साम्राज्य उपलब्ध होता है, विक्रम को भी भाग्य से, पर पर्याप्त संघर्ष के द्वारा पिता के राज्य का स्वामित्व प्राप्त होता है। हर्ष के पास प्राग्ज्योतिषेश्वर भास्करवर्मा का दूत भेंट सहित मैत्री का प्रस्ताव लाता है, तो विक्रम के पास चोल राज का दूत कन्या के विवाह के प्रस्ताव को लेकर उपस्थित होता है। दोनों चरित नायक के अभ्युदय पर समाप्त होते हैं। दोनों कवियों ने विस्तार के साथ आत्मवृत्त का पूर्वजों के विवरण के पश्चात् निबन्धन किया है।

इसी प्रकार दोनों काव्यों में नायक अपने पिता के विशेष कृपाभाजन हैं। दोनों ही काव्यों में महाकाव्य के वर्ण्य नदी, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय आदि का वर्णन है।

गौडवहो[१]--

गौडवहो की रचना ७३६-७४७ ई० के बीच हुई होगी।[२] वाक्पति यशोवर्मा का प्रिय मित्र और कविराज चिह्न से अलंकृत था।[३] उसने श्री कमलायुध भवभूति, भास, ज्वलनमित्र, कुन्तीदेव, रघुकार, सुबन्धु, हरिचन्द्र के ग्रन्थों में आनन्द लिया था।[४] उसने न्यायशास्त्र, छन्दशास्त्र, पुराण तथा अनेक कवियों का अध्ययन किया था।[५] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि वाक्पति उक्त कवियों और

---

१. सं०--शंकर पाण्डुरंग पण्डित, द्वितीय संस्करण, भण्डारकर ओ०सि०, ई०, पूना, १९२७(नारायण बापु उत्गीकर द्वारा पुनः प्रकाशित)

२. वही, भूमिका, पृ० २५७-२५६, राज० ४।१३३-१४५

३. वही, श्लोक ७९७

४. वही ७९८-- ८००

५. वही ८०१- ८०२

शास्त्रकारों से प्रभावित था । गौडवहो महाराष्ट्री प्राकृत और आर्या छन्द में रचित है । इसमें कान्यकुब्ज नरेश यशोवर्मा की विजयों का वर्णन है । यह काव्य अन्य काव्यों की भांति 'सर्ग' आदि अध्यायों में विभक्त नहीं है । इसका कारण संभवत: यही है कि इसमें एक ही दिग्विजय प्रकरण वर्णित है । संक्षिप्त कथावस्तु निम्नलिखित है –

' हरि नृसिंह, महावाराह , वामन , कूर्म, मोहिनी, कृष्ण, बलभद्र आदि बीस देवताओं की स्तुति के पश्चात् कवियों के गुण दोष उनकी प्रशस्ति और निराशा तथा प्राकृत भाषा के माधुर्य गुण का वर्णन है ।

यशोवर्मा नामक एक इन्द्रवत् प्रतापी नरेश हुआ । वह प्रलयकाल में एक-मात्र जीवित प्राणी बाल-हरि का अवतार था । यशोवर्मा ने वर्षा के अन्त में विजययात्रा प्रारम्भ की । उस समय इन्द्र ने पुष्प वृष्टि की और कवि तथा चारणों ने यशोवर्मा की मंगलकामना करते हुए उसकी प्रशस्ति की । फिर सप्त-कुलकों में हेमन्त का सजीव चित्रण है । विन्ध्य पर्वत से होकर गुजरते हुए उसने महिषासुर मर्दिनी विन्ध्यवासिनी के मन्दिर में उपासना की । विन्ध्य पर्वत पर विचरण करते हुए उसने मगधनाथ को भयान्वित कर उससे हाथियों का दान लिया । फिर वर्षा का आगमन हुआ । कवि ने पथवर्ती वस्तुओं और दृश्यों का मौलिक चित्रण किया है । फिर शरद् में यात्रा प्रारम्भ हुई, युद्धक्षेत्र में पलायित मगधाधिप लज्जावश पुन: सामने आ गया । भीषण युद्ध हुआ । परन्तु भागते हुए मगधाधिप का यशोवर्मा ने वध कर दिया । फिर बंग नरेश को जीत कर अपने अधीन कर लिया और मलय पर्वत से होता हुआ समुद्रतट पर पहुंचा । (रावण का प्रसंग लाकर कैलासोत्तोलन का वर्णन) तदनन्तर पारसीकों को पराजित किया । पुन: वापस लौटकर पश्चिमी पर्वतों के दुर्गम प्रदेशों के नरेशों से कर लिया । (पृथु के विशाल धनु से पृथ्वी का मापन करने की पौराणिक कथा का विवरण) फिर नर्मदा तट पर आया (कार्तवीर्य का प्रसंग उभारा) और समुद्रतट पर पहुंचा, जहां देवों ने समुद्र मंथन किया था । फिर मुरुदेश (मारवाड़) होता हुआ श्रीकण्ठ या थानेश्वर पहुंचा, जहां जनमेजय ने सर्पसत्र (नागयज्ञ) किया था । फिर कुरुक्षेत्र में सरोवर, जहां दुर्योधन छिपा था, में

जलक्रीडा की और कर्ण के युद्धस्थान के दर्शन किये । क्रमेण हरिश्चन्द्र द्वारा निर्मित 'सुर प्रासाद' से युक्त अयोध्या पहुँचा । (अयोध्या का भव्य वर्णन) मन्दर पर्वत के निवासियों को पराधीन बनाता हुआ, उत्तर में यक्षराज को परास्त किया (यहाँ हिमालय के दृश्यों का बिना किसी क्रम के विस्तृत वर्णन है) । इस प्रकार विश्वविजय करके वह कन्नौज लौटा, जहाँ चारणों ने उसकी विजयों से सम्बद्ध गीत गाये । फिर बसंत और ग्रीष्म ऋतुओं तथा अनेक क्रीडाओं का वर्णन है ।"[१]

यशोवर्मा की विजय यात्रा रघु दिग्विजय से मेल खाती है — रघु पहले पूर्व दिशा की ओर चले, फिर सुह्ल, उत्कल, कलिंग को जीतते हुए दक्षिण की ओर प्रस्थान किया । मलय भूमि में विहार का पाण्ड्य नरेश और केरलांगनाओं को भयभीत करते हुए उसने पारसीकों पर आक्रमण कर दिया, पर पारसीकों से सन्धि हो गई । उसके अश्वों ने सिन्धु तट पर विश्राम किया । तदनन्तर हूण औरकम्बोज नरेश को परास्त किया । फिर हिमालय की उत्सवसंकेत नामक म्लेच्छ जाति और किन्नरों से भेंट प्राप्त की । क्रम से आगे बढ़ते हुए लौहित्य पार कर प्राग्ज्योतिष नरेश को भयभीत किया । कामरूप नरेश ने उसकी चरणावन्दना की ।"[२] इस प्रकार रघु ने समस्त भारत की विजय कर डाली थी । ठीक उसी प्रकार यशोवर्मा को भी समस्त पृथ्वी का जेता कहा गया है । यशोवर्मा की दिग्विजय यात्रा के संबंध में वाक्पति ने काश्मीर के साथ उसके सम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया है । जबकि हमें ज्ञात है कि ललितादित्य ने यशोवर्मा को पराजित किया था, पर बाद में दोनों में सन्धि हो गई थी ।[३] संभवत: इसीलिए यशोवर्मा की दिग्विजय में काश्मीर युद्ध का उल्लेख नहीं है । ललितादित्य

---

१. ७९६ तक उसके बाद ८५६ तक वाक्पति के सम्बन्ध में, फिर यशोवर्मा को हरि का अवतार, चन्द्रवंशी और तरह तरह की प्रशंसा वर्णित है ।

२. रघु० चतुर्थ सर्ग, गौडवहो श्लोक ८०० में रघुकार का उल्लेख है ।

३. राज० ३।१३३-१४५

४. वही ३।१४७

ने कान्यकुब्ज विजय के पश्चात् गौडदेश की ओर प्रस्थान किया था ।[१] अत: ऐसा प्रतीत होता है कि गौड आक्रमण में यशोवर्मा ललितादित्य के साथ था और सम्भवत: गौडराज युद्ध में दिवंगत हो गया । इसी घटना को लेकर वाक्पति ने इस काव्य की रचना की होगी जैसा कि काव्य के नाम 'गौडवहो' (गौड-नरेश का वध) से स्पष्ट है । संभवत: यशोवर्मा की शेष दिग्विजय यात्रा का वर्णन (परम्परा से चले आते 'चक्रवर्ती-क्षेत्र'[२] की विजय कराकर) उसे चक्रवर्तित्व प्रदान करने के लिए किया गया है । यशोवर्मा की समस्त विजयों को उसी रूप में सत्य स्वीकार करना कठिन है फिर भी प्रमाणाभाव के कारण हम यह निर्णय करने में असमर्थ है कि यशोवर्मा ने किन किन प्रदेशों को जीता था ।

'गौडवहो' उक्त गौडनरेश के नाम, जाति, वंश के सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं डालता । इन ऐतिहासिक जीवन चरितों में घटना का उल्लेख मात्र किया जाता था । 'गौडवहो' के वर्ण्य-विषय को देखने से स्पष्ट है कि कवि ने भारत के विविध स्थलों जहां पर यशोवर्मा की विजयवाहिनी का विचरण कराया है वहां वह उन स्थानों से सम्बद्ध रामायण , महाभारत पुराणों में वर्णित कथाओं को पिरोता गया है और ऐसे स्थलों पर, प्राकृतिक स्थानों , नगरों आदि के वर्णन वर्षा, हेमन्त, शरद्, वसन्त आदि ऋतुओं के चित्रण में कवि को अपनी कवित्व शक्ति को प्रदर्शित करने का अवसर मिला है । यही कारण है कि १२०६ श्लोकों के काव्य में 'गौड नरेश का वध' एक घटना का उल्लेख मात्र है ।

वाक्पतिराज की शैली समासों से युक्त होने पर भी स्पष्ट है । जिन्होंने श्लेष, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि अलंकारों व्याकरण या भाषागत जटिलताओं से दुरूह नहीं बनाया है । उनके अलंकारों से कवि की वर्ण्य वस्तु उलझती नहीं है । उनकी शैली पर श्रीपंडित का कथन है —" वे (वाक्पति) जिस युग में

---

१. राज० ३।१४७

२. उत्तर में हिमालय, पश्चिम में अरब सागर, दक्षिण में सिंहल द्वीप और पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक का भूभाग चक्रवर्ती क्षेत्र के अन्तर्गत था ।

उत्पन्न हुए थे, बड़े बड़े समासों का प्रयोग उस युग की विशेषता थी और यद्यपि यह सचमुच उनकी योग्यता को कम करता है, नहीं तो उनका काव्य सर्वोत्कृष्ट है, हमें उनका मूल्यांकन स्वतंत्ररूप से न करके, उस युग के माप-दण्ड के अनुसार करना चाहिए ।'[1]

'वाक्पति' ने 'महुमहविजय'[2] (मधुमथ-विजय) नामक अपने एक ग्रन्थ का उल्लेख किया है । जैन इस ग्रन्थ को प्रबन्ध कहते हैं, इसके नाम से यह प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में विष्णु द्वारा मधु नामक दैत्य के वध की कथा वर्णित है ।[3] संभवत: महाभारत के शिशुपालवध, कीचक वध, जयद्रथ वध आदि अनेक प्रसंगों से वध शीर्षक के काव्यों का उदय हुआ । वाक्पति के (मधुमथ - विजय) और ' गौडवध ' दोनों में शत्रु-वध अंकित है । तथापि नाम विजय और वध है ।

इनके अतिरिक्त यशोवर्मा की दिग्विजय का वर्णन भी ' गौडवहो ' को विजय काव्य के निकट ला देता है ।

वाक्पति के कुछ पूर्व (६५०-७०० ई०) महाकवि माघ ने 'शिशुपाल वध'[4] महाकाव्य की रचना की । यद्यपि यह महाकाव्य भी 'गउडवहो' की भांति एकही घटना शिशुपाल के वध का विवरण प्रस्तुत करता है तथापि यह काव्य महाकाव्यों के लक्षणों को अपनी कथावस्तु में आत्मसात् कर सका है ।

जिस प्रकार युधिष्ठिर के विश्वजित् यज्ञ के लिए प्रस्थान करने पर द्वारिका से हस्तिनापुर के मार्ग में ही माघ ने रैवतक, पर्वत , समुद्र, नदी, जल-क्रीडा, विविध रंगरेलियों और षड्ऋतु का प्रसंग ला दिया है, उसी प्रकार

---

1. गाउडवहो, भू, पृ-५४

~~१. उत्तर में हिमालय, पश्चिम में अरबसागर, दक्षिण में सिंहल द्वीप और पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक का भू भाग चक्रवर्ती क्षेत्र के अन्तर्गत था । वही, ५४~~

२. वही श्लोक संख्या ६९

३. आनन्दवर्धन आदि ने इस ग्रन्थ से अनेक उदाहरण दिये — गौडवहो— श्लोक २६६- ७ , भू०पृ० ५५

४. शिशुपालवध, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला ८, बनारस, १९५५

'गउडवहो' में भी इन प्रसंगों को कथावस्तु में बलात् सन्निविष्ट कर दिया गया है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्पति को इस काव्य के प्रणयन में शिशुपालवध से प्रेरणा मिली थी।

गउडवहो और विक्रमांकदेवचरित —

आपातत: देखने में परस्पर भिन्न दोनों काव्यों के वस्तु के विस्तार में काफी साम्य है। दोनों ही काव्य की प्रस्तावना में मंगल श्लोक और काव्य की सामान्य प्रशंसा है। गउडवहो की कथावस्तु उद्यपि ऋतुवर्णन तथा अन्य वर्णनों से भरी हुई है, तथापि घटना क्रम के विकास के सूत्र स्पष्टत: आभासित होते हैं। घटना क्रम इस प्रकार है —
(१) यशोवर्मन् की प्रशंसा (२) उसका युद्ध अभियान (३) विशिष्ट सफलता प्राप्ति के फलस्वरूप मनोरंजन। (४) अन्त में कवि का आत्मवृत्त।

विक्रमांकदेवचरित में भी विक्रम के चरित का विकास तदनुरूप ही हुआ है। आह्वमल्ल तथा उसके दूत के द्वारा विक्रम की प्रशंसा, दिग्विजय, सोमेश्वर और चोलराज राजिग की सम्मिलित सेना को परास्त कर कल्याणपुर में प्रवेश, राज्यारोहण के पश्चात् कई सर्गों में उसके आमोद प्रमोद का वर्णन तथा अन्तिम सर्ग में कवि के आत्मवृत्त का वर्णन गउडवहो के कथानक के विकास के अनुरूप ही है।

पद्मगुप्त 'परिमल' कृत नवसाहसांक चरितम्[१]

सर्व प्रथम व्यूलर महोदय ने इसके ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डाला है। सिन्धुराज विजयों का उल्लेख (नव० १०।१४- २०) करते हुए वे लिखते हैं —

" भारत के दरबारी कवि के विवरण को, जब वह अपने आश्रयदाता की विजयों का उल्लेख कर रहा हो यथार्थ नहीं समझना चाहिए। प्रत्येक भारतीय नायक को विश्वविजय के लिए दिग्विजय यात्रा करनी ही चाहिए।"[२] कवि

---

१. श्री वी०एस० इस्लामपुर, बम्बई संस्कृत सीरीज़, १८९५ ई० और हिन्दी अनुवाद सहित श्री जितेन्द्रचन्द्र भारतीय विद्याभवन वाराणसी, १९६३ ई०

२. टिप्पणी अगले पृष्ठ पर है ——

के उल्लेख अतिरंजित भले ही हो सकते हैं, परन्तु निराधार नहीं हो सकते । सिन्धु-राज के शासनकाल का 'नवसाहसांक-चरित' को छोड़कर कोई भी विवरण उप-लब्ध नहीं है । ऐसी स्थिति में इतिहासकार को अनुमान तथा समकालीन विव-रणों और उसके वंशजों के उल्लेखों की सहायता अपेक्षित है । साथ ही कवि की साहित्यिक पृष्ठभूमि के प्रकाश में उनका विश्लेषण आवश्यक है ।

व्यूलर महोदय की नवसाहसांक चरित के कथानक के सम्बन्ध में धारणा है' सिन्धुराज के जीवन चरित से उद्धृत इसका कथानक, जो पद्मगुप्त के प्रयोजन का सच्चा उदाहरण है, दुर्भाग्य से इतने मोटे पौराणिक आवरण से आवृत है कि समर्थ विवरणों की सहायता के बिना आवश्यक विस्तार के साथ और निश्चित रूप से कुछ कहना असंभव है ।'[१]

'नवसाहसांकचरित' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पद्मगुप्त की भाषा अक्लिष्ट और अभिव्यंजक है जो ऐतिहासिक तथ्यों को उलझाती नहीं है ।

पद्मगुप्त ने कल्पित कथाओं से ओतप्रोत जैन परम्परा से प्रभावित होकर ऐतिहासिक तथ्यों को भिन्न रूप में उपस्थित किया है । बाण मूलकथा के चारों ओर गल्प कथाओं को पिरोते हुए आगे बढ़ते हैं, और उनके पात्र मानवीय हैं, परन्तु पद्मगुप्त इस शैली में बहुत आगे बढ़ गये । उनका काव्य पशुओं और मान-वेतर पात्रों से भरा हुआ कल्पना के द्वारा घटनाओं को अतिरंजित करते हुए वृत्त को विकसित करता है, परन्तु इस शैली से प्रतीकों से आवृत होते हुए भी तथ्य

पिछले पृष्ठ का शेष - —इ०ए०जि०३६, पृ० १७१

दुर्भाग्य से सिन्धुराज के काल के लेख नहीं मिलते । परन्तु उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती विवरणों के आधार पर उसकी ये विजयें असम्भव नहीं प्रतीत होतीं । मीराशीजी ने अप्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर उन्हें यथार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है — हिस्टारिकल डाटा इन पद्म गुप्ताज़ नवसाहसांकचरित, इ०ए०जि०७२,पृ०१०

१.

कल्पना की उड़ान बन कर नहीं रह गये हैं । अत: हम समकालीन परम्पराओं की सहायता से प्रतीकों को अनावृत करके निश्चित ऐतिहासिक तथ्यों को यथावत् उसी रूप में समझ सकते हैं । इस अलंकृत कथात्मक शैली का आधार परम्पराएं, आस्थाएं और विशिष्ट चरित्र थे, जो प्रसिद्ध कथात्मक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं ।[१] जैन लेखकों ने अपने धर्म के प्रचारार्थ संस्कृत, महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंश में अनेक कथाओं की रचनाएं कीं । परमार राजदरबार जैन कथाकारों से प्रभावित था । उदाहरणात: महासेन और धनपाल मुंज के आश्रित थे और प्रभाचन्द्र एवं श[illegible] भोज के आश्रय में रहे, जैनी थे ।[२]

जैन कथाओं में विद्याधर और नागों से सम्बद्ध कथाओं की भरमार है । महाभारत, रामायण और पुराणों की कथाओं को जैन कथाकारों ने अपने अनुरूप ढाल लिया है और विद्याधर राक्षस, सुग्रीव आदि वानरनायकों को दिव्य मानवी योनि का चित्रित किया है । जैन साहित्य में विद्याधर कथाएं ६००—१२०० ई० तक बहुत प्रचलित रहीं । बम्बई के निकटवर्ती प्रदेशों में इनका बहुत प्रचार प्रतीत होता है, क्योंकि गोवा, कोल्हापुर और थाना के शिलाहार[३], करहाट के शिलाहार[४] आदि नरेश अपने को जीमूतवाहन विद्याधर की परम्परा से उद्भूत मानते हैं । इसके अतिरिक्त शिलाहार वंशी छित्तराजदेव भाण्डुप ताम्रपट में जीमूतवाहन विद्याधर से अपना संबंध जोड़ता है ।[५] यही कारण है कि साहित्य में हम उन्हें विद्याधर के नाम से चित्रित पाते हैं । जैन कथाकारों ने रावण को अहिंसक तथा विद्याधर की राक्षस शाखा का और सुग्रीव आदि वानर नायकों को वानर विद्याधर के रूप में प्रस्तुत किया है ।

---

१. पाठक, पृ० १५०

२. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, पृ० २७५

३. इ०एण्टी०, ६, पृ० ३३, पंक्ति ३—७, ए०इ०, ३, पृ० २६६

४. विक्रमा०, ८।२,३

५. ए०इ०, १२, पृ० —२५०

६. पाठक, पृ० १५४

दक्षिणी शिलाहार अपने को 'सर्वश्रेष्ठ सिंहल नरेश'[१] कहते हैं अत: अनुमान किया जा सकता है कि वे रावण के उत्तराधिकारी अर्थात् विद्याधरों की राक्षसशाखा के थे। इस धारणा पर यदि विश्वास किया जाय तो दक्षिणी शिलाहारवंशी विद्याधर नरेश रट्टराज राक्षस वज्रांकुश और उत्तर शिलाहार वंशी विद्याधर नरेश अपराजित 'मृगांक' वानर रूपधारी और मृगांक का अर्थ पर्याय शशि नामधारी' विद्याधर सिद्ध होता है।[२]

विद्याधरों की भांति नागों के साथ भी अनेक राजवंश अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। कदम्ब,[३] सैन्द्रक,[४] अपने को नाग कुलोद्भव कहते हैं। कर्णाटक के सिन्द नरेश 'नाग-ध्वज' और भोगवती पुरवरेश्वर'[५] विरुद धारण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानवेतर नाग योनि के रूप में चित्रित नाग नरेश शंखपाल (शशिप्रभा का पिता) कर्णाटक का नागवंशी सिन्द नरेश रहा होगा।[६]

इसी प्रकार पद्मगुप्त अपनी उर्वर कल्पना से ऐतिहासिक घटना को भी कथात्मक आवरण में उपस्थित करते हैं। उदाहरणात: पद्मगुप्त ने नागकन्या शशि-प्रभा के साथ हुए विवाह को एक रोचक, कष्ट भरी प्रणय कथा का रूप दे दिया है।

पद्मगुप्त ने वैदर्भी मार्ग के कवि भर्तृमेण्ठ[७] (हयग्रीववध के लेखक) श्रीहर्ष की सभा के बाण (हर्षचरित और कादम्बरी के लेखक) और मयूर[८] कालिदास,[९]

---

१. ए०इ०, ३, पृ० २९९
२. पाठक, पृ० १५५
३. इ०ए०, ७, पृ० ३४
४. वही, पृ० ११०
५. ए०क०, ७ हि०, २०,५३,६, पृ० - १५
६. पाठक, पृ० १५६
७. नवसाह १।५
८. वही २।१८
९. वही २।९३

गुणाढ्य कृत बृहत्कथा[1] के उल्लेख किये हैं, यही नहीं उनका कथानक कादम्बरी की भाँति बीच बीच में मनुजभाषी तोते, वानर आदि की कथाओं को पिरोते हुए अग्रसर होता है। बृहत्कथा तो बाण की भाँति उनका भी आधार ग्रन्थ है। शैली में वे भर्तृमेण्ठ और कालिदास के अनुगामी हैं जैसा कि उनके काव्य से स्पष्ट है।

नवसाहसांकचरित का कथानक इस प्रकार है, `उज्जयिनी में महाकवि वाक्पतिराजदेव नामक नरेश के अनुज सिन्धुराज नवसाहसांक हुए, जो महाप्रतापी काव्यरसिक और विद्वत्प्रेमी थे। उनका सहायक विलक्षण बुद्धि अमात्य रमांगद था। एक बार सिन्धुराज रमांगद के साथ विन्ध्याचल के जंगल में आखेट करने गये। वहाँ विचित्र मृग देखकर राजा ने उसे स्वनामांकित शर से विद्ध कर दिया। मृग शर को लेकर शशिप्रभा के पास भाग गया। इसी बीच राजा ने चोंच में हार लिए हुए एक हंस का पीछा किया और हार को प्राप्त किया, जिस पर `शशिप्रभा` अंकित था। इस प्रकार नाम को पढ़ कर दोनों परस्पर प्रेमाबद्ध हो गये। शशिप्रभा की चंवरधारिणी पाटला के अनुरोध से राजा नर्मदा तट पर प्रतीक्षा करती हुई शशिप्रभा से मिला। अचानक हुए मेघगर्जन से भीत उसे राजा ने ज्योंही पास बुलाया तो आकाशवाणी ने कहा ` राजन् शकिप्रभा को नहीं पा सकते। यदि सामर्थ्य है, तो उसे विलीन होने से रोको।` राजा हाथ मल कर रह गया।

तदनन्तर उसने सारसों की कूज के मिष नर्मदावाणी सुनी-`तुम्हारी प्रिया इस बिल के मार्ग से रसातल गई है।` यह सुनकर राजा रमांगद के साथ नर्मदा में कूद कर बिल में प्रविष्ट हुआ। मार्ग में भयानक शेर और गज पर शर प्रहार करने पर, वे अन्तर्धान हो गये और राजा वैभव मण्डित नाग राजधानी `भोगवती` पहुंचा। सामने एक सुन्दरी को देखकर वह सन्देह में पड़ गया, तब तक तोते ने सन्देह निवारण किया कि यह आपके स्वागतार्थ आई हुई नर्मदा है। राजा ने नर्मदा को सारा वृत्त सुनाया। नर्मदा ने बताया `राजन् -शशिप्रभा के पिता ने एक बार प्रण किया था कि वज्रांकुश राक्षस के

---

1 नवसाह. ७।६४

लीलागृह की बावड़ी में उत्पन्न स्वर्ण कमल लाने वाले के साथ अपनी पुत्री का परिणाय करूंगा। कुछ दूर पर राक्षस, देव, गण, मानव, को कष्ट देने वाले उस वज्रांकुश की राजधानी रत्नपुरी है। मार्ग में वंकुमुनि का आश्रम मिलेगा वे आपकी सहायता करेंगे। फिर नर्मदा राजा को एक कंकण देकर अदृश्य हो गई। रमांगद ने राजा को वज्रांकुश पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया। यह सब सुन कर तोते ने कहा "मैं शंखचूड़ का वंशज रत्नचूड नाग हूं कण्व मुनि के शाप से मैं तोता बना। शशिप्रभा के पास आपका संदेश पहुंचाने पर शाप-मुक्त हूंगा। अत: आप संदेश भेजें।" राजा ने तदनुरूप ही किया।

मार्ग में वे वंकु मुनि के आश्रम पहुंचे और उन्हें अपना प्रयोजन बताया। मुनि ने उन्हें ढाढस बंधाया। वहीं पर दाड़िम वृक्ष पर एक वानर दिखाई पड़ा। उसने राजा को एक अनार भेंट किया राजा ने वानर को नर्मदा का कंकण पहना दिया, जिससे वह श्याम वर्ण का युवक बन गया। राजा के पूछने पर उसने "आत्मवृत कहना प्रारम्भ किया — "महाराज मैं विद्याधर नरेश शिखण्डकेतु का पुत्र हूं। मेरा नाम शशिखण्ड है। मैं शशिकान्त पर्वत का निवासी हूं। एक बार मणि द्वीप की सुन्दरी मालती के साथ प्रथम दर्शन में ही परस्पर अनुराग हो गया। अत: उसे लेकर मैं आकाश मार्ग से चला। मार्ग में मालती का ~~सीमन्त~~ सीमन्त चूड़ामणि समुद्र में गिर गया। अत: मैं समुद्र में प्रविष्ट हुआ और एक सुन्दरी के हाथ में उसे देख कर मैंने वापस मांगा। उसके न देने पर मैंने सुन्दरी की पादुकाएं ले लीं। सुन्दरी के क्रन्दन-ध्वनि कर ने पर एक तपस्वी ने आकर बिना मेरी बात सुने, बिना मुझे कपि बन जाने का शाप दे दिया और सिन्धुराज द्वारा नर्मदा का कंकण पहिनाये जाने पर शाप मुक्ति का संदेश दिया। मैं आपका अनुगृहीत हूं। मेरी विद्याधर सेना आपके साथ है" राजा ने फिर पाताल गंगा में श्रम निवारण किया।

इसी बीच पाटला ने शशिप्रभा की सखी का पत्र रमांगद को राजा को सुनाने के लिए दिया, जिसमें शशिप्रभा के विरह संतापको दूर करने के लिए राजा से अनुरोध किया गया था। राजा ने उसे आश्वासन देकर और उत्साहित होकर विद्याधरों और नागों की सेना के साथ वज्रांकुश पर आक्रमण कर दिया। भीषण

युद्ध हुआ । अन्ततः राजा ने वज्रांकुश का शिरोच्छेद कर दिया और रत्नचूड को रत्नपुरी का शासक बनाया । सिन्धुराज हेम कमल को लेकर भोगवती पुरी पहुँचा जहाँ उसका अतिशय सम्मान हुआ । फिर राजा को हाटकेश्वर महादेव का दर्शन करवाकर धूमधाम के साथ विवाह की तैयारी होने लगी । मण्डप में राजा ने शशिप्रभा के कान को हेम कमल से अलंकृत करके नागराज के प्रण को पूर्ण किया । उसी समय विचित्र मृग पुरुष बन गया और कहा मैं आपके पिता हर्षदेव नृपति का प्रतिहार था । एक बार मुनि कण्व को राजदरबार में जाने से रोकने पर मुनि ने मुझे मृग बन जाने का शाप दिया था और सिन्धुराज द्वारा शशिप्रभा को स्वर्ण कमल पहनाये जाने पर उसकी निवृत्ति का आश्वासन दिया था । शशिप्रभा के साथ विवाह करके सिन्धुराज धारा नगरी लौटा और महाकालेश्वर का दर्शन किया । नागराज के दिये हुए शिवलिंग की प्रतिष्ठा करके सिन्धुराज ने शशिखण्ड और रत्नचूड को सप्रेम विदा किया और वह शशिप्रभा और राजलक्ष्मी का एक साथ आनन्दपूर्वक भोग करने लगा ।

कुतूहलकृत लीलावती कथा का प्रभाव नवसाहसांकचरित के कथानक पर बहुत अधिक परिलक्षित होता है । इस कथा में हाल का विवाह सिंहल राजकुमारी लीलावती के साथ वर्णित है । सिंहल नरेश की लीलावती नामक एक कन्या थी । उसने यह प्रण किया था कि जो युवक मेरी सखियों के प्रेमियों को बन्धन मुक्त करायेगा, उसी के साथ मैं विवाह करूंगी । लीलावती की दो सखियां—यक्षराज कन्या महानुमती और विद्याधर राजकुमारी कुवलयमाला थीं । एक बार महानुमती के प्रिय माधवानिल को नागलोग बलात् पकड़ कर अपने निवास रसातल में ले गये । गोदावरी के निकट एक गुहा के द्वारा हाल पाताल लोक में प्रविष्ट हुआ और वहां के रक्षक भयानक सिंह का वध कर दिया । इस प्रकार हाल ने सिद्ध राजकुमार माधवानिल को मुक्त किया । एक मुनि की सहायता से गोदावरी प्रदेश के भीषणानन नामक राक्षस का संहार किया । क्योंकि इस राक्षस ने कुवलयमाला के प्रेमी को बन्दी बना लिया था । इस प्रकार लीलावती की सखियों के प्रेमियों को उनसे मिला कर हाल ने अपनी प्रियतमा का प्रण पूर्ण किया । फलतः लीलावती ने हाल के साथ विवाह

कर लिया ।'[1]

नवसाहसांकचरित के कथानक के साथ लीलावती कथा की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों कथानक एक ही दिव्य-मानुषी शैली पर विकसित हुए हैं। दोनों कथानकों में विद्याधर, नाग, राक्षसों की उद्भावनाएं हैं, दोनों के नायक सुन्दरी को प्राप्त करने के लिए कष्ट झेल कर उनके प्रण पूर्ण करते हैं। यही नहीं एक मुनि की सहायता से दुष्ट राक्षस का संहार किया।

विक्रमांकदेवचरित और नवसाहसांकचरित -

काव्य की प्रस्तावना में हर्षचरित में क्रमश: इष्टदेव - शिव की स्तुति व्यास, भारतवर्ष की वन्दना, कुकवि और अपने ग्रन्थ की शैली के साथ साथ अनेक प्रसिद्ध कवियों और ग्रन्थों को सम्मान देकर भक्तिवशात् हर्ष के चरित का वर्णन प्रारम्भ किया गया है।[2] गउडवहो का भी यही क्रम है पर कुछ अधिक विस्तार है -वहाँ हरि, नृसिंह आदि बीस देवों की स्तुति के बाद कवियों के गुण-दोष के वर्णन, उनकी प्रशंसा, और निराशा तथा प्राकृत भाषा के माधुर्य गुण का वर्णन है।[3] यही क्रम सामान्यत: नवसाहसांकचरित और विक्रमांकदेवचरित में भी है। नवसाहसांकचरित के शिव और गजानन की स्तुति, प्राचीन कविवर्णन, लेखक की विनम्रता, काव्य रचना का प्रयोजन , वैदर्भी शैली की प्रशंसा, फिर उज्जयिनीवर्णन, नायक सिन्धु राज की प्रशंसा, उसकी प्रारम्भिक विजयें और युद्ध अभियान, वज्रांकुश का बध, फलस्वरूप नागकन्या शशिप्रभा के साथ विवाह और अन्त में साम्राज्य-भार पुन: सम्हालना आदि

---

१. दी लीलावती, (ए०एन०उपाध्याये) एस०-०जे०जी०एम०, भूमिका, पाठक,पृ०१५१

२. हर्षचरित, १।१-२१

३. गउडवहो १-६८ श्लोक

वर्णन गउडवहो और विक्रमांकदेव से साम्य रखते हैं। विक्रमांकदेवचरित के अनेक श्लोकों पर भी नवसाहसांकचरित की स्पष्ट छाप अंकित है।[१]

कश्मीर की इतिहास परम्परा –

कश्मीर की इतिहास परम्परा के अध्ययन का एक मात्र स्रोत राजतरंगिणी है। उसमें उल्लिखित ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के विवरण से हमें विल्हण के समय में, कश्मीर में इतिहास की दो शैलियों के दर्शन होते हैं। पहली चरित काव्य, जिसका स्रोत बाण कृत हर्षचरित था और दूसरी पुराणों के वंश्यानुचरित अंश से पल्लवित काव्य परम्परा थी।

कश्मीर के प्राचीनतम चरितकाव्यों में कल्हण द्वारा उल्लिखित शंकुक कृत 'भुवनाभ्युदय का नाम सर्वप्रथम दृष्टिगत होता है। इस काव्य में मम्म और उत्पल के युद्ध (८५० ई०) का वर्णन है। यद्यपि यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, तथापि अपने नाम तथा वर्ण्य विषय से यह चरित काव्य की ही विशेषताएं प्रकट करता है[२]। इस परम्परा में विक्रमांकदेवचरित के अतिरिक्त शंभु ने अपने आश्रयदाता हर्षदेव की प्रशंसा में (राजेन्द्रकर्णपूर' , काव्यमाला सीरीज़ में प्रकाशित) ग्रन्थ की रचना की। मंख कृत श्रीकण्ठचरितम् काव्य से ज्ञात होता है कि उच्चल का आश्रित कवि जल्हण उसकी मृत्यु के पश्चात् कश्मीर का परित्याग कर राजपुरी नरेश सोमपाल के आश्रय में चला गया, जहां उसने राजा सोमपाल के चरित पर' सोमपाल-विलास ' नामक काव्य की रचना की।[३] कश्मीरी अनुश्रुतियों के अनुसार स्वयं

---

१. नवसाहसांकचरित १।५ विक्रमा० १।६, नवसा० १।१२, १४ विक्रमां०, १।२०, नवसां० १।११,१५, विक्रमां० १।२८, नवसां० १।१३,१६,विक्रमां०, १।३०, नवसां०१।८०, विक्रमां० १।८२, नवसा० १।२२, विक्रमां० १८।२० आदि अनेक स्थल हैं।

२. राज० ४।७०४–५, स्टायन, १९६०

३. श्रीकण्ठचरितम् २५।७५ काव्यमाला ३, टि० पृ० ३४८

कल्हण ने भी 'जयसिंहाभ्युदय' नामक काव्य की रचना की थी ।[1] जैसा कि इसके शीर्षक से व्यक्त होता है, यह काव्य उसने अपने आश्रयदाता जयसिंह की प्रशस्ति में लिखा होगा । इसका एक श्लोक 'रत्नकथासारसमुच्चय' में उल्लिखित है ।

कल्हण ने सुव्रत के ग्रन्थ, क्षेमेन्द्र कृत नृपावली, नीलमतपुराण तथा ग्यारह अन्य विद्वानों के राजकथा पर आश्रित ग्रन्थों का उपयोग किया था ।[2] इनमें से नीलमतपुराण को छोड़ कर अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं । कल्हण का कथन है कि सुव्रत के पूर्व रचित ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत थे, अत: स्मरण करने की सुविधा के लिए सुव्रत ने उनको संक्षेप में प्रस्तुत किया । स्टायन का अनुमान है कि सुव्रत के संक्षिप्त इतिहास के कारण उसके पूर्ववर्ती इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन अवरुद्ध हो गया । अत: कल्हण को ये ग्रन्थ अस्तव्यस्त अवस्था में प्राप्त हुए थे ।[3] कल्हण के अनुसार सुव्रत के ग्रन्थ का प्रमुख दोष काण्डित्य के कारण वर्ण्य विषय की अस्पष्टता थी ।[4] इस दोष का कारण सम्भवत: उसके ग्रन्थ की अतिशय काव्यमयता और अधिक संक्षिप्त होना रहा होगा । क्षेमेन्द्रकृत नृपावली के सम्बन्ध में उनका विचार है कि कवि कर्म का निर्वाह होते हुए भी किसी असावधानी के कारण नृपावली का अंश मात्र भी निर्दुष्ट नहीं है ।[5] इससे प्रतीत होता है कि नृपावली में राजाओं का इतिहास काव्यमय शैली में उपनिबद्ध किया गया था । न कल्हण ने उसके दोष का उल्लेख किया है और न यह ग्रन्थ ही उपलब्ध हो सका है, अत:

---

१. अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ कश्मीर, पृ० १८४

२. राज० १।११-१४

३. स्टायन (अनुवाद), भाग १, पृ० २, टि० ११

४. या प्रथामगमन्नेति साऽपि वाच्यप्रकाशने ।
पाटवं दुर्भगुणतीव्रा सुव्रत भारती ।। राज० १।१२

५. केनाप्यनवधानेन कविकर्मणि सत्यपि ।
अंशोऽपि नास्ति निर्दोष: क्षेमेन्द्रस्य नृपावली ।। राज० १।१३

हम विशेष कुछ भी कहने में असमर्थ हैं। कल्हण ने पद्ममिहिर द्वारा वर्णित लव से लेकर आठ राजाओं का उल्लेख किया है। पद्ममिहिर का आधार ग्रन्थ पाशुपत द्विज हेलाराज कृत 'पार्थिवावलि' था, जो १२००० श्लोकों में उपनिबद्ध था।[१] कीलहार्न ने इस हेलाराज की पहचान भर्तृहरि कृति वाक्यपदीय पर 'प्रकीर्ण-प्रकाश' टीका के कश्मीरी लेखक हेलाराज से की है।[२] अनुश्रुतियों प्रचलित बावन नरेशों की तालिका में से आठ नरेशों के नाम हेलाराज ने और अशोक से लेकर पांच नरेशों के नाम 'छविल्लाकर' ने सुरक्षित रखे।[३] अनुश्रुति गम्य लुप्त बावन नरेशों का शासन काल २२६८ वर्ष था, जिन्हें गोनन्दीय राजवंशी कहा गया है।

कल्हण ने सुव्रत के ग्रन्थ को पाण्डित्य के कारण अस्पष्ट और नृपावली को काव्यगुणों से युक्त, पर किसी असावधानी के कारण (इतिहास सम्बन्धी तिथियों और स्थानों के वर्णन में अस्पष्टता) दोषयुक्त कहा है। इससे प्रतीत होता है कि इनमें भी परम्परागत वर्णन, तिथियों और स्थानों का अस्पष्ट विवरण देना तथा नायक के चरित्र को आदर्श चित्रित करना आदि काव्यगत शैली के दुर्गुण रहे होंगे फिर भी इन ग्रन्थों को इतना श्रेय तो अवश्य दिया जायगा कि उन्होंने अनुश्रुतियों में सुरक्षित ऐतिहासिक परम्पराओं को यथासंभव सुरक्षित रखा है तथा पारस्परिक तिथि क्रम को उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। क्षेमेन्द्र कृत देशोपदेश, नर्ममाला, समय मातृका आदि उपहास परक (व्यंग्यात्मक) काव्यों में चित्रित क्रूर और लोभी कायस्थों तथा अन्य सामाजिक तत्वों के चित्रण से यह अनुमान किया जा सकता है कि उक्त इतिहास ग्रन्थों ने नीरस नाम और वंशों की तालिका (पुराणों की भांति) मात्र ही नहीं दिया होगा, अपितु ऐतिहासिक चरित्रों और उनके समकालीन

---

१. ~~केनाप्यनवधाने कविकर्मणि सत्यपि।~~
~~अंशो... निर्दोषः क्षेमेन्द्रस्य नृपावली~~ ।। —राज० १।१३-८

२. इंडि० ऐंटी० जि० ३, पृ० २८५

३. राज० १।१७-१८, २०

तत्वों की आ[illegible]त्मक व्याख्या प्रस्तुत की होगी । कल्हण ने यद्यपि उक्त इतिहासकारों की आलोचना की है, परन्तु उसने कहीं भी अपने को इतिहास लेखन की नूतन पद्धति का जन्मदाता नहीं कहा है । वस्तुत: कल्हण ने प्राचीन इतिहास पद्धति को ही अपना कर प्रामाणिक स्रोतों से प्राप्त साधनों के द्वारा आदर्श इतिहास प्रस्तुत किया है, परन्तु जहां उन्हें प्रामाणिक साक्ष्य नहीं मिल सके हैं उन स्थलों के साथ वे भी न्याय नहीं कर पाये हैं ।[१] प्राचीन इतिहासकारों के लिए भी उक्त धारणा ही उपयुक्त प्रतीत होती है ।

चरित काव्यों और कश्मीर की इतिहास परम्परा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बिल्हण में दोनों तत्व विद्यमान हैं । उनका जन्म कश्मीर में हुआ था, अत: स्वाभाविक था कि वे कश्मीर की पु ष्ट सम्बन्धी इतिहास परम्परा से प्रभावित होते । यद्यपि उन्होंने कवि होने तथा काव्य ग्रन्थों में अपनी रुचि के कारण मध्यदेश में उद्भूत चरित काव्य परम्परा को अपनाया । परन्तु जैसा कि विक्रमांकदेवचरित के ऐतिहासिक तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट है, बिल्हण ने ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत किये बिना, साहित्यशास्त्र के नियमों के अनुकूल रोचक काव्य शैली में प्रस्तुत किया है । उनका कल्हण से इतना ही विरोध है

---

१. राजतरंगिणी के प्रारम्भिक तीन तरंगों में इतिहास अस्पष्ट पुरा कथाओं का संकलन मात्र है, परन्तु चतुर्थ तरंग से इतिहास अधिक क्रमबद्ध और प्रामाणिक है जिसका कारण यही प्रतीत होता है कि इस काल से कल्हण को अभिलेख, सिक्के, पूर्ववर्ती इतिहासकारों के समकालीन इतिहास के अंश, तथा अन्य प्रामाणिक साधन उपलब्ध थे । सप्तम और अष्टम तरंगों में विस्तृत और अधिक तथ्यपूर्ण विवरणों का कारण यह है कि कुछ इतिहास उसका समकालीन था और शेष उसके पिता और पितामह द्वारा दृष्ट था ।

दृष्टव्य—स्टायन, जि० १, भूमिका, स्टडीज़ इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, घोषाल कृत, पृ० १५३—१६४ और अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ कश्मीर रे कृत, पृ० ३१।८३

कि कल्हण अनन्त से विनप मल्ल तक (लोहर वंशी) कश्मीर नरेशों के दोषों और गुणों का आलोचनात्मक वर्णन करते हैं, तो विल्हण उनके गुणों एवं कृत्यों मात्र का संक्षिप्त परिचय (जितना कि आत्मवृत्त की पृष्ठ-भूमि के लिए उपयुक्त था) देते हैं, जो कल्हण के अनुकूल ही है।[१]

---

१. राज० तरंग ७, विक्रमा०, १८।३३-६८

पूर्वार्ध (ऐतिहासिक)

अध्याय - ३

उत्तरी भारत का इतिहास

विक्रमांकदेवचरित के ऐतिहासिक तथ्यों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने पर, हमें उस युग की राजनीतिक स्थिति का सम्यक् स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । देश अनेक राज्यों में विभक्त था जिनमें परस्पर युद्ध हुआ करते थे । इस अध्याय में उत्तरी भारत के राज्यों के इतिहास का क्रमिक विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

कश्मीर-

लोहर का राजवंश-

लोहर दुर्ग के राजवंश ने रानी-दिद्दा के पश्चात् काश्मीर में अपना प्रभुत्व स्थापित किया । दिद्दा ने संग्रामराज को अपना युवराज बनाया । अत: उसके पश्चात् काश्मीर के शासन की बागडोर संग्रामराज को बिना संघर्ष के ही प्राप्त हो गई । संग्रामराज ने १००३-१०२८ ई० तक राज्य किया । बिल्हण ने संग्रामराज्य द्वारा निर्मित संग्राम मठ का उल्लेख किया है । तत्पश्चात् उसके पुत्र हरिराज ने केवल २१ दिन तक शासन किया । इस राजवंश का प्रथम प्रतापी नरेश अनन्त हुआ, जो हरिराज का भाई था । उसके चाचा विग्रहराज , जो लोहर प्रान्त के अधिपति थे, अनन्त को राज्य च्युत करना चाहते थे, परन्तु राजधानी में पहुंचते ही उनका वध कर दिया गया । अनन्त १०२८ ई० में काश्मीर का शासक बन चुका था[२]। बिल्हण ने [illegible] से लेकर

---

१. विक्रमा० १८।२४

२. स्टायन, जि० १, भू० - पृ० १०६-९, १९६१ और राज० ७।२-१४१

कलश तक के काश्मीर के राजपरिवार का परिचय दिया है। राजतरंगिणी (सप्तम-तरंग) से ज्ञात होता है कि कल्हण ने विक्रमांकदेवचरित से पूरी सहायता प्राप्त की थी, क्योंकि दोनों के विवरणों में कहीं पर विरोध नहीं है।

अनन्तदेव (१०२८-६३ ई०)

" उस (प्रवरपुर) में सत्य,त्याग आदि समस्त अभ्युदय रूप सम्पत्ति की चरमसीमा, पृथ्वीवल्लभ अनन्तदेव हुआ, शत्रुओं की गज-पंक्तियों के गर्जन के लिए अगम्य जिसके खड्ग की धार रूपी जलधारा में (उसकी) कीर्ति रूपी हंसी निवास करती थी।"[१] अतः अनन्तदेव सत्य, त्याग आदि गुणों से समन्वित और प्रतापी था।

अनन्तदेव त्यागी था। उसे वितस्ता नदी के तट पर ब्राह्मणों के अग्रहार बसाने का श्रेय प्राप्त था।[२] उसने वितस्ता के जल से पूर्ण परिखा से आवृत्त उत्तुंग दुर्ग की अनुकृति करने वाला एक मठ स्थापित किया, जिसके चतुर्दिक भट्ट ब्राह्मणों के अग्रहार के ऊंचे ऊंचे घरों को मानो धर्मरक्षा के हेतु स्थापित चाहार-दीवारी के रूप में निर्मित किया।[३] कल्हण ने भी अनन्त को मुनियों के सदृश पुण्यात्मा कहा है।[४]

बिल्हण ने अनन्तदेव को पराक्रमी कहा है[५] और उसकी अनेक विजयों

---

१. विक्रमां०, १८।३३

२. वही १८।२४ — यत्रानंतक्षितिपतिकृतास्ते वित[illegible]
यातः कान्त्या हरधवलया हारतामग्रहाराः ॥

३. वही १८।३६

४. भवभक्तिव्रतस्नान त्यागशीलादिभिर्गुणैः।
कृतिनाऽनन्तदेवेन मुनयोऽपि विनिर्जिताः ॥ राज० ७।२०१

५. विक्रमां० १८।३३ , कल्हण भी उसके पराक्रम से प्रभावित है (राज० ७।१६०) और अनन्त को अनेकविजयों का श्रेय दिया है (तपन्नृपजयी —राज० ७।२१८)

का उल्लेख भी किया है :—

" पृथ्वी मण्डल को जीतने वाले, जिस (अनन्त) ने शक अङ्गनाओं को शोक सन्तप्त कर और खेल खेल में दरद (नृप) का दर्प दलन करने वाले खड्ग को, मानों म्लेच्छों (अस्पृश्यों) के सम्पर्क से उत्पन्न दोष की शंका से, गंगा के जल में धो डाला ।

" (अपनी) कीर्ति से अलका नगरी के द्वार को अलंकृत करने के लिए जिसने क्रौञ्च पर्वत के अंग में परशुराम के शर छिद्रों को देख कर पुष्ट भुजाओं और प्रचण्ड ध्वनि करने वाले धनुष पर क्रीडा भाव और क्रोध से युक्त दृष्टिपात किया ।

" सिद्धों से सेवित तटप्रदेश वाले, स्नान किये हुए सप्तर्षियों के द्वारा (तर्पणों में) गिराये गये (इधर उधर) बहते हुए तिलों से सुशोभित प्रवाह वाले मानसरोवर की, कैलासस्थ पार्वती के शरीर का प्रक्षालन की हुई तरंगें जिस (अनन्त) की रानियों के द्वारा सौभाग्य लाभ के लोभ से (अपने) मस्तक पर धारण की गई ।

" अद्वितीय वीर रामकथा के मत्सर से सारतत्व को ग्रहण करने वाले जिस(अनन्त) ने (अपने) पूर्वजों के चरित से सन्तोष नहीं किया, क्योंकि उन्होंने (पूर्वजों) अपयश के पात्र सहज ही कैलास पर्वत को उठा लेने वाले लंकापति रावण की भुजा रूपी वृक्षों के जंगल (समूह) का अर्द्धचन्द्र ' शर के द्वारा उच्छेदन नहीं किया (अर्थात् अनन्त रामवत् प्रतापी था) ।

" सुकृती जिस (अनन्त) के प्रताप के अभ्युदय का जनक आदेश हिमालय को क्रीडा स्थान बनाने वाले शंकर के हास से मानों भयभीत होकर चम्पा प्रदेश की सीमा पर, क्षितिपति की कथा के स्थान (लोहर प्रान्त में) पर, दार्वाभिसार त्रिगर्त प्रदेशों पर तथा भर्तुल नरेश के प्रासाद में विचरण करता है (अर्थात् उक्त प्रदेशों में अनन्त की आज्ञा का पालन किया जाता है)[१]।

---

१. विक्रमा० १८।३४—३८ ' क्रीडाशैलीकृत हिमगिरेहासभीतेव' पाठ ही समीचीन है— 'शीतभीतेव' नहीं । —जो ब्यूलर और भारद्वाज को भी मान्य है ।

इस विवरण से ज्ञात होता है कि अनन्त ने शक और दरद नरेशों को पराजित किया था और क्रौंच पर्वत तथा मानस सर की यात्रा की थी । उसका शासन चम्पा लोहर दार्वाभिसार, त्रिगर्त और भर्तुल नरेश के प्रासाद पर भी था ।

कल्हण ने अनन्त को दरद के साथ सात म्लेच्छ नरेशों को पराजित करने का श्रेय दिया है -- " अनन्त ने अपने बन्धु ब्रह्मराज को गंजाधिपति के पद पर नियुक्त किया, पर रुद्रपाल से मनमुटाव हो जाने के कारण वह दौड़ कर भाग गया और दरद नरेश ने डामरों से मिलकर अचलमंगल तथा सप्त म्लेच्छ नरेशों को यत्नत: अपने साथ मिला लिया । जब अचलमंगल क्षीर पृष्ठ नामक स्थान पर पहुँचा तो समरोत्सुक पराक्रमी रुद्रपाल उसकी ओर बढ़ा । युद्ध के लिए दूसरा दिन निश्चित हो जाने पर दरदराज घूमता हुआ पिण्डारक नामक नाग के भवन में पहुँचा । पार्श्वकों (सेवकों) के रोकने पर भी दुष्टतावश उसने (दरदराज ने) कुण्ड में तैरती हुई मछली के शरीर पर भाले से प्रहार कर दिया । तदनन्तर कुण्ड से शृगाल शरीरधारी सर्प निकला । दरदराज ने आखेट के औत्सुक्य से उसका पीछा किया । उसे दौड़ते हुए देख कर सैनिकों ने निर्णय को बदला हुआ और शत्रु का आक्रमण हुआ समझकर युद्ध के लिए प्रस्थान कर दिया । अत: भीषण युद्धोत्सव के प्रारम्भ हो जाने पर शस्त्रों से चिनगारी निकलने लगी और अप्सराओं के साथ वीरों का विवाह होने लगा । उस घमासान युद्ध में दरदराज का सिर कट गया और रुद्र के सदृश प्रतापी रुद्र ने यश प्राप्त किया । युद्ध में म्लेच्छ नरेशों का वध हुआ अथवा बन्दी बना लिये गये और काश्मीर नरेश ने सुवर्ण, रत्न आदि प्राप्त किए । किरीटस्थ मुक्ता की दीप्ति जलधौत और टपकते हुए रक्तवाले दरदराज के शिर को स्वामी (अनन्त) को भेंट किया ।"[१]

बिल्हण दरद और शक दोनों को अस्पृश्य समझते हैं ।[२] कल्हण ने

---

१. राज० ७।१६६-१७६ और कलश को अनन्त से संघर्ष न करने के लिए समझाती हुई सूर्यमती ने अनन्त को दरदराज का वधकर्ता कहा है--

" अस्य भ्रूभंगमात्रेणादरद्राजादयो हता: ।। ७।३७५

२ विक्रमा० १८।३४

शकों को म्लेच्छों की एक जाति माना है क्योंकि विक्रमादित्य ने शकों को मार कर शिव के म्लेच्छोच्छेन के कार्य को हल्का कर दिया था ।[१] अत: सप्तभि-म्लेच्छभूपाले :' और 'राजा दरदादयो: ' में शकों का अन्तर्भाव हो जाता है। दरद और म्लेच्छ दोनों पृथक जाति के रूप में कहे गये हैं ।[२] 'कृपाण को मानों स्पर्शदोष की शंका से गंगा के जल से धो डाला ' इस उत्प्रेक्षा से प्रतीत होता है कि अनन्त गंगा के जल के पास पहुंच गया था । दरद और शक राज्य कश्मीर के उत्तर में वर्तमान चित्राल, यासीन, गिलगित , स्कार्डो और लद्दाख में स्थित था , अत: यह गंगा ' मध्यप्रदेश' की गंगा नहीं हो सकती । संभवत: यह पवित्र किशनगंगा रही होगी जो दरद राज्य के समीप से होकर बहती थी । कल्हण के साथ , म्लेच्छ नरेशों में शक और दरद जाति के रजवाड़े थे, यह बिल्हण के उल्लेख से ध्वनित होता है ।

तदनन्तर अनन्त ने क्रौंच पर्वत् संभवत: हिमवत प्रदेश[३] और मानससर या कश्मीरी मानसबल[४] की यात्रा की थी[५] विल्हण द्वारा उल्लिखित चम्पा विजय का समर्थन राजतरंगिणी द्वारा भी होता है । जिसमें कहा गया है उन उन नरेशों के नेता राजा — ' अनन्त ने चम्पा में 'साल' नरेश का उन्मूलन कर (राज्यच्युत कर) उसके स्थान पर नवीन नरेश को स्थापित किया ।'[६] साल नरेश का नाम वंशावली में उपलब्ध नहीं होता, जिसका कारण वोगल के अनुसार संभवत: ' उसका अल्प शासन काल और लज्जास्पद अन्त' रहा होगा ।[७]

---

१ राज० – ३/१२८ २ विक्रमां० १८/२७; राज० – ७/१६६-६६, ८/२६६-४

३. क्रौञ्च शैलवन में स्थित — अली , पृ० ५८

४. स्टायन, जि० ३, पृ० ४२२ और ब्यूलर रिपोर्ट, पृ० २६

५. विक्रमा० १८।३५-६

६. चम्पायां सालभूपालमुन्मूल्यानन्तभूपति: ।
तत्तन्नृपजयी नव्यं धराधवमरोपयत् ।। — राज० ७।२१८

७. एन्टीक्विटी आफ दी चम्बा स्टेट, १९११, पृ० १०२ (वोगल कृत)

ग्यारहवीं शती के तीन ताम्रपट्ट अभिलेखों में "सालवाहन" नाम का उल्लेख मिलता है, सर्वप्रथम कीलहार्न ने इस नाम का सम्बन्ध राजतरंगिणी (७।२१८) में उल्लिखित "साल" के साथ जोड़ा था।[१] ये दानपत्र "साल" के उत्तराधिकारी सोमवर्मन् और आसट के हैं। आसट का नाम वंशावली में नहीं मिलता किन्तु अनन्त ने साल के स्थान पर उसे ही शासक बनाया होगा।[२] कनिंघम का अनुमान है कि यह घटना १०२८ से १०३१ ई० में हुई होगी[३], परन्तु बोगल के अनुसार यह १०५०-६० ई० में घटित हुई होगी। क्योंकि राजतरंगिणी में वर्णित है कि अनन्त राज्यारोहण के समय बालक था।[४] चम्पा नरेश के विरुद "परममाहेश्वर: परमवैष्णव: परमभट्टारक- महाराजाधिराज -परमेश्वर श्रीमत्सालवाहनदेव" से वह स्वतंत्र शासक सिद्ध होता है।[५]

इस विजय से उत्साहित होकर अनन्त ने काश्मीर के निकटवर्ती अन्य नरेशों पर भी आक्रमण किया। क्षितिपति की कथा का स्थान लोहर अनन्त के अधीन था ही, क्योंकि वहां के शासक क्षितिराज या क्षितिपति ने अनन्त के अपने पौत्र उत्कर्ष को लोहर का अधिपति बना दिया था।[६] यह घटना १०६३ ई० के बाद की होगी, जिस समय कलश नाममात्र का शासक था।[७]

अनन्त ने दार्वाभिसार को भी जीता जो चन्द्रभागा और वितस्ता के मध्य पहाड़ी राज्य था।[८] क्षितिपति ने राजपुरी पर आक्रमण किया था।[९]

---

१. इ०ए०, जि० १७, पृ० ७

२. बोगल, पृ० १०२, फलक सं०, २४, २५

३. एन्शेन्ट जागृफी (कनिंघम), पृ० १४१

४. राज० ७।१३५, बोगल, जि० १, पृ० १०३

५. बोगल, जि० १, फलक २४, २५

६. राज० ७।२५१ —२५६, विक्रमा०, १८।६७

७. वही, ७।२४६

८. स्टायन, जि० २, पृ० ४३२, जि० १, टि० ११।८०

९. विक्रमांकदेव०, १८।४६

और अनन्त ने जिन्दुराज कम्पनरेश को राजपुरी आदि से कर लेने का कार्य सौंपा ।[1] जो दार्वाभिसार के अन्तर्गत आता था ।[2]

त्रिगर्त भी अनन्त के अधिकार-क्षेत्र में था । त्रिगर्त आधुनिक कांगड़ा का प्राचीन नाम था । कांगड़ा नरेशों की वंशावलि में इन्द्रचन्द्र नाम उपलब्ध है जो विल्हण के इन्दुचन्द्र के निकट पड़ता है । इंदुचन्द्र जालन्धर नरेश कहा गया है ।[3] प्राचीन जालन्धर के अन्तर्गत त्रिगर्त था ।[4] अत: अनन्त का प्रभाव वहां स्पष्ट है ।

बिल्हण ने अनन्तदेव के अधिकार क्षेत्र में भर्तुल का भी उल्लेख किया है[5]। राजतरंगिणी में 'वर्तुल' नामक पर्वतीय प्रदेश का उल्लेख हुआ है ।[6] स्टायन महोदय का कथन है कि शारदा लिपि की लिखावट में 'भ' और 'व' में सन्देह सम्भव है, अत: भर्तुल और वर्तुल एक ही प्रतीत होते हैं ।[7] उनका अनुमान है कि वर्तुल संभवत: चिनाव के उत्तरी तट पर और बानहाल या विषलाट के दक्षिण-पश्चिम में स्थित बातल नामक पहाड़ी जिला रहा होगा ।[8]

अत: अनन्तदेव का प्रभाव काश्मीर के सीमावर्ती प्रदेशों पर था । अनन्त के उरशा और वल्लापुर के आक्रमणों का उल्लेख है, जिसमें वह असफल हुआ था ।[9] विल्हण ने सम्भवत: इसीलिए इनका उल्लेख नहीं किया है ।

अनन्त की पट्टमहिषी सुभटा— अनन्त का विवाह सुभटा के साथ हुआ था — 'अत्यधिक यशस्वी उस (अनन्त) की इन्दु से उत्पन्न ज्योत्सना के समान

---

१. राज० ७।२६७

२. स्टायन , जि० १, पृ० ३३, टि० १८० , राज० ८।१५३१, १८६१

३. वही जि० १, पृ० २७६, टि० १५०, राज० ७।१५०-१५२ , विक्रमा० १८।४०

४. कनिंघम, एन्शैन्ट ज्याग्रफी, पृ० - १३६, स्टायन, जि० १, पृ० २७६, टि० १५०

५. विक्रमा०, १८।३८

६. राज० ८।२८७, ५३८-४०

७. स्टायन, जि० १, पृ० २५, टि० २८७

८. वही । भर्तुल , वर्तुल और बातल नामों में अधिक साम्य से उक्त अनुमान संगत प्रतीत होता है ।

९. राज० ७।२१९—२२१

संसार में (गुणों के कारण) प्रसिद्ध (जालन्धर नरेश) इन्दु की पुत्री सुभटा नामकी पट्टमहिषी थी । विष्णु के वक्ष-स्थल रूपी मेघ पर स्थित लक्ष्मीरूपी विद्युत् भी जिसके (सुभटा के) अनुपम सौभाग्य का अनुकरण करने में असमर्थ थी ।[1] कल्हण के अनुसार जालन्धर इन्दुचन्द्र की पुत्री सूर्यमती के साथ अनन्त का विवाह हुआ था ।[2] सूर्यमती का दूसरा नाम सुभटा भी था ।[3] ' दया, क्षमा और दाक्षिण्य की सीमा उस (सुभटा) के त्यागव्रत अर्थात् दान कृत्य की सीमा (इयत्ता) कौन जान सकता है ? सैकड़ों नरेशों के मस्तक-मणि (रूपी कसौटी) पर तीक्ष्ण किये हुए (जिसके) पति (अनन्त) के कृपाण ने भूमण्डल की लक्ष्मी को जिसकी चरण सेविका बना दिया ।[4] काश्मीर नरेश अनन्त जिस सुभटा के गुणों के कारण, उसके वशीभूत हो गया था ।[5] यही नहीं रानी सूर्यमती के ऊपर राज्य का सारा भार छोड़ दिया था ।[6] सुभटा अपनी सम्पत्ति का उपयोग दान, पुण्य, मठ आदि के निर्माण में करती थी — ' जिस (सुभटा) के द्वारा संगृहीत लक्ष्मी कपट लेख के लेखक कायस्थों, के चाटुकारिता में दक्ष विटों, स्तुति पाठकों (चारणों) और गायकों के द्वारा लूटी नहीं गयी । अपने चंचलता के दोष की शुद्धि के लिए मानों वह देवमन्दिरों, द्विजों और गुरु-जनों के घरों में प्रविष्ट हुई ।' [7]

'(अपनी) कीर्ति रूपी ज्योत्स्ना से समस्त भुवनों की शोभा को स्नान कराने वाली उस (सुभटा) ने अधिष्ठान (राजधानी) के मध्य में अत्यन्त

---

१. विक्रमा० १८।४०

२. राज० ७।१५०-१५२ कांगड़ा नरेशों की वंशावलि में उल्लिखित इन्द्रचन्द्र और इन्दुचन्द्र एक ही प्रतीत होते हैं —स्टायन, जि० १, पृ० २७६, टि० - १५०

३. वही, ७।१८०

४. विक्रमा० १८।४१

५. विक्रमा० १८।४३ — ' श्री काश्मीरक्षितिभुजिगते वश्यतां यद्गुणानां' और राज० ७।२००

६. राज० ७।१९६- २००

७. विक्रमा० १८।४२

सुन्दर अपने नाम से एक मठ (सुभटा मठ) बनवाया । विद्या के प्रेमी मन वाले छात्रों के आश्रय जिस मठ में कौन सी नृत्य की छटा नेत्रों के लिए अमृत शलाका का काम नहीं करती है ।[१]

" उस (सुभटा) ने स्वयं विद्वानों के उपभोग के लिए अनेक भाण्डागार (अन्नागार) स्थापितकिये और इच्छानुसार भूमि का आदेश ब्राह्मणों को दिया (अग्रहार बसाये) प्रस्थान के लिए तत्पर दर्प दिखाने वाले प्रहार हाथियों के समान दिग्गजों के भूमि रूपी कोश में अनुराग रखने वाली वह कीर्ति मात्र की रक्षा करती थी । (अर्थात् धन के प्रति आकर्षण न था) ।

" उस (सुभटा) ने वितस्ता के (तट पर) समीप उत्तुंग शिखर समूह से नक्षत्र पथ को क्षुब्ध करने (छूने) वाला, तीनों लोकों का पूज्य कामारि (शंकर) का मन्दिर बनवाया, जिसके समीप नर्तकियों की शब्द करती हुई मेखला के समूह से प्रत्यंचा के अव्यक्त शब्द वाला कामदेव शंकर का कोपभाजन नहीं बन रहा था ।[२]

प्रवरपुर के वर्णन के प्रसंग में विल्हण ने अनन्त की रानी के द्वारा बनवाये गये शंकर के मन्दिर और उसके निकट गोशाला का विवरण इस प्रकार दिया है -- " जिस (प्रवरपुर) में काश्मीर नरेश अनन्त की गृहिणी के शंकर (सदाशिव) के मंदिर पार्श्व में (अपनी) ऊंचाई से त्रिभुवन (के प्राणियों) को आनन्दित करने वाली वह (प्रसिद्ध) गोशाला है, जहां नगर कन्याएं कपोतों की अविरत कूक को सुन सुन कर अनायास ही कण्ठध्वनियों में निपुण हो जाती हैं ।"[३] कल्हण भी सुभटा को गौरीश्वर मन्दिर का निर्माण करने वाली और वितस्ता तट पर सुभटामठ की संस्थापिका कहता है ।[४] अत: प्रतीत होता है कि गौरीश्वर

---

१. राज० १८।४४ --मोनियर विलियम्स, पृ० ४९८ और आप्टे , पृ० २६१ ने " दैशिकानां " का अर्थ आचार्य किया है, परन्तु स्टायन , जि० १, पृ० २८२, टि० - १८०, में छात्र अर्थ ही स्वीकृत है । क्षेमेन्द्र कृत दैशोपदेश (छठें उपदेश) में छात्र और दैशिक पर्याय के रूप में प्रयुक्त हैं ।

२. विक्रमा०, १८।४६ ३. वही १८।२६

४. राज० ७।१८०, राज० ७।१६५-८ में सूर्यमती द्वारा निर्मित मठ का उल्लेख है, जिसका जीर्णोद्धार कल्हण के जीवनकाल में हुआ था (राज०८।३३२१) सूर्यमती

(क्रमश: जारी)

मन्दिर , सुभटा मठ और गोशाला प्रवरपुर में ही अवस्थित थे । कल्हण के अनुसार सुभटा ने अपने भाइयों की स्मृति में दो मठ बनवाये, एक सौ आठ अग्रहार ब्राह्मणों को दिये और पति के नाम पर अनेक अग्रहार, त्रिशूल, बाण, तथा शिवलिंग आदि स्थापित किये थे ।[१]

सुभटा के मुख्यमंत्री हलधर, जो गौरीश्वर मन्दिर के द्वारपाल वैश्यभूति का पुत्र था और अपनी प्रतिभा से सर्वाधिकारिता को प्राप्त हुआ था,[२] ने प्रवर-पुर के मध्य में पुण्य नदियों (वितस्ता और सिन्धु) के संगम पर अनेक अग्रहार बसाये थे ।[३] हलधर के लिए राजतरंगिणी में उल्लिखित है, (प्रजा के) कष्टों का निवारण करने वाले (हलधर) उसने वितस्ता और सिन्धु के संगम को स्वर्ण मण्डित मन्दिरों, मठों और अग्रहारों द्वारा सुशोभित किया ।"[४]

अनन्तदेव का चचेरा भाई क्षितिपति — " उस(अनन्त) का भाई[५] क्षात्र तेज का स्थान (क्षत्रियत्व से युक्त) राजा भोज के सदृश महिमा वाला, 'क्षितिपति' नाम का लोहर प्रदेश का अधिपति था । जिस (क्षितिपति) के मुख में सर-स्वती मानों हृदय में स्थित लक्ष्मी के शिर पर पादन्यास करके (लक्ष्मी के) , शिरोभूषण की समता को प्राप्त हुई (अर्थात् मुख में सरस्वती का निवास था) ।

" कर्कश (नीरस अथवा कठोर) तर्क मार्ग (न्यायशास्त्र) में अद्भुत प्रगल्भता को प्राप्त किये हुए, जिस (क्षितिपति) की रमणीय कीर्ति और

पिछले पृष्ठ का अवशेष — गौरीश्वर शिव के उल्लेख , राज० ७।२०७ और ६७३ में भी हैं । इस मन्दिर की स्थापना के समय सुभटा ने गौ, सुवर्ण, रत्न, अश्व आदि के दान से अनेक ब्राह्मणों का दारिद्र्य दूर किया था ।

(राज० ७।१८१)

---

१. राज० ७।१८२—८५ २. वही ७।२०७—२१०

३. विक्रमा० १८।१६

४. तैर्नायासहृता नीतः क्वत्स्वर्णैः सुरास्पदैः ।
शोभां मठाग्रहारैश्च वितस्तासिन्धुसंगमः ।। राज० ७।२१४

५. विक्रमा० १८।४७ में 'यस्या भ्राता' के स्थान पर 'यस्य भ्राता' पाठ ही

(क्रमशः जारी)

दान का वर्णन किन शब्दों से किया जाय ? जिस (क्षितिपति) के द्वारा (—धन नष्ट विपत्ति (धन प्राप्ति से दरिद्रता की विपत्ति से रहित) विद्वानों के घरों में रखी हुई लक्ष्मी (विद्वानों की) ललनाओं के आभूषणों की झंकार के कारण आज भी नहीं सो पा रही है (अर्थात् विद्वानों को प्रभूत धन दिया) ।

बाहुस्थल (प्रदेश विशेष) रूपी कमलिनी के राजहंस के लिए मेघ (हंस मेघ को देखकर मानसरोवर चला जाता है , अत: बाहुस्थल-नरेश (क्षितिपति भक्ति से त्रस्त होकर भाग गया होगा) जिस (· क्षितिपति) की भुजा ने कपोल स्थलों पर अविरल गिरने वाले अश्रुओं की सैकड़ों धाराओं (प्रवाहों) से (शत्रु) सुन्दरियों के कुच युगों को पंकिल बनाते हुए राजपुरी के प्रताप का सहज ही भक्षण कर लिया (अर्थात् राजपुरी नरेश को परास्त किया) ।"

" कमलनयिनियों के नितम्ब स्थल में तुरत (द्राक्) उपेक्षा रखने वाला रसज्ञ जो (क्षितिपति) दोनों ओर विद्वानों की पंक्ति को स्थान देकर सभा (दरबार) का अलंकरण करता था । रत्न की कान्ति से दीप्त स्वर्ण के कर्णा-भूषण का तिरस्कार करने वाले उस मानी ने विष्णु सम्बन्धी कथा को कानों का भूषण समझा ।"[१]

इस विवरण से ज्ञात होता है " अनन्त का भाई क्षितिपति या क्षिति-राज लोहर प्रदेश का अधिपति था और सरस्वती का उसके मुंह में निवास था । वह न्यायशास्त्र में दक्ष था । वह अभूतपूर्व दानी था । उससे त्रस्त होकर बाहुस्थल प्रदेश का नरेश भाग गया था तथा उसने राजपुरी नरेश को परास्त किया था । वह विद्वानों का संरक्षक तथा रसज्ञ था । वह परम वैष्णव था ।"

पिछले पृष्ठ का अवशेष — समीचीन है क्योंकि प्रसंग के अनुसार अनन्तदेव और उससे सम्बद्ध रानी सुभटा, भाई क्षितिपति और पुत्र कलश का वर्णन चल रहा है । अत: प्रस्तुत श्लोक का सम्बन्ध भी अनन्त के साथ होने से जिस (अनन्त) का भाई अर्थ ही होगा । इस कथन की पुष्टि राजतरंगिणी से भी होती है, जहां क्षितिराज (जो क्षितिपति ही प्रतीत होता है) लोहराधिप विग्रहराज (राज०७।१४०) का पुत्र और अनन्त का चचेरा भाई कहा गया है —

पुत्रो विग्रहराजस्यक्षितिराजाभिधस्तत: ।
राज्ञ: पितृव्यजो भ्राता कदाचित्पार्श्वमाययौ ।।रा०७।२५६

---

१ विक्रमा० १८।४७-५०

राजतरंगिणी के अनुसार (लोहर के नरेशों में संगामराज और विग्रह-राज दो भाई थे । संग्रामराज के पुत्र अनन्त और विग्रहराज के पुत्र क्षितिराज थे । अत: क्षितिराज अनन्त का चचेरा भाई था ।[1] कल्हण भी क्षिति-राज को भोज के सदृश दानी और कविवान्धव कहता है ।[2] परन्तु वह क्षितिराज के बाडुस्थल (संभवत: आधुनिक बीरु स्टायन २, पृ० ४७६) और राजपुरी (आधुनिक राजौरी) के युद्धों के सम्बन्ध में मौन है । ऐसा प्रतीत होता है कि राजपुरी नरेश सहजपाल था ।[3] कल्हण ने क्षितिराज का संक्षिप्त विवरण दिया है , क्योंकि वह काश्मीर नरेश की प्रवरपुर शाखा का नहीं था परन्तु चूंकि विल्हण को क्षितिराज की दान क्रिया, विद्वता, विद्वत्प्रेम और युद्धों के वृतान्त का पूर्ण परिचय था । उन्हें रसज्ञ क्षितिराज जैसे गुणग्राही का आश्रय न मिल सकने से क्षोभ भी हुआ होगा[4] और वाध्य होकर देशान्तर, होकर ~~पूर्व~~ यात्रा करनी पड़ी । अत: श्रद्धावश बिल्हण ने प्रसंगेतर क्षितिपति का संक्षिप्त , पर पूर्ण वृत्त प्रस्तुत किया है ।

क्षितिपति परम वैष्णव था । कल्हण ने लिखा है कि अपने पुत्र भुवनराज के विद्रोह तथा उसके द्वारा अपने पूज्य वैष्णवों को अपमान किए जाने से विरक्त होकर क्षितिराज ने अनन्त के पौत्र उत्कर्ष (कलश पुत्र) को अपना उत्तराधिकारी बना दिया और स्वयं सन्यासी हो गया ।[5] कालान्तर में परम वैष्णव और शुद्ध बुद्धि वह (क्षितिराज) अनेक वर्षों तक परमशान्ति का अनुभव करके चक्रधर तीर्थ में चक्रायुध (भगवान् विष्णु) के सायुज्य को प्राप्त

---

२ वही- ८।२५९

१. राज० ७।१–२५१

३. नृपे सहजपालाख्ये शान्तिं यातेऽप्यपिच्यत ।
तत: संग्रामपालाख्यो राजपुर्यां तदात्मज: ।। ७।५३३ राज०
(कलश के राज्यत्वकाल)

~~३. वही ७।५३३~~

४. विल्हण ने क्षितिपति की तुलना भोज से की है (१८।४७) और भोज से भेंट न कर सकने का उसे खेद था (१८।९६), अन्यत्र लोहर के लिए 'क्षिति-पति यशोधाम' (१८।६७) विशेषण भी क्षितिपति पर बिल्हण की श्रद्धा व्यक्त करता है ।

हुआ ।"[1]

अनन्त १०२८ ई० में गद्दी पर आरूढ़ हुआ था । उसके तुरत बाद ही विग्रहराज ने अनन्त को राज्यच्युत करने का प्रयत्न किया था और मारा गया था[2]। अत: उसका पुत्र क्षितिराज १०२६ ई० के लगभग लोहर प्रदेश का शासक हुआ होगा और कलश जब नाम मात्र का शासक था (१०६३।२८ ई०), उस समय वह उत्कर्ष को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर सन्यासी हो गया था । यह घटना अनन्त के जीवन काल (१०८० ई० के पूर्व) की तथा कलश के प्रथम राज्यारोहण (१०६३ ई०) के तुरत बाद की है और उत्कर्ष ने १०६५ ई० में जन्म लिया था , अत: अनुमानत: क्षितिराज ने १०२६ ई० से १०६५ ई० के बाद तक शासन किया था ।

अनन्त का पुत्र कलश-- " उस (अनन्त) के पुण्यों से उसकी महिषी (सुभटा) से ऐरावत हाथी के शुण्ड के सदृश पराक्रमी भुजदण्ड से युक्त कलश नृपति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । रणभूमि से पलायित शत्रु नरेशों की प्यारी लक्ष्मी जिस (कलश) के हाथियों के मद रूपी स्याही से —सरावोर खड्ग में निवास करती थी ।

" कीर्ति रूपी हंस रूप भूषण से युक्त लक्ष्मी जिस (कलश) के स्वर्ण कमल के सदृश मुख के दर्शन मात्र से ही सघन असिलताओं के कारण सेवार के सदृश श्याम वर्ण के गर्वीले शत्रु नरेशों की सेनाओं के सिरों को छोड़कर उसके चरणों के सान्निध्य को प्राप्त हुई (अर्थात् शत्रु नरेशों को मस्तक पर रहने वाली लक्ष्मी कलश के चरणों में आ विराजी) ।

---

१. भुक्त्वा समसुखं भूरीन्वर्षान्विगरमुवैष्णवः ।
 स चक्रायुधसायुज्यं ययौ चक्रधरे सुधीः । राज० ७।२५८ ।।

२. राज० ७।१३६- ४०

३. वही ७।२३३ से २५८

४. राज० ७।८६१ में कहा गया है कि उत्कर्ष ने २२ दिन राज्य किया और २४ वर्ष की आयु में उसने आत्महत्या की । कलश की मृत्यु (१०८६) के बाद वह शासक बनाया गया था (राज० ७।७०३ और ७२३) । अत: उत्कर्ष का जन्म (१०८६— २४) १०६५ ई० में हुआ था ।

* भू लोक के एक मात्र—चन्द्र उस (कलश) ने दिक्यात्राओं में स्फटिक की स्वच्छ कान्ति वाले अच्छोद (सरोवर) पर पहुँच कर इन्द्रायुध (चन्द्रपीड के अश्व) के खुरों से खुदी हुई भूमियों पर विचरण करते हुए कादम्बरी (बाण की कादम्बरी नायिका) के सेवकों को चन्द्रापीड (नायक) की स्तुतियों के प्रति संकुचित वाग्विलास वाला बना दिया (चन्द्रापीड की स्तुतियों में उनकी वाणी कलश के गुणों को देखकर ठिठकने लगी) ।

* उत्तर दिशा की ओर अग्रसर होते हुए जिस (कलश) ने शंकर के चंचल बैल (नन्दी) के खुरों से (चिह्नित) खुदने के कारण बनी हुई लेखा रूप शिरोभूषण वाले इस कैलास पर्वत की वन्दना की । रावण के द्वारा हथेली पर रखने से हिलने के कारण जिस कैलास के अधोभाग में रहने वाले कितने ही (प्रमथादि) गण मानों आज भी (उस भय से) आश्वस्त नहीं हो पाये हैं ।

* जिस (कलश) ने कुबेर नगरी (अलकापुरी) से उत्तर में स्थित मानसरोवर को लौटते हुए कुछ स्वर्णकान्ता यक्ष कन्याओं को जिज्ञासा वश पकड़ कर शंकर के किरीट से प्रस्रवित या हरमुकुट पर्वत से प्रवाहित गंगा में स्नान कर उस गंगा को मानसरोवर से लाये हुए स्वर्णकमलों का स्थान बनाया (अर्थात् गंगा में कमलों को चढ़ा दिया) ।

* जिस (कलश) की जगत्प्रसिद्ध दो प्रेयसियां लक्ष्मी और सरस्वती उसमें शस्त्र और शास्त्र की प्रतिष्ठा सूचित करती थीं । नूतन मेघ के सदृश नीलछत्र वाली पहली (लक्ष्मी) (उसकी) भुजा में निवास करती थी और श्वेत छत्र रूप शुभ्र यश-चन्द्रिका से शोभित दूसरी ने (सरस्वती) मुख कमल का आश्रय लिया ।

* (काश्मीर नरेश) जयापीड के सदृश प्रभावशाली जिस (कलश) ने पवनवत् द्रुतगामी अश्वों से बालुकाब्धि को लांघ कर स्त्रीराज्य को जीता । अद्वितीय वीर उसने उससे प्राप्त प्रशंसा को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वह ताडका (राक्षसी) का वध करने वाले रघुपति राम पर भी लज्जित होता था(क्योंकि वीरों को स्त्रियों के साथ युद्ध करना शोभा नहीं देता) ।

* काल की जिह्वा के अनुरूप भयंकर जिस (कलश) के कृपाण के स्मरण मात्र से भयभीत होने के कारण नष्ट कामोन्माद वाले शत्रु नरेश मेघमण्डित वर्षा-

काल में कामिनियों के केशों और हरी घास से सुशोभित भूमियों में भी आनन्दित नहीं होते थे।

* जो (कलश) हर्षदेव (कलश का बड़ा पुत्र और बिल्हण का प्रिय) की माँ के उरोजों पर सेवा भाव से विनम्र कुबेर के द्वारा भेंट रूप में दिए हुए एक लड़े हार को देखकर) कुबेर का विश्व को चकित करने वाला उपकार करने की इच्छा करते हुए, रघुपति के शरों के द्वारा पुष्पक विमान वापस मिल जाने के कारण, खेद को प्राप्त किया (अर्थात् राम ने पुष्पक वापस न दिला दिया होता तो कलश कुबेर को पुष्पक विमान दिलाकर उपकार से उऋण हो जाता) ।

(शिरोच्छेदन करते समय खड्ग की धार कुण्ठित हो जाने पर धार करने के लिए इच्छुक जो रावण कैलाश को पहले उठा कर फिर छोड़ देने (के कृत्य) से खिन्न हुआ था, उस रावण को भी जीतने वाले राम भी जिस (कलश) की तुलना में क्षुद्र हैं --ऐसा समझता हूं।

* जो (चन्द्रभागा) मन्दराचल के द्वारा क्षीरसागर के मन्थन से क्रुद्ध होकर मानों उत्ताल तरंगों से पर्वतों की जड़ों को भी नष्ट कर रही है, उस चन्द्रभागा के जल को काश्मीरभूमि रूपी कुमुदनी के चन्द्र जिस (कलश) ने सेना समूह के द्वारा जलविहीन कर दिया ।

* सूर्य का हरित छवि वाला अश्व-समूह, जिस सूर्यकन्या यमुनाके शेषनाग के क्रीडा-विलास को (नीली तरंगों के व्याज से) आज भी धारण करता है। सबको जीतने वाले जिस (कलश) के सेना समूह ने पृथ्वी की क्रीडा के कारण बिखरे हुए केशों की लटों के समान काली कालिन्दी (के जल) का पान कर लिया ।

* समग्र पृथ्वी का विजेता जो (कलश) पृथ्वी को धारण करने वाले (शेष अथवा हिमालय) के सदृश पृथ्वी को व्याप्त करता हुआ उस प्रसिद्ध) कौरवक्षेत्र (कुरुक्षेत्र) में पहुंचा, जहाँ क्षत्रियों के रुधिर पंक में अर्जुन के बाणों के प्रहारों के द्वारा कर्ण से (अंगराज राधासुत कर्ण के) गिरा हुआ कुरुपति दुर्योधन का यश रूपी कर्णाभूषण निमग्न हो गया (अर्थात् प्रतापी कर्ण के वध से दुर्योधन की शक्ति क्षीण हो गयी) ।[१]

---

१. विक्रमां०, १८।५१-५३

बिल्हण के इस काव्यात्मक विवरण में निहित तथ्य इस प्रकार हैं — 'अनन्तदेव और सुभटा से उत्पन्न कलश काश्मीर का शासक हुआ। वह बहुत प्रतापी था और उसने अनेक विजयें की थीं। दिग्विजय यात्रा में वह अच्छोद सरोवर पहुँचा और उत्तर की ओर अग्रसर होता हुआ कैलाश पर्वत पहुँचा। अलकापुरी से उत्तर में स्थित मानसरोवर लौटते समय यक्षकन्याओं को और स्वर्ण कमल को मानसरोवर से लाकर गंगा को अर्पित किया था। अत: वह गंगातट तक पहुँच गया था। जयापीड की भाँति उसने बालुकार्णव लाँघ कर स्त्रीराज्य को जीता। उसने यमुना तट पर भी युद्ध किया और कुरुक्षेत्र तक पहुँच गया। शस्त्र के धनी उस कलश के मुख में सरस्वती का निवास था।'

कल्हण के अनुसार कलश १०६३ ई० में राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, परन्तु राज-शक्ति अनन्त के पास ही रही फलत: पितापुत्र में शक्ति के लिए संघर्ष होता रहा जिसका अन्त अनन्त की मृत्यु (१०८१ ई०) के पश्चात् हुआ। काश्मीर राज्य का स्वतंत्र अधिकारी हो जाने पर कलश में परिवर्तन हुआ और वह शासन कार्य कुशलतापूर्वक करने लगा। धनलोभ में वह वणिक्वत् कंजूस होते हुए भी सत्कार्य के लिए मुक्तहस्त हो जाता था।[१] कलश के उस दिग्विजय के समर्थन में स्पष्ट प्रमाणों का अभाव है। काश्मीर का स्वतंत्र शासक (१०८१ ई०) होने के बाद कलश ने यमुना तट पर (अम्बाला) पहुँच कर कुरुक्षेत्र पर आक्रमण कर दिया होगा क्योंकि इस समय गजनी के सुल्तान इब्राहीम का पुत्र महमूद पंजाब का गवर्नर था और वह आगरा कन्नौज, उज्जैन तथा कालंजर को विजय करने में व्यस्त था।[२] यद्यपि कल्हण ने बिल्हण द्वारा उल्लिखित कलश के दिग्विजय का विवरण नहीं दिया है तथापि वह कलश के प्रताप का वर्णन करता है। मन्त्री जयानन्द के प्रयत्न से राजपुरी नरेश संग्रामपाल कलश के अधीन हो गया और

---

१. राज० ७।२३३-५०७

२. स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० ६४-६५

उसके विद्रोही चाचा मदनपाल को बन्दी बना लिया । उसके सेनापति ने उरशा को जीता और (किशन गंगा) को पार कर अभय के राज्य पर आक्रमण किया इसके अतिरिक्त १०८७ ई० में उसने आठ पर्वतीय राजाओं को राजधानी में आमंत्रित किया, जो पड़ोसी राज्यों पर उसके प्रभाव को प्रकट करता है । इस प्रकार पर्वतीय नरेशों की सभा द्वारा सम्भवत: उसने उनके साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये । इसकेअतिरिक्त दुर्गाह्व स्वापिक दुर्ग को जीता ।[१] कल्हण कलश के काव्यप्रेम और काव्य रचना के सम्बन्ध में मौन है । परन्तु बिल्हण उसके मुख में सरस्वती का निवास कहता है, जो उसके नाम से प्राप्त अनेक श्लोकों से पुष्ट होता है ।[२] क्षेमेन्द्र कलश का समकालीन था, अत: उसके प्रमाण को झुठलाया नहीं जा सकता ।

कलश के तीन पुत्र — कलश के तीन पुत्रों का उल्लेख बिल्हण ने किया है । उसका ज्येष्ठ पुत्र हर्षदेव था — जिस (कलश) का प्रिय ज्येष्ठ पुत्र श्रीहर्ष (वर्धन नरेश —६०६ ई०) से भी अधिक कविता में प्रौढ़ता प्राप्त करने वाला हर्षदेव किसको आनन्दित नहीं करता था । जिसने युद्धों में राजाओं के किरीट की मणियों से टकराने से कुण्ठित धार वाले (अपने) कृपाण को अपने स्वर्णकंकण पर (रगड़कर) तीक्ष्ण किया ।

" जिस (हर्षदेव) की रचना की प्रौढ़ता अपूर्व थी, विचार में विलक्षण गम्भीरता (प्रौढ़ता) थी , वाणी की प्रगल्भता की विस्तार होने पर प्रतिवादियों की गति मौन धारण कर लेती थी । इसके अतिरिक्त तीनों लोकों में प्रसिद्ध सर्वभाषाओं मे काव्य रचना का सामर्थ्य था, जिस (कविता) का स्वाद लेने पर शक्कर भी बालू के सदृश नीरस प्रतीत होती थी ।

---

१ वही ७।५३३—५४१, ५८५-५९१, ५९६

२ विक्रमा० १८।५६, काश्मीर नरेश कलश (कलशक) के नाम से कई श्लोक उपलब्ध होते हैं -- सं० ५३,८८०, १४६५, ५६२, ८८१, १५२६, ५२, १२८०,१३२२, ६६६, ८५० सुभाषितावलि (वल्लभदेव कृत) संपा० पीटर्सन, १८८६ और सुवृत्ततिलक में क्षेमेन्द्र निम्नांकित श्लोक उद्धृत करता है —

अञ्जुलां जलमधीर लोचना लोचनप्रतिशरीरशारिताम् ।
आत्तमात्तमपि कान्तमुक्षितुं कातरा शफरशंकिनी जहौ ।।
— क्षेमेन्द्रलघुकाव्यसंग्रह: , पृ० ६७, श्लोक ३५

"औत्सुक्य और आसक्ति के शिक्षक जिस (हर्षदेव)से संतप्त तरुणियां मूर्च्छा की तन्द्रा के वशीभूत होकर अश्रु-पंक में लोटती थीं (अर्थात् वह रसिक और सुन्दर था) । उन तरुणियों के कपोलों की पाण्डुता का वर्णन क्या करें, जहां (हाथी के) दन्तनिर्मित कर्णाभूषण की पृथक्ता शपथों के द्वारा स्पष्ट होती है (अर्थात् शुभ्रता के कारण कपोल और दन्तनिर्मित कर्णाभूषण एकाकार हो गये हैं, उनको पृथक् पृथक् बताने के लिए शपथ खा कर विश्वास दिलाना पड़ता है) ।[१]

बिल्हण के अनुसार अभी हर्षदेव राजकुमार था और पिता का प्रिय था उसे अनेक युद्धों का अनुभव था, परन्तु उसका रुझान काव्य रचना और विद्वद्गोष्ठियों की ओर अधिक था । वह कई भाषाओं में मनोहर काव्य रचना करता था । वह सुन्दर भी था । उसके इन गुणों का समर्थन राजतरंगिणी से भी होता है । कलश हर्षदेव पर अपार स्नेह करता था । यही कारण था कि हर्ष के कई बार विद्रोह करने पर भी उसने हर्ष को निरन्तर समझाने का प्रयत्न किया और अन्तत: उसे ही अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था ।[२] हर्षदेव अपने सद्गुणों पुरुषार्थ के कारण प्रसिद्ध था । वह सभी देशों की भाषा का जानकार और सभी भाषाओं का समर्थ कवि था । समस्त विद्याओं के ज्ञान के कारण देशान्तर में भी उसने ख्याति प्राप्त की थी । विविध देशों से आए हुए कविगण, जिन्हें कलश व्यय को कम करने के लिए शरण नहीं देता था, को उचित वेतन देकर आश्रय देता था । इस कृत्य के लिए गीतों से राजा को प्रसन्न कर धन अर्जित करना था[३] । इस प्रकार के उदार कविबान्धव हर्षदेव के काश्मीर का अधिपति हो जाने पर बिल्हण कर्णाट में विक्रमांकदेव से प्राप्त वैभव को तिरस्कृत कर काश्मीर लौटने के लिए उत्सुक हो गया था ।[४] हर्ष जितनी विद्याओं का ज्ञाता था उन सब का

---

१. विक्रमां० १८।६४—६६

२. राज० ७।४८६, ६१३—६५१, ७०३

३. वही ७।६०६—६१३

४. वही ७।६३५—६३७

नाम बृहस्पति को भी स्मरण नहीं है । उसके गीतकाव्यों के श्रवण से शत्रु तक गद्गद होकर अश्रु बहाने लगते थे । सभा मण्डप में बैठकर वह विद्वद्गोष्ठियों, गीत और नृत्त में रात्रि व्यतीत करता था ।"[1] कल्हण ने हर्षदेव के आकर्षक शरीर और प्रभावशाली व्यक्तित्व का भव्य चित्र अंकित किया है ।[2] ठीक ही विल्हण ने उसे तरुणियों के आकर्षण का केन्द्र माना है ।[3]

कलश का दूसरा पुत्र उत्कर्ष था । बिल्हण का कथन है — " जिस के अनुज उत्कर्षदेव ने (राजा) क्षितिपति (या क्षितिराज) के कीर्तिस्थान (लोहर) दुर्ग को प्राप्त कर किसको हर्ष से गद्गद नहीं किया । जिस (उत्कर्ष) ने पृथ्वी को अपनी भुजा के अग्रभाग पर रखकर म्लेच्छ नरेशों के अश्वों के खुरों से खुदने से बचा लिया (अर्थात् उसने म्लेच्छों का दमन करके उनके आक्रमणों से कश्मीर की रक्षा की)[4]

यहाँ 'यस्यानुजोऽसौ' (जिस हर्ष का अनुज) इस पद से स्पष्ट होता है कि उत्कर्ष हर्ष का सगा (एक माँ से उत्पन्न) भाई था, क्योंकि हर्ष के सौतेले भाई[5] विजयमल्ल का परिचय देते समय बिल्हण उसे कलश पुत्र[6] कहता है हर्ष या उत्कर्ष का भाई नहीं । उत्कर्ष ने क्षितिपति के कीर्ति स्थान दुर्ग को सहज प्राप्त कर लिया था । लोहर प्रान्त के शासक क्षितिपति या क्षिति-राज ने अपने पुत्र के विद्रोह से खिन्न होकर कलश के दुधमुँहे पुत्र उत्कर्ष को लोहर दुर्ग का शासक बना दिया था और स्वयं सन्यास ले लिया था ।[7] इसी घटना का उल्लेख बिल्हण ने किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि उत्कर्ष ने कलश की काश्मीर के पड़ोसी म्लेच्छ राजाओं के दमन में सहायता की थी । पर्वतीय नरेशों

---

१. राज० ७।६३५ , ७।६४१—६४६

२. वही ७।८७४—८७८

३. विक्रमा० १८।६६

४. वही १८।६७

५. राज० ७।७३१, उत्कर्ष की माँ रामलेखा थी —७।२५६, जबकि विजयमल्ल की माँ का नाम पद्मश्री था ७।३३१

६. विक्रमा०, १८।६८

७. राज० ७।२३३—२५८

की सभा में अन्य नरेशों के साथ कलश के दरबार में उसकी उपस्थिति यही सूचित करती है ।[१] यही कारण है कि विल्हण उत्कर्ष को म्लेच्छों के दमन का श्रेय देता है ।[२] म्लेच्छगणीपति दरद या शक नरेश रहा होगा जिनके राज्य कश्मीर के उत्तर में चित्राल, यासीन, गिलगित, स्कार्डो और लद्दाख में थे । कलश उन्हें परास्त करके ही आगे स्त्रीराज्य(तिब्बत)तक जा सका होगा ।

बिल्हण ने राजा कलश के तीसरे पुत्र विजयमल्ल का इस प्रकार उल्लेख किया है — उस राजा (कलश) का प्रतापी और नयनाभिराम विजयमल्ल नामक अन्य (दूसरा भी) पुत्र था । नूतन दांतों की शुभ्र कान्ति रूपी पुष्पों के उपहार से युक्त जिस (विजयमल्ल) के मुख में सरस्वती प्रविष्ट थीं ।

` उस राजा (कलश) के पुत्र (विजयमल्ल) के ललित शरीर पर प्रतिदिन के अभ्यास से निपुण ब्रह्मा की विस्मयावह कलाकृति, उल्लसित सुन्दरियों के लोभ के अद्वितीय पात्र उस लावण्य पर कामदेव प्रत्यंचा की टंकार को मुखरित करता हुआ निरन्तर जागता है (पहरा देता है) ।[३]

अत: विजयमल्ल प्रतापी, सुन्दर और विद्वान् था ।` नूतनदन्तकान्त्यो पद से यह ध्वनित होता है कि इस समय (ग्रन्थ के रचना काल) विजयमल्ल किशोर था । राजतरंगिणी से हमें केवल विजयमल्ल के पराक्रम का परिचय मिलता है । उससे ज्ञात होता है कि कलश की रानी पद्मश्री से उत्पन्न विजयमल्ल की सहायता से ही हर्षदेव ने राज्य प्राप्त किया था और स्वयं हर्ष भी उसके विद्रोह से घबड़ा उठा था । उसकी शक्ति के कारण ही हर्ष विजयमल्ल के सुझावों का सम्मान करता था ।[४] कल्हण ने उत्कर्ष और विजयमल्ल के सम्बन्ध में उतना ही विवरण प्रस्तुत किया है, जितना तात्कालिक काश्मीर के राजनीतिक इतिहास के विकास के लिए अपेक्षित था । उनके व्यक्तित्व और उनकी अभिरुचियों के सम्बन्ध में वह मौन है । बिल्हण अपने समकालीन नरेश कलश के पुत्रों के संक्षिप्त परिचय में भी इन आवश्यक तथ्यों का समावेश करना नहीं भूले हैं । बिल्हण के विवरण से यह स्पष्ट है कि ये तीनों हर्षदेव, उत्कर्ष और विजयमल्ल अभी राजकुमार थे, क्योंकि वह कलश के लिए सदा नरेश विशेषण प्रयुक्त करता है, परन्तु उसके पुत्रों के लिए कहीं पर भी `नरेश` नहीं कहता ।

---

१. वही ७।५८१-५९०

२. विक्रमां०, १८।६७

३. विक्रमांक०- १८।६८,६९

४. राज० ७।७३१-६१६

कान्यकुब्ज— बिल्हण ने कान्यकुब्ज नरेश का विवरण इस प्रकार दिया है :-

" हे कन्ये (चन्दलदेवी) अखण्ड यश वाले इस कान्यकुब्ज नरेश को देखो जिसके दिग्विजय के समय पृथ्वी की धूलि से समुद्र स्थल बन गये ।[1] अर्थात् कान्यकुब्ज नरेश अखण्ड कीर्तिवाला तथा पराक्रमी था । १०९२ विक्रम (१०३६ई०) के बाद प्रतिहार राजवंश का विलयन हो जाने पर कान्यकुब्ज में राजनीतिक उथल-पुथल मची रही । उसका संगठन चन्द्रदेव गाहडवाल ने किया, जिसकी प्रथम ज्ञात तिथि १०९० ई० है ।[2] सहेत-महेत शिलालेख से[3] (११७६ वि० या १११८ ई०) से ज्ञात होता है कि गोपाल नामक गाधिपुराधिप था । यह मदन के समय का था और बौद्धभिक्षुओं के लिए अपने मंत्री विद्याधर द्वारा विहार बनवाये जाने का विवरण प्रस्तुत करता है । यद्यपि लेख में गोपाल व मदन के परस्पर सम्बन्ध का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि विवरण की शैली से तथा विद्याधर के पिता के गोपाल के मंत्री होने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक ही वंश वृक्ष के थे और पहला दूसरे का उत्तराधिकारी बना । अत: हम अनुमान कर सकते हैं कि चन्द्रदेव गाहडवाल ने गोपाल को परास्त करके कान्यकुब्ज पर अधिकार किया था । मदन 'क्षितिपति' उपाधि धारण करता है इससे भी प्रतीत होता है कि वह सामन्त नरेश था ।[4]

उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में गोपाल की पराजय की निश्चित तिथि का निर्धारण असम्भव है, फिर भी उसके आसपास की सीमा निर्धारित की जा सकती है । चन्द्रदेव का प्रथम लेख चन्द्रावती ताम्रपट्ट १०९० ई० का है । इस

---

१. कन्ये समालोकय कान्यकुब्जमकुब्जकीर्तिं नरनाथमेनम् ।
अकुब्जये यस्य धरापरागैर्भवन्ति वारांनिधय: स्थलानि ।। विक्रमा० ९।९८

२. चन्द्रावती ताम्रपत्र, ए०इ०, भाग ९ , पृ० ३०२-३०५

३. इ०ए०, भाग २४, पृ० १७६

४. हिस्ट्री आव कन्नौज, ले० र०श०० त्रिपाठी, १९५९, पृ० २८९

लेख में उसे काशी कुशिक (कान्यकुब्ज) उत्तर कोशल (फैजाबाद जिला) और इन्द्र का नगर (संभवत: इन्द्रप्रस्थ - दिल्ली निकट) का रक्षक कहा गया है।[१]

अत: १०८५ ई० लगभग ही `गोपाल` की चन्द्रदेव द्वारा पराजय मानी जा सकती है।

अब प्रश्न उठता है गाहडवालों का पूर्ववर्ती यह नरेश गोपाल किस वंश का था। तथापि `पाल` अंश से इस नरेश का `प्रतिहार` वंश का होना प्रतीत होता है, तथापि उसका प्रतिहार होना संदिग्ध है।[२]

बदायूं[३] लेख से कुछ भिन्न ही निष्कर्ष प्राप्त होता है। यह लेख मदन तथा उसके पिता गोपाल का उल्लेख `वोदामयुत` में शासन करने वाले राष्ट्रकूट नरेशों की वंशतालिका में करता है। यह स्थान कन्नौज से विशेष दूर नहीं है। यह मदन गोविन्दचन्द्र के सामन्त के रूप में १२ वीं शती के प्रारम्भ में शासन कर रहा था। श्री एन०बी० सान्याल[४], डा० त्रिपाठी,[५] श्री एम०एल० माथुर[६] और रोमा-नियोगी[७] एक मत हैं कि सहेत-महेत लेख के गोपाल व मदन बदायूं लेख में आये गोपाल तथा मदन से अभिन्न हैं। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रदेव गाहडवाल के उदय के पूर्व कान्यकुब्ज में राष्ट्रकूट राजवंश शासन कर रहा था।

---

१. `तीर्थानि काशिकुशिकोत्तरकोशलेन्द्रस्थानीयकानि परिपालयताधिगम्य`
—ए०इं०, भाग ६, पृ० ३०४

२. हिस्ट्री आव कन्नौज, पृ० २६०, १९५९ ई०

३. ए०इं०, भाग १, पृ० ६१

४. दी प्रीडीसैसर्स आफ दी गाहडवालाज़, ज०ए० सो०ब० (१९२५), भाग २१, सं० १, पृ० १०३—१०६

५. हि०आव कन्नौज, पृ० २६०, १९५९ ई०

६. इं०हि० क्वा० — १९४० , पृ० १५६

७. हि० आव् दी गाहडवाल डायनेस्टी , पृ० २१, कलकत्ता, १९५९

वदायूं अभिलेख में राष्ट्रकूट नरेशों का वंशवृक्ष इस प्रकार है :—
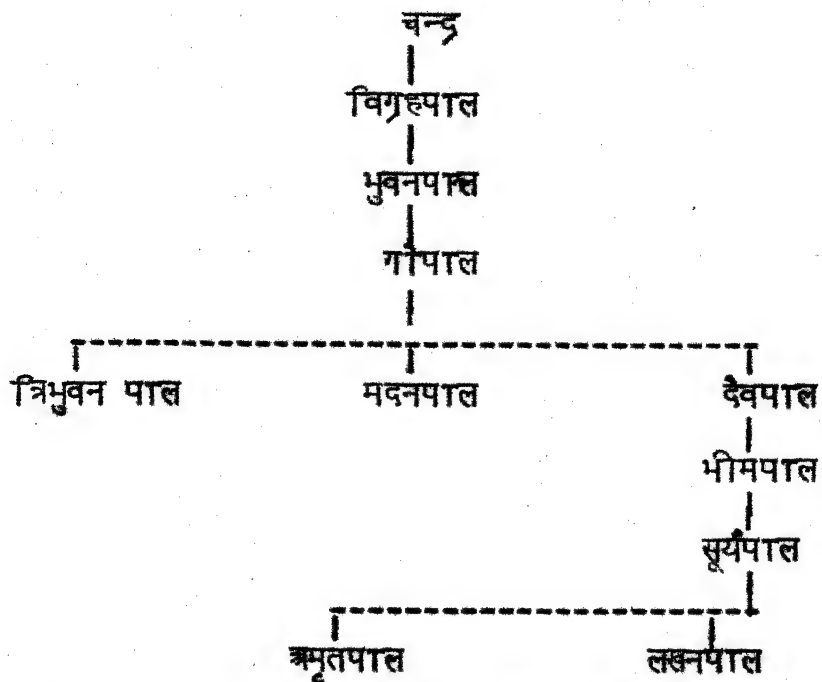
श्री एम०एल० माथुर ने झांसी के प्रकीर्णक शिलालेख का उल्लेख किया है, जिसमें वर्णित है कि किसी स्थानीय कान्यकुब्ज नरेश ने कीर्तिवर्मन् की रक्षा चेदिकर्ण (१०४१–१०७२ ई०) से की और कीर्तिवर्मन् को सिंहासन पर बिठाकर एक बार पुन: चन्देल शक्ति का पुनरुत्थान किया था । उनके अनुसार यह कान्यकुब्ज नरेश बदायूं लेख का 'गोपाल' रहा होगा और उसी गोपाल को कृष्ण मिश्र कृत प्रबोध चन्द्रोदय' में कीर्तिवर्मन् को राज्यसिंहासन पर स्थापित करने वाला कहा गया है । अत: चन्द्रदेव गाहड़वाल से पराजित होने से पूर्व गोपाल और उसके पूर्व कालिंजर के चन्देलों के सामन्त रहे होंगे क्योंकि चन्देल गण्ड और विद्याधर ने कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार नरेश राज्यपाल का सन् १०१९ ई० में बध कर दिया था[१]। प्रबोधचन्द्रोदय[२] में गोपाल के प्रताप का वर्णन है, जो बिल्हण द्वारा उल्लिखित कान्यकुब्ज नरेश के प्रतापी होने को प्रमाणित करता है । अत: ऐसा प्रतीत होता

---

१. इ०हि०क्वा०, १९४०, पृ० १५८–१६०

२. प्र०चन्द्रोदय, प्रथम अंक, पृ० १०-१३, १५-२२
गोप, और दीक्षितार कृत टीका युक्त, बम्बई, १८९८ ई०

है कि चन्द्रलेखा स्वयंबर का कान्यकुब्ज नरेश राष्ट्रकूट गोपाल ही था ।

अयोध्या —श्लोक ८८ व ८६ में रावण के पराक्रम का वर्णन करके बिल्हण आगे वर्णन करता है —

" हे कुमारि (चन्दलदेवी) , उस लंकापति (रावण) के मुख-कमल जिस (राम) के शरों के लक्ष्य बने थे उस राम के कुल में उत्पन्न यह राजकुमार तुम्हारे नेत्रों का प्रिय हो ।

" इस (अयोध्याकुमार) के साथ कूजन करती हुई मयूरियों से मुखरित (गुंजित) सरयू-तटवर्ती वनों में विहार करके विलास गवाक्षों (जहां से रमणीक दृश्य दीख पड़ते रहे होंगे) का सेवन कर अयोध्या नगरी को कृतार्थ करो ।[१]

इस विवरण से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :-

१. अयोध्या नरेश अभी कुमार अर्थात् अल्पवय ही था ।

२. वह राम के कुल में उत्पन्न अर्थात् सूर्यवंशी था ।

३. सरयू के तटवर्ती बन मनोरम हैं तथा वहां मयूरियां बहुतायत से प्राप्त होती हैं ।

ग्यारहवीं शताब्दी में अयोध्या में किसी राजवंश के शासन का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । चन्द्रदेव गाहड्वाल के चन्द्रावती ताम्रपत्र[२] (१०६०) तथा फैजाबाद ताम्रपत्र[३] लेखों से ज्ञात होता है कि १०६० ई० तक उत्तर कौशल(अयोध्या) उसके अधीन हो चुकीथी । चन्द्रदेव के सम्बन्ध में यह अज्ञात है कि उसके पूर्वज कहां शासन करते थे ? इतना तो निश्चित है कि गाहड्वालों से पहिले कन्नौज में

---

१. लङ्0कापतेस्तस्य मुखाम्बुजानि भोगास्पदं मस्य शिलीमुखानाम् ।
रामस्य तस्मैष कुले कुमार: कुमारि नेत्रप्रणामी तवास्तु ।।
अनेन सार्धं सरयूवनान्ते कूजन्मयूरीमुखरे विहृत्य ।
विलासवातायनसेवनेन श्लाघ्यामयोध्यां नगरीं विधेहि ।। —विक्रमां ६।६०-६१

२. ए०इं०, भाग ६, पृ० ३०४

३. इं०ए०, भाग १५, पृ० १०

राष्ट्रकूट शाखा राज्य करती थी जिस वंश के नरेश गाधिपुराधिप गोपाल को पराजित करके ही चन्द्रदेव ने काव्यकुब्ज पर अधिकार प्राप्त किया था।[१]

गाहडवाल नरेशों की वंशतालिका में पहिला यशोविग्रह उसका पुत्र महीचन्द और उससे चन्द्रदेव की उत्पत्ति का उल्लेख है। इस समय अयोध्या के चारों ओर सरयूपार के कलचुरि, गण्डकी के तटवर्ती प्रदेश पर राष्ट्रकूट, वाराणसी में त्रिपुरी के कलचुरि तथा कान्यकुब्ज में एक राष्ट्रकूट शाखा शासन कर रही थी। संभवत: (यद्यपि इसका कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है) प्रथम गाहडवाल यशोविग्रह का उदय वाराणसी या उसके निकट हुआ होगा। उसके पुत्र महीचन्द्र ने यहीं पर शक्ति संचय करके अपने पुत्र चन्द्रदेव की सहायता से कल्याणी के चालुक्य परमार उदयादित्य, ~~कि— — —स~~, कीर्तिवर्मन चन्देल आदि शक्तिशाली नरेशों से आत्मरक्षा करने में व्यस्त यश:कर्ण से वाराणसी छीन लिया फिर साकेत कान्यकुब्ज और इन्द्रप्रस्थ पर अधिकार कर लिया।[२] अनुमानत: १०७२ ई० के लगभग महीचन्द्र ने काशी पर अधिकार कर लिया होगा।[३] बिल्हण ने अयोध्याकुमार

---

१. हिस्ट्री आफ कन्नौज, त्रिपाठी, पृ० २८६-२६०, १६५६ ई०।
हिस्ट्री आफ दी गाहडवाल डायनेस्टी —रमा नियोगी, पृ० २१, कलकत्ता, १६५६ ई०

२. ए०इ०, भाग १, पृ० ३०४

३. यश:कर्ण का खैरहा अभिलेख, का०इ०इ०, जि० ४, लेख सं० ५६, अनेक विद्वानों ने इलियट द्वारा उल्लिखित (हिस्ट्री आफ इं०, भाग ४, पृ० २०५, ~~इ०~~ ५२३-२४) लेखकों के विवरणों के आधार पर चांदराय को ही चन्द्रदेव गाहड-वाल सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जिसका उदय शेरवा (सहारनपुर) में हुआ था। सरदार महमूद, भारत के विजित प्रदेशों का गवर्नर, ने इसी चांदराय को कान्यकुब्ज का राज्य सौंपा। अनुमानत: यह युद्ध १०७६ —८० ई० में हुआ। (इं०हि०क्वा०, जि० ६, पृ० ६५१) डा० नियोगी ने अनेक कठिनाइयां व्यक्त करते हुए चांदराय को चन्द्रदेव गाहडवाल मानने में ~~मे~~ कठिनाई व्यक्त की है। (हि०आफ गाहडवालाज, ३८-८, १६५६ कलकत्ता) दूसरे वाराणसी से कल-चुरि आधिपत्य १०७२ ई में समाप्त हो चुका था, अत: चन्द्रदेव ने प्रथम विजय वाराणसी की की होगी। इसके अतिरिक्त यदि चांदराय ही चन्द्रदेव था तो वह काव्यकुब्ज पर विजय प्राप्त किये बिना सहारपुर से वाराणसी कैसे चला आया?

को रघुवंशी (राम के कुल का) कहा है, परन्तु चन्द्रदेव चन्द्रवंशी था । गाहड़-वाल अभिलेखों में उसके पूर्वज के उदय के सम्बन्ध में कहा गया है -" सूर्यवंशी राजाओं रूपी मालाओं के दिवंगत हो जाने पर साक्षात् सूर्य के सदृश तेजस्वी यशोविग्रह नामक नरेश हुआ ।"[1] अत: चन्द्रदेव के शासन के पूर्व (१०६० ई०) अयोध्या में सूर्यवंश में उत्पन्न किसी रघुवंशी राजा का शासन था । आज भी रघुवंशी क्षत्रिय फैजाबाद बाराबंकी और सीतापुर में घाघरा नदी के तटवर्ती स्थानों पर पाये जाते हैं ।[2] यह कहना कठिन है कि अयोध्या के रघुवंशी नरेश चन्द्रलेखा स्वयंबर (१०७६ ई०) के समय स्वतंत्र शासक थे अथवा वाराणसी के गाहड़वालों के अधीन थे । बिल्हण के अनुसार अयोध्या नरेश 'कुमार' अर्थात् अल्पवय था । प्राप्त प्रमाणों के आधार पर इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता । सरयू के तट पर बिल्हण के समय निश्चित रूप से वन था और मयूरियां वहां विचरण करती थीं । प्राचीन कोशल वन व उपवनों के प्राकृतिक सौंदर्य से भरा पूरा था । आज भी यहां ढाक व घास के जंगल बहुत मात्रा में हैं । विस्तृत क्षेत्रवाले वन नहीं हैं, परन्तु वे छोटे छोट टुकड़ों में उपलब्ध हैं । आम , महुआ पीपल, सेंमल, बबूल, ढाक और बांस वृक्ष अधिक पाये जाते हैं । स्थानीय परम्पराओं से ज्ञात होता है कि शताब्दियों तक अयोध्या जंगलों का प्रदेश था । मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार अयोध्या की सीमा पर ही आखेट क्रीड़ा के साधन उपलब्ध थे । यद्यपि यहां मोर पाये जाते हैं तथापि बहुत अधिक नहीं दिखाई देते ।[3] आज भी अयोध्या के निकट लकड़मंडी नामक स्थान की स्थिति भी इसी विशेषता का समर्थन करती है । लकड़मंडी से लगभग ५ मील की दूरी से ही मनकापुर के सघन वन प्रारम्भ हो जाते हैं, जो बिल्हण की उक्ति का समर्थन करते हैं ।

---

१. आसीद् शीतद्युतिवंशजात -क्ष्मापालमालासु दिवंगतासु..... (यशोविग्रह इत्युदार: ॥२॥ -ए०इं० १५, पृ० ७, और ६, पृ० ३०४, डा० रमा नियोगी का लेख, इं०हि०क्वा०, १९४६, पृ० ३२-३४

२. फैजाबाद गजेटियर, एच०आर०नैविल, पृ० १४७, १९०५, इलाहाबाद

३. वही, पृ० ८,९,१३ और १४७

नैपाल--

चालुक्यों ने संभवत: नैपाल भी जीता था । जैसा कि निम्नलिखित विवरण में ध्वनित होता है --

" जिन (चालुक्यों) के अश्व कर्पूरवत् शुभ्र द्वीपों में सुखपूर्वक लोटने का स्वाद प्राप्त करके उसी भ्रम से हिमालय (तुषारादि) की तलहटी में लौट पोट करके शीत से व्याकुल हो गये ।"[1]

इस श्लोक में 'तुषाराद्रि' हिमालय का पर्यायवाची है । बिल्हण ने स्पष्ट तो नहीं कहा, पर अन्य प्रमाणों से हमें ज्ञात होता है कि चालुक्यों ने नैपाल प्रदेश को आक्रान्त किया था ।

विक्रमांकदेवचरित[2] से ज्ञात होता है कि सोमेश्वर के राजत्वकाल में विक्रमांक देव ने गौड और कामरूप प्रदेशों पर भी आक्रमण किया था । १०४७ ई० के एक लेख में सोमेश्वर को चोल, लाट, द्रविड, नैपाल और पांचाल का विजेता कहा गया है ।[3] डा० हेमचन्द्र रे[4] का अनुमान है कि विक्रमांकदेव की विजय यात्रा में उसके साथ दक्षिण भारत से कुछ साहसी सैनिक गये थे, जिन्होंने बंगाल में छोटे छोटे राज्य स्थापित कर लिये । बंगाल का सैन राजवंश संभवत: इसी प्रकार उत्पन्न हुआ था, क्योंकि इसके संस्थापक नरेश अपने को कर्णाटकुल-लक्ष्मी का रक्षक और दक्षिण का निवासी कहते हैं ।[5] इन्हीं कर्णाट के साहसी सैनिकों में से एक संभवत: नान्यदेव का पूर्वज भी था, जिसके नाम का कन्नड़ रूप 'नन्निय' उसे दक्षिणी सिद्ध करता है । उसने 'तिरहुत' में अपना राज्य स्थापित

---

१. द्वीपेषु कर्पूरपरागपाण्डु-ष्वास्वाद्य लीलापरिवर्तनानि ।
   भ्रान्त्या तुषाराद्रितटे लुठन्त:शीतेन खिन्नास्तुरगा:यदीया: ।।
   --विक्रमा० १।६७

२. विक्रमा० ४।७४

३. लौ०रि०२५, पृ० ६८ और अ०हि०इ०,याजदानी, पृ० ३३७

४. डा०हि०ना०इ०, पृ० २०३, १६३१ ई०

५. दुर्वृत्तानामयमरि-कुलाकीर्णकर्णाटलक्ष्मी' । --ए०इ०,जि० ५, श्लोक ८,पृ०३०५

किया तथा अपनी राजधानी सिम्रौन से पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करता रहा। यह भी संभव है, जैसा कि लेवी महोदय का अनुमान है, कि स्वतंत्र शासक के रूप में आने से पूर्व किसी स्थानीय नरेश के अधीन रहा होगा बाद में उसे अपदस्थ करके स्वयं शासक बन बैठा।[१] साथ ही यह भी स्मरणीय है कि विक्रमांक देव के शासनकाल से नेपाल दक्षिणी राज प्रशस्तिकारों की कृतियों में अकस्मात् स्थान पा गया।[२] नेपाल राजवंशावली में सर्वप्रथम सोमेश्वर नाम[३] ११८४-८६ ई० में मिलता है जो नेपाल को अपना अधीनस्थ राज्य कहने वाले सोमेश्वर तृतीय भूलोकमल्ल (११६२ ई०) की स्मृति दिलाता है।[४]

अत: ऐसा प्रतीत होता है कि मिथिला में बसे हुए कर्णाट सेनानियों ने नेपाल की विजय बहुत बाद में की होगी, क्योंकि बिल्हण ने विक्रमांकदेव की विजयों में नेपाल का उल्लेख नहीं किया है।

गौड़—

बिल्हण ने विक्रमादित्य को " गौड़ नरेश को युद्ध में जीत कर हाथियों का अपहरण करने वाला " कहा है। अभिलेखों से सोमेश्वर आहवमल्ल की गौड़ विजय समर्थित है। १०४७ ई० (शक० ६६६) के नन्देर (हैदराबाद से प्राप्त) अभिलेखों[६] में सोमेश्वर की विजयों में मगध, अंग के साथ वंग या गौड़ का उल्लेख नहीं है। वंग की विजय के उल्लेख बाद के लेखों में मिलते हैं। १०५३ ई० के कैलवाडि अभिलेखों[७] में सोमेश्वर प्रथम के सेनापति भोगदेवय्य को वंग विजय करने का श्रेय

---

१. डा०हि०ना०इ०, पृ० २०३

२. ज०बा०रा०ए०सो०जिल्द ११, पृ० २६८, ए०इ०, जिल्द ५, पृ० २४६

३. ए०इ०, जिल्द ५, पृ० २६, पा०टि० ३

४. ज०बा०रा०ए०सो०, जिल्द ११, पृ० २६८

५. ..... गृहीतगौडविग्रहसम्बैरमस्याहवे..... ॥३।७४॥

अ०हि०डु०, याजदानी, पृ० ३३०

७. ए०इ०, जिल्द, ४, पृ० २६२

दिया गया है। विक्रमादित्य षष्ठ के सामन्त आच ने वंग पर आक्रमण किया था।[१] यह आच ११२२-३ ई० में गवर्नर था, अत: उसकी वंग विजय का सम्बन्ध उसके स्वामी विक्रमांकदेव की वंग विजय (१०६८ ई० के पूर्व) के साथ जोड़ना असम्भव है, परन्तु सम्भवत: यह विजय बारहवीं शती के प्रथम चरण में हुई थी[२]। ११२१ और ११२४ ई० के अभिलेख भी विक्रमादित्य की अंग, बंग, कलिंग, गौड, मगध और नैपाल विजय का उल्लेख करते हैं।[३] विज्जल (११४५-६७) भी वंश विजय करने वाला वर्णित है।[३] इसका पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ भी नैपाल, कलिंग, का जेता और गौड से 'कर' लेने वाला उल्लिखित है।[४] इन नरेशों ने सीधे उक्त प्रदेशों पर शायद ही आक्रमण किया हो। सम्भवत: इन लोगों ने बंगाल में बसे हुए सेनवंशी कर्णाट सरदारों (या कर्णाट क्षत्रिय) द्वारा की गई वंग विजय का श्रेय स्वयं ले लिया क्योंकि वे कर्णाट सरदार अब भी नाम मात्र का कर अपने स्वामी (विक्रमांकदेव) को दे रहे थे।[५]

अत: ऐसा प्रतीत होता है कि चालुक्यों के बंगाल आक्रमण के पश्चात् कुछ कर्णाट क्षत्रिय सरदार वहीं ठहर गए और अपने छोटे मोटे राज्य स्थापित कर लिए, पहले स्थानीय नरेशों के अधीन रहे और कालान्तर में केन्द्र के निर्बल पड़ने पर सारा प्रदेश अधिगत कर लिया।[६] जैसा कि एक अभिलेख[७] से प्रतीत होता है यह आक्रमण १०५३ ई० तक किया जा चुका था। इस समय गौड शासक नयपाल था। गांगुली महोदय का विचार है कि उक्त गौडविजय नयपाल के उत्तराधिकारी विग्रह

---

१. बा०गजेटियर, जिल्द, १, खण्ड २, पृ० ४५२
२. र०च० मजूमदार, हि०बंगाल, भाग १, पृ० २०८
३. ए०कर्नाटिका, जिल्द ११, देव० तलुक सं० २,३, अनुवाद, पृ० २३-४ पर
३ ४. ए०इ०, जिल्द १५, पृ० ३१५ २५७, सं० २५
४. वही, जिल्द १५, पृ० ३१५ (मदगिहल लेख, शक० १०६६) श्लोक १२-१६
५. हि०बंगाल, पृ० २०८ और २०६
६. डा०हि०ना०इ०, भाग १, पृ० ३३१, १८३१, हि० बंगाल, पृ०-२०९
७. ए०इ०, जिल्द ४, पृ० २६२

पाल तृतीय पर हुई थी ।[1] परन्तु गौड आक्रमण का उल्लेख १०५३ ई० के अभिलेख में होने से नयपाल ही आहवमल्ल का प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त कलचुरि कर्ण की पुत्री यौवनश्री के साथ विग्रह पाल के परिणाय[2] से आभास होता है कि चालुक्य आक्रमणों से मोर्चा लेने के हेतु यह वैवाहिक सम्बन्ध हुआ होगा ।

कामरूप—

बिल्हण ने कामरूप से सम्बद्ध निम्नांकित विवरण दिया है — 'कामरूप (आसाम) नरेश की प्रभूत प्रताप श्री का उन्मूलन करने वाले उस विक्रमांकदेव का (सिद्धवनिताएं यशोगान करती थीं ।)'[3]

पालवंशी नरेशों के दानपत्रों से ज्ञात होता है कि इस शाखा का संस्थापक ब्रह्मपाल - भौम वंश का था । उसके पुत्र 'रत्नपाल' ने इस वंश का गौरव बढ़ाया रत्नपाल ने सर्वप्रथम सम्राट का विरुद ' परमेश्वर-परमभट्टारक—महाराजाधिराज धारण किया ।[4] वरगौन दानपत्र में रत्नपाल गुर्जराधिप, केरलेश , वाह्लीक, तैक, दाक्षिणात्य—क्षोणीपति पर आक्रमण करने का उल्लेख करता है ।[5] यह विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि इस समय गुर्जर, गौड और दक्षिणापथ नरेश क्रमश: चौलुक्य भीम प्रथम, नयपाल और चालुक्य सोमेश्वर प्रथम थे । इनमें से केवल सोमेश्वर प्रथम को कामरूप विजय करने का श्रेय 'विक्रमांकदेवचरित' में प्राप्त है । डा० रे [6] और र०मा० त्रिपाठी[7] दोनों ही सोमेश्वर

---

१. स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ० २७

२. वही ....

३. तस्योन्मूलितकामरूपनृपतिप्राज्यप्रतापश्रिय: । .... ।।३।७४ ।।

४. डा० हि०ना०इ०, रे०, पृ० २४६

५. डा० हार्नलि, ज०ए०, सो०ब०, जिल्द, ६७, पृ० ९९, और १२०-१२५(तीन पत्र)

६. डा०हि०ना०इ०, रे०, पृ० २५१

७. ऐं०हि०इ०, पृ० ५२२

की कामरूप विजय रत्नपाल पर हुई मानते हैं। वे रत्नपाल का शासन काल अभिलेख की लिखावट की प्राचीनता के आधार पर निर्धारित तिथि १०१०-१०५० ई०[1] मानते हैं। श्री पी०भट्टाचार्य[2] यह आक्रमण इन्द्रपाल या हर्षपाल के काल में लिखते हैं। श्री के०एल० बरुआ [3] और प्रतापचन्द्र चौधरी[4] हर्षपाल का आक्रान्त होना समझते हैं। उनके अनुसार रत्नपाल ने १०१०-१०४० तक इन्द्रपाल ने १०४०-१०६५ तक, गोपाल ने १०६५-१०८० तक और हर्षपाल ने १०८०- १०६५ ई० तक क्रमश: आसाम पर शासन किया।[5] कामरूप के इन समस्त नरेशों की तिथियां अनुमान पर आधारित हैं। अत: उनके आधार पर कोई निश्चित निर्णय लेना कठिन है।

ऐसा प्रतीत होता है कि गोपाल निर्बल शासक था, जैसा कि भोजवर्मन के बेलवा दान पट्ट से ज्ञात होता है।[6] अत: गौड में बसे हुए सेनवंशी कर्णाट सरदारों ने जो विक्रमांकदेव के साथ पूर्वी भारत के अभियान में आये थे। गोपाल को परास्त किया होगा और कामरूप राज्य की कुछ भूमि भी दबा ली। डा० चौधरी[7] जहां तक और विक्रमादित्य की कामरूप विजय परम्परागत आदर्श दिग्विजय के रूप में वर्णित मात्र मानते हैं, वहां वे गोपाल और हर्षपाल के शासन काल में उनकी पश्चिमी राज्य सीमा के संकुचन के तथ्य को झुठला नहीं सके हैं। गोपाल की अनुमानित तिथि १०६५ ई० से १०८० ई० है, पर बिल्हण ने गौड विजय का प्रतिफल होने से इस विजय का उल्लेख भी उसी के बाद कर दिया है।

---

१. हार्नले, ज०ए०. सो०ब०, जिल्द, ६७, पृ० १०५

२. कामरूप शासनावली, पृ० ३८

३. अ०हि०कामरूप, पृ० १४२

४. दी हिस्ट्री आफ सिवीलाइजेशन आफ दी पीपुल आफ आसाम, पृ० २५४, गौहाटी, १६५६ ई०

५. वही, पृ० २५४,२५५,२५८

६. ई० आफ बंगाल, स०एन०जी० मजूमदार, जिल्द ३, पृ० १४,और चौधरी,पृ०२५८

७. हिस्ट्री आफ सिवि० एण्ड पीपुल आफ दी आसाम, पृ० २५६,२६०

चक्कोट-

बिल्हण ने दिग्विजय अभियान में वैंगि के पश्चात् चक्कोट विजय का विवरण निम्नलिखित रूप में दिया है -

" रिपु समूह को जीत कर उसने केवल चक्कोटपति की चित्रशालाओं में चित्रित हाथियों को छोड़ा (अर्थात् उसके समस्त हाथियों को छीन लिया) ।"[१]

सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल के नन्दैर[2] (हैदराबाद) लेख (शक सं० ६६६ - १ अप्रैल , १०४७ ई०) में ब्राह्मण सेनापति नामवर्म, जो धारावर्ष-दर्पोत्पाटन के प्रमुख युद्धों में आहवमल्ल का दाहिना हाथ था, को `चक्कूट कालकूट` और (धारावर्ष का दर्प दलन करने वाला है) कहा गया है । इस समय चक्कोट (आधुनिक वस्तर राज्य- मध्यप्रदेश) में नागवंशी शासक राज्य करते थे । छिन्दक नागवंशी नरेशों के अनेक शिलालेख बस्तर, मध्यप्रदेश में पाये गये हैं ।[3] अभिलेखों में ये छिन्दक नाग चक्कोह या चक्कूट या चक्कोट नरेश कहे गये हैं ।[3] वे सम्भवत: बारासूल (आधुनिक बरसुर- जगदलपुर से ५५ मील पर स्थित) में राज्य करते थे । उनका गोत्र काश्यप था । उनकी ध्वजा सर्पाह्विक्त थी और बच्चायुक्त बाघ मौलि पर था । `भोगावती का अधिपति` विरुद मिलता है । भोगवती नागों की पौराणिक राजधानी है, जो पाताल लोक में अवस्थित है ।[4]

भारतवर्ष, कन्नरदेव[5] नामों से प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे वे राष्ट्रकूट नरेशों के अधीन थे जबकि इस राजवंश में सोमेश्वर [6] नाम के अधिक मिलने से

---

१. आक्रान्तरिपुचक्रेण चक्कोटपते: परम् ।
लिखिताश्चित्रशालासु तेनामुच्यन्त दन्तिन: ।। विक्रमा० ४।३० ।।

२. अ०हि०द० सम्पा० याजदानी, पृ० ३३० और ३३२, १९६० लंदन

३. हीरालाल, लिस्ट आफ इन्स्क्रिप्शन्स इन दी सेंट्रल प्राविंसेज एंड बेरार, पृ० १५३, प्रथमसं०, १९१६ नागपुर

४. वही, गुण्डमहादेवी का ११११ई० का अभिलेख, पृ० १४७

५. वही, पृ० १९४

६. सोमेश्वर प्रथम, छिन्दकनाग (१०६९ ई०) वही, पृ० १४६

तथा तेलुगु-चोड सामन्तों में भी सोमेश्वर नाम मिलने से प्रतीत होता है कि दोनों राजवंश चालुक्य सोमेश्वर प्रथम (१०४२—१०६८ ई०) के अधीन थे ।

धारावर्ष का 'महाराज'[1] विरुद उसे सामन्त सिद्ध करता है । धारावर्ष की यह पराजय १०४७ ई०[2] के लगभग हुई थी । इसके अतिरिक्त हमारे पास इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि चोल के विरुद्ध हुए युद्धों में धारावर्ष और उसके सम्बन्धी सोमेश्वर आह्वमल्ल की ओर से युद्ध क्षेत्र में उतरे थे[3]

अभिलेख धारावर्ष पराजय का उल्लेख करते हैं परन्तु बिल्हण चक्रकोट नरेश के हाथियों के छीने जाने का विवरण प्रस्तुत करता है । बिल्हण इस विवरण से चक्रकोट की गज-सम्पत्ति की ओर ध्यान आकृष्ट करता है । इस प्रदेश में हाथी बहुत पाये जाते हैं, इसका समर्थन 'आइने-अकबरी' से भी होता है ।[4]

१०६० ई० का बरसुर से प्राप्त एक अभिलेख[5] यहां छिन्दक नागवंशी नरेश महाराज धारावर्ष 'जगदेकभूषण' का शासन सूचित करता है । परन्तु उसका उत्तराधिकारी मधुरान्तक ५ अक्टूबर, १०६५ ई०[6] में सिंहासनारूढ़ हो चुका था अत: प्रतीत होता है कि धारावर्ष ने १०६० ई० के बहुत बाद राज्य नहीं किया ।

१०६१ में[7] राजराज की मृत्यु हो जाने पर विक्रमांकदेव ने विजयादित्य को वेंगिशासक नियुक्त कर दिया । सम्भवत: इससे चिढ़ कर राजेन्द्र द्वितीय (कुलोत्तुंग) चक्रकूट की ओर चला गया । उसके लेखों[8] में कहा गया है कि कुलोत्तुंग जब युवराज ही था , उसने अपने शत्रुओं के षड्यंत्रों को छिन्नभिन्न कर दिया । उसने वैरागढ़ में बहुल संख्या में हाथियों को पकड़ा और धारावर्ष से कर लेना प्रारम्भ कर

---

१. सोमेश्वर पृ०, छिन्दकनाग (१०६९ ई०), पृ० १६४

२. अ०हि०इ०, सम्पा० याजदानी, पृ० ३३०

३. वही, पृ० ३३२

~~४. अ०हि०इ०, याजदानी, पृ० [illegible]~~

४. विक्रमा०, जिल्द १, पृ० २२५, पा० टिप्पणी, कुलोत्तुंग ने भी वैरागढ़ से हाथी छीने थे । सा०इ०इ०३, सं० ६४

५. लिस्ट आफ इन्स्क्रिप्शन्स, हीरालाल, पृ. -१४४

६. वही राजपुर ताम्रपत्र, पृ० १५०

७. अ०हि०इ०, भाग २, पृ० ४६२

८. सा०इ०इ०, जि० ३, ६४ आगे, अ०हि०इ० पृ० ३४४-५

दिया । अन्यत्र इसी प्रसंग में वह कुन्तल सेना को तितर बितर करने का उल्लेख करता है । कलिंगत्तुप्परणि से ज्ञात होता है कि चक्रकूट में उसका शत्रु , विक्रमादित्य था ।[१] इन प्रमाणों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि राजेन्द्र द्वितीय ने चक्रकूट में पहले छोटा राज्य स्थापित किया होगा । फिर शनैः शनैः शक्ति बढ़ा कर धारावर्ष को अपने अधीन कर लिया । कुलोत्तुंग के इस कृत्य से क्रुद्ध होकर विक्रमांकदेव ने चक्रकूट पर आक्रमण कर दिया । परन्तु वीरराजेन्द्र ने संभवतः अपने भाजे का साथ दिया और विक्रमांकदेव पर आक्रमण कर दिया ।[२] फलतः विक्रमांकदेव को पीछे हटना पड़ा और केवल लूट का माल ही उसके हाथ लग सका । बिल्हण ने भी 'चक्रकूट से हाथियों का अपहरण किये जाने का ही उल्लेख किया है ।

कालंजरगिरिपति-

बिल्हण काश्मीर से भ्रमण करता हुआ काशी आया । उसके तुरत बाद ही डाहल नरेश कर्ण द्वारा अपनी कविता का रसास्वादन किये जाने की बात कही है । कर्ण का प्रसंग आने पर उसने कर्ण के लिए 'कालः कालंजरगिरिपतेर्यः' [३] अर्थात् कालंजरगिरि के नरेश का काल (बध करने वाला) जो (कर्ण)' कहा है । इस संकेत में स्पष्ट रूप से कालंजर नरेश के रणक्षेत्र में दिवंगत होने का उल्लेख है । प्रबोध चन्द्रोदय नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार की उक्ति है :—

' क्योंकि सकल भूपाल - कुल की प्रलयाग्नि के लिए रुद्र के सदृश चेदिपति (कर्ण) कर्ण के द्वारा उन्मूलित चन्द्रवंशी (चन्देल) नरेशों की पृथ्वी के अधिकार

---

१. अ०हि०इ०, पृ० ३४५

२. वही, पृ० ३४३-५

३. विक्रमा० १८।९३

को स्थिर करने के लिए इसका (गोपालका) यह आक्रोश है।"[१] इस घटना की पुष्टिमहोवा से प्राप्त एक अभिलेख से होती है जिसमें कीर्तिवर्मन् ने क्षीरसागर का मंथन करके लक्ष्मी को प्राप्त करने वाले विष्णु के समान लक्ष्मीकर्ण के सैन्य सागर का मन्थन कर यश अर्जित किया।[२] निस्सन्देह यह लक्ष्मीकर्ण के सैन्यसागर को मंथन करने वाला कलचुरि कर्ण ही था।[३] इसी तरह अजयगढ़ शिलालेख[४] में कीर्तिवर्मन् को अगस्त्य के समान कर्ण रूपी सागर को निगलने वाला और ब्रह्मा की भाँति नूतन राज्य का निर्माता कहा गया है। इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि कीर्तिवर्मन् चन्देल ने कर्ण को पराजित करके चन्देल राज्य को प्राप्त किया था। अत: चन्देल राज्य चेदि नरेश के अधीन हो चुका था।

अब प्रश्न उठता है कि यह चन्देल नरेश कौन था, जिसका बध करके[५] कलचुरि कर्ण ने उसका राज्य अधिकृत कर लिया था। चि०वि० वैद्य के अनुसार कर्ण ने कीर्तिवर्मन् चन्देल को भगाकर उसका राज्य अपहृत कर लिया था[६]। परन्तु विल्हण के विवरण से स्पष्ट है कि कालंजर नरेश युद्ध में मारा गया था। हमें ज्ञात है कि कीर्तिवर्मन् ने कर्ण की मृत्यु के पश्चात् दीर्घकाल तक राज्य किया और कर्ण को पराजित करके चन्देल राज्यका उद्धार कियाथा। अत: यह नरेश निस्सन्देह कीर्तिवर्मन का पूर्ववर्ती चन्देल नरेश और उसका भ्राता देववर्मन् रहाहोगा,जो कलचुरि कर्ण द्वारा आहत हुआ। डा०हेम०च०रे[७] की उक्ति इस सम्बन्ध में उपयुक्त ही प्रतीत होती है -"देववर्मन् के सम्बन्ध में प्रशस्तिकारों का मौन तथा चन्देलों के वंशवृक्ष में उसके नाम का अभाव होने से यह प्रतीत होता है कि उसका शासन-काल चन्देल इतिहास में अधिकार-युग का तथा गौरवहीन अवस्था का द्योतन करता है।"

---

१ यत: सकलभूपालकुलप्रलयकालाग्निरुद्रेण चेदिपतिना समुन्मूलितं चन्द्रान्वयपार्थिवानां पृथिव्यामाधिपत्यं स्थिरीकर्तुमयमस्य संरम्भ:।।
—प्र०च०,पृ० १६,१८६८ ई०,बम्बई।
दृष्टव्य—वही, पृ० १०-१३,१७-१६,२१-२२

२ ए०इ० , भाग १, पृ० २२२, श्लोक २६

३ का०इ०इ०, भाग ४, भूमिका, पृ०६८

४ ए०इ०, भाग १, पृ० ३२७, श्लोक ३।१३१७ विक्रमी का चन्देल वीरवर्मन् का लेख।

५ विक्रमा०, १८।६३, प्र०च०, पृ० १६

६ हि०हि०मै०हि०इंडिया, जि० ३, पृ० १८६

७ डा०हि०ना०इ०, भाग २, पृ० ६८६

अपने पिता की विजयपाल के पश्चात् देववर्मन् ने सम्भवत: १०५० ई० में शासनभार ग्रहण किया।[१] उसका राज्य केवल १० वर्ष तक रहा। १०६० ई० के लगभग कलचुरि कर्ण के साथ संघर्ष में उसका अन्त हो गया और चन्देल राज्य चेदिराज्य का अंग बन गया।

स्वयंबर के समय में वर्णित "कालिंजरभूधर नृप" —

उक्त नरेश का विवरण इस प्रकार है —

"जिस कालिंजर पर्वत के शिखर स्वर्ग-पथ के कपिशीर्षों (बुर्जों) के साथ अवश्य ही मिल गये थे (अर्थात् समान ऊंचाई के हैं) अन्यथा स्वर्ग, इस संसार पर स्थित लोगों विलासगृह के प्रांगण की शोभा कैसे प्राप्त करता। " श्रीनीलकण्ठ (महादेव) की विलासभूमि उस कालिंजर पर्वत का स्वामी (अपनी) भुजा से राजमण्डल को वशीभूत करने वाला, यह तुम्हारे कटाक्षों का प्रेमी हो (अर्थात् इसे प्रेम पूर्वक दृष्टि डाल कर अपना बना लो) ।"[२]

इस विवरण में दो बातें विचारणीय हैं :-

(१) श्रीनीलकण्ठ (महादेव) की विलासभूमि कालिंजर अर्थात् या तो कालिंजर पर्वत पर उस समय कोई नीलकण्ठ का प्रसिद्ध मन्दिर था — पौराणिक कथाओं में कभी भगवान् शंकर ने वहाँ पर क्रीडा की हो।

(२) उस कालिंजर का स्वामी (नरेश) पराक्रमी था — जिसने अपने बाहुबल से राजमण्डल को वश में कर लिया था।

चन्देल विवरणों से ज्ञात होता है कि शैवधर्म चन्देल नरेश धंग के पर-

---

१. डा०हि०ना०इ०, पृ० ६८५, टि० ३

२. शृंगाणि नूनं मिलितानि यस्य स्वर्गेतोलोकविशीर्षकाणाम्।
अत्र स्थितानां कथमन्यथा यौ: क्रीडागृहप्राङ्गणभङ्गिमेति ।। ६।१०५ ।।
~~भर्ता-भुजावर्तित-राजचक्र:-कटाक्ष~~
तस्यैष कालिंजरभूधरस्य श्रीनीलकण्ठस्य विलासधाम्न: ।
भर्ता भुजावर्तितराजचक्र: कटाक्षचक्रप्रणयी तवास्तु ।। ६।१०६ ।।

चन्देल नरेशों का राजधर्म बन गया था ।[१] बिल्हण ने कालिंजर को श्रीनीलकण्ठ (महादेव) की विलासभूमि कहा है । कालिंजर में स्थित नीलकण्ठ मंदिर यद्यपि छोटा है तथापि शैव धर्मावलम्बियों के लिए उसका अत्यधिक माहात्म्य है । संभवत: यह मंदिर गुप्तकाल का है, परन्तु मण्डप के स्तम्भों , जो चन्देल शैली के हैं, से यह ज्ञात होता है कि चन्देल नरेशों ने उसमें बहुत परिवर्धन किया है । मण्डप के बाहरी ओर चट्टान में काट कर बनाया हुआ एक कुण्ड है और कालभैरव की विशाल मूर्ति (२४ फीट ऊँची) शिव के अनुचर —है । विद्वानों के अनुसार भैरव शिव की लीला मूर्त्तियों में से एक हैं ।[२] जनरल कनिंघम[३] ने महोबा में एक मंदिर के अवशेष प्राप्त किये हैं । उनका अनुमान है कि यह शिवाला सम्भवत: कीर्तिवर्मन् के शासन-काल में निर्मित हुआ था । बिल्हण द्वारा श्रीनीलकण्ठ का स्पष्ट उल्लेख यह सिद्ध करता है कि इस मन्दिर का माहात्म्य उसे अवगत था ।

पीछे हम देख चुके हैं कि चन्देल वर्मन् कलचुरि कर्ण से पराजित हो गया था और सम्भवत: रणक्षेत्र में दिवंगत भी हो गया । कलचुरि कर्ण (१०४२ — १०७२-३ ई०) द्वारा रणक्षेत्र में मृत्यु को प्राप्त हुआ नरेशकर्ण के बाद १०७६ ई० में कदापि उपस्थित नहीं रह सकता । अत: स्वयंवर का कालिंजर नरेश कीर्तिवर्मन् रहा होगा । वह पराक्रमी भी था । कीर्तिवर्मन् की प्रथम ज्ञात तिथि ११५४ विक्रमी (१०९८ ई०) है । चन्देल अभिलेख तथा प्रबोध चन्द्रोदय स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि कीर्तिवर्मन् ने लक्ष्मीकर्ण को पराजित करके प्रभूत कीर्त्ति अर्जित की ।

महोबा से प्राप्त कीर्तिवर्मन् के शासन-काल का अभिलेख कहता है — जिस प्रकार पुरुषोत्तम (विष्णु) ने मन्दराचल पर्वत से क्षीरसागर को मथ कर,

---

१. दी अर्ली रूलर्स आफ खजुराहो, ले० शिशिर कुमार मित्र, पृ० १०३, क० १९५८

२. वही, पृ०१९६

३. कनिंघम, आर्की० सर्वे रिपोर्ट्स , भाग २, पृ० ४४१

जिसकी ऊँची ऊँची तरंगों ने अनेक पर्वतों को चूर्ण कर दिया था, अमृत प्रकट करते हुए अष्ट दिशाओं के हाथियों से युक्त लक्ष्मी को प्राप्त किया था, उसी तरह उसने (कीर्त्तिवर्मन्) अपनी विशाल बाहु के द्वारा अभिमानी लक्ष्मीकर्ण, जिसकी सेना ने अनेक नरेशों को नष्ट कर इस संसार में हाथियों सहित यश अर्जित किया था, को परास्त कर यश प्राप्त किया ।'[1] यहां लक्ष्मीकर्ण, जिसकी निःसन्देह कलचुरि कर्ण ही था । अन्यत्र चन्देल वीर वर्मन् अजयगढ़ शिला लेख में कीर्तिवर्मन् का वर्णन निम्नप्रकार से करता है —

' उस वंश (चन्देल) में कीर्तिवर्मन् नाम का पृथ्वी का एक शासक था, जिसका यशोगान विद्याधर करते थे और जो नूतन राज्य की सृष्टि करने में कर्ण (कलचुरि) रूपी सागर का पान करने वाले अगस्त्य ऋषि के समान था ।'[2]

इस घटना की पुष्टि प्रबोधचन्द्रोदय[3] नाटक से भी होती है । यद्यपि इस नाटक में सारा श्रेय उसके सामन्त गोपाल को ही दिया गया है — जो निस्सन्देह बहुत प्रभावशाली रहा होगा, पर कीर्त्तिवर्मन् कायर था ऐसा संकेत कहीं नहीं मिलता ।

कीर्त्तिवर्मन् के कर्ण-संघर्ष से यह स्पष्ट है कि कर्ण की मृत्यु (१०७३ ई०) के पूर्व ही कीर्त्तिवर्मन् स्वतन्त्र शासक बन चुका था और परम्परागत् दिग्विजय की योजना बना रहा था । जिसका संकेत प्रबोध-चन्द्रोदय में मिलता है । प्रबोध-चन्द्रोदय का सूत्रधार सामंत गोपाल के आदेश की घोषणा करता है कि कीर्त्तिवर्मन् के दिग्विजय की ओर अभिमुख होने पर मेरा ध्यान टूटा, तो नटी कहती है' जिसने (कीर्त्तिवर्मन्) उस प्रकार के अपने भुज-बल के पराक्रम से ही समस्त

---

१. पंक्ति १५ —[illegible]माभृतमुच्चकैर्व्वललहरिभिर्लक्ष्मीकर्ण
महार्णवमुद्धृतम् । अचलमहसा दोर्दण्डेन प्रमथ्य यशः सुधा
य इह करिभिर्लक्ष्मीं लेभेपरः पुरु षो (च) (मः।। २६)
—ए०इ०, भाग १, पृ० २२२

२. पंक्ति २....... कुंभोद्भवः कर्णपयोधिपाने प्रजेश्वरो नूतनराज्यसृष्टौ ।
त (ता)
पंक्ति ३— स विद्याधरगीतिकीर्त्तिः श्रीकीर्त्तिवर्म्मक्षितियो जगत्यां।३।।
वही, पृ० ३२७ और ३२६

३. प्रबो[illegible]दय गोप और दीक्षितार कृत टीका युक्त , बम्बई, १८९८ ई० ,
पृ० ११,१८,१९,२१-२२

राजमण्डल को पराजित किया, कानों तक खींची हुई प्रत्यंचा वाले कठोर धनुष से बरसते हुए अनेक शर-समूहों के द्वारा अश्वमाला को तितर बितर कर दिया, निरन्तर गिरते हुए तीक्ष्ण शस्त्रों से पर्वत सरीखे सहस्रों हस्तियों को छिन्न भिन्न कर डाला, मन्दराचल का भ्रम उत्पन्न करने वाले भुजदण्डों से पैदल-सेना रूप जल समूह को मथ डाला, (और) कर्ण - सेना-सागर का मंथन करके क्षीर-सागर रूप संग्राम से विजयश्रीरूप लक्ष्मी प्राप्त की ।"[1]

इसके अतिरिक्त कीर्तिवर्मन् की तुलना देवगढ़ शिला लेख में विष्णु के साथ की गई है —

" जिस प्रकार लक्ष्मी समुद्र का परित्याग कर समुद्र के पास आई, उसी प्रकार राजाओं को छोड़कर लक्ष्मी ने कीर्तिवर्मन् के पास आगमन किया , इत्यादि ।" उसी के आगे कीर्तिवर्मन् की व्यापक विजय का वर्णन है, जहाँ उसकी समता महा-पुरुषों के साथ की गई है ।[2]

निष्कर्षत: कीर्तिवर्मन् के सम्बन्ध में उपलब्ध प्रमाण उसी को स्वयंवर प्रसंग में उल्लिखित " कालिंजर नरेश" सिद्ध करते हैं । कीर्तिवर्मन् ने १०६०-११००ई० तक शासन किया ।[3] उसका शासन काल भी उक्त कथन का ही समर्थक है ।

गोपाचल या ग्वालियर—

इस युग में ग्वालियर में कच्छपघात वंशी नरेश शासन करते थे । इस वंश की

---

१. येन तथाविधनिजभुजबलविक्रमैकनिर्भर्त्सितसकलराजमण्डलेन आकर्णाकृष्टकठिन को-दण्डदण्डबहुलवर्षच्छ र[illegible]तुरंग तरंग मालाम् निरन्तरनिपततीक्ष्ण-विशिखनिक्षिप्तमहास्त्र पर्यस्तोत्तुङ्गमातङ्गमहामहीधर सहस्रम् , भ्रमभुजदण्डम-न्दराभिघातघूर्णमानसकलपत्तिसलिल[illegible], कर्ण सैनासागरं निर्मथ्य मधुमथनेनेव क्षीरसमुद्रमासादिता समर विजयलक्ष्मी: । — प्रबोध चन्द्रोदय पृ० १७,१८६८

२. ई०ए० भाग १८, पृ० २३६, श्लोक ४ और ५

३. स्मिथ, ई०ए०, भाग ३७, पृ० १४६ और केशवचन्द्र मिश्र कृत " चन्देलों का राजत्वकाल, पृ० १०६, वि०सं० २०११, नागरी प्र०सभा, काशी ।

तीनशाखाओं के उल्लेख मिलते हैं, जो क्रमशः ग्वालियर, दूबकुण्ड और नरवर में राज्य करते थे।[1] विल्हण ने चन्द्रलेखा स्वयंवर के प्रसंग में उनकी दो शाखाओं का उल्लेख किया है।

दूबकुंड और ग्वालियर[2] के कच्छपघात राजवंशों के दो समकालीन शिलालेखों, दूबकुंड[3] और सासबहु मन्दिर ग्वालियर[4] से प्राप्त, में उल्लिखित भिन्न-भिन्न वंशावलियों से ज्ञात होता है कि दूबकुंड और ग्वालियर में कच्छपघातों की दो शाखाएं पृथक्पृथक् शासन करती थीं। बिल्हण के `स्वयंवर-वर्णन` में भी पार्थकुलज नरेश (अर्थात् दूबकुण्ड का विक्रमसिंह) और ग्वालियर नरेश का पृथक् उल्लेख है।[5] इससे भी इन दोनों कच्छपघात राजवंशों के अलग अलग राज्य करने की पुष्टि होती है।

ग्वालियर-नरेश के सम्बन्ध में बिल्हण की उक्ति[6] इस प्रकार है —
"शूरता के प्रेमी जिसने (ग्वालियर नरेश) युद्ध से विरत हुए (थके , निश्चेष्ट हुए) शत्रु नरेशों के निवासों (अर्थात् नगरों) को शेर द्वारा खेल ही खेल में थप्पड़ मार-कर जर्जरित किये हुए हस्ति निवासों की तरह, पुनः पुनः प्राप्त किया।

" वही (पूर्वोक्त) शुभ्रकीर्ति वाला यह ग्वालियर नृपति पृथ्वी का एक-मात्र शूरमा है। इस पर पड़ी तुम्हारे नेत्र रूपी कमलों की माला इसे स्वयंवर की जयमाल पहिनाने का उपदेश देने वाली दूती हो।

---

१. रे कृत, डा०हि०ना०इण्डिया, जि० २, पृ० ८२२ और आगे

२क. ग्वालियर किले से प्राप्त ११६१ विक्रम सं० के एक लेख में `गोपाद्रि-नराधिपत्ये` पद प्रयुक्त हुआ है। प्रो० ई० हुल्श ने इसे आधुनिक `ग्वालियर` को ग्वालेर का पूर्वरूप माना है। सासबहु अभिलेख में (श्लोक ६ और ३१) गोपाद्रि (गोप पर्वत) तथा अन्य लेखों में गोपगिरि या इसके पर्यायों का प्रयोग हुआ है।
—इंडि०, एन्टी० भाग १५, पृ० २०२ पा०टि०।

इसी तरह गोपाद्रि का पर्याय `गोपाचल` ग्वालियर के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

३. एपी०इ०, भाग २, पृ० २३७-२४०

४. इंडि०एंटी० भाग १५, पृ० ३६—४१

५. विक्रमा० ६।७९-३ और १०८ —६

६. वही ६।१०८-६

इस विवरण से केवल यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि यह ग्वालियर नरेश शूरमा और यशस्वी था ।

विक्रम संवत् ११५० के सासबहू मंदिर अभिलेख में कच्छपघात राजवंशावली मिलती है । इसके अनुसार[१] इस शाखा का सर्वप्रथम ज्ञात नरेश `लक्ष्मण` है । ९७७ ई० के लगभग उसके पुत्र महाराजाधिराज वज्रदामन ने गाधिनगर (कन्नौज) के नरेश को संभवत: प्रतिहार विजयपाल को—पराजित करके अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित की । वज्रदामन् के उत्तराधिकारी मंगलराज और कीर्तिराज हुए । कीर्तिराज ने मालवनृपति के आक्रमण को विफल कर दिया था —यह नरेश संभवत: मालवानरेश परमार भोज था । शायद यह नरेश कीर्तिराज ही था, जिसने १०२१ई० में गज़नी के महमूद के द्वारा ग्वालियर के आक्रान्त होने पर, उसके सामने आत्म-समर्पण कर दिया था । उसके बाद क्रमश: मूलदेव निस्संतान था । अत: उसका भ्राता (चचेरा) और सूर्यपाल का पुत्र महीपाल गद्दी पर आया । उसी ने सास-बहू मन्दिर को पूर्ण करा कर, इस लेख को उत्कीर्ण कराया था । इस लेख में महीपाल के सम्बन्ध में ऐतिहासिक महत्व की कोई विशेष बात नहीं कही गई है । श्लोक ५० में उसे गन्धर्वों को पराजित करने वाला कहा गया है । इस लेख के सम्पादक प्रो० एफ० कीलहार्न महीपाल का शासन काल ११५० वि० (१०९३ ई०) से बहुत पूर्व नहीं मानते, क्योंकि महीपाल ने (`सास बहू का देहरा` नामक) इस मन्दिर को अपने राज्याभिषेक के तुरतबाद केवल पूर्ण कराया था, प्रारम्भ नहीं ।[२] लेख में कहा गया है —` आठ श्रेष्ठ द्विजों द्वारा देवता की अर्धप्रतिष्ठा हो जाने पर दैव की प्रतिकूलता के कारण युवावस्था में ही पद्मपाल संक्रन्दन की

---

१. रे, डायनेस्टिक हिस्ट्री आफ नादर्न इण्डिया, पृ० ८२२-८२९ , १९३६ ई०, स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० ५६, १९५७, और इण्डि०एंटी०,जिल्द १५, पृ० ३३—४६

२. " As the inscription is dated Vikrama- Samvat 1150, and as the temple at which it is put up was only completed, not gegun, by Mahipāla, and was completed immediately after his coronation, we may assume that the latter event took place not long before V.S.1150(1093 A.D.)". F.Kielhorn- Ind.Ant. Vol.15,P-35.

(यमराज) गोद को प्राप्त हुआ (अर्थात् दिवंगत हुआ)"[1]

इस विवरण में प्रयुक्त 'देवेर्द्धसिद्धे' पद से यह आशय लिया जा सकता है कि मन्दिर अपूर्ण था, चाहे उसका अर्धांश निर्मित हो चुका था अथवा उससे कम-क्योंकि 'अर्द्धसिद्धे' का प्रयोग 'अधूरे' के अर्थ में है। पद्मपाल युवावस्था में ही दिवंगत हो चुका था अत: इस विशाल मन्दिर[2] का कुछ ही अंश उसके समय में पूर्ण हो पाया होगा। आद्यन्त अलंकृत इस मन्दिर के निर्माण में पर्याप्त समय लगा होगा। यदि महीपाल को इसके समापन में बीस वर्षों का समय लगा हो, तो महीपाल का १०७३ ई० के लगभग ग्वालियर की गद्दी पर आरूढ़ होना माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'भुवनैकमल्ल'[3] विरुद का महीपाल के लिए दो बार प्रयोग हुआ है। यह विरुद कल्याणी का चालुक्य सोमेश्वर द्वितीय धारण करता था (१०६८ से १०७६ ई०)। डा० एल०डी० बार्नेट[4] के अनुसार 'भुवनैकमल्ल' उपाधि की चालुक्य सोमेश्वर द्वितीय की उपाधि से एकता होना इन दोनों नरेशों की मैत्री का सूचक है। इससे भी महीपाल का सोमेश्वर द्वितीय के शासन-काल में होना सिद्ध होता है। अत: १०७३-४ ई० के लगभग महीपाल का राज्यारोहण

---

१. देवेर्द्धसिद्धे द्विजपुङ्गवेषु प्रतिष्ठितब्बन्ट: पद्मपाल: ।
युवैव [illegible] (हु०कास)नभाग्वभूव(बभूव) ।।

— वही, श्लोक, ३०, पृ० ३७

२. 'सास-बहू' दो बड़े छोटे मन्दिरों को कहा जाता है, जो ग्वालियर दुर्ग की पूर्वी दीवाल के मध्य में स्थित है। बड़ा मन्दिर 'क्रास' की आकृति का है और १०० फीट लम्बा, ६३ फीट चौड़ा और पूर्व-पश्चिम में छोटी छोटी भुजाओं से युक्त है। इसमें नीचे से ऊपर तक तरह तरह से उत्कीर्ण पत्थर लगे हैं। सबसे ऊपर की कतार सामने की ओर मुख किये हुए हस्तियों से अलंकृत है। — ए० कनिंघ- आ०स०आफ ई० भाग २, १८६४-६५ ई०,पृ०२५७

३. त्वं भूरि कुंबरवलो (बलो) भुवनैकमल्ल .... ।४६।। और
किं चित्रं (भु) बनैकमल्लं यदियं [illegible] पद्मभू...... ।।६३ ।।

—इण्डि० एंटी०, जिल्द १५, पृष्ठ ३८-३९

४. रे, डा० हि०, ना०ई०, पृ० ८२८

हुआ होगा ।

लेख में महीपाल को यशस्वी , शूर—कच्छपारिकुल-भूषण और त्यागी कहा गया है ।[१] उसने किसी गन्धर्व नरेश को युद्ध में परास्त किया था ।[२] उसके राज्यारोहण के अवसर पर सूतों ने उसकी समता देवताओं और महाभारत आदि के प्रसिद्ध पात्रों के साथ स्थापित की ।[३] इस अतिशयोक्तिपूर्ण स्तुतियों में से इतना तो निष्कर्ष निकाला ही जा सकता है कि महीपाल यशस्वी और शूर था । इसी तथ्य की सूचक, ग्वालियर से प्राप्त एक अन्य शिलालेख[४] में, महीपाल के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रशस्ति मिलती है —

' विपक्षी समस्त क्षत्रियों को चूर्ण करने में दक्ष जो (महीपाल) एक छत्र पृथ्वी को धारण करता था । दिग्गजों के कुम्भस्थल के शंखनिर्मित आभूषण से युक्त अपनी कीर्ति को (जिसने) सृष्टि(त्रिलोकी) की सीमा के अन्त में रखा ।'

अत: कच्छपघात महीपाल ही बिल्हण द्वारा उल्लिखित 'गोपाचलक्ष्मापति' रहा होगा, जिसका उत्कीर्ण कराया हुआ यह सासबहू मन्दिर अभिलेख (११५० विक्रम सं०) है ।

__दूबकुण्ड —__

पार्थ के कुल में उत्पन्न इस नरेश का वर्णन बिल्हण ने निम्न ढंग से प्रस्तुत किया है —

' सुअर के शरीर में दृढ़ रूप से गड़े हुए, जिस बाण (अर्जुन के) की वैशिष्ट्य सीमा समझने वाले किरात-वेशधारी शंकर ने शूकर के शरीर के छिद्र से

---

१. इण्डि०एन्टी०, जि० १५, श्लोक ३२ और ५७

२. वही श्लोक ५०

३. वही, श्लोक ३१-६१ तक

४. प्रतीपाखिलक्षत्रियक्षोददक्षो य एकातपत्रान्धरित्री व्यधत्त ।
दिशादन्तिकुम्भस्थलीशंखभूषां स्वकीर्तिंस्त्रिलोकीतटान्ते न्यधत्त ।।६।।
—वही, पृ० २०२, श्लोक ६

(उस) शर को बाहर खींच लिया।

" जिस (अर्जुन) ने शंकर के साथ मल्लयुद्ध में (उत्पन्न हुए) पसीने को दूर करने के लिए आश्चर्यचकित उस (शंकर) की कांख (बगल) से भस्म -पुंज को निश्शंक होकर निकाल लिया।

" उसी पार्थ (अर्जुन) के कुल में यह (संभवत: विक्रम सिंह) महाप्रतापी नरेश उत्पन्न हुआ है। यदि चर्मण्वती के तट वर्ती मनस्थलियों में क्रीडा करने की इच्छा हो तो इस नरेश को देखो।"[१]

इस वर्णन से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :-

(१) पाण्डव वंशी अर्जुन की वीरता का वर्णन और पार्थकुल में उत्पन्न होने से, वह नरेश गौरवशाली था अथवा उस नरेश के पूर्वजों की परम्परा में 'पार्थ' या उसके अन्य नाम का पार्थ कोई प्रतापी नरेश हो चुका था।

(२) पार्थकुल में उत्पन्न यह नरेश महाप्रतापी था।

(३) यह नरेश रम्य वनस्पतियों से युक्त चर्मण्वती के तटवर्ती प्रदेश पर शासन करता था।

दूबकुण्ड ग्राम में स्थित जिनमन्दिर के खण्डहर से वि०सं० ११४५ (१०८८ ई०) का एक अभिलेख[३] प्राप्त हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि कच्छपघातवंशी नरेश ... सघन जंगल में स्थित इस ग्राम पर शासन करते थे। यह ग्राम कुनु नदी के तट पर स्थित है, जो ग्वालियर से ७६ मील दक्षिण पश्चिम में पड़ता है। इसलेख

---

१. उत्कर्षरेखां [illegible] यत्पत्रिणः पौत्रिणि शङ्कमानः।
शीघ्रं हरः सूकरदेवहरन्ध्राल्लीलाकिरातः शरमुच्चखान ।।१०१।।
अशंकितः शंकरमल्लयुद्धे यः स्वेदवारां विनिवारणाय।
भस्मोत्करं विस्मयधूर्णितस्य कक्षान्तरात्तस्य समाचकर्ष ।। १०२।।
पार्थस्य तस्यैष कुले प्रसूतः प्रभूतशौर्यो नृपतिः प्रतापी।
एनं समालोक्य रन्तुकामा चर्मण्वतीतीरवनस्थलेषु ।।१०३ ।।
—विक्रमा० ६।१०१-३

२. पार्थस्य तस्यैष कुले प्रसूतः —आदि विक्रमा० ६।१०३

३. एपी०इन्डिका, भाग २, पृ० २३७—४०

में ६१ पंक्तियाँ है लेख 'ओउम् नमो वीतरागाय' से प्रारम्भ होता है। उसके वाद छह श्लोकों में जैन तीर्थङ्करों का वर्णन करने के बाद महर्षि गौतम और पंकजवासिनी [illegible] का उल्लेख है। तत्पश्चात् कच्छपघात नरेशों की वंश[1] तालिका इस प्रकार है :-

युवराज
|
अर्जुन
|
विजयपाल
|
विक्रमसिंह

दूबकुंड लेख में वर्णित प्रथम प्रतापी नरेश अर्जुन था, कवि ने भीमसेन, पाण्डुश्रीयुवराज और अर्जुन श्लिष्ट पदों के प्रयोग से महाभारत के 'पाण्डुपुत्र अर्जुन के साथ उस नरेश का एकीकरण कर दिया है। लेख का वर्णन[2] इस प्रकार है- 'कच्छपघात वंश का तिलक त्रैलोक्य में प्रसरित यशवाला, अप्रतिम तेजस्वी और भीषण सेना से अनुगत, शुभ्र राज्य-लक्ष्मी से युक्त श्रीमान् अर्जुन भूपति 'युवराज' का पुत्र (अथवा भीमसेन (अग्रजभ्राता) से अनुगत (महाभारत का पात्र) अर्जुन 'श्रीयुवराज पाण्डु' का पुत्र था) -जिसने समस्त संसार के धनुर्धारियों को धनुर्विद्या में जीतकर अपने गाम्भीर्य गुण से समुद्र की तुलना प्राप्त की।'

---

१. एपी०इन्डिका, भाग २७, पंक्तियाँ १०-३०

२. आसीत्कच्छपघातवंशतिलकस्त्रैलोक्यनिर्यद्यश:
पाण्डुश्रीयुवराजसूनुरसमद्युद्भीमसेनानुग: ।
श्रीमा(न)र्जुनभूपति: पतिरपामप्याप यत्तुल्यतां
नो गाम्भीर्यगुणेन निर्जितजग(द्व)न्वीधनुर्विद्यया ।।७।।
श्रीविद्याधरदेवकार्यनिरत: श्रीराज्यपालं हठा-
त्कण्ठास्थिच्छिदनेकबाणनिवहैर्हत्वा महत्याहवे ।
(डिण्डीरा)वलिचन्द्रमण्डल (मि) लन्मुक्ताकलापोज्ज्वले-
स्त्रैलोक्यं सकलं यशोभिरचलैर्यो ऽ जस्रमापूरयत् ।।८।।

यस्य स्थानकलात्थितजलधिरवाकारवादित्रशब्दा
वेग [illegible] वाश्च
संसर्पन्त:समन्तादहमहमिकया पूरयन्तो विरेमु-
र्नो [illegible] भ्रामं गिरिविवरगुरुपत्प्रतिध्वानमिश्रा: ।। ९।।
—ए०इ०,भाग २, श्लोक ७—९

" श्री विद्याधरदेव (चन्देल) के कार्य में लगा हुआ (वह) बल पूर्वक विस्तृत रणक्षेत्र में कण्ठ को काटने वाले (तीक्ष्ण) शर-समूहों के द्वारा श्री राज्यपाल को मार कर (जो) समुद्रफेन की पाँति के तुल्य चन्द्रमण्डल से मिले हुए मुक्ता-पुंज के सदृश उज्ज्वल और स्थायी (अचल) यशों से समस्त त्रैलोक्य को निरन्तर भर रहा था ।

" जिस (अर्जुन) के प्रस्थान (युद्ध के अभियान) के समय उठे हुए सागर के गर्जन के सदृश (गंभीर) दुन्दुभी आदि वाद्यों के शब्द, और वेग पूर्वक निकलते हुए पर्वत-तुल्य गज-घटा के करोड़ों घण्टों के निर्घोष, गिरि-रन्ध्रों (गुहाओं) से टकराने के कारण गुरुतर (बढ़ी) हुई प्रतिध्वनियों से मिश्रित होकर" मैं पहले , मैं पहले " के होड़ (प्रतिस्पर्धा) के शब्द से समस्त दिशाओं को भर कर रेंगते हुए स्वर्ग-रन्ध्रों में पर्यवसित हुए ।"

इस विवरण से प्रतीत होता है कि यह नरेश श्रीविद्याधर देव(चन्देल) का सामन्त था और उसके द्वारा आदिष्ट होकर (कार्यनिरत:) ही उसने राज्यपाल का बध किया । संभवत: अर्जुन ही इस राजवंशी शाखा का संस्थापक था, क्योंकि उसके पिता युवराज के सम्बन्ध में लेख मौन है । लेख में अर्जुन के शौर्य का वर्णन पृथा-पुत्र अर्जुन (महाभारत का) अर्थात् पार्थ के अनुरूप ही है । इसी तरह "पार्थस्य तस्यैष कुले प्रसूत:" में बिल्हण को" अर्जुन के वंश में अर्थात् अर्जुन नरेश की परम्परा में उत्पन्न इस तथ्य का वर्णन अभिप्रेत रहा होगा । अब प्रश्न उठता है कि स्वयंबर में वर्णित नरेश कौन था ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि दूबकुण्ड अभिलेख में वर्णित नरेशों के शासन-काल का निर्णय कर लिया जाय ।

अर्जुन विद्याधर चन्देल का सामन्त था । उसने कान्यकुब्ज नरेश राज्यपाल का वध किया था । यह घटना ग्रीष्म ऋतु सन् १०१६ ई० के लगभग हुई होगी जब गजनी का सुल्तान लौट गया था ।क्योंकि चन्देल नरेश गंड ने राज्यपाल द्वारा सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर लेने के कारण क्रुद्ध होकर अपने पुत्र विद्याधर को कन्नौज पर आक्रमण करने के लिए भेजा था ।[१] दूसरे नरेश अभिमन्यु की परमार

---

१ हिस्ट्री आफ दी चन्देलाज् , ले० एन०एस० बोस, पृ० ५१, और ५२ कलकत्ता , १९५६ और डा०हि०ना०इंडिया,रे कृत,जि०१, पृ० ६०४-५

भोज द्वारा घोड़े, रथ और शस्त्रों के प्रयोग में प्रवीणता कही गई है।[१] इससे प्रतीत होता है कि भोज के साथ अभिमन्यु की मैत्री थी। भोज १०५५ ई० तक जीवित रहा ।

जिस समय चन्देल नरेश देववर्मन् (१०५० ई० के लगभग), चेदिनरेश प्रतापी लक्ष्मीकर्ण (१०४१-७३ ई०) से संत्रस्त था[२], बहुत सम्भव है अवसर पाकर अभिमन्यु ने भोज के साथ मैत्री की हो और चन्देलों की अधीनता का परित्याग कर दिया हो। ऐसा प्रतीत होता है कि विजयपाल ने अल्पकाल तक ही राज्य किया, क्योंकि उसका उत्तराधिकारी विक्रमसिंह अभी बालक ही था।[३]

यदि अभिमन्यु का शासन-काल १०६० ई० तक मान लिया जाय और विजयपाल ने १०७० ई० के आसपास तक राज्य किया तो १०७० ई० के लगभग शासन की बागडोर श्री विक्रमसिंह ने सम्हाल ली होगी।

अत: इन नरेशों के शासन की अनुमानित तिथियां निम्नलिखित होंगी :—

अर्जुन —	१०१० ई—१०४० ई०
अभिमन्यु —	१०४० ई०—१०६० ई०
विजयपाल —	१०६० ई० —१०७० ई०
विक्रमसिंह —	१०७० ई०—१०८८ ई० और आगे।

उपरोक्त विमर्शों से यह ज्ञात होता है कि शासन काल की दृष्टि से विक्रमसिंह ही बिल्हण द्वारा उल्लिखित पार्थकुलज नरेश था। विक्रमांकदेवचरित में उस नरेश को महाप्रतापी शासक कहा गया है।[४] इस बात की पुष्टि भी दूब-

---

१. दूबकुण्ड अभिलेख — श्लोक, ११, प्राचीन लेखमाला भाग २, काव्यमाला —६४ पृ० २२६, नि०स०प्रेस १८९७ ई०

२. चन्देल और उनका राजत्वकाल —के०च०मिश्र,ना०प्र०सभा, २०११, पृ० १०४-६ रे- डायनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, भाग २, पृ० ६८६, और का० इ०इ०, भाग ४, मीराशी, भूमिका, पृ० ९५ ओटकमण्ड,१९५५ ई०

३. बालस्यापि विलोक्य तस्य परिघाकारं भुजं दक्षिणं ।"
—काव्यमाला, ६४, पृ०२२२, नि०सा० प्रेस १८९७ई

४. विक्रमां० ६।१०३

दूबकुण्ड शिलालेख से होती है। अभिलेख इस प्रकार कहता है[1] — "उस (विजयपाल) से वीर-कृत्यों को करने वाला, पराक्रमी शत्रुओं की समग्र ऊँची गज-घण्टा के कुम्भस्थल में मांस को विदीर्ण करने के लिए उद्यत् बड़े बड़े उड़ते हुए केसरों वाले सिंह की तरह, सभी दिशाओं में विस्तारित जाज्वल्यमान यशों से युक्त अपने नाम के अर्थ के अनुरूप नाम वाला श्रीमान् विक्रमसिंह राजा हुआ।

"बालक होते हुए भी, दूसरे के अधीन रहने की बुद्धि से रहित, वीर-श्री से युक्त, अर्गला की आकृति वाली दाहिनी भुजा को देखकर, अहंकारवश अन्य समस्त पुरुषवर्ग से विमुख हुई, होड़की इच्छा से युक्त राज्य-लक्ष्मी ने इस (विक्रमसिंह) के समग्र अंगों का आलिंगन करने की (अपनी) लालसा को धिक्कारा।

"अत्यन्त गर्वीले शत्रु-तिमिर-समूह का भेदन करने वाले, अनीति रूपी तारों से ढके हुए समस्त संसार के विस्तृत अवकाश (रिक्त स्थानों) को धारण कर लेने पर वह निष्पर्याय रूप से (अर्थात् सतत् - सूर्य और चन्द्र क्रम से, एक के बाद दूसरा (पर्याय) प्रकाश करता है, परन्तु यह नरेश अकेला निरंतर प्रकाश कर रहा है) चारों ओर प्रकाश कर रहा था। दिशाओं के मुखों तथा फैले हुए जिस विस्तृत भू-भाग भग्न को अधिकृत हुए जिस राजसूर्य के रहते हुए, अरे व्यर्थ ही यह दूसरा सूर्य कौन है?"

---

१. तस्याद्विक्(म)कारिविक्रमभरप्रारम्भनिर्भेदित-
प्रोत्तुङ्गाखिलवैरिवारणघटोच्चन्मांस (स)कुम्भस्थलः।
श्रीमान्विक्रमसिंहभूपतिरभूदन्वर्थनामा सम-
सर्वाशाप्रसरद्विभासुरयशःस्फारत्स्फुरत्केसरः ।।१५
कालस्यापि विलोक्य यस्य परिघाकारं भुजं दक्षिणं
क्षीणाशेषपराश्रयस्थितिधिया वीरश्रिया संश्रितम्
सर्वाङ्गेष्ववगूहनाग्रहमहंकारादहंपूर्विका-
राज्यश्रीरकृताधिगस्य विमुखी सर्वान्यपुंवर्गतः ।।१६।।
अत्यन्तो दृप्तवि[illegible]भरभिदि च्छादिनाती (ति)तारा-
वर्के विष्वक्प्रकाशं सकलजगदमन्दावकाशं दधाने।
निष्पर्यायं दिशास्यप्रसरदुरुक(र)(का)न्तधात्रीधरेन्द्रे
यस्मिन्राजांशुमालिन्यहह सति वृथैवैष कोऽन्योंऽशुमाली ।।१७।।
[illegible] वरतुरङ्गखुराग्रसङ्ग[illegible]वनीवलयजन्यरजोभिसर्पैः।
विद्विषिणां पुरवरेषु तिरोहितान्यवस्तुत्करं प्रलय[illegible]प्रदेश ।।१८ ।।
—प्राचीन लेखमाला, भाग २, काव्यमाला ६४, पृ० २२१-२, १८८[illegible]

" जिस (विक्रमसिंह) के दिग्विजय - काल में श्रेष्ठ अश्वों के खुरों के अग्र-भाग से टकराने के कारण जर्जरित भू-मण्डल से उत्पन्न, चारों ओर फैलती हुई धूलि ने शत्रुओं के भव्यनगरों में, अन्य वस्तु-समूह को अदृश्य करके, मानों प्रलयकाल का आदेश दिया ।[1]

आगे गद्य अंश में विक्रमसिंह की उपाधि 'महाराजाधिराज' उल्लिखित है ।[2] इससे भी विक्रमसिंह को प्रतापी होना सिद्ध होता है ।

बिल्हण के विवरण से यह स्पष्ट है कि इस नरेश (विक्रमसिंह) के अधिकृत प्रदेश से होकर चर्मण्यवती प्रवाहित होती थी या उसकी राज्य-सीमा कहीं पर चंबल का स्पर्श अवश्य करती थी । उक्त लेख का प्राप्ति स्थान दूबकुंड सघन वन से आच्छादित है , जो आधुनिक मध्य-प्रदेश के शिवपुरी नामक जिले के अन्तर्गत आता है ।शिवपुरी अपनी लुभावनी वनराजि के लिए आज भी प्रसिद्ध है । मध्य-प्रदेश सूचना विभाग लिखता है --"प्रकृति प्रेमियों की सुरम्य स्थली शिवपुरी, आगरा-बम्बई सड़क पर ग्वालियर से ७३ मील दक्षिण-पश्चिम में है । नयनाभिराम हरीतिमा से सज्जित, शरद् ऋतु में इसका सौंदर्य देखते ही बनता है । सरोवरों और जलप्रपातों की कलकल ध्वनि से इसकी छटा और भी मनोहर हो जाती है । यह स्थान शिवपुरी राष्ट्रीय उद्यान से घिरा हुआ है । १८५७ के प्रसिद्ध सैनिक वीर तात्या टोपे का स्मारक भी यहीं बना है । उस समय इसे सीपरी कहा जाता था[3]।"

डाहाल के कलचुरी--

डाहाल के कलचुरी नरेशों की राजधानी त्रिपुरी (वर्तमान तेवर ग्राम जबलपुर-भेड़ाघाट सड़क पर) थी । कर्ण के गहरवा ताम्रपट्ट में उन्हें चन्द्रवंशी कहा गया है (श्लोक ३) । इस वंश में भरत और सहस्रबाहु हैहय चक्रवर्ती (अर्जुन) हुए । इसी से इस राजवंश को हैहय वंश भी कहा जाता है । फिर क्रमशः लक्ष्मण राजदेव , युवराजदेव, कोक्कल, गांगेय देव हुए । प्रतापी गांगेय देव से पराक्रमी कर्ण का

---

१. वही, श्लोक १८
२. एपी०,इं०, भाग २, २४०, पंक्ति ५४
३. नया मध्यप्रदेश (एक परिचय) नवम्बर १९५६, पृ० २८

जन्म हुआ।[१] इसी कर्ण का उल्लेख बिल्हण ने किया है।

डाह्ल नरेश कर्ण और चालुक्य सोमेश्वर प्रथम 'आह्वमल्ल'—

अनेक ऐतिहासिक तथ्यों के प्रसंग में बूलर ने विक्रमाङ्कदेवचरित के प्रथमसर्ग के १०२ और १०३ श्लोकों में प्रयुक्त हुए 'कर्ण' शब्द के चेदि नरेश' कर्ण और कान' दो अर्थ करके आहवमल्ल की डाह्ल नरेश कर्ण पर हुई विजय का संकेत किया है।[२] सन् १९३१ ई० में श्री आर०डी० बैनर्जी महोदय ने इस तथ्य को स्वीकार करने में कठिनाई व्यक्त की। उन्होंने लिखा—'कवि बिल्हण ने कर्ण की दूसरी पराजय का उल्लेख अपने विक्रमांकदेवचरित महाकाव्य में किया है...... कर्ण के पुत्र यश:कर्ण की प्रथम ज्ञात तिथि कलचुरि सम्वत् ८२३—१०७१ —२ ई० है, परन्तु जैसा कि कर्ण अपने पुत्र के लिए राज्यत्याग करता है —यह कहना असम्भव है कि बिल्हण का कथन सही है अथवा नहीं।

इस मत में दो बातें ध्यान देने की हैं :—

क्या कर्ण रणक्षेत्र में दिवंगत हुआ ? यदि दिवंगत हुआ तो पुत्र का स्वयं राज्याभिषेक स्वयं कैसे किया ?

सर्वप्रथम हमें देखना है कि कर्ण और आह्वमल्ल विषयक युद्ध का वर्णन बिल्हण ने किस प्रसंग में किया है ? विक्रमांकदेव चरित में चालुक्य वंशोत्पत्ति से लेकर आमवमल्ल के राज्यारोहण का वर्णन और उसकी परमार विजय का विवरण दिया गया है। उसके बाद कर्ण पराजय का उल्लेख इस प्रकार है —

---

१. ए०इ०, भाग ११, श्लोक ३—१७, पृ० १४२-४३

२. "The poet Bilhana records another defeat of Karnna in his Vikramankdeva Charita ---------
The earliest known date of the Karnna's son Yas'ah Karnna, is the Kalachuri Chedi Year 823 = 1071- 2A.D. but as Karnna obdicated in favour of his son it is impossible to state whether the statement of Bilhana is correct or not."

The haihayas of Tripuri & their monuments - pages 24-25.

' जिस नरेश (या कामुक) के साथ अबाध संघर्ष (या छीना झपटी) में कर्ण (या कान) के छिन्न भिन्न , क्षीण या पराजित (या गिरजाने पर) हो जाने के कारण डाहाल भूमि की राजलक्ष्मी कर्पूरवत् श्वेत या (कर्पूर निर्मित) कर्णाभूषण के सदृश यशों से आज भी मुक्त नहीं हो रही है ।

जिस पृथ्वीपति (या कामुक) के निरन्तर युद्ध से (या छीना झपटी से) कर्ण (या कान) के छिन्न-भिन्न या पराजित (या गिर जाने) होने पर हाथी दांत के सदृश कुभ्रवर्ण(या दन्तनिर्मित) कर्णाभूषण के समान डाहल भूमि अभी तक कीर्ति का आलिंगन नहीं कर पा रही है ।'[१]

इन श्लोकों में `विशीर्ण` शब्द भ्रामक है ।[२] सम्भवत: बैनर्जी महोदय ने `विशीर्ण` का अर्थ `मृत` कर दिया हो तभी तो उन्हें यह शंका हुई की उपरत हुआ कर्ण कैसे अपने पुत्र के राज्याभिषेक के लिए उपस्थित हो गया ? श्री विश्वनाथ भारद्वाज ने भी तथाकथित अंश का `राजा कर्ण के मरजाने के कारण` यही अर्थ किया है ।[२]

परन्तु मुझे यह अर्थ असंगत प्रतीत होता है । `विशीर्ण` का अर्थ छिन्न भिन्न अर्थात् पराजित होना (कर्ण की सैन्य शक्ति के छिन्न भिन्न या क्षीण होने से आशय है) ही समीचीन है मरजाना नहीं ।[३] इस प्रकार यश:कर्ण

---

१. `विशीर्णकर्णा कलहेन यस्य पृथ्वीभुजङ्०गस्य निरर्गलेन ।
संगच्छतेऽद्यापि न डाहलश्री: कर्पूरताडङ्०कनिभैर्यशोभि: ।।
कर्णे विशीर्णे कलहेन यस्य पृथ्वीभुजंगस्य निरर्गलेन ।
संगच्छतेऽद्यापि न डाहलश्री: कर्पूरताडङ्०कनिभैर्यशोभि: ।।

२. विक्रमांकदेवचरित —श्री विश्वनाथ भरद्वाज ,सम्पादित, भाग १, पृष्ठ ७८,७ सं० १९५८ ई०, बनारस

३. संस्कृत—अंग्रेजी कोष—श्री वी०एस० आप्टेकृत, पृष्ठ ५२२,१९६३ ई०
विशीर्ण:, त्रि (वि शृ क्त:) शुष्क: यथा—
' विशीर्णा विदला ह्रस्वा वक्रा: स्थूला द्विधा कृता: ।
कृमिदष्टाश्च दीर्घाश्च समिधो नैव कारयेत् ।। इति तन्त्रसार: ।
—शब्द कल्पद्रुम —चतुर्थ काण्ड, पृ० ४३५, १९६१ ई०
व्यूलर मीराशी और ए०वी० वेंकटरमा ऐय्यर भी विशीर्ण का अर्थ शक्ति क्षीण होना या पराजय अर्थ ही करते हैं —व्यूलर भू०, पृ० २७, का०इ०इ०,जि०४ भूमिका, पृ० ६४ और इंडि०एन्टी०, जि० ४८, पृ० ४३५, टि० ६२

के प्रकीर्णांक खैरहा और जबलपुर ताम्रपत्र अभिलेखों के विवरण से विरोध भी नहीं रहता। वह लेख कहता है --

'पवित्र कर्मा पिता (कर्ण) ने चन्द्र और सूर्य रूपी दीपवाले पूर्ण कुम्भ के समान पर्वतराज से प्रकाशित महासागर से(आवृत) चतुष्क के मध्य में इस धर्मात्मा (यश:कर्ण) का महाभिषेक किया।'[१]

अर्थात् कर्ण यश: कर्ण के राज्याभिषेक के अवसर पर (कलचुरी संवत् ८२३ - १०७१-२ ई०) जीवित था।

कर्ण के रीवां शिलालेख[२] के 'हठगृहान्दोलितकुन्तश्री:' इस अंश के आधार पर मीराशी जी ने विक्रमांकदेवचरित में वर्णित कर्ण-पराजय वाली घटना को एक ही घटना का उल्लेख माना है। उनका अनुमान है कि 'जब कर्ण दक्षिणी भारत में युद्ध कर रहा था तो उसे कुन्तल से भी संघर्ष करना पड़ा होगा। जैसा कि वर्णन किया जा चुका है कुन्तल में कल्याणी के उत्तरवर्ती चालुक्य नरेश राज्य करते थे। यह युद्ध अनिर्णीत रहा होगा क्योंकि दोनों वीर अपनी सफलता की घोषणा करते हैं।'[३]

इस धारणा में तीन बातें विचारणीय हैं :-

प्रथम रीवां शिलालेख के २५ वें श्लोक का ऐतिहासिक मूल्य कितना है ? दूसरे क्या दोनों विवरण एक ही युद्ध का संकेत देते हैं ? तीसरे विक्रमांकदेवचरित

---

१. चन्द्रार्कदीपवति पर्वतराजपूर्ण कुम्भावभासिनि (नि) महाब्धि(भि) चतुष्कमध्ये(।)
चक्रे पुरोहितपुरस्कृतिपूतकर्म्मा धर्म्मात्मनोऽस्य हि पितैव महाभिषेकं (कम्)१६।
कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकैरम् भाग ४, खण्ड १, प्लेट नं० ५६ और ५७ श्लोक १६, मीराशी द्वारा सम्पादित, सं० १९५५

२. [illegible] (विं) खण्ड्यमानाधरपल्लवा च।
आक्रांत काञ्ची विषयेण येन दिग्दक्षिणासंबु (बु)भुजे प्रकामम्॥
—वही प्लेट नं० ५१, श्लोक २५

३. 'While Karnna in the South, he seems to have encountered the King of Kuntala. As already observed, Kuntala was then under the rule of the later Chalukyas of Kalyani. The battle does not seem to have ended in a decisive victory for either side, for bothe the belligerents claimed success for themselves.' - ibid - Intro. P-XCIV

में उल्लिखित `आहवमल्ल और कर्ण युद्ध` में पराजय किसकी हुई ?

रीवां शिलालेख [१] का विवरण इस प्रकार है :-

`कांची विषय ( देश ) को आक्रान्त करने वाले जिस (कर्ण ) ने दक्षिण-दिशा का पूर्ण भोग किया, जो बलात् गृहण किये जाने से(आक्रमण से )क्षुब्ध ~~था नीच~~ कुन्तल ( देश ) राजलक्ष्मी वाली और नष्ट हुए तुच्छ या नीच (अधर) पल्लव ( कांची के शासक ) वाली थी ।` दूसरा काव्यात्मक अर्थ ` (कामुक की भांति ) कांची ( कटिमेखला) को खींचने वाले जिस नरेश ने दक्षिणादिशा (नायिका) का पूर्ण भोग किया —जो बलपूर्वक अस्तव्यस्त की हुई केशशोभावाली और दंशित हुए अधर-पल्लव वाली थी ।`

इस श्लोक में प्रयुक्त` दिग्दक्षिणा` पद `कुन्तल` और कांची पदों का राज्यविषयक अर्थ भी करने के लिए विवश करते हैं, परन्तु यह कहना कठिन है कि आलंकारिक विवरण में ऐतिह्य सत्य कहां तक सुरक्षित है ? यहां कर्ण की कांची के पल्लवों पर निर्णयात्मक विजय कही गई है, परन्तु हमें ज्ञात है कि पल्लव नरेशों की राजधानी कांची ८६० ई० में ही चोल साम्राज्य में अन्तर्भूत की जा चुकी थी ।[२] दूसरे कर्ण की इस विजय का उल्लेख परवर्ती कलचुरी नरेशों द्वारा दी हुई उसकी विजयों की तालिका` में नहीं मिलता । अत: पल्लव विजय विषयक यह विवरण अधिक काल्पनिक प्रतीत होता है सत्य कम ।[३] रीवां शिलालेख में वर्णित कांची आक्रमणयदि ऐतिहासिक [illegible] सत्य है तो यह विजय १०४८ - ४९ ई० तककी जा चुकी थी और कर्ण का प्रतिद्वन्द्वी नरेश राजेन्द्र चोल प्रथम का पुत्र और उत्तराधिकारी राजाधिराज प्रथम रहा होगा, जिसने १०१८ ई० से

---

१. वही प्लेट नं० ५१, श्लोक २५

२. दी चोलज़, भाग १, पृ० १३६, सं० १९३५, मद्रास , लेखक —श्री नीलकण्ठ शास्त्री

३. कार्पस इंस्क्रिप्ससनम् इंडिकैरम , भाग ४, , खण्ड १, भूमिका , पृ०- ६८

४. दी चोलज़, भाग १, पृ० २६३, १९३५ ईसवी, मद्रास — नीलकण्ठशास्त्री कृत ।

१०५४ ई० तक शासन किया ।[१]

काँची आक्रमण , जिसका अपेक्षाकृत अधिकस्पष्ट उल्लेख किया गया है, के विवरण के समान आलंकारिक होने से `कुन्तल विजय` भी संदिग्ध है । काँची विजय के सदृश इसे भी ऐतिहासिक घटना मान लेने पर , यही कहा जा सकता है कि दक्षिण यात्रा में कर्ण की मुठभेड़ कल्याणी के चालुक्यों (सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल -१०४४-६८ ई०) के साथ भी हुई होगी -सम्वत: कर्ण विजयी नहीं हुआ था । और उसे असफल होकर वापस लौट जाना पड़ा होगा, क्योंकि रीवां प्रशस्ति में उल्लिखित `हठग्रहान्दोलित-कुन्तलश्री` अर्थात् बलपूर्वक आक्रमण किये जाने से क्षुब्ध कुन्तल राजलक्ष्मी वाली, पद में कुन्तलेश पर कर्ण के आक्रमण का सामान्य उल्लेख है, कर्ण की विजय का संकेत नहीं है । बिल्हण के` आज भी डाहलभूमि यश या कीर्ति का आलिंगन नहीं करती` इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि डाहलराज्य आहवमल्ल के अधीन हो गया, वरन् पराक्रमी कर्ण के शासन-काल, में डाहल भूमि ने जिस कीर्ति को अर्जित किया था, वह इस पराजय से अभिभूत हो गई-संभवत: कर्ण के जीवन की यह प्रथम पराजय थी । यह घटना रीवां लेख पर उत्कीर्ण तिथि कलचुरी संवत् ८०० के आधार पर १०४८ ४६ ई० से पूर्व घटित हुई होगी । बिल्हण ने कर्ण की पराजयका उल्लेख परमार भोज का पूर्ण दमन करने के बाद ही किया है ।[२] जिसकी प्रथम ज्ञात तिथि १०४७ ई० है ।[३] धारा विजय के बाद की घटना होने से कर्ण की पराजय निश्चित रूप से रीवां लेख की तिथि के अनुकूल ही पड़ती है ।

इसके अतिरिक्त विक्रमांकदेव के सामन्तों में तेजराज के पुत्र प्रतापी `चैदि-राज` का उल्लेख मिलता है ।[४] यह उच्चंगि के पाण्ड्य राजवंश में उत्पन्न हुआ था । अभिलेखों में उसके एकांगवीर` और `परिच्छेदि गण्ड` विरुद मिलते हैं ।[५]

---

१. दी चोलज़, भाग १, पृ० २६३,१६३५ई०, मद्रास-नीलकण्ठ शास्त्री कृत

२. विक्रमांकदेवचरित , १।६१-६४, १०२-१०३

३. अ०हि०ड०, यादवानी, पृ० ३३०,१६६० लंदन

४. एपी०क०जि० ११, दावणगेरे, ४१,३६

५. वही, जि० ५, अर्सिकेरे, १०२ ए

श्री दिनकर देसाई का अनुमान है कि उसने परिच्छेदि गण्ड विरुद चेदि नरेश कर्ण को पराजित करने के कारण धारण किया होगा ।[१]

बिल्हण कर्ण की सभा में भी रह चुका था , जहां उसने गंगाधर नामक किसी पण्डित को शास्त्रार्थ में परास्त किया था ।[२] इस ग्रन्थ की रचनाकाल (१ (१०७६–१०८५ ई०) तक बिल्हण के हृदय में अपने पूर्ववर्ती आश्रयदाता कर्ण के लिए स्थान शेष था । उसने कर्ण को कालंजर–गिरिपति का काल और युद्ध यात्रा में अपने अश्वों के खुरों के शब्दों से पृथ्वी को राजाओं से रहित करने वाला कहा है ।[३] इतना अधिक सम्मान सुरक्षित रखते हुए भी बिल्हण ने जो अपने भूतपूर्व आश्रयदाता कर्ण की पराजय का उल्लेख किया है, यह उसका इतिहास-प्रेम ही था अन्यथा वह इस घटना की उपेक्षा भी कर सकता था , जिसका उल्लेख चालुक्य अभिलेखों में नहीं मिलता ।

डाहल नरेश कर्ण और कालंजर के चन्देल–

बिल्हण काश्मीर से भ्रमण करता हुआ काशी आया । उसके तुरत बाद ही डाहल कर्ण द्वारा अपनी कविता का रसास्वादन किये जाने की बात कही है । कर्ण का प्रसंग आने पर उसने कर्ण के लिए " काल: कालंजरगिरिपतयं: "[४] अर्थात् कालंजरगिरि के नरेश का काल (वध करने वाला) जो कहा है । इस संकेत में स्पष्ट रूप से कालंजर नरेश के मारे जाने का उल्लेख है । प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है – " क्योंकि सकल भूमिभूपाल - कुल की प्रलयाग्नि के लिए रुद्र के सदृश चेदिपति (कर्ण) के द्वारा समुन्मूलित चन्द्र-वंशी (चन्देल) नरेशों की पृथ्वी के अधिकार को स्थिर करने के लिए इसका

---

१. दी महामण्डलेश्वरज़, पृ० २२४-५

२. विक्रमां०, १८।६५

३. वही १८।६३

४. विक्रमां०, १८।९३

(गोपाल) यह आक्रोश है ।"[1] इसी घटना की पुष्टि महोबा से प्राप्त एक अभिलेख से होती है –

" जिस प्रकार पुरुषोत्तम (विष्णु) ने मन्दराचल के द्वारा क्षीर-सागर का मंथन करके, जिसकी ऊँची ऊँची लहरों ने अनेक पर्वतों को आत्मसात कर लिया था, (अष्ट दिशाओं के) हाथियों से युक्त लक्ष्मी को प्राप्त किया था, उसी तरह यशस्वी उसने (कीर्तिवर्मन्) अपनी विशाल बाहु के द्वारा अभिमानी लक्ष्मीकर्ण, जिसकी सेना ने अनेक नरेशों को नष्ट कर दिया था को कुचल कर इस संसार में हाथियों से युक्त कीर्ति अर्जित की ।"[2]

निस्सदेह लक्ष्मीकर्ण कलचुरि कर्ण ही था ।[3]

अजयगढ़ शिलालेख[4] में कीर्तिवर्मन् को अगस्त्य के समान कर्ण रूपी सागर को निगलने वाला और ब्रह्मा की भांति नूतन राज्य का निर्माता कहा गया है । इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि कीर्तिवर्मन् चन्देल ने चन्देल राज्य को कर्ण को पराजित करके प्राप्त किया था । अत: सिद्ध होता है कि चन्देल राज्य उस समय चेदि साम्राज्य में था ।

अब प्रश्न उठता है कि यह चन्देल नरेश कौन था, जिसका बध करके[5] कलचुरि कर्ण ने कालंजर का राज्य हस्तगत किया था ।

श्री चिंतामणि विनायक वैद्य[6] की धारणा है कि देववर्मन् चन्देल के भ्राता कीर्तिवर्मन् को खदेड़कर कलचुरि कर्ण ने उसका राज्य अधिकृत कर लिया था । परन्तु बिल्हण के विवरण से स्पष्ट है कि कालंजर नरेश युद्ध में दिवंगत हो गया था । हमें ज्ञात है कि कीर्तिवर्मन ने कर्ण की मृत्यु के पश्चात् दीर्घकाल तक राज्य किया और कर्ण को पराजित करके चन्देल राज्य का उद्धार किया था । अत:

---

१. यत: सकलभूपालकुलप्रलयकालाग्निरुद्रेण चेदिपतिना समुन्मूलितं चन्द्रान्वयपार्थिवानां पृथिव्यामाधिपत्यं स्थिरीकर्तुमयमस्य संरम्भ: । –प्रबोध चन्द्रा०,पृ०१६
दृष्टव्य– वही, पृ० १०-१३, १७-१६,२१-२२ भी ।

२. ए०इं०, भाग १, पृ० २२, श्लोक २६

३. का०इ०इं०, भाग ४, भूमिका, पृ०- ६२

४. ए०इं०, भाग १, पृ० ३२७, श्लोक ३ चन्देलवीरवर्मन् का १३१७ वि०सं० का लेख

५. विक्रमां० १८।६३ और प्रबोध चन्द्रो०, पृ० १६

६. हि०मे०हिन्दू इं० भाग ३, पृ० १८६

यह नरेश नि:सन्देह कीर्त्तिवर्मन् का पूर्ववर्ती चन्देल नरेश और उसका ज्येष्ठ भ्राता देव वर्मन् रहा होगा, जो कलचुरि कर्ण द्वारा मारा गया । देववर्मन् के सम्बन्ध में डा० हे०च०रे[1] की उक्ति उपयुक्त ही प्रतीत होती है ।" देववर्मन् के सम्बन्ध में प्रशस्तिकारों का मौन, तथा चन्देलों के वंश-वृक्ष में उसके नाम का अभाव होने से यह प्रतीत होता है कि उसका शासन-काल चन्देल-इतिहास में अंधकार-युग का तथा गौरवहीन अवस्था का द्योतन करता है ।"

डाहल नरेश कर्ण प्रतापी नरेश था । बिल्हण ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है :—

" कालंजर पर्वत के राजा के काल जिस (कर्ण) ने अभियान (युद्ध सम्बन्धी) में तुक्खार (काबुली) अश्वों के खुरों से उत्पन्न ध्वनियों से पृथ्वी को राजविहीन कर डाला था (अर्थात् उसके अश्वों के टाप की ध्वनि सुनकर ही राजागण भाग जाते थे) ...."[2]

इस श्लोक के " तुक्खाराणां" अंश का अर्थ व्यूलर महोदय ने "तुक्खार देश" किया है । श्री कमलानन्द जी घोष का कथन है — यह अर्थ करने पर कर्ण को मध्य एशिया पर विजय प्राप्त करने का श्रेय मिलता है, जो स्पष्ट ही एक अतिशयोक्ति है । परन्तु मेरे विचार से यहां पर" तुक्खार" शब्द किसी प्रदेश के नाम के रूप में नहीं लिया गया है अपितु एक विशिष्ट जाति के — सम्भवत: तौक्खारी-अश्वों (काबुली घोड़े) के लिए प्रयुक्त हुआ है, जैसा प्रयोग विक्रमांक देवचरित (६।११६)[4] में हुआ है, जहां अन्य अर्थ करना बिलकुल असम्भव है ।"

---

१. डा०हि०ना०इ०, भाग २, पृ० ६८६

२. काल: कालंजरगिरिपतेर्य: प्रयाणेधारित्रीं ....
तुक्खाराणां खुरपुटरवै: क्ष्मापशून्यां चकार । .... ।।
— विक्रमां० १८।९३

३. इंडियन कल्चर, भाग ७, पृ० १६, १९४० ई०

४. निशम्य तुक्खारखुरक्षतायाः क्षितेः[illegible] यस्य कीर्त्तिम् । .... ।।
— विक्रमां० ६।११६

तुखार जाति के उल्लेख लगभग सभी पुराणों में उपलब्ध होते हैं। वे तुखार या तुषार का उल्लेख यवन, पह्लव, शक, हूण किरात दरद आदि विदेशी जातियों के साथ करते हैं।[१] मत्स्य (१२१-४५) तथा वायु (४७।५४) और रामायण (बाल० ४३।१४) में वंक्षु नदी को तुषार प्रदेश से पश्चिमी समुद्र में गिरने वाली नदियों के साथ परिगणित किया गया है। अत: तुषार या तुखार सम्भवत: प्राचीन तोखारी जाति है, जो पुराणों के रचनाकाल तक अफगानिस्तान से भारत में प्रवेश कर चुकी थी।[२] हरिवंश पुराण में सुनीथा और अंग से वेन राजा का जन्म वर्णित है, जो बहुत अत्याचारी था। मरीचि आदि ऋषियों ने उसे रोकना चाहा, परन्तु वह मानी न माना। फलत: ऋषियों ने उसकी वाम जंघा का मंथनकिया, जिससे एक काला बौना उत्पन्न हुआ। ऋषियों ने उसे 'निषीद (बैठो) आदेश दिया, अत: वह निषाद कहलाया। उससे निषाद और धीवर जाति का जन्म हुआ।[३] फिर इस प्रकार वर्णन है — 'विन्ध्य पर्वत पर निवास करने वाली तुखार (तुषार), तुम्बु (तुम्बुरु) तथा अन्य अधार्मिक जातियों को भी वेन से उत्पन्न समझो।' किंचित परिवर्तन के साथ यह कथा अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होती है[५]। उन कथाओं में निषाद जाति का जन्म वर्णित है, पर तुखार या तुषार का उल्लेख नहीं है। वायुपुराण में वेन से उत्पन्न जातियां निषाद, धीवर, तुम्बुर, तुवर और खस कही गयीं है, जो अधार्मिक थी और विन्ध्य पर्वत पर निवास करती थीं[६]।

---

१. मत्स्य ५०।७२-७६, भागवत २४।१८, २।७। ४ ६, ब्रह्म ८।४४-५०, हरिवंश १।१३।३०,३४, १।१४।३-४,१२,१६-१८, ५।२०

२. भारत भूमि और उसके निवासी, ले० जयचन्द्र विद्यालंकार, पृ० ३१४-१५, १९८७ विक्रमाब्द, पंजाब, विष्णुपुराण, विल्सन कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृ० १९२, टि० १५७, पुन्थी पुस्तक कलकत्ता, १९६१

३. हरिवंश पुराण, ५।१-१६

४. ये चान्ये विन्ध्यनिलयास्तुखा (षा)रास्तुम्बरास्तथा। अधर्मरुचयस्तात। विद्धि तान्वै वैणसम्भवान्॥ हरिवंश ५।२०॥ और अंग्रेजी अनुवाद मन्मथनाथ दत्त कृत, कलकत्ता, १८९७,पृ० २३,२४

५. भागवत स्कन्ध ४।अ०१३,१४, विष्णु १।१३, वायुपुराण ६२।१२१

अत: यह संभव है कि उक्त जातियों के साथ तुखार , तुषार या तुक्खार जाति भी कालान्तर में विन्ध्य पर्वत पर रहने वाली पर्वतीय जातियों में घुल मिल गयी हों । इसी से आज उनका अस्तित्व भी शेष नहीं रहा । यदि हरिवंश अपने अन्तिम रूप में छठवीं शताब्दी ईसवी का है[1] तो यह निश्चित है कि उस समय से पूर्व तुखार जाति `विन्ध्यपर्वत पर बस चुकी थी, जिसके अधिकृत भू भाग पर कलचुरि कर्ण (१०४२–१०७२ ई०) ने अपना अधिकार कर लिया था । यह कहना कठिन है कि विन्ध्यपर्वत पर इनका राज्य कहाँ पर था ? परन्तु कोषकारों का अनुमान है कि यह जाति मध्यप्रदेश के उत्तर-पश्चिम में निवास करती थी ।[2] परन्तु हरिवंश का उल्लेख प्राचीन होने से हम उसे विल्हण के समर्थन में ग्रहण नहीं कर सकते ।

व्यूलर का अर्थ कदापि मान्य नहीं हो सकता क्योंकि `खुर` शब्द कभी भी पशु विशेष के खुर का वाचक नहीं है ।

अत: यहाँ खुर शब्द साकांक्ष है और `तुखार` शब्द की अन्विति के बिना वह कोई भी अर्थ देने में असमर्थ है । इसके अतिरिक्त तुक्खार अश्व अर्थ सीधा है, जबकि व्यूलर कृत` तुक्खार जाति` अर्थ में दूरान्वय करना पड़ता है ।

कर्ण की विजय-यात्राओं की गति अप्रतिहत थी । उसने पूर्वी , दक्षिणी और पश्चिमी प्रदेशों को रौंदा था ।[3] अपनी विजयों के कारण ही वह हिन्दू नैपोलियन कहा गया है ।[4]

यही नहीं कर्ण का उल्लेख शत्रु नरेशों के कवि भी सम्मान के साथ करते

---

६. पिछले पृष्ठ का अवशेष—

निषादवंशकर्ताऽसौ बभूव [illegible] । धीवरानसृजत्योऽपि वेनकल्मषसंभवान् ।।
ये चान्ये विन्ध्यनिलयास्तुम्बुरास्तुवरा: खसा: । अधर्मरुचयश्चापि संभूतावेनकल्मषात

—वायु० ६२।१२३-४ ,आनन्दा०संस्कृ०ग्र० ४९, १९०५ई०

---

१. हरिवंश पु०सा० अ ध्य० बी० पाण्डेय, ४ था अध्याय, सू०वि०उ०प्र० १९६०

२. संस्कृत अंग्रेजी कोष, मो०विलियम्स कृत, पृ० ४४९, १९५५ आक्सफोर्ड,आप्टे, २३६ , १९६३ ई०

३. का०इ०इं०, भाग ४, रीवाँ अभिलेख —सं० ५१, श्लोक २५,२६,२७ और गहरवा ले०सं० ५०

४. वही —भूमिका, पृ० - ८९

हैं। बिल्हण ने उसका उल्लेख गौरव के साथ किया ही है, प्रबोध चन्द्रोदय [1] में भी कर्ण की सेना की भीषणता का वर्णन है - "सकल भूपाल-कुल रूपी प्रलयाग्नि के लिए रुद्र के सदृश चेदिपति के द्वारा"। इसके अतिरिक्त कर्ण अपनी महानता के कारण १५ वीं शती तक स्मृत होता रहा।[2]

विद्वानों का आश्रय -

बिल्हण कवि - कर्ण विद्वानों का आदर करता था। बल्लण, विद्यापति, कर्पूर, नाचिराज[3] कर्ण के सभापंडित कहे गये हैं। उदयपुर से प्राप्त राणा कुंभा के लेख में कर्ण का नाम भोज के साथ प्रयुक्त हुआ है।[4] इससे भी प्रतीत होता है कि कर्ण परमार भोज की भाँति सहृदय था। बिल्हण कवि मथुरा, कान्यकुब्ज और प्रयाग होता हुआ वाराणसी पहुँचा।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि या तो बनारस में या पश्चिम की ओर पीछे लौटते हुए उसने डाहल कर्ण से भेंट की,[6] जिसका उल्लेख उसने निम्नलिखित ढंग से किया है -

"कालंजर पर्वत के राजा के काल जिस (कर्ण) ने अभियान (युद्ध सम्बन्धी) में तुखार (काबुली) अश्वों के खुरों से उत्पन्न ध्वनियों से पृथ्वी को राजा विहीन कर डाला था (अर्थात् उसके अश्वों की टाप-ध्वनि को सुनते ही राजा लोग राज्य छोड़ कर भाग जाते थे), डाहल देश के राजा उस कर्ण ने भी जिसके

---

१. सकलभूपालकुलप्रलयकालाग्निरुद्रेण चेदिपतिना ...... ।

—प्र० चन्द्रो०, पृ० १६, १८६८ ई०

२. श्री कुम्भे कलमस्तु कर्णमहिमा भोजे च कीदृक्जयः ।।

उदयपुर से प्राप्त महाराणा कुंभा का लेख, भवनगर अभिलेख — पृ० १२०

यहाँ पर राजा 'भोज' के साथ 'कर्ण' का प्रयोग होने से श्री कमलानन्द घोष ने राजा कर्ण को कलचुरि कर्ण ही माना है।

— इं० कल्चर, भाग ७, पृ० २०

३. प्रबन्ध चिन्ता०, मेरुतुंग कृत, पृ० ५०, सिंघी जैन ग्रन्था०, माला १, १९३३ ई० में है (कर्णोऽपि विद्यापतेः) कोई विद्यापति कवि कर्ण का सभा-पंडित वल्लभदेव कृत, सुभाषितावली, बम्बई १८८६ ई०, श्लोक १८६ में कहा गया है और कवीन्द्रवचनसमुच्चय में उनके २ श्लोक पृ- १०० पर सम्मलित हैं।

४. भवनगर, अभिलेख, पृ० १२०

५. विक्रमा० १८।८७-९२

६. विक्रमा०, ब्यूलर, भूमिका, पृ० १८, १८७५

(बिल्हण कवि के आगमन के) समाचार को पाकर कानों के लिए अमृत तुल्य (काव्य) रस समूह के स्वाद को अन्तस्तल में विस्तार किया (अर्थात् प्रसन्न हुआ)[1]

इस श्लोक में बिल्हण ने अव्यक्त रूप से आत्मश्लाघा की है, क्योंकि 'अपि' शब्द के प्रयोग से यह भाव निकलता है कि शूर होता हुआ भी कर्ण प्रसिद्ध कवि बिल्हण के काव्य-रस को पाने के लिए लालायित हो गया। वाराणसी तक कर्ण के राज्य का विस्तार था,[2] अत: बिल्हण जब उसकी राज्य सीमा में पहुंचा होगा, तो संभव है उसने बिल्हण को अपनी सभा में आमंत्रित किया हो या उस यशस्वी से मिलने बिल्हण स्वयं ही गया हो। ऐसा प्रतीत होता है कि कर्ण-सभा में उचित सम्मान प्राप्त करने के कारण बिल्हण, वहां पर्याप्त समय तक ठहरा था और वहीं पर उसने, जैसा बूलर[3] महोदय का अनुमान है, रामचरित पर कोई काव्य लिखा था।

" जिस रावण का दाहिना हाथ, कैलाश पर्वत (के हल्के होने से) से असंतुष्ट होकर, उसको वाम हस्त में रख कर, क्षण भर के लिए हिमालय की ओर अभिमुख हुआ था (अर्थात् उसने यह सोचा कि कैलास तो हल्का है क्यों न हिमालय को उठाया जाय) , उस (रावण) को मारने वाले सीतापति रामचन्द्र की राजधानी अयोध्या को उस बिल्हण कवि ने सरस उक्तियों के प्रवाह से शीतल कर दिया (अर्थात् अयोध्या से सम्बद्ध कविताएं बनाईं) ।"[4]

---

१. कालः कालंजरगिरिपतेर्यः प्रयाणो धरित्रीं
तुक्खाराणां खुरपुटैः क्ष्मापशून्या चकार ।
श्रीडाहालक्षितिपरिवृढः सोऽपि यं प्राप्त वृत्तं
कर्णः कर्णामृतरसभरास्वादमन्तस्ततान ।। ६३ ।। —विक्रमा० १८।६३

२. ७९३ कलचुरी संवत् (१०४२ ई०) का कर्ण का बनारस-दान-पत्र , का०इ०इ०, भाग ४, प्लेट सं० ४८

३. बूलर-भूमिका, पृ० १८

४. यस्यातृप्तः स्फटिकगिरिणा तं विनिक्षिप्य वामे
प्रालेयाद्रेः क्षणमभिमुखो दक्षिणः पाणिरासीत् ।
तं पौलस्त्यं विदलितवतः सूक्तिनिःस्यन्दशीतां
सीताभर्तुर्व्यरचयदसौ राजधानीमयोध्याम् ।।

यद्यपि राम के जीवन से सम्बद्ध अयोध्या नगरी की प्रशंसा के कुछ संकेत विक्रमांकदेव चरित[१] में मिलते हैं, तथापि सारंगधरपद्धति और जल्हणकृत सूक्ति - मुक्तावली में भी राम से सम्बद्ध कुछ फुटकर श्लोक बिल्हण के नाम से संगृहीत हैं।[२]

कर्ण की सभा में ही बिल्हण ने गंगाधर नाम के किसी विद्वान् को शास्त्रार्थ में परास्त किया था -" डाहल नरेश कर्ण के राजभवन में गंगाधर नामक पंडित ("प्रतिभटकवे:" से प्रतीत होता है कि गंगाधर भी कवि था) को परास्त कर के, पूर्व दिशा के प्रदेशों में ऐरावत के पद जल से मतवाले होकर भटकने वाले भौंरों के समूह के गुंजन को तिरस्कृत करके (अर्थात् पूर्व प्रदेशवासी पण्डितों को परास्त करके) सैलवाह में ही प्रतिपक्षी पण्डितों को संत्रस्त करके सैलवाह (हार) देने वाले उस बिल्हण कवि की कथाओं ने इन्द्र के कानों में भी संचरण किया (अर्थात् इन्द्रलोक तक उसका यश फैला) -ऐसा मैं अनुमान करता हूं।"[३]

बिल्हण ने गंगाधर को पराजित करने की जिस घटना का उल्लेख किया है, वह स्वयं प्रमाण है। इसका उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं उपलब्ध होता।

'क्रीडाक्रान्तप्रतिभटकवे: पूर्वदिक्कोटरेषु' इस अंश से यह संकेत मिलता है कि गंगाधर [illegible] का, सम्भवत: बनारस के निकट, कहीं का, निवासी था।

इस गंगाधर के सम्बन्ध में अभी तक कोई [illegible] नहीं किया गया है। यद्यपि यह नाम कई अभिलेखों में उपलब्ध है तथापि उनमें परस्पर संगति स्थापित करना अत्यन्त कठिन है। उसके उल्लेख इस प्रकार मिलते हैं -

---

१. विक्रमा० १।६२-६३ और ६।८८-९१

२. जल्हण कृत सूक्तिमुक्तावली -१८,१६, श्लोक, पृ० ३१४, ७,८, पृ० ३३१, ६पृ० ३२७, २२, पृ० ३२१, ६ पृ० ३१४, और 'सारंगधरपद्धति-३१, पृ० ६०६, ३ पृ० - ६१४, सम्पादक पीटर्सन सन् १८८८ ई०।

३. नीत्वा गंगाधरमधरतां डाहलाधीशधाम्नि
क्रीडाक्रान्तप्रतिभटकवे: पूर्वदिक्कोटरेषु।
निर्जित्यैरावतमदजलभ्रान्तभृंगालिनादान्
सुत्राम्णोऽपि श्रवसि लुठतं यस्य शैलै कथाभि: ।।
-विक्रमा० १८।९५

रत्नपुर के कलचुरि नरेश जाजल्लदेव द्वितीय के मल्लार लेख[१] (११६७-६८ई०) में लिखा है कि कृष्णात्रेय- गोत्री, आत्रेय आर्च्चनानस् और स्यावास प्रवर वाला पृथ्वीधर नामक ब्राह्मण मध्यप्रदेश के कुम्भटी नाम के ग्राम में रहता था। उसका पुत्र कालान्तर में 'तुम्माण' प्रदेश गया, जहाँ रत्नदेव द्वितीय (११२७-११२६) ने उसे कौसाम्बी ग्राम प्रदान करके सम्मानित किया।

पृथ्वीदेव द्वितीय के कौनी लेख[२] (११४८ ई०) में पुरुषोत्तम के चार पुत्रों -मधुसूदन, लक्ष्मीधर, यशोधर और गंगाधर का उल्लेख है। ये समर्थ राजनीतिज्ञ थे। सम्भवत: पुरुषोत्तम वृद्ध था।

खरोद लेख[३] (११८१-८२ ई०) का दूसरा भाग रत्नदेव तृतीय के मुख्य मंत्री गंगाधर की वंशतालिका से प्रारम्भ होता है।

अन्यत्र ब्राह्मण गंगाधर दान लेने वाले[४] और गंगाधर लेख के लेखक[५] (१२११-१२ ई०) के रूप में उल्लिखित हैं।

कदम्ब लेखों[६] में (११५० और ११८६-८७ ई० के) भी गंगाधर के उल्लेख मिलते हैं।

मल्लार लेख में उल्लिखित गंगाधर खैरहालेख[७] के गंगाधर से गोत्र, प्रवर व पिता के नाम भिन्न होने से एक नहीं प्रतीत होते। शेष लेखों में उल्लिखित गंगाधर काल की दृष्टि से बाद के होने से सर्वथा भिन्न हैं।

यद्यपि कर्ण की सभा में गंगाधर के होने का उल्लेख [illegible] ने किया है, तथापि कर्ण के लेख उसके सम्बन्ध में बिल्कुल मौन हैं। उसके पुत्र यश:कर्ण

---

१. का०इ०इ०, भाग ४, सं० ९७, श्लोक ६,१०,१३, पृ० ५१४
२. वही, सं० ६०, श्लोक २७, पृ० ४६६, ४६६
३. वही, सं० १००, श्लोक २०
४. वही, पृ० २६०,२६६
५. वही, सं० ७२, पृ० ३७०,३७४
६. ज०बा०र०सो०-भाग ६, पृ० २४५ और २७२

   जयकेशी तृतीय और उसके चाचा शिवचित्त की रानी के समय के होने से ये दोनों गंगाधर एकही प्रतीत होते हैं।
७. का०इ०इ०, भाग ४, सं० ५६, पृ० २६०

के बनारस से प्राप्त सैरहा लेख[१] (१०७२-७३ ई०) में गंगाधरशर्मा नामक ब्राह्मण को दान दिये जाने का उल्लेख है । यह `च्छीतपट्ट` का पुत्र और सीआ का पौत्र था । यह कण्व गोत्र का था और इसके तीन प्रवर आप्नवान , जामदग्न्य और और्व[२] थे । वह ऋग्वेद का छात्र था । काल-दृष्टि से यही बिल्हण का गंगाधर प्रतीत होता है ।

समय की दृष्टि से संगत प्रतीत होने वाले अन्य उल्लेख भी मिलते हैं । ग्वालियर से प्राप्त कच्छपघात महीपाल के सासबहू लेख,[३] (१०९३ ई०) में अठारह विप्रों की सूची में `गंगाधर` का नामोल्लेख है । इसी प्रकार चन्द्रदेव गाहडवाल के चन्द्रावती ताम्रपत्र[४] (१०९९ ई०) में लिखा है कि गंगाधर के पुत्र माधव ने श्रीचन्द्रमाधव की मूर्ति का निर्माण किया था ।

बिल्हण राजा कलश के शासन-काल में काश्मीर से चला था ।[५] ब्यूलर ने उचित ही काश्मीर से बिल्हण का प्रस्थान-काल १०६२- १०६५ ई० के बीच माना है ।[६] बिल्हण काश्मीर से चल कर मथुरा, कान्यकुब्ज और प्रयाग होता हुआ वाराणसी पहुंचा।[७] ऐसा प्रतीत होता है कि या तो बनारस में या पश्चिम की ओर पीछे लौटते समय उसने डाहलकर्ण से भेंट की ।[८] कर्ण के लेखों में उपलब्ध सम्भवत: बिल्हण या गंगाधर का उल्लेख न मिलने का कारण यही प्रतीत होता है कि ये कवि उसकी सभा में कुछ ही वर्ष रहे । इसके अतिरिक्त कर्ण का तिथियुक्त अंतिम रीवां लेख १०६१ ई० का है जब ये कवि उसके आश्रय

---

१. का०ई०इ०, भाग ४, सं० ५६, पृ० २६०
२. वही , पा० टि० ४
३. इ०ए०—भाग १४, पृ० ४०
४. ए०ई०, भाग १४, सं०, १५, पृ० १९९
५. राज० —७।९३६—३८
६. ब्यूलर, भूमिका, पृ० २३
७. विक्रमा०, १८।८७—९२
८. वही, भूमिका, पृ० १८ और विक्रमा० १८।९३

में नहीं थे ।[१] बिल्हण कर्ण की मृत्यु के बाद या उससे कुछ पूर्व ही दक्षिण भारत की यात्रा पर चला गया होगा और गंगाधर यश:कर्ण[२] (१०७३ ई०) की सभा में ठहर गया होगा । सासबहू लेख[३] से प्रतीत होता है कि गंगाधर कुछ वर्ष यश:कर्ण के आश्रय में व्यतीत कर १०९३ ई० के पूर्व ग्वालियर नरेश कच्छपघात महीपाल के दरबार में पहुँचा और वहाँ दान का एक भाग प्राप्त किया ।

तदनन्तर सम्भवत: वह कान्यकुब्जाधिपति चन्द्रदेव गाहड़वाल के दरबार में भी कुछ समय तक रहा, क्योंकि १०९९ ई० के चन्द्रावती ताम्रपत्र[४] में किसी गंगाधर के पुत्र माधव द्वारा `श्रीचन्द्रमाधव` की मूर्ति के निर्माण का उल्लेख है ।

इसके अतिरिक्त गोविन्दपुर अभिलेख (गया जिले में नवादा से प्राप्त ११३७–३८ ई० का)[५] से ज्ञात होता है कि शाकद्वीपीय मग ब्राह्मणों को शाम्ब (कृष्ण और जाम्बवन्ती का पुत्र) भारत में लाया था । मनोरथ के पुत्र और दामोदर के पौत्र गंगाधर और महीधर हुए । गंगाधर रुद्रमान नरेश का मन्त्री व मित्र था ।[६] प्रो० एफ० [illegible] के अनुसार मान-नरेश वर्णमान और रुद्रमान मगध में ११ वीं सदी के अन्त और १२ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में शासन करते रहे होंगे ।[७]

[illegible] शिलालेख के रचयिता कवि गंगाधर का पितामह दामोदर और पिता मनोरथ था ।[८] अत: यह प्रस्तुत गंगाधर से भिन्न प्रतीत होता है । यदि किसी तरह च्छीतपट्ट की मनोरथ और सीआ की दामोदर के साथ एकता स्थापित

---

१. का०इ०इ०, भाग ४, सं० ५३, पृ० २७८

२. वही, सं० ५६, पृ० २९०

३. इ०ए०, भाग १५, पृ० ४०

४. ए०इ०, भाग १४, सं० १५, पृ० १९९

५. ए०इ०, भाग , २, ५ सं० –२६, पृ० ३३०–३४२

६. वही, श्लोक, १, २६

७. वही, पृ० ३३२

८. वही, श्लोक ५-२२

की जा सके,[१] तो यह कहा जा सकता है कि गंगाधर कान्यकुब्ज से मगध चला गया और अपना शेष, जीवन वहीं व्यतीत किया ।

यह लेख ११३७-३८ ई० का है । यदि कर्ण (१०४२-१०७३ ई०) के लगभग में गंगाधर २५ वर्ष का रहा हो - क्योंकि इस आयु तक उसने विद्यालयीय शिक्षा समाप्त कर ली होगी --तो (११३७-१०६८= ६६ + २५ = ९४वर्ष) इस लेख के समय उसकी आयु ९४ वर्ष की रही होगी, जो असंभव नहीं प्रतीत होती ।

गंगाधर के नाम से सुभाषित ग्रन्थों में निम्नलिखित श्लोक मिलते हैं :-

किसलयपद्मास्तरणो निरस्तं
तत्पाणिपद्मद्वयमायताक्ष्या: ।
व्यक्तिं ययौ संततविस्तृतेन
सकज्जलेनाश्रुजलेन सिक्तम् ।। १०७३ ।।[२]

अर्थात् उस दीर्घनेत्रवाली के दोनों कर कमल , विकसित होते हुए कमल कमल की शय्या पर निरन्तर विस्तृत कज्जल-रंजित अश्रुओं के जल से आर्द्र स्पष्ट दिखाई दिये । सूक्ति कर्णामृत में निम्नलिखित श्लोक उपलब्ध होते हैं —

पंचेषोरिषु[illegible]चकोराङ्गना-
चक्षुष्यश्वतुरब्धिताण्डवगुरुश्चौर: कृशाङ्गीरुचाम् ।
सोयं सान्द्रतमिस्रसिन्धुरघटाकण्ठीरव: कैरव-
श्रीजीवातु[illegible]सुधासत्री दिवि द्योतते ।।

अर्थात् कामदेव के बाणों की नोक पर शासन चलाने वाला, चकोरी के नेत्र रूप चारों समुद्र में ताण्डव-नृत्य करने में कुशल , कृशाङ्गयों की आभा को चुराने वाला यह वही घनान्धकार रूपी हाथियों के समूह के लिए सिंहरूप , कैरव की शोभा को जीवित करने वाले देव-समूह को अमृत (रूप अन्नादि) दानकर्ता स्वर्ग में सुशोभित है ।

---

१. इन नामों के अर्थहीन होने से च्छीतपद और छीआ के अन्य नामों की सम्भावना भी हो सकती है ।

२. सुभाषितावलि: , पीटर पीटर्सन द्वारा संपा०, १८८६ ई०

पदोपान्ते कान्ते लुठति तमनादृत्य भवना-
द्रुतं निष्क्रामन्त्या किमपि न मयालोचितमभूत् ।
अये श्रोणिभारस्तनभर युवा निर्भरगुरू
भवद्भ्यामन्यत्र क्षणमपि विलम्बो न विहित: ।। [१]

अर्थात् प्रियतम के चरणोपान्त पर गिरने पर उसका तिरस्कार कर शीघ्रतापूर्वक घर से बाहर निकलती हुई मैं कुछ भी निर्णय नहीं कर सकी । हे पृथुल नितंब तथा पीन पयोधरा आश्चर्य है तुमने क्षणभर भी विलम्ब न किया ।

प्रो० एफ० कीलहार्न[2] इन श्लोकों को गोविन्दपुर शिलालेख के कवि गंगाधर का मानते हैं, और दूसरी ओर पीटर्सन[3] महोदय इनका सम्बन्ध बिल्हण द्वारा उल्लिखित गंगाधर के साथ जोड़ते हैं । प्राप्त प्रमाणों के आधार पर इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि ये श्लोक किस गंगाधर के हैं ।

स्वयंवर में वर्णित चेदिराज -

चन्द्रलेखा-स्वयंवर १०७६ ई० के बाद हुआ था । इस समय तक कलचुरी कर्ण का उत्तराधिकार उसके पुत्र यश: कर्ण (१०७३-११२३ ई०) ने ले लिया था ।[४] अत: यह नरेश यश:कर्ण रहा होगा । उसके सम्बन्ध में विल्हण की उक्ति इस प्रकार है -" युद्ध में साहसलांछन (साहसी) जिस (चेदि) राजा की प्रत्यंचा की टंकार छिद्रों में प्रवेश करके पाताल में रहने वाले लोगों को इस (चेदि राजा) के पराक्रम की बात क्षण भर में ही सुना देता था ।

"हे सुन्दरी (चन्द्रलेखा) युद्ध में बिना सिर के शत्रुओं के धड़ों को नचाने वाला और सहस्रों अभिमानी राजाओं से सेवित , इस प्रसिद्ध चेदिराज को देखो। तुम्हारी दृष्टि कामदेव की पताका हो (अर्थात् तुम्हारे दृष्टिपात से वह कामासक्त हो जाए)"[५]

---

१. सदुक्तिकर्णामृत, श्री सुरेशचन्द्र बैनर्जी, फर्मा के०एल० मुखोपाध्याय,कलकत्ता, १९६५ ई०, क्रमसंख्या, ३७२, ६७३ और सुभाषितावलि:, भूमिका, पृ० ३२ पर भी उद्धृत ।

२. ए०इ०,भाग २, पृ० ३३३

३. सुभाषितालि -वल्लभदेवकृत-पीटर्सन, भूमिका, पृ० ३२

४. मीराशी, का०इ०इ०, भाग ४, खण्ड, १, भूमिका, पृ० १०४

५. (अगले पृष्ठ पर देखें)

इन श्लोकों में रण-बांकुरे चेदिराज का वर्णन है । लक्ष्मीकर्ण का उत्तराधिकारी यश:कर्ण भी रण-प्रिय था । उसने कई युद्ध किये थे । उसका खैरहा ताम्रपत्र उसे आन्ध्रविजय का श्रेय देता है —

" सहज ही आन्ध्र-नरेश को उखाड़ता हुआ, जिसके हाथों के सुन्दर संचालन अप्रतिहत थे ऐसे उस (यश:कर्ण) ने अनेक आभूषणों के द्वारा भगवान् भीमेश्वर की अभ्यर्चना की — जिसके निकट नर्तन करती हुई लहर रूपी भ्रू-लताओं से युक्त गोदावरी नदी उन्मत्त हंसों के कलनादों के कारण मधुर अपनी जलधाराओं के सप्त स्वरों (संगीत के सात स्वर) से उसका यशोगान करती है ।"[1] यह आन्ध्र नरेश सम्भवत: विनयादित्य सप्तम था , जिसने १०६१ से १०७६ ई० तक राज्य किया ।[2] इसके अतिरिक्त यश:कर्ण ने वेंगि पर भी आक्रमण किया था, जब १०७२-७३ में कुलोत्तुंग चोल चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ के साथ संघर्षरत था ।[3] संक्षेप में यदि कहा जाय तो यश:कर्ण का पराक्रम ही था, जो वह कलोत्तुंग चोल, चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ , और प्रतापी कीर्तिवर्मन् चन्देल जैसे प्रबल शत्रुओं के रहते अपने साम्राज्य को सुरक्षित रख सका ।

अत: चन्द्रलेखा-स्वयंवर के प्रसंग में विल्हण ने सम्भवत: यश:कर्ण का ही संकेत दिया है ।

पिछले पृष्ठ का शेष —

५. यस्याहवे सा[illegible]स्य मौर्वीरव: प्राप्य बिलोदराणि ।
 क्षणेन पातालतल[illegible] शौण्डीर्यवार्ता कथयाम्बभूव ।।
 सोऽयं रणे नर्तयिता कबन्धान् मदान्धभूपालसह[illegible] ।
 विलोक्यतां सुन्दरि चेदिराजस्तवास्तु दृष्टि: स्मरवैजयन्ती चेव ।। —विक्रमा० ६।६४-५

---

१. आन्ध्राधीसमरन्ध्रदोर्व्विलसितं स्वच्छन्द मु (च्छि)न्दता
 येनाभ्यर्च्यत भूरिभि: स भग(वा)न्भीमेस(श्व) रोभूष(ष)णै: (णै:) ।
 यस्याभ्यर्णगिता प्रनृत्य लहरीभ्रूवल्लिगोदावरी ।
 गायत्युन्मदहंसनादमधुरै: णो(स्रो)त(:) स्वरै: सप्तभि: ।। २३।।
 —मीराशी का०इ०इ०, भाग ४, पृ० २६०, लेख सं० ५६,५५६

२. वही, पृ० - १०२ १६५५ ई०

३. हिस्ट्री आफ साउथ इंडिया —नीलकण्ठ शास्त्री, पृ० १८१,१६५५ ई०

मालवा—

मालवा का परमार राजवंश अपने प्रताप और साहित्य के संरक्षण के लिए प्रसिद्ध है। नर्मदा नदी के उत्तर में स्थित इस प्रदेश का प्राचीन नाम अवन्ति था और इसकी राजधानी उज्जैन थी। परमार राजवंश की स्थापना उपेन्द्र कृष्णराज ने ६ वीं सदी के प्रारम्भ में की थी। उपेन्द्र सम्भवत: आबू पर्वत के निकट चन्द्रावती और अचलगढ़ से आया था, जहां यह जाति बहुत समय से बसी हुई थी।[१]

बिल्हण ने धारा परमार वंशी भोज से पूर्व केवल एक ही नरेश का उल्लेख किया है —वह भी तुलना के प्रसंग में। उसने लिखा है कि कवियों को सहर्ष सुवर्ण और कुंजर दान करने वाले सम्राट भोज या मुंज की दान-कीर्ति से भी विक्रमांकदेवके दान-कृत्य अधिक कवि रंजन करतेथे[२]। भोज के दान-पत्रों में क्रमश: सीयकदेव,वाक्पतिराज(मुंज) सिन्धुराज और भोजराज का मालवाराज्य का उत्तराधिकारी होना उल्लिखित है[३]। अनेक साहित्य साक्ष्य इस बात में एक

---

१. दी अर्ली हिस्ट्री आव इण्डिया, पृ० ४१०, आक्सफोर्ड, १६२४,स्मिथ कृत, परमारों की उत्पत्ति अग्निकुण्ड से हुई कही जाती है।
दृष्टव्य—नवसाहसांकचरित ११।४६,६४-६६,७१, एपी०इन्डिका, भाग १, पृ० २३४, श्लोक ५-७, वही भाग २, पृ० १८३-४, श्लोक ८-१५ , और भविष्य पुराण, प्रतिसर्ग पर्व, खण्ड, १, अ० ६, पृ० २५८।४५-४७

२. विक्रमां०, ३।७१, ६।१४४

३. राजा भोज , हिन्दुस्तानी एकेडेमी, १६३२ ई०, भोज का दान पत्र, पृ० ११०,११६ और परिशिष्ट १ और ८ पृष्ठ।
परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीसीयकदेवपादा—३(पंक्ति) नुध्यात, परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीवाक्पतिराजेदव पादानुध्यात् , परमपट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीसिन्धुराजदेव पदानुध्यात, ५ परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीभोजदेव...... ६ (पृ० ११०)

मत है कि मुंज और सिन्धुराज भाई भाई थे और भोज मुंज का भतीजा था। भोज के दान पत्रों में वाक्यतिराज के बाद सिन्धुराज का नाम आता है अत: मुंज ही राजा बना। सम्भवत: वह नि:सन्तान था इसलिए उसने अपने भतीजे भोज को ही अपना युवराज बनाया। सीयकदेव से लेकर राजा भोज के समय तक रहने वाले धनपाल की तिलकमंजरी से यह बात समर्थित है।[1] तदुपरान्त जब मुंज चालुक्यनरेश तैलप से युद्ध करने गया तो भोज के बालक होने के कारण अपने अनुज सिन्धुराज को राज्यभार सौंपा क्योंकि मुंज और सिन्धुराज सभासद पद्मगुप्त इस घटना का स्पष्ट उल्लेख करता है।[2] अन्त में युद्ध में तैल प (द्वितीय) के द्वारा मुंज के दिवंगत होने पर सिन्धुराज शासक बना। परन्तु ६६७ ई० और १०१० ई० के बीच वह गुजरात नरेश चामुण्डराज के साथ हुए युद्ध में मारा गया और राजश्री ने भोजराज को अपना स्वामी बनाया।[3]

परमार वंश का सातवां नरेश मुंज (वाक्यतिराज) अपने ज्ञान और कवियों का आश्रय देने के लिए प्रसिद्ध था। यह बहुत ही प्रतापी नरेश था। इसको अनेक विजयों के करने का श्रेय था। बिल्हण ने मुंज को कवियों को सुवर्ण और हाथी दान देने वाला बताया है। जिसकी पुष्टि उसके काव्य प्रेम और कवियों को आश्रय देने से होती है। 'पाइअलच्छी नाममाला' के रचयिता धनपाल 'नवसाहसांकचरित' के कर्ता पद्मगुप्त 'परिमल' दशरूपक पर 'अवलोक टीका' लिखने वाले धनिक 'पिंगल छन्द' सूत्र पर 'मृत संजीवनी टीका' करने वाले हलायुध और और अमितगति 'सुभाषित रत्नसंदोह' के रचयिता इसी नरेश के आश्रय में रहते थे। मुंज स्वयं भी कवि था उसके नाम से कुछ श्लोक अन्य कवियों के ग्रन्थों में

---

१. आकीर्णाङ्घ्रितल: सरोजकलशच्छत्रादिभिर्लाञ्छनै
स्तस्याजायत म[illegible]: श्रीभोज इत्यात्मज: ।।
प्रीत्या योग्य इति प्रतापवसति : ख्यातेन मुंजाख्यया ।
य: स्वे वाक्यतिराजभूमिपतिना राज्येभिषिक्त: स्वयम् ।। ४३ ।।

२. पुराकालक्रमान्तेन प्रस्थितेनाम्बिकापते:
मौर्वीकिणाङ्कस्य पृथ्वीदोष्णि निवेशिता ।। --नवसाहसांक०, ११।६८

३. राजा भोज हिन्दु० एके०, १६३२ विश्वेश्वरनाथ रेणु, पृ० ३१-३२

उद्धृत मिलते हैं ।[१]

'प्रबन्धचिन्तामणि' में फांसी के पूर्व इष्टदेव का स्मरण करने का आदेश मिलने पर मुंज ने स्वयं कहा कि मुंज के दिवंगत होने से सरस्वती असहाय हो गई है ।[२] राजा मुंज का समस्त जीवन पड़ोसी नरेशों के साथ युद्ध करने में बीता ।[३] फिर भी जो कुछ साहित्य के प्रति उसका अनुराग था वह सराहनीय था । यही कारण है कि बिल्हण येन केन प्रकारेण मुंज का नाम लेना न भूले --जबकि राजा मुंज उसके वर्ण्यविषय की परिधि से बाहर था ।

सम्राट भोज और कल्याणी के चालुक्य –

प्रबन्धचिन्तामणि में मेरुतुंग ने कथा दी है जिसमें गुजरात नरेश कर्ण के द्वारा भोज को अवृष्टि के कारण सङ्कटापन्न गुजरात पर आक्रमण करने से विरत करने के लिए दामर नाम के सान्धिविग्रहिक को भेजने का उल्लेख है । इस दामर ने भोज के राज्य में पहुंच कर, राजा के सामने एक नाटक का प्रबन्ध किया जिसमें तिलङ्गदेश-नरेश तैलिप के द्वारा मुंज के शूली पर चढ़ाये जाने की घटना का मार्मिक प्रदर्शन था ।[४] दूसरी ओर भोज चरित में भोज द्वारा तैलप को बड़े अपमानित ढंग से बन्दी बनाने और बध किये जाने का उल्लेख है ।[५]

इन सङ्केतों में सत्यांश अवश्य है । अत: भोज का किसी उत्तरवर्ती चालुक्य

---

१. राजा भोज - रेउ कृत, १६३२, पृ० २१,२२

२. लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीरश्रीर्वीरवेश्मनि ।
गते मुंजे यश: पुंजे निरालम्बा सरस्वती ।। प्र०चि० , पृ० २५, जिन विजय मुनि

३. दी अर्ली हिस्ट्री आव इन्डिया –वी०ए०, स्मिथ, पृ० ४१०, १६२४ ई० आक्सफोर्ड

४. प्र०चि० सम्पा, जिनविजय मुनि , पृ० ३०,३१, १६३३ ई०
तिलंगदेश नरेश तैलिप–कल्याणी का चालुक्य तैलप द्वितीय०, सी०एच० टानी कृत अनुवाद १०६१ ई० पा०टि० पृ० ३३

५. हिस्ट्री आफ परमार डायनेस्टी, गांगुली , पृ० ६०, १६३३ ई०

नरेश से युद्ध अवश्य हुआ होगा । विचारणीय है कि यह चालुक्य नरेश तैलप था कि कोई दूसरा ? इस विषय में बहुत मतभेद है ।

श्री रा०गो० भण्डारकर ने कई ऐतिहासिक विरोधों को दिखाते हुए लिखा है कि उपरिलिखित कथा में भोज द्वारा तैलप का बध नहीं हुआ अपितु तैलप के पौत्र विक्रमादित्य पंचम की हत्या हुई होगी ।[1] दूसरी ओर महा० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा भोज के उपरोक्त चालुक्य संघर्ष को जयसिंह जगदेक मल्ल के साथ हुआ मानते हैं,[2] जो विक्रमादित्य पंचम का उत्तराधिकारी था । ओझा जी का यह भी मत है कि भोज और जयसिंह संघर्ष में जयसिंह ने रणक्षेत्र में वीरगति पाई । इसी से बिल्हण ने उसे इन्द्र के द्वारा [illegible] पारिजात माला प्राप्त करने वाला कहा है ।

हम किसी भी दशा में प्रबन्ध चिन्तामणि और भोज चरित में वर्णित भोज और तैलप युद्ध को तथा कथित रूप में स्वीकार नहीं कर सकते । भोज से पूर्व ६६७ ई० में ही तैलप का अन्त हो चुका था । अत: उपरोक्त संकेतों में केवल एक ही सत्यांश स्वीकृत हो सकता है कि भोज का पाला चाहे विक्रमादित्य से पड़ा हो या जयसिंह से । यह भी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि रणक्षेत्र में चालुक्य नरेश की मृत्यु हुई थी, क्योंकि ये बातें अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से समर्थित नहीं होतीं ।

विक्रमादित्य पंचम ने १०१४ ई० तक राज्य किया और यदि भोज का राज्यारोहण १०१० ई० में हुआ होता तो भोज को सैनिक तैयारी के लिए भी कुछ समय की आवश्यकता थी । अत: कुछ वर्षों तक अपनी राज्य व्यवस्था ठीक करके और सैन्य संगठन करके ही उसने प्रतापी कल्याणी के चालुक्यों की ओर सिर उठाया होगा । फिर उसके अपने ही पिता सिन्धुराज का हत्यारा गुजरात

---

१. अर्ली हिस्ट्री आफ डैक्कन, पृ० ११८, टि० ५४ ।
इसी का समर्थन ए०वी० वेंकटरमण ऐय्यर ने भी किया है ।
ई० ए०, पृ० ४८, पृ - ११८, टि - ५४

२. ओझा, हिस्ट्री आफ सोलंकीज़, जि० १, पृ० ८७, अजमेर

नरेश उसके प्रतिशोध का प्रथम शिकार था । अत: बिना किसी छेड़छाड़ के भोज कल्याणी की ओर पहले उन्मुख नहीं हो सकता था । ऐसी छेड़ छाड़ का कोई संकेत हमें विक्रमादित्य पंचम के समय में नहीं मिलता । फिर विक्रमादित्य पंचम कोई प्रतापी नरेश न था जो भोज को किसी तरह ललकारता । इसके बाद लगभग एक वर्ष अय्यणा द्वितीय ने राज्य किया । तदुपरान्त जयसिंह द्वितीय गद्दी पर आया । यह नरेश गुजरात के भीम (१०२२-६४ ई०) का समकालीन था । जिसके शासन काल में ही भोज के इस आक्रमण का उल्लेख है । इसने १०१५ ई० से १०४२ ई० तक शासन किया अत: निश्चित रूप से यही राजा भोज का कोपभाजन बना होगा । ओझा जी की इस धारणा से गांगुली महोदय भी सहमत हैं ।[१] कर्णाट के चालुक्यों और धारा के परमारों के इस संघर्ष का समर्थन समकालीन विवरणों से भी होता है ।

भोज और जयसिंह जगदेकमल्ल –

भोज और जयसिंह के बीच हुए युद्ध के पीछे सम्भवत: तैलप द्वारा मुंज की हत्या के कारण हुआ वंशानुगत वैर था । अपनी दक्षिण विजयों में भोज ने कोंकण पर आक्रमण किया था, जिस विजय के उपलक्ष्य में उसने (१०२० ई०) वि० सं० १०७६ में दानपत्र लिखवाया था ।[२] हमें ज्ञात है कि कोंकण तैलप के समय में ही चालुक्यों द्वारा विजित हो चुका था ।[३] इससे-एक लेख[४] में 'जयसिंह' 'कोंकणधूमकेतु' (कोंकण के लिए पुच्छलतारा) कहा गया है । इससे भी यह प्रतीत होता है कि इसी विजय यात्रा में उसकी मुठभेड़ जयसिंह के साथ हुई होगी । भोज ने त्रिपुरी के कलचुरी गांगेयदेव और चोल नरेश राजेन्द्र प्रथम के साथ क्षणिक मैत्री करके कर्णाट पर एक साथ आक्रमण किया होगा (कुलेनूर अभिलेख)

---

१. हिस्ट्री आफ परमार डायनेस्टी – डी०सी० गांगुली, पृ० ६१, १९३३

२. राजा भोज, विश्वेश्वरनाथ रेउ, १९३२, पृ० १११, ११२
   (यथाऽस्माभि: कोंकणविजयपर्वणि स्नात्वा –) आदि पंक्ति १०)

३. एपी०इं०, जिल्द, २, पृ० ४७

४. वही, जिल्द १६, पृ० ७५, और आगे

और संभवत: भोज को भी इस युद्ध में पहले कुछ सफलताएं मिलीं थीं।[१] गांगुली महोदय का यह अनुमान चिन्त्य है क्योंकि तीन भिन्न दिशाओं में स्थित कलचुरि परमार और चोलों में परस्पर मैत्री कैसे हुई जबकि तीनों राज्य जयसिंह के साथ स्वतंत्र मोर्चा लेने में समर्थ थे। कल्वन लेख[२] में तीनों राज्यों को पराजित करने का श्रेय जयसिंह को दिया गया है न कि इनके सम्मिलित जत्थे को। १०१६ ई० के लेख में[३] मालवा के सम्मिलित सैन्य में इस जत्थे का कहीं उल्लेख नहीं है। इस प्रकार कई राज्यों के नाम साथ साथ उल्लिखित होने मात्र से उनके संघ की कल्पना की जाने लगेगी, तो इतिहास में संघों की भरमार हो जायेगी।

कल्वन शिलालेख और उदयपुर प्रशस्ति में भोज को कर्णाट राज्य पर विजय प्राप्त करने वाला कहा गया है।[४] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिणी राज्यों पर अधिकार करने का उसका प्रयत्न पराजय में परिणत हो गया। जयसिंह के शासन काल के १०१६ ई० के एक शिलालेख में उसको भोज रूप कमल के लिए चन्द्र के समान और मालवा के सम्मिलित सैन्य को पराजित करने वाला कहा गया है।[५] उसी नरेश के १०२८ ई० के कुलेनुर[६] शिलालेख में कहा गया

---

१. हिस्ट्री आफ परमार, डाइनेस्टी, पृ० ९१, १९३३

२. एपी०इंडि०, जिल्द १५, पृ० ३३०

३. इंडि०एन्टी०, जि० ५, पृ० १७

४. कर्णाटक-लाट-गुर्ज्जर-चेदि-आ(अ) धिप-कोंकणेस

(श) प्रभृतिरिपु वर्ग -निर्दारित- जनित - त्रास-यस (शो) -

धवलित-भुवन-त्रय: श्रीभोज देव — (पंक्तियां ६,७ कल्वन अभिलेख)

एपीग्राफिया इंडिका, भाग १९, पृ० ७१-७२

उदयपुर प्रशस्ति — चेदीश्वरे[illegible] रथ (तोग्ग) ल (भीमम्) र[illegible]ान

कर्णा[illegible]लाटपतिगुर्जरराट् तुरु[illegible]कोन।

यद्भृत्यमात्रविजितानवलो (क्य) मौला

[illegible]ब्धाब (ब) लानि कलयन्ति न (योद्धृ) लो (कान्)

—(एपी०इं०, भाग १, पृ० २३५, श्लोक ५)

५. इंडि०एन्टी० जि० ५, पृ० १७

६. एपी०इंडिका, भाग १५, पृ० ३३०

है कि जयसिंह ने चोल, गांगेय और भोजराज की हस्तिसेनाओं को छिन्न भिन्न कर दिया । बिल्हण ने भी जयसिंह की विजयवाहिनी के प्रताप का वर्णन किया है ।[१]

बिल्हण के वर्णन के आधार पर 'जयसिंह वीरगति को प्राप्त हुआ' यह मानना अनुचित है । क्योंकि भारतीय कथाओं में वीरगति को प्राप्त हुए वीरों को अप्सरायें जयमाला अर्पित करतीं थीं इन्द्र नहीं । यह मानते हुए भी व्यूलर ने बिल्हण के वर्णन से जयसिंह का मारा जाना ही स्वीकार किया है ।[२] बिल्हण का वर्णन इस प्रकार है -" युद्ध रूपी उत्सवों में निरभिमानी जिस (जयसिंह) ने देवों की नगरी (अमरावती) को अपना यश रूपी अवतंस (शिरोभूषण) बनाते हुए इन्द्र के द्वारा अपने हाथ से पहनाई गई पारिजात (पुष्प) की माला प्राप्त की थी ।"[३]

इस वर्णन में बिल्हण को जयसिंह की मृत्यु दिखाना कदाचित् ही अभिप्रेत रहा हो । क्योंकि विक्रमांकदेव चरित के अन्त:साक्ष्य से यह धारणा निर्मूल प्रतीत होती है । पन्द्रहवें और सत्रहवें सर्ग में वीरगति प्राप्त हुए वीरों को अप्सराओं द्वारा स्वयंवर माला अर्पित करने के उल्लेख हैं । इन्द्र द्वारा नहीं ।[४] चौथे सर्ग के ६३ वें श्लोक में " राजा आहवमल्ल ने तुंगभद्रा की तरंगों को अपने आप को इन्द्र मंदिर में उछालने वाली समझा ," दूसरी जगह "मानों इन्द्र दूत लेने आए हैं यह समझा" -- ये स्थल आहवमल्ल की जीविता-वस्था के हैं । परन्तु अन्यत्र " ब्रह्मा ने स्वर्ण स्तम्भ की शोभा वाले आहवमल्ल की भुजाओं को स्वर्ग के

---

१. विक्रमांकदेवचरित १।७९-८६

२. वही, व्यूलर भूमिका, टिप्पणी १, पृ० २७, १८७५

३. यशोवतंसं नगरं सुराणां कुर्वन्नगर्व: समरोत्सवेषु ।
न्यस्तां स्वहस्तेन पुरन्दरस्य य: पारिजातस्रजमाससाद ।।
— विक्रमां०, १।८६

४. विक्रमांक , १५।२, ८० और १७।४४,५७, ५८, ५९, ६०, ६१,६३, ६४

राज्य कार्य में इन्द्र की सहायतार्थ इस पृथ्वी से दूर हटा लिया है अर्थात् स्वर्ग में बुला लिया है। यह विवरण निश्चय ही आह्वमल्ल की मृत्यु का सूचक है।[1] इसके अतिरिक्त प्रथम सर्ग में तैलप के प्रताप का वर्णनकरता हुआ कवि कह रहा है — 'युद्धों में पराक्रम की गर्मी के कारण स्वेद युक्त हाथ वाले तैलप का शत्रुओं के लिए काल भूत खड्ग इन्द्र द्वारा की हुई पुष्पवृष्टि के पराग के सम्पर्क से सूख कर हाथ में अधिक दृढ़ हो गया है।[2] यहां पर तैलप पर इन्द्र ने पुष्पवृष्टि की — पर तैलप की मृत्यु के बाद नहीं। यदि यह कहा जाय कि बिल्हण ने आह्वमल्ल को मालवा या भोज विजय का श्रेय दिया[3] जयसिंह को नहीं। इसीलिए जयसिंह रणक्षेत्र में मारा गया होगा तो भी उचित नहीं, क्योंकि बिल्हण का लक्ष्य तैलप आदि विक्रमांकदेव के पूर्वजों के प्रताप का सामान्य वर्णन करना था उनकी विशेष विजयों का नहीं। आह्वमल्ल की विजयों का वर्णन तो उसके विक्रमांकदेव का पिता होने के नाते ही किया है।

इसके अतिरिक्त यदि इस युद्ध में जयसिंह की मृत्यु होना मानलिया जाय तो समय विरोध होता है। यदि जयसिंह १०१६ ई० के पूर्व हुए इस युद्ध में मारा गया तो उसने, आह्वमल्ल सोमेश्वर प्रथम से पूर्व, १०४३ ई० तक राज्य कैसे किया ?

वस्तुत: इस विवाद का प्रस्तुत प्रसंग में कोई स्थान नहीं है। यहां जयसिंह और भोजराज के युद्ध का संकेत लेना समीचीन नहीं क्योंकि उस श्लोक में युद्धोत्सवों में इन्द्र द्वारा पारिजात माला प्राप्त होने का सामान्य वर्णन है। बिल्हण ने आह्वमल्ल के पूर्वज तैलप, सत्याश्रय और जयसिंह के पराक्रमों का सामान्य विवरण मात्र प्रस्तुत किया है, विशेष युद्धों का नहीं। तैलप ने इस राजवंश की संस्थापना राष्ट्रकूटों का उच्छेदन करके की थी, अत: इस महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख हुआ है।

भोज-आह्वमल्ल सोमेश्वर प्रथम-

जयसिंह चालुक्य द्वारा पराजित होने के बाद भोज वर्षों तक चालुक्य

---

१. विक्रमा०, ४।६३, ४८,७६

२. वही, १।७०

३. वही, १।६१-६४

संघर्ष से विरत रहा परन्तु जैसे ही आह्वमल्ल (सोमेश्वर प्रथम १०४३-६८) कल्हण की गद्दी पर आया वंशानुगत संघर्ष ने पुन: जोर पकड़ा । बिल्हण ने इस युद्ध का वर्णन इस प्रकार किया है :— " जिसकी कृपाण ने राजा के दीप्तिमान प्रतापरूपी अग्नि के सान्निध्य से मानों पिपासाकुल होकर प्रमार नरेश की कीर्ति की (जल) धारा रूपी उन्नत धारा (नगरी) का पान कर लिया (पराजित कर दिया) " अथाह जल या तीक्ष्णधार में डूबा या नष्ट हुआ अनेक पर्वतों या राजकुटुम्बों वाला भी (जिस(राजा) का खड्ग (धारा नगरी के) दुर्भाग्य से मालव राज की एकमात्र धारा (एक छोटी जलधारा के समान) नगरी को नहीं छोड़ सका ।

" जिसने नूतन मेघ के सदृश कृष्ण वर्ण खड्ग से समस्त राजा रूपी राजहंसों को निर्वासित कर (भगाकर) दिया था (क्योंकि मेघ देखकर राजहंस मानसरोवर चले जाते हैं ऐसी प्रसिद्धि है) ऐसे उसने (आह्वमल्ल ने) राजा भोज के भुजा रूपी पिंजड़े में स्थित भी उसकी कीर्ति रूपी हंसी को उदास कर दिया । (अर्थात् भोज की कीर्ति छीन ली)

" जिस (आह्वमल्ल) की युद्धों में प्रलयकालीन अग्नि के सदृश भयंकर क्रोधाग्नि राजा भोज द्वारा त्यक्त धारा (जलधारा या धारा नगरी) के पड़ने (अध:-पतन) मात्र से शान्त हो गई यह आश्चर्य है ।[1]

बिल्हण के इस विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि आह्वमल्ल

---

१. विक्रमांकदेवचरित, सर्ग १।६१-६४

दीपप्रतापानलसन्निधानाद् विभ्रत्पिपासामिव यत्कृपाण: ।
प्रमारभूपालपतिकीर्तिधारा धारामुदारां कवलीचकार ।। ६१
अगाधपानीयनिमग्नभूरि-भूभृत्कुटुम्बोऽपि यदीय खड्ग: ।
भाग्यक्षयान्मालवभर्तुरेकां न धारा परिहर्तुमीश: ।।६२ ।।
नि:शेषनिर्वासितराजहंस : खड्गेन बालाम्बुदमेचकेन ।
भोजक्ष्माभृद्भुजपंजरेऽपि य: कीर्तिहंसीं विरसीचकार ।।६३।।
भोजक्ष्मापालविमुक्तधारा-निपातमात्रेण रणेषु यस्य ।
कल्पान्तकालानलचण्डमूर्तिश्चित्रं प्रकोपानलमाप शान्तिम् ।।६४।।

ने प्रमार नरेशों की कीर्ति का स्थान धारा नगरी का भलीभाँति दमन कर दिया और उसका क्रोध भोज के धारा नगरी को छोड़ कर भाग जाने पर ही शान्त हुआ। यहाँ बिल्हण ने जो भोज पर पूर्ण विजय प्राप्त हो जाने पर ही क्रोध के शमन की बात कही है तो बहुत सम्भव है, उसने धारा के प्रमारों और कल्याणी के चालुक्यों की वंशानुगत बद्धवैरता के कारण ही ऐसा संकेत किया हो क्योंकि तैलप और जयसिंह ने आहवमल्ल की भाँति मालवा और उसकी राजधानी को नहीं रौंदा था। आहवमल्ल ने भोज को अपनी राजधानी से भगा कर प्रथम बार पूर्ण विजय की और अन्य प्रमाणों के आधार पर आगे हम देखेंगे कि उसने भोज के राज्य का बहुत सा भाग दबा भी लिया था।

नन्देर (हैदराबाद) से प्राप्त शक सं० ६६६ (१ अप्रैल , १०४७ ई०) के कन्नड़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि अभिमानी मालवेश्वर (भोज) को धारा नगरी में सोमेश्वर के समक्ष नत होने के लिए विवश होना पड़ा था।

आहवमल्ल या सोमेश्वर प्रथम के शासन काल के एक लेख से यह सूचना मिलती है कि उस नरेश ने पूर्ववर्ती नरेशों के लिए अजेय धारा नगरी पर भी आक्रमण किया था। इसके अतिरिक्त १०५६-६० ई० के सूदी शिलालेख में आहवमल्ल को समस्त "मालव्य वंश रूपी सागर के लिए वाडवाग्नि " और उसी लेख में अन्यत्र उसके "सामन्तवागदेव को भोज रूपी सर्प के लिए गरुड कहा गया है।" ये पद भोज की सेनापति नागदेव द्वारा पराजय सूचित करते हैं। नागदेव "किसुकड ७० " तोरगरे ६०" और अनेक भट्ट ग्रामों का प्रान्तपति (गवर्नर) था। १०६० ई० के होट्टूर[4] लेख में सोमेश्वर प्रथम के सामन्त जैमरस को भोज को नष्ट करने वाली

---

१. अ०हि०द०, याज़दानी, पृ० ३३०, १६६० ई०

२. ऐनुअल रिपोर्ट आव दी मैसूर आर्कियालाजिकल डिपार्टमेंट फार १६२८, पृ० ७२, लाइन १३

३. मा[illegible]र्णव- अखिलद् और्व्वानल् .... और भोज — भुजगाहि-द्विषम् ....। —एपी०, इन्डिका, भाग १५, पृ० ८७, श्लोक २ और पृ० ८८, श्लोक ५

४. [illegible] —एपी०इ०, भाग १६, पृ० ८६, पंक्ति ४-५

चिनगारी कहा गया है। उसके एक अन्य सामन्त मधुव का नगई[1] से प्राप्त १०५८ ई० का लेख सोमेश्वर प्रथम द्वारा धारा और उज्जैन का जलाया जाना बताता है तथा मधुव स्वयं को इस युद्ध में शामिल होकर धारा के नरेश को अपनी राजधानी से भगाने का श्रेय देता है। एक अन्य लेख सोमेश्वर प्रथम के दण्डनायक गुण्डमय के १०६० ई० के लेख में कहा गया है कि वह नर्मदा नदी के दोनों तटों पर विचरण करने वाला राजहंस मालव-जनों के लिए पुच्छलतारा, मण्डेव दुर्ग (आधुनिक मन्डु) पर अधिकार करने वाला था और धारा नगरी में सम्मानित हुआ था।[2]

उपरिलिखित उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकलता है कि नागदेव गुण्डमय जैमरस और माधुव आदि सामन्तों के साथ सोमेश्वर प्रथम ने १०४७ ई० के पूर्व मालवा पर आक्रमण किया। भोज इस भीषण आक्रमण का सामना न कर सका, अत: अपनी राजधानी से भाग गया। चालुक्य सेना ने मालवा को रौंद डाला तथा उसकी राजधानी धारा को लूट लिया। भोज के पुन: शक्ति प्राप्त कर लेने पर सोमेश्वर ने शत्रु राज्य को छोड़ दिया। निःसन्देह यह आक्रमण परमारों के लिए भीषण सिद्ध हुआ जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने राज्य के दक्षिणी प्रदेश का बहुत सा भू-भाग खो दिया। क्योंकि सीयक द्वितीय के राजत्वकाल से ही गोदावरी परमार राज्य की दक्षिणी सीमा थी, परन्तु १०८७ ई० के सीताबल्दी स्तम्भ लेख से यह सिद्ध होता है कि उस समय उनकी राज्य सीमा मध्य भारत में नागपुर तक पीछे हट गई थी। यह सम्भवत: सोमेश्वर प्रथम के कारण ही हुआ था, जिसने एक समय समस्त मालव-राज्य को अपने अधीन कर लिया था। यह चालुक्य आक्रमण परमारों के पतन का प्रधान कारण बना। इस आक्रमण ने परमार राज्य सीमा को ही नहीं संकुचित किया अपितु पड़ोसी नरेशों को उनकी दयनीय स्थिति का लाभ लेने के लिए उकसाया भी।[3]

---

१. हैदराबाद आर्क०सीरीज, नं० ८, पृ० २०

२. ऐनुअल रिपोर्ट आव दी मैसूर आर्कैयिलाजिकल डिपार्टमेंट, फार १९२६, पृ० ६८- ६९

३. हिस्ट्री आव परमार डाइनैस्टी, डी०सी० गांगुली, पृ० ६४, १९३३ ई०

भोज-कवि, कवियों का आश्रय और दानी —

सम्राट भोज अप्रतिम दानी, कवियों का आश्रयदाता तथा स्वयं कवि था । बिल्हण ने भोज और विक्रमांकदेव की तुलना के प्रसंग में लिखा है कि कवियों को सहर्ष सुवर्ण और कुञ्जर दान करने वाले सम्राट भोज या मुंज की दानकीर्ति से भी विक्रमांकदेव के दान कृत्य अधिक कविरंजन करते थे ।[१] अन्यत्र विक्रमांकदेव के सामने राजा मुंज गुंजाफल के समान तुच्छ है और राजा भोज की योग्यता भी कुछ महत्व नहीं रखती क्योंकि कविबान्धव इस विक्रमांकदेव को प्राप्त कर लक्ष्मी श्रेष्ठ कवियों के पदतलों की दासी हो गई है । एक स्थल पर (काश्मीर नरेश अनन्त देव के भ्राता क्षितिपति को राजा भोज के सदृश यश वाला कहा है और वहीं क्षितिपति के मुख में सरस्वती का वास बताया है ।[३]यही नहीं बिल्हण को उस अप्रतिम और कवि बान्धव नरेश से भेंट न हो सकने का क्षोभ बहुत दिनों तक कष्ट देता रहा ।[४] इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि भोज कवियों का आश्रयदाता दानी और कवि था । यह बात अन्य प्रमाणों से भी समर्थित है ।

उदयपुर प्रशस्ति (ग्वालियर) में लिखा है "कविराज भोज का साधन कर्म दान और ज्ञान सबसे बढ़कर है —उसकी प्रशंसा कहाँ तक की जाय ।"[५]

---

१. विक्रमांकदेवचरित, ३।७१

२. मुंजस्य गुंजासमतापि नास्ति का योग्यता भोजमहीभुजश्च ।
लब्धेकवीन्द्रै: कविबान्धव[illegible] पादतलेषु लक्ष्मी: ।।
—विक्रम० ६।१४४

३. यस्य भ्राता क्षितिपतिरिति क्षात्रतजोनिधानं
भोजक्ष्माभृत्सदृशमहिमा लोहराखण्डलोऽभूत ।
शंके लक्ष्म्या: शिरसि चरणं न्यस्त वक्ष:स्थिताया:
प्राप्ता लीला तिलकतुलना यन्मुखे सूक्तिदेवी ।। वही १८।४७

४. वही १८।६६

५. साधितं विहितं वत्तं ज्ञातं तयन्न केनचित् ।
किमन्यत्कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते ।। १८।।
—एपि० इं० —खण्ड १, पृ० २३५

भोजराज ने त्रिविक्रम के पुत्र भास्करभट्ट को विद्यापति की उपाधि दी थी ।[१] मम्मट (११०० ई०) ने काव्य प्रकाश में उदात्तालंकार के उदाहरण में एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें भोज के दान के प्रभाव से विद्वानों के यहाँ पृथ्वी पर विकीर्ण मोतियों को पालतू तोते अनार दाना समझ कर अपनी चंचुओं में उठाया करते थे ।[२] इसका वर्णन है । कल्हण ने राजतरंगिणी में क्षितिराज (क्षितिपति- बिल्हण का) और भोज का साम्य इस प्रकार स्थापित किया है -" उस समय वह (क्षितिराज) और राजा भोज दोनों ही अपने दान के उत्कर्ष के लिए प्रसिद्ध थे , वे दोनों विद्वान् और कवि-बान्धव एक जैसे ही थे ।"[३] इसके अतिरिक्त प्रबन्धचिन्तामणि[४] में मेरुतुंग ने भोज की दानशीलता की अनेक घटनाओं का उल्लेख किया है । उसके भूमिदान सम्बन्धी कुछ दानपत्र भी उपलब्ध हुए हैं ।[५]

---

१. राजा भोज -रेउ १९३२, ई०, पृ० १०५

शांडिल्यवंशे कविचक्रवर्ती त्रिविक्रमोभूत्तनयोस्य जातः ।
यो भोजराजेन कृताभिधानो विद्यापति भास्करभट्टनामा ।। १७

-एपी०इण्डि०, भाग १, पृ० ३४३

२. मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जिनीभिर्हृताः ।
प्रातः प्रांगणसीम्निमन्थरचलद्बालांघ्रिलाक्षारुणाः ।।
दूरदाडिम बीजशंकितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः ।
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम् ।।१०उ० का पृ० श्लोक ५०५

३. स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ ।
सूरी तस्मिन्क्षणे तुल्यं द्वावास्तां कविबान्धवौ ।। (७ तरंग ।२५९)

४. भोज-भीम-प्रबन्ध में- माघ पंडित प्रबन्ध आदि अनेक उदाहरण हैं ।

-पृ० २९ आदि -मेरुतुंग कृत प्रबन्ध चिन्तामणि,संपा० जिन विजय मुनि ।

५. राजा भोज -रेउ १९३२ ई०, पृ०११० और ११९

आयने अकबरी में लिखा है कि भोज ज्ञान का सम्मान करता था । विद्वानों का आदर और ज्ञान प्राप्ति में लगे हुए लोगों की सहायता करके उन्हें प्रोत्साहित करता था उस काल के मूर्धन्य पांच सौ विद्वान् उसकी सभा के रत्न थे और उनका सम्मान उनकी योग्यताओं के अनुरूप ही होता था ।[1] सम्राट भोज के नाम से ग्रन्थों[2] की एक लम्बी सूची मिलती है । जिसमें ज्योतिष, अलंकार, योगशास्त्र, राज-नीति धर्मशास्त्र, शिल्प, नाटक, काव्य, व्याकरण वैद्यक, शैवमत, कोष आदि विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थ हैं ।

सोमेश्वर प्रथम के आक्रमण से मालव राज्य जर्जरित हो चुका था । हमें सोमेश्वर की ' कीर्ति-कौमुदी ' बड़ नगर से प्राप्त कुमारपाल की प्रशस्ति और द्वयाश्रय काव्य की अभय तिलकगणि की टीका तथा प्रबन्ध चिन्तामणि से ज्ञात है कि मालवा के परमारों और गुजरात के चालुक्यों में शत्रुता थी, फलत: परस्पर युद्ध हुआ करते थे ।[3] भोज की दयनीय स्थिति का लाभ उठाने का यह सर्वोत्तम अवसर था । अत: प्रबन्ध चिन्तामणि में वर्णित है कि गुजरात नरेश भूमि भीम ने कलचुरि नरेश कर्ण से मिल कर मालवा पर आक्रमण कर दिया । संयोग से इसी विकट परिस्थिति में भोज दिवंगत हो गया । कर्ण ने मालवा के दुर्ग को तोड़ कर सारा राज-कोष लूट लिया और मालवा पर कर्ण और भीम का अधिकार हो गया । यह विवरण वैदनगर प्रशस्ति से भी समर्थित है ।[4] बिल्हण ने भोज की मृत्यु का उल्लेख कहीं नहीं किया है पर उसने यह लिखा है कि उस (विक्रमांक-देव) ने शरणागत मालवराज को निष्कण्टक राज्य पर (पुन:) स्थापित किया[5]।

---

१. आयने अकबरी - अनुवाद जिरेट , भाग २, पृ० २१६

२. राजा भोज - विश्वेश्वरनाथ रेउ, पृ० २३६ -३१२ , सं० १९३२, हिन्दुस्तानी एकेडेमी , प्रयाग ।

३. वही, पृ० ७५-७७

४. हिस्ट्री आफ दी परमार डाइनेस्टी, गांगुली, पृ० ११६

५. स मालेन्दुं शरणं प्रविष्टं - मकण्टके स्थापयति स्म राज्ये ।

।।६७। सर्ग ३ विक्रमां०

....

जयसिंह स्वयं अपने प्रयत्न से तो शायद ही मालवा का राज्य पुन: प्राप्त कर सकता। अत: उसे किसी की सहायता की आवश्यकता थी जिसकेलिए पराक्रमी आहवमल्ल के अतिरिक्त अन्य कोई नरेश उपयुक्त न था। अत: जयसिंह ने वंशानुगत वैर छोड़ कर सोमेश्वर की शरण ली होगी और सफलता प्राप्त की। जिसका प्रतिशोध कर्ण ने आहवमल्ल के दिवंगत होते ही मालवा पर पुन: अधिकार करके लिया ।[1] मान्धाता ताम्रपत्रों[2] से ज्ञात होता है कि जयसिंह १०५५ ई० तक मालवा का शासक बन चुका था और भोज के तिलकवाड ताम्रपत्र से भोज का १०४७ ई० के बाद तक जीवित रहना सिद्ध होता है।[3] अत: विक्रमांकदेव ने जयसिंह को १०४७ और १०५५ ई० के बीच किसी समय मालवा का राज्य दिलाया होगा। बहुत सम्भव है १०५४ ई० के आस पास की यह घटना हो और भोज ने इसी तिथि के लगभग या इससे किंचित् पूर्व स्वर्ग यात्रा की हो। परन्तु ब्यूलर महोदय विक्रमांकदेवचरित और राजतरंगिणी के कुछ संकेतों के आधार पर भोज का १०६२ - ६५ ई० तक जीवित रहना मानते हैं। यही नहीं उसकी मृत्यु १०८० ई० के लगभग निश्चित करते हैं।[4] उनकी धारणा है कि बिल्हण के मध्य-भारत पहुंचने तक भी भोज जीवित था पर कोई विशेष कारण से जिसका उसने उल्लेख नहीं किया है वह भोज से न मिल सका।[5] बिल्हण १०६२ ईसवी के लगभग काश्मीर से चला होगा क्योंकि राजतरंगिणी में लिखा है कि कलश के शासन काल में बिल्हण ने काश्मीर छोड़ा था। (७। ६३६—६३८) इसके समर्थन में उन्होंने राजतरंगिणी का एक श्लोक उद्धृत किया है —

> स च भोजनरे[illegible]श्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ।
> सूरी तस्मिन्क्षणे तुल्यं द्वावास्तां कविबा[illegible]नौ ।। ७।२५९

---

१. स्टडीज़ इन इन्डालाजी, भाग २, मीराशी कृत, पृ० ७३, १९६१, नागपुर।

२. एपि० इन्डिका, भाग३, पृ० ४८-५०

३. गांगुली - पृ० ८५

४. ब्यूलर भूमिका, पृ० २३

५. वही, पृ० १९

अर्थात् उस समय विद्वान् वह (क्षितिराज) और नरेन्द्र भोज अपने दान के उत्कर्ष के कारण प्रसिद्ध थे दोनों ही एक जैसे कवियों के बन्धु (आश्रयदाता) थे । उस समय (तस्मिन्क्षणे) यह पद उस समय को सूचित करता है जब कलश के राज्यारोहण (१०६२ ई०) के बाद क्षितिराज सन्यासी हो चुका था और कभी कभी राजा अनन्त को सान्त्वना देने के लिए आता था ।[१]

व्यूलर महोदय का यह निर्णय दोषयुक्त प्रतीत होता है । उनके मत में दो प्रधान तर्क हैं —प्रथम —बिल्हण जब मालवा पहुँचा था उस समय भोज जीवित था । दूसरे- राजतरंगिणी में तस्मिन्क्षणे पद का प्रयोग । ये दोनों तर्क स्वयं बिल्हण के साक्ष्य से निर्मल सिद्ध होते हैं । बिल्हण ने लिखा है — सचमुच वह भोज ही पृथ्वीपति था । दुष्ट राजा गण उसकी (भोज की) समानता को नहीं प्राप्त कर सकते । आप उस (भोज) के सामने क्यों नहीं आये ? हाय खेद है इस प्रकार धारानगरी द्वार पर के उत्तुंग के बुर्जों में बने घोसलों में स्थित कपोतों के बहाने मानों सकरुण होकर कह रही थी ।[२]

इस स्थल पर भोज के जीवित रहने का कोई संकेत नहीं मिलता । इसमें स्पष्ट कहा गया है कि खेद है आप भोज के सामने क्यों नहीं आये ? अर्थात् भोज उस समय दिवंगत हो चुके थे । इन पदों से यह ध्वनि भी निकलती है कि बिल्हण को विश्वास था, यदि भोज जीवित रहता तो उसे बहुत सम्मान देता, क्योंकि भोज गुणग्राही था । यही कारण है कि बिल्हण ने भोज का नाम अपने काव्य में गौरव के साथ लिया है ।[३] अन्यत्र बिल्हण ने भोज के सदृश महिमाशाली[४] (राजा अनन्त का चचेरा भाई —राज० ७।२५१) लोहराधिप क्षितिपति (कलश का क्षितिराज) को बताया है परन्तु यह उल्लेख राजा कलश के जीवन वृत्त[५] के

---

१. और ए०ई०, भाग १, पृ० २३३, में भी व्यूलर की यही धारणा है ।

२. भोजः क्ष्माभृत्स खलु न खलैस्तस्य साम्यं नरेन्द्रै-
स्तत्प्रत्यक्षं किमिति भवता नागतं हा हतास्मि ॥
यस्य द्वारोड्डमरशिखरक्रोडपारावतानां
नादव्याजादिति सकरुणं व्याजहारेव धारा ॥ —विक्रमांकदेवचरित १८।९६

३. विक्रमांकदेवचरित २।७२,६।१४४,१८।९६

४. यस्य भ्राता क्षितिपतिरिति क्षात्रतेजोनिधानम् ।
भोजक्ष्माभृत्सदृशमहिमा लोहरा[illegible] भूत् ॥ १८।४७ ॥ ५. वही १८।५१आदि

विवरण से पूर्व आया है।

राजतरंगिणी के विवरण का सारांश इस प्रकार है — लौकिक वर्ष ४०३९ (१०६३ ई०) में अनन्तदेव ने पुत्र का राज्याभिषेक किया। मंत्रियों की सलाह से राजा कलश अपने पिता अनन्त देव की संरक्षता में कार्य करने लगा। तदनन्तर किसी समय विग्रहराज का पुत्र और अनन्त के पितृव्य क्षितिराज ने (श्लोक २५१) आकर अनन्तदेव को अपना दुखड़ा सुनाया, क्योंकि उसका विद्रोही पुत्र भुवनराज तरह तरह से उसका अपमान करता था। ऐसी परिस्थिति में क्षितिराज ने मानसिक ताप का अपहरण करने वाले सर्वस्व त्याग रूपी अमृत की इच्छा की। फलत: कलश के दूसरे पुत्र उत्कर्ष को अपना उत्तराधिकार देकर वह राजर्षि तीर्थयात्रा के लिए चल पड़ा और कालान्तर में चक्रायुध तीर्थ में चक्रायुध भगवान् (विष्णु) के सायुज्य को प्राप्त हो गया।[1] उन दिनों विद्वान् वह (क्षितिराज) और नरेन्द्र भोज अपने दान के उत्कर्ष के कारण प्रसिद्ध थे। दोनों एक ही जैसे कवियों के बन्धु (आश्रयदाता) थे।'[2]

इस विवरण में क्षितिराज चक्रधर भगवान् के सायुज्य को प्राप्त हो गया। अत: उसके आगे के वर्णन में वह पुन: जीवित तो हो नहीं सकता। न ही 'तस्मिन्क्षणे' का कोई सम्बन्ध किसी अवसर विशेष के साथ स्थापित किया जा सकता है। यहां तस्मिन्क्षणे स्पष्ट रूप से 'कालावधि' (शासन काल) का सामान्य सूचक मात्र है और निश्चितरूप से यह क्षितिराज के गौरवयुक्त शासन काल की घटना का उल्लेख करता है। जब वह अपने विद्रोही पुत्र से दु:खी न था और स्वयं सन्यास नहीं लिया था। सर्वस्वत्याग (सर्वत्यागामृते) की इच्छा करता हुआ अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करके तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थान करने वाला क्षितिराज दानी और कविबान्धव कैसे हो सकता है? उसे तो अब परमपद प्राप्त करने की धुन होनी चाहिए। अनन्तदेव का शासन काल १०२८ —१०६३ था। उसके चचेरे भाई क्षितिराज ने १०६३ में सन्यास ले लिया था। यदि क्षितिराज ने कम

---

१. राज० ७।२३३-२३५

२. वही ७।२५९

से कम २० वर्ष भी राज्य किया यह माना जाय तो वह १०४३ ई० में गद्दी पर आया और १० वर्षों में (१०५३ ई०) निश्चित रूप से अपने दान-कृत्यों, विद्वता, और कवियों के आश्रयदाता के रूप में प्रसिद्ध हो गया होगा । भोज १०१०-१०५४ ई० तक शासन करने के कारण क्षितिराज का समकालीन हुआ । इस प्रकारकी प्रसिद्धि एक दिन में या किसी एक क्षण में नहीं प्राप्त होती । यदि "तस्मिन्क्षणे" का "उस क्षण" में अर्थ मान लिया जाय तो ऐसे किसी क्षण का उल्लेख नहीं मिलता, जिस विशेष अवसर पर भोज और क्षितिराज साथ साथ लोक-विश्रुत हो गये हों । इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भोज की मृत्यु १०४७ ई० और १०५४ ईसवी के बीच अवश्य हो गई थी ।

जय सिंह -

हम पीछे देख चुके हैं कि सोमेश्वर आहवमल्ल से पराजित होने के बाद भोज की शक्ति क्षीण हो गई थी । अत: अवसर पाकर गुजरात नरेश भीम और कलचुरि कर्ण ने मिल कर भोज पर आक्रमण कर दिया । उसी समय रुग्ण भोज अकस्मात् दिवंगत हो गया । जयसिंह के मान्धाता ताम्रपत्रों[१] से ज्ञात होता है कि वह १०५५ ई० तक मालवा का अधिपति बन चुका था । परन्तु विक्रमांकदेव-चरित को छोड़कर सभी विवरण इस विषय पर मौन हैं कि जयसिंह ने मालवा का राज्य कैसे प्राप्त किया ? बिल्हण का विवरण इस प्रकार है -"(पिता द्वारा भेजे गये) उस विक्रमांकदेव) ने शरण में आये हुए मालवेन्द्र (जयसिंह) को निष्कंटक राज्य पर स्थापित किया ।"[२] इससे प्रतीत होता है कि सब ओर से निराश होकर जयसिंह वंशानुगत वैर छोड़कर आहवमल्ल की शरण आया और उसके पुत्र एवं सेनानी विक्रमांकदेव की सहायता से पुन: राज्य प्राप्ति की ।

यद्यपि जयसिंह को सोमेश्वर आहवमल्ल की सहायता से मालवा का राज्य पुन: वापस मिल गया, तथापि वह दीर्घकाल तक अपने राज्य को सुरक्षित न रख सका और आहवमल्ल की मृत्यु होते ही वह पुन: राज्य-च्युत कर दिया गया ।

---

१. एपी० इन्डिका, भाग ३, पृ० ४८-५०

२. स मालवेन्द्रं शरणं प्रविष्टमकण्टके स्थापयतिस्म राज्ये ।

—विक्रमांक० ३।६७

सोमेश्वर' आहवमल्ल की मृत्यु (१०६८ ई०) के बाद उसका पुत्र सोमेश्वर द्वितीय 'त्रिभुवनैकमल्ल' कल्याणी का शासक हुआ । बिल्हण ने लिखा है सोमेश्वर द्वितीय पथ भ्रष्ट और कुकर्मी हो गया था । अत: विक्रमांकदेव उसे छोड़ कर अपने अनुज सिंहदेव या जयसिंह के साथ दक्षिण समुद्र की ओर चला गया । जाते हुए विक्रमांकदेव पर सोमेश्वर द्वितीय की सेना ने आक्रमण कर दिया । विक्रमांकदेव ने सोमेश्वर की सेना को छिन्न भिन्न कर दिया ।[1] यद्यपि इस वर्णन में विक्रमांकदेव को विजयी सा दिखलाया गया है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रमांकदेव इस युद्ध में वीरतापूर्वक लड़ा पर सफलता नहीं मिली और उसे दक्षिण समुद्र की ओर चले जाने के लिए बाध्य होना पड़ा जहां से शक्ति संचय करके वह कालान्तर में पिता के राज्य का स्वामी बना । इस संघर्ष में मालव नरेश जयसिंह ने सोमेश्वर द्वितीय के विरुद्ध विक्रमांकदेव की सहायता की होगी (क्योंकि विक्रमांकदेव के प्रयत्न से ही उसे मालवा राज्य वापस प्राप्त हुआ था)। इससे चिढ़ कर ही संभवत: सोमेश्वर ने मालवा पर आक्रमण कर दिया ।[2] सूदी अभिलेख[3] में सोमेश्वर द्वितीय को 'मालव वंश रूपी सागर के लिए अग्नि' कहा गया है । नागपुर प्रशस्ति के अनुसार कर्णाट सोमेश्वर द्वितीय कलचुरि कर्ण और आदि के अन्तर्गत संभवत: पश्चिमी गंग नरेश उदयादित्य ने मिल कर मालवा पर आक्रमण कर दिया था , उसमें मालवा का स्वामी (जयसिंह) मारा गया था और परमार उदयादित्य ने अपने बाहुबल से मालव भूमि का उद्धार किया था ।[4]

---

१. विक्रमां० ४।६७ से ५।६ तक

२. हिस्ट्री आव परमार डायनेस्टी , गांगुली कृत, पृ० १२७

३. मालव्य-वंस(श) - आर्णव-ज्वलद् - और्व्वानिलन् -

—एपी० इन्डिका, भाग १५, पृ० ६७, पंक्ति ४

४. एपी० इन्डिका, भाग २, पृ० १८५, श्लोक ३२ और स्टडीज इन इन्डोलाजी, मीराशी, कृत भाग २, पृ० ७४-७५, नागपुर, १९६१ ई०

स्वयंवर के स्थल पर वर्णित मालवभर्ता कौन था ?

बिल्हण ने चन्द्रलेखा के स्वयंवर के प्रसंगमें धारा नरेश मालवेन्द्र का वर्णन इस प्रकार किया है :—

' जिस (मालव नरेश) के शत्रु -नरेशों की कामिनियों के पीतवर्ण कपोलों पर (बिखरे हुए) लम्बे केश रूपी लताओं के कारण (उनके) नेत्रों के अश्रुजल सेवार-युक्त से प्रतीत होते हैं।

' जिस (मालव नरेश) का अलौकिक प्रताप रूपी अग्नि राजसेनाओं में या पर्वतों की तलहटियों में ही प्रज्वलित है। जिस (प्रतापाग्नि) के प्रविष्ट होने पर शत्रु-राजाओं के गृहों के प्रांगणों में घास उत्पन्न हो जाती है। (अर्थात् सूना हो जाता है)।

' हे विलासिनी राजकन्या ! वही यह मालवेन्द्र है। इसके विषय में कामदेव तुम्हारा मन्त्री (सलाहकार) हो। इस (नरेश) की कुल राजधानी धारा (नगरी) अपने क्रीडावनों(की सैर) से तुम्हें आनन्दित करे।[१]

प्रस्तुत विवरण से यह प्रतीत होता है कि यहां जिस मालवेन्द्र का वर्णन किया गया है उसने रिपुस्त्रियों को अश्रु जल से आप्लावित और शत्रु-नरेशों को युद्ध में भगा कर उनके महलों को सूना कर दिया था जिससे उन महलों के आंगन में घास उग आई थी। अतः यह नरेश शत्रुहन्ता और प्रतापी था।

यह स्वयंवर विक्रमांकदेव के राज्यारोहण (१०७६ ई०) के आस पास हुआ होगा क्योंकि बिल्हण ने राज्यारोहण (६ ठवें सर्ग) के बाद ही यह

---

१. यद्वैरिभूपालविलासिनीनां कपोलपालीषु विपाण्डरासु।
भवन्ति लम्बालकवल्लरीभिः सशैवलानीव दृशोः पयांसि ।।११२।
यस्य प्रतापोऽग्निरपूर्व एव जागर्ति भूभृत्कटकस्थलीषु।
यत्र प्रविष्टे रिपुपार्थिवानां तृणानि रोहन्ति गृहाङ्गणेषु।
स एष लीलावति मालवेन्द्रः [illegible] मन्त्री कुसुमायुधोऽस्तु।
[illegible] विदधातु तोषममुष्य धारा कुलराजधानी ।। ११४ ।।
—विक्रमांकदेवचरित, सर्ग ६

विवरण (६वें सर्ग) प्रस्तुत किया है । अब देखना है कि १०७६ ई० के लग-भग मालवा का शासक कौन था ?

यह मालवेन्द्र राजा भोज कदापि नहीं हो सकता क्योंकि वे इससे बहुत पहले ही (१०५४ ई० के लगभग) दिवंगत हो चुके थे । तो क्या यह भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह था ? यह नरेश जयसिंह भी नहीं हो सकता क्योंकि प्राप्त सामग्री से उसका इतना प्रतापी होना सिद्ध नहीं होता । इसके अतिरिक्त वह इस काल तक जीवित भी नहीं था ।

जयसिंह की पूर्णपराजय के उपरान्त उदयादित्य नाम का एक प्रतापी और शत्रुहन्ता नरेश हुआ । जिसने अपने बाहुबल से धारा नगरी का शत्रुओं से उद्धार किया । शिलालेखों से तथा अन्य साक्ष्यों से उदयादित्य का प्रतापी होना सिद्ध होता है । नागपुर प्रशस्ति में लिखा है " उस (भोज) के इन्द्र की बन्धुता प्राप्त कर लेने पर (दिवंगत हो जाने पर) और जलस्रोतों (बाढ़) से आक्रान्त (अथवा परमार वंशजों के द्वारा उत्पन्न अराजकता से युक्त) राज्य (मालवा) में स्वामी (जयसिंह) के डूब जाने पर, उसका बन्धु उदयादित्य राजा हुआ । जिसने महासागर के सदृश मिले हुए कर्णाट, कर्ण आदि नरेशों के द्वारा संक्षुब्ध इस (मालव) भूमि को निकाल कर वाराह भगवान की तुल्यता प्राप्त की ।[1] इससे प्रतीत होता है किकर्णाट नरेश सोमेश्वर द्वितीय ने डाहल नरेश

---

१. तस्मिन्वासवव (ब) न्धुतामुपगते राज्ये च कुल्याकुले ।
मग्नस्वामिनि तस्य व (ब)न्धुरुदयादित्यो भवद्भूपति: ।।
येनोद्धृत्यमहार्णवोपममिलत्कर्णाटकर्णप्रभ(भु)
मुर्वीपालकदर्थितां भुवमिमां श्रीमद्वराहायितम् ।। ३२।।

आगेश्लोक ३३और ३४ में उदयादित्य का ही प्रताप वर्णित है ।

एपी०इन्डिका, भाग२, पृ० १८५

महा०वासुदेव वि०मीराशी ने "महार्णवोपम —कदर्थितां" इस समस्त पद में "प्रभु" जोड़ने से छन्दोभंग और समुचित समास-विग्रह न हो सकने के कारण "प्रभृतय:" यह पाठ समीचीन ठहराया है और इस प्रकार विग्रह किया है । महार्णवोपमा: मिलन्त: कर्णाटकर्णप्रभृतय: उर्वीपाला: तै: कदर्थितां (भुवम्) क्योंकि डोंगरेगाँव अभिलेख में उदयादित्य को —ततो रिपत्रयस्कन्दैर्मग्नां मालवमेदिनीम्

—क्रमश: जारी

कर्ण और आदि के अन्तर्गत तीसरे नरेश सम्भवत: चौलुक्य कर्ण से मिल कर जिस मालवा पर अधिकार कर लिया था उस मालव भूमि को उदयादित्य परमार ने अपने बाहुबल से प्राप्त कर लिया ।[१]

परन्तु डा० रामनारायण मिश्र ने मीराशी महोदय के इस सन्धि सिद्धान्त को अप्रमाणिक सिद्ध करने की चेष्टा की है । उनका अनुमान है -" जो भी हुआ हो किन्तु इतना अवश्य ही असंगत प्रतीत होता है कि अनेक राजाओं, विशेष कर कर्ण एवं सोमेश्वर आह्वमल्ल अथवा द्वितीय सोमेश्वर जैसे शक्तिशाली राजाओं के संघ को उदयादित्य ने अकेले पराजित किया हो । अत: सन्धि का सिद्धान्त युक्तिपूर्ण नहीं प्रतीत होता । निश्चय ही उदयादित्य ने एक एक करके सभी शत्रुओं को पराजित किया होगा । एक साथ सभी के नाम आ जाने से यदि यह सिद्धान्त बना लिया जाय कि उन राजाओं का संघ बना था, तो इतिहास में संघों की भरमार हो जायेगी ।"[२]

नागपुर प्रशस्ति[३] में उल्लिखित ' मिलत्कoooooooप्रभ (भु या भू) इस अंश में स्पष्टत: कहा गया है कि ' कर्णाट और कर्ण आदि ने मिलकर' मालवा को आक्रान्त किया था । किसी विरोधी प्रमाण की उपलब्धि के बिना

पिछले पृष्ठ का अवशेष - उद्धरन्नुदयादित्यस्तस्यभ्राता व्यवर्द्धयत् ।।
-एपी०इं०, भाग० २६, पृ० १७७ और आगे (स्टडीज इन इन्डोलाजी भाग २, पृ० ७४-७५) नागपुर, सन् १९६१

---

१. पृथ्वीराजविजय ५।७८ और श्री अशोककुमार मजूमदार के अनुसार ये तीनों नरेश कर्णाट सोमेश्वर, चौलुक्य कर्ण और कलचुरि कर्ण रहे होंगे -चौलुक्याज् आफ गुजरात, पृ० ४३९, टि० १०७, १९५६ ई०, बम्बई ।

१. परन्तु मीराशी जी तीसरा नरेश पश्चिमी गंगा को मानते हैं -स्टडीज इन इन्डोलाजी, पृ० ७६

२. माहिष्मती और त्रिपुरी के कलचुरि -लै० डा० रामनारायण मिश्र (शोध प्रबन्ध जबलपुर यूनि०, सन् १९६५ अप्रकाशित), पृ० २४२

३. ए०इं०, भाग २, पृ० १८५, श्लोक ३२

हम इस अंश की ऐतिहासिकता पर संदेह नहीं कर सकते । कर्णाट कर्ण आदि सारे नरेशों ने अपनी सुरक्षा के हेतु पर्याप्त सैन्यशक्ति राजधानी में रख कर ही मालवा पर आक्रमण किया होगा,क्योंकि सोमेश्वर द्वितीय को चोल तथा विक्रमांकदेव के आक्रमण का तथा कर्ण को कीर्तिवर्मन् चन्देल से आक्रान्त होने की आशंकाएं थीं । इसके अतिरिक्त कलचुरि कर्ण की शक्ति भी क्षीण हो रही थी ।[१] यह भी देखा गया है कि शक्तिशाली आक्रामक को भी छोटे राज्य से मुंह की खानी पड़ती है । साथ ही उदयादित्य भी अकेला न था, उसे चाहमान दुर्लभ साहाय्य प्राप्त था ।[२]

इस घटना का समर्थन उदयपुर प्रशस्ति से भी होता है । इस लेख में उल्लिखित है " रविवत् प्रतापी भर्ग (शिव) भक्त राजा भोज के देवताओं के आवास को चले जाने पर (दिवंगत हो जाने पर) धारा नगरी के सदृश शत्रुरूपी अन्धकार से पृथ्वी व्याप्त हो गई और उसके परम्परागत योद्धागण शिथिल अंगों वाले हो गये, तब अपने खड्ग दण्ड की किरणों के द्वारा रिपुतिमिर का नाश करके आत्मीय जनों को अपने प्रताप से आनन्दित करता हुआ उदयादित्यदेव सूर्य दूसरे सूर्य के सदृश उदित हुआ ।"[३]

पृथ्वीराज विजय में उदयादित्य को चाहमान दुर्लभ के सहयोग से गुजरात नरेश कर्ण को पराजित करने वाला कहा गया है —

---

१. प्र०चन्द्रो०, पृ० १०-१०, १७-१६, २१,२२, ए०इं०, भाग १, पृ० २२२ और वही भाग २०, पृ० ८३ तथा विक्रमां० १।१०२,३

२. पृथ्वीराजविजय ५।७६-७८ ओझा व गुलेरी , अजमेर, विक्रम० १९९७

३. तत्रादित्यप्रतापे गतवति सदनं स्वर्गिणां भर्गभक्ते ।
व्याप्ता धारेव धात्री रिपुतिमिर भरैर्म्मौललोकस्तदाभूत्
विस्रस्तांगो निहत्योद्भटरिपुति (मि) रं खड्गदंडांशु(शु) जालै-
रन्यो भ स्वानिवाभन्[illegible]त्मुदितजनात्म दयादित्यदेव: ।। २१।।
—एपी०इन्डि०, भाग १, पृ० २३६

* यही (वाग्मान दुर्लभ) मालवा नरेश उदयादित्य की उन्नति (उत्कर्ष) का कारण था । जिस प्रकार समुद्र गंगा नदी के द्वारा ही पूर्णता को प्राप्त होता है ।

* जिस (मालवेश) को उस (वाग्मान दुर्लभ) ने मन के तुल्य वेग वाला सारंग नामक अश्व प्रदान किया । क्योंकि क्षीरसागर के अतिरिक्त उच्चैश्रवा नामक अश्व दूसरा कोई नहीं दे सकता ।

* उस अश्व (सारंग नामक) को प्राप्त करके मालवेश ने गुजरात नरेश कर्ण को परास्त किया क्योंकि अनूरू (सूर्यरथ का सारथि) को प्राप्त करके सूर्य-रथ आकाश को लांघ गया ।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि कलचुरि कर्ण को पराजित करने के बाद उदयादित्य ने गुजरात नरेश कर्ण को परास्त कर उससे उसके पिता भीमदेव के आक्रमण का प्रतिशोध लिया था । उदयादित्य और कर्ण समकालीन थे ।[२] इन संकेतों से स्पष्ट है कि उदयादित्य प्रतापी था ।

जयसिंह पर सोमेश्वर द्वितीय ने अपने पिता सोमेश्वर आहवमल्ल की मृत्यु के बाद ही आक्रमण किया होगा । अत: १०६८ ई० (सोमेश्वर प्रथम की मृत्यु) और १०७६ ई० (विक्रमांकदेव के राज्यारोहण) के बीच किसी समय मालवा शत्रु त्रय से आक्रान्त हुआ होगा और उदयादित्य के द्वारा उसने मुक्ति भी प्राप्त

---

१. मालवेनोदयादित्येनास्मादेवाप्यतोन्नति: ।
गंगा[illegible]कीनीदृदादव लेभेपूरणमब्धिना ।। ७६।।
सारंगाख्यं तुरंगं स ददौयस्मै मनोजवम् ।
नह्युच्चैश्रवसंक्षीरसिन्धोरन्य:प्रयच्छति ।। ७७।।
जिगाय गूर्जरं कर्णं तमश्वं प्राप्य मालव: ।
लब्धानूरू: सूर्यरथं करोति व्योमलंघनम् ।। ७८ ।।
—पृथ्वीराजविजयाख्य महाकाव्य ५ सर्ग, स०ओझा,गुलेरी,अजमेर,४७

२. राजा भोज —विश्वेश्वरनाथ रेउ, परिशिष्ट, पृ० १८,१६,३२ ई०,इलाहाबाद

की होगी ।[1] यह नरेश सम्राट् भोज का भ्राता था ।[2] इसने १०८६ ई० तक[3] मालवा पर शासन किया और इसी बीच विक्रमांकदेवचरित की रचना भी हुई[4]। अत: उदयादित्य ही स्वयंवर में उल्लिखित मालवेन्द्र रहा होगा ।

गुर्जराधिपति -

बिल्हण साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गुजरात के शासकों में केवल चौलुक्य कर्ण को ही जानते हैं क्योंकि उसने 'कर्ण सुन्दरी'[5] नाटिका में उसी कर्ण के परिणय की कथा प्रस्तुत की है । इसी विवाह का रोमांचक वर्णन हेमचन्द्र कृत द्वयाश्रय[6] काव्य में विस्तार के साथ वर्णित है । द्वयाश्रय काव्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कर्ण के राजत्वकाल में कदम्ब कुमारी के साथ हुए उसके परिणय के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेखनीय घटना नहीं घटी । बिल्हण द्वारा इसी घटना का चयन करना भी यही संकेत करता है । परन्तु इसका आशय यह नहीं कि कर्ण का राज्यकाल शान्तिपूर्ण था ।

'विक्रमांकदेवचरित' में चन्द्रलेखा स्वयंबर के अवसर पर एक गुर्जर नरेश का उल्लेख आया है :-

काबुली अश्वों की टापों से खुदी पृथ्वी के पतले (क्षीण) हो जाने से (अत: नागलोक के निकट पहुंच जाने से) मानों जिस (गुर्जर नरेश) के

---

१. उदयादित्य के एक लेख में वि०सं० ११११ (१०५६ ई०) तिथि मिलती है — ज०र०सो०भाग ६, पृ० ५४५, और आगे । परन्तु मीराशी जी इस तिथि की लिखावट को अशुद्ध और घसीट मानकर इसे अप्रामाणिक माना है ।
—ज०अ०ओ०सो, भाग ७, पृ० ३५

२. स्टडीज इन इन्डोलाजी , भाग २, पृ० ७८, मीराशी , नागपुर, १९६१ ई०

३. जर्नल आव् दी एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल, १९१५ , पृ० २४१

४. विक्रमांकदेवचरित, जी०ब्यूलर, भूमिका, पृ० २३, बम्बई, १८७५ ई०

~~५. कर्णसुन्दरी~~

६. द्वयाश्रय—

यश को सुनकर नाग कन्यायें नागराज की संगीतशालाओं में एकत्रित होकर (जिसकी कीर्ति का) गान करती हैं।

हे गुणाग्राहिणि ! यह वही अपनी भुजाओं के शौर्य से सम्पूर्ण राजाओं को वशीभूत करने वाला प्रसिद्ध गुर्जर नरेश है। हे कमलनयनी ! इस पर (नरेश्वर) प्रसन्न चित्त कामदेव की पुष्पवृष्टि रूपी तुम्हारी दृष्टि पड़े (अर्थात् तुम्हारी दृष्टि इस पर पड़े)।[१]

यद्यपि यह सामान्य वर्णन है, फिर भी इतना तो स्पष्ट संकेत है कि गुर्जरेन्द्र पराक्रमी था और उसे अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करने का श्रेय था।

अन्य लेखकों तथा दूसरे राजवंशों के लेखों से भी बिल्हण की उक्ति समर्पित होती है और द्वयाश्रयकाव्य का कर्ण विषयक विवरण ऐकान्तिक सिद्ध होता है। वस्तुतः भले ही कम सफल, कर्ण अपने पिता (भीम) और पुत्र (सिद्धराज जयसिंह) की भांति ही एक विजेता था।[२] कर्ण ने "त्रैलोक्यमल्ल" विरुद धारण किया। उसका साम्राज्य दक्षिण में बम्बई प्रान्त के अन्तर्गत स्थित "नवसारी" प्रदेश तक विस्तीर्ण था। कर्णाट नरेश से मिलकर उसने परमार जयसिंह को पराजित किया, यद्यपि शीघ्र ही परमार उदयादित्य ने मालवा उसके हाथ से छीन लिया।[३] अपने शासन काल के अन्तिम दिनों में उसे परमार जगदेव से मुंह की खानी पड़ी।[४] उसने अहमदाबाद के निकट स्थित अशापाल्ली (वर्तमान असवल) के आशा नामक भिल्ल शासक को कुचला और

---

१. निशम्य तुक्खारतुरगतायाः चितैस्तु[illegible] यस्य कीर्तिम् ।
सम्भूय गायन्ति फणीन्द्रकन्याः संगीतशालासु भुजंगभर्तुः ।।
सोऽयं गुणाग्राहिणि गुर्जरेन्द्रः स्वबाहुवीर्यार्जितराजलोकः ।
अत्रास्तु दृष्टिस्तव नीरजाक्षि प्रसन्नपुष्पायुधपुष्पवृष्टिः ।
—विक्रमा० ६।११६-१७

२. चौलुक्याज् आफ गुजरात —ए०के० मजूमदार, १९५६, पृ० ५६-७

३. पृथ्वीराज विजय ५।७८, चौलुक्याज् आफ गुजरात,पृ-५७-८ और ४३६ पर टि० १०७

४. चौलुक्याज् आफगुजरात , पृ० ५८

यश: कर्ण को लाट देश से निकाल बाहर किया[१]। उसका दक्षिण मारवाड़ पर किया गया आक्रमण नाडौल नरेश चाहमान पृथ्वीपाल द्वारा विफल कर दिया गया।[२]

कर्ण ने १०६६ –६७ से १०६३–६४ ई० तक राज्य किया।[३] बिल्हण कलचुरि कर्ण के आश्रय में रहने के पश्चात् मालवा होता हुआ गुजरात पहुँचा था।[४] कर्ण की अन्तिम ज्ञात तिथि १०७३ ई० है।[५] अत: मालवा में रुके बिना वह १०७३-७४ ई० तक गुजरात पहुँच गया था। उसने वहीं चौलुक्य कर्ण के विवाह पर आधारित 'कर्णसुन्दरी' नाटिका का प्रणयन किया था। उन्होंने गुजरातियों के आचरण से प्राप्त संताप का निवारण सोमनाथ का दर्शन करके किया था।[६] अत: ऐसा प्रतीत होता है कि कर्ण की सभा में स्थानीय (गुजराती) पंडितों के अनुचित व्यवहार के कारण, बिल्हण पर्याप्त सम्मान नहीं प्राप्त कर सका। सम्भवत: इसीलिए बिल्हण ने अपने यात्रा विवरण में चौलुक्य कर्ण के आश्रय का उल्लेख नहीं किया है। अत: स्वयंवर का 'गुर्जरेन्दु' चौलुक्य कर्ण था।

---

१. चौलुक्याज़ आफ गुजरात, पृ० ५६ – ६०
२. वही, पृ० ६०
३. वही, पृ० २०२
४. विक्रमां० १८।६५-७
५. यश: कर्ण की प्रथम ज्ञात तिथि –का०इ०इ०, जि० ४, पृ० २६१ और भूमिका पृ० १०२, एपी०इंडि०,जि०, १२, पृ० २०६
६. विक्रमा०, १८।६७

अध्याय-४

दक्षिण भारत का इतिहास

मान्यखेट के राष्ट्रकूट-

राष्ट्रकूट उपनाम के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक सूत्र नहीं प्राप्त होता। सम्भवत: ये लोग राष्ट्र (साम्राज्य के एक भाग) के अधिकारी होने के कारण राष्ट्रकूट कहलाये।[१]

बिल्हण ने एक समस्त पद में 'विश्वम्भराकण्टकराष्ट्रकूट'[२] कह कर राष्ट्रकूटों के परम्परागत शौर्य का स्मरण दिलाया है। राष्ट्रकूटों के संक्षिप्त इतिहास का सिंहावलोकन बिल्हण के विशेषण की सार्थकता सिद्ध करता है। राष्ट्रकूट नरेश कर्क द्वितीय जिसका तैलप ने समूल उन्मूलन किया था बहुत शक्ति-हीन शासक था अत: उसके लिए विश्वम्भराकण्टक कहना उचित नहीं। इस स्थल पर प्रतापी राष्ट्रकूट नरेशों को ध्यान में रख कर इस विशेषण का प्रयोग किया गया है।

बादामी के चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मन् द्वितीय को पराजित करके राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने राष्ट्रकूट साम्राज्य की स्थापना की थी। उसके बाद उसके चाचा कृष्णराज प्रथम (७३५-५५ ई०) हुए। तत्पश्चात् उसके पुत्र गोविन्दराज द्वितीय ने शासन संभाला। यह प्रतापी था और इसने दक्षिण राजपूताना के गुर्जर नरेश वत्सराज को परास्त किया। उसके पुत्र गोविन्द तृतीय ने मैसूर के पश्चिमी गंगों और कांची के दन्तिवर्मन को निरस्तकिया। यही नहीं उसने बंगाल नरेश धर्मपाल तथा चक्रायुध को भुमिश्रात के गुर्जर-नरेश नागभट्ट, जिसने चक्रायुध के प्रतिद्वन्द्वी इन्द्रायुध को कन्नौज का सिंहासन प्राप्त करने में सहायता की थी, के विरुद्ध सहायता की। फिर अमोघवर्ष (८१४-८०ई०)

---

१. अल्तेकर, अ०हि०इ०,सम्पा० यजदानी,पृ० २४६,१९६०, लंदन।
२. विक्रमा० १।६६

सिंहासन पर आया । यह इस वंश का सबसे प्रतापी शासक था । उसने मान्यखेट (निजाम की राज्य सीमा में स्थित बर्तमान माल्खेद) में राजधानी स्थापित की । उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय वेंगी के चालुक्यों और कन्नौज के गुर्जरों से पराजित हो गया । उसके बाद उसके पौत्र ने पुन: राष्ट्रकूटों को अपने पूर्वजों के यश से युक्त किया । उसने मालवा और कन्नौज को बुरी तरह पराजित किया और महीपाल प्रथम को राज्यच्युत कर दिया । यह इस वंश का अन्तिम प्रतापी नरेश था । परवर्ती राष्ट्रकूट नरेश कमजोर थे और अन्तिम नरेश कर्क द्वितीय ९७३ ई० में तैलप चालुक्य द्वारा उखाड़ दिया गया ।[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रकूट नरेश निरन्तर युद्धरत रहे तथा उन्होंने अनेक विजयें कीं । अत: प्रतापी होने के कारण ही बिल्हण ने उन्हें 'विश्वम्भराकण्टक' कहा है ।

<u>करहाटपति -</u>

राज्यारोहण (१०७६ ई०) के कुछ समय पश्चात् विक्रमांकदेव ने सुना कि करहाट (कहाड) नरेश की पुत्री तीनों लोकों के नेत्रों को वशीभूत करने वाली कामदेव के विजयस्तम्भ की प्रशस्ति सी है (परमसुन्दरी है) ।

'विद्याधर वंश (शिलाहार वंश) में उत्पन्न वह कुमारी पार्वतीपति (शंकर) के आदेश से किसी (योग्य वर) के लिए स्वयंवर महोत्सव कर रही है ।

'चन्द्र लेखा के सदृश कान्ति वाली उसका 'चन्द्रलेखा' नाम कामदेव के लिए मृत्युंजय महामंत्र के तुल्य है । (अर्थात् , कामोद्दीपन करने वाला है) ।[2]

आगे भी अष्टम सर्ग में चन्द्रलेखा का सौंदर्य मात्र वर्णित है ।

---

१. अल्तेकर,अ०हि०इ०,संपा०, याजदानी, पृ० २४६-२६८

२. यथास्ति विजयस्तम्भ-प्रशस्तिरिव मान्मथी ।
करहाटपते: पुत्री त्रिजगन्नेत्रकार्मणम् ।। ८।२ ।।
विद्याधरकुमारी सा गौरीदयितशासनात् ।
कृते कस्यापि कुरुते स्वयंवरमहोत्सवम् ।। ८।३
चन्द्रलेखेति नाम्ना नामास्याश्चन्द्रलेखासमत्विष:
मृत्युंजयमहामन्त्र-मैत्रीमेति मनोभुव ।। ८।४ -शेष सर्ग में चन्द्रलेखा वर्णन मात्र है ।

नवम सर्ग में चन्द्रलेखा स्वयंवर का वर्णन है।

उपर्युक्त विवरण में ऐतिहासिक तथ्यों का विवरण निम्नलिखित है —

(१) करहाट नरेश की पुत्री का नाम चन्द्रलेखा था।

(२) चन्द्रलेखा विद्याधर वंश में उत्पन्न हुई थी।

(३) वह अप्रतिम रूपवती थी।

करहाट देश दक्षिण भारत का कहाड प्रदेश था जो कृष्णा और कोयना नदियों के संगम पर सतारा जिले में स्थित था।[1] वहाँ शिलाहार वंश के नरेश राज्य करते थे जो अपने को जीमूतवाहन का वंशज कहते हैं।[2] प्राचीन संस्कृत साहित्य में जीमूतवाहन विद्याधरों का राजा कहा गया है।[3] इससे प्रतीत होता है कि शिलाहार नरेश पौराणिक विद्याधरों से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि चन्द्रलेखा शिलाहार वंश में उत्पन्न हुई थी और शिलाहार राजवंशी नरेश 'कहाड' में राज्य करते थे।

भारतीय इतिहास में शिलाहार राजवंश की तीन शाखाएं मिलती हैं—

(१) दक्षिण कोंकण में ७७०—१०२० ई० तक राज्य किया।

(२) उत्तरी कोंकण में ८०० ई० से लगभग ४५० वर्षों (१२५० ई०) तक शासन किया।

(३) सतारा, बेलगाँव और कोल्हापुर राज्य में शासन करती थी। दसवीं शती में प्रकाश में आई और लगभग २०० वर्षों तक राज्य किया।

ये राजवंश राष्ट्रकूटों, चालुक्यों, कदम्बों और यादवों के सामन्त रूप

---

१. डा० क० डिस्ट्रिक्ट, फ्लीट, पृ० ५४६,१८६६ बम्बई।

२. शब्द —महासामन्ताधिपति—तगरपुर—परमेश्व (श्व)र शि(शि), ~~पंक्ति १७~~ पं-१९ —लाहार-नरेन्द्र-जीमूतवाहन—आ

न्वय-प्रसूत-सुवर्ण-गरुडध्वज-सत्व-विद्याधर-त्याग-जगज्-झम्प-मण्डलिक चि (श)

खा — पं-१८ —ए०इं०, जिल्द १२, पृ० २६२, २६३

३. कथासरित्सागर, सोमदेव भट्ट कृत, संपा० दुर्गाप्रसाद काशीनाथ पाण्डुरंग परब, तरंग २२।१६,१७,२३

में शासन करते रहे ।[१]

१०५८ ई० (श०स०-६८०) के एक ताम्रपत्र में मारसिंह[२] को महामण्डलेश्वर कहा गया है उसके अन्य विरुद 'गोंकनान्ककाड (गोंक का नेता या वीर) और 'गुह्यन सिंह' (गुह्य का सिंह) मिलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वह खिलिगिल के पर्वतीय दुर्ग की राजधानी में शासन कर रहा था । इसमें यह भी उल्लेख है कि उसने कृष्णावेणीनदी के दक्षिण तट पर स्थित 'कुणतवाड' नामक ग्राम एक ब्राह्मण को दान किया, जो कृष्णा नदी के तट पर मीरज से पांच मील दक्षिण पर स्थित 'कूतवर' प्रतीत होता है । शिलाहारकन्या चन्द्रलेखा या चन्दलदेवी जो करहाटपति विद्याधर नरेश की कन्या और चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ की पत्नियों में एक थी, सम्भवत: इसी मारसिंह की पुत्री थी । यद्यपि प्राप्त प्रमाणों से इस संभावना की स्पष्ट पुष्टि नहीं होती, तथापि कालदृष्टि से चन्द्रलेखा का पिता मारसिंह ही प्रतीत होता है, जैसी कि फ्लीट[३] महोदय की धारणा है । मारसिंह संभवत: चालुक्यों के सामन्त थे ।[४]

बिल्हण को छोड़कर अन्य किसी किसी साक्ष्य से मारसिंह के चन्द्रलेखा नाम की पुत्री का होना समर्थित नहीं है । परन्तु चालुक्य अभिलेख विक्रमादित्य षष्ठ की प्रिय महिषी और जयकर्ण सोमेश्वर तृतीय तथा तैलप तृतीय की मां चन्दल देवी[५] का उल्लेख करते हैं । चन्दलदेवी[६] चन्द्रलेखा का ही दूसरा नाम था ।

---

१. शिलाहारज, आफ वेस्टर्न इंडिया, ले० अ०स०अल्तेकर, इं०क०, जिल्द २, अंक२, पृ० ३६७

२. इं०ए०, जिल्द ५, पृ० २२१,२२२, और २२२ पृ० पर पाद टि०भी

३. फ्लीट, डा०क०डि०, पृ० ५४७, १८९६ ई० बम्बई ।

४. जी०एच० खरे, सोर्सेज आफ मेडीवियल हि०आफ० दी डेकन, भाग १, पृ० ३७ और

५. कन्नडदेश इंस्क्रिप्शन जिल्द १, पृ० ४१५, ५२२ याजदानी-अ०हि०उ०पृ०आगे २८, ३२, पा०टि० -४ व ६ ।

६. विक्रमां० ११।६८

इसके अतिरिक्त राजतरंगिणी में चन्दलदेवी पर हर्षदेव (१०८९ ई०) के आसक्त होने का विवरण निम्नलिखित है ।[१]

वह हर्षदेव कर्णाट देश के अधिपति परमार्डि की चन्दला नाम की सुन्दरी (पत्नी) को चित्र में देख कर कामदेव के शरों से घायल हो गया (आसक्त हो गया)

" धूर्तविट लोग जड़बुद्धि नरेशों को हँसी हँसी में कुत्तों के सदृश निरन्तर प्रोत्साहित एवं संघर्ष के लिए प्रेरित किया करते थे ।" विटों के द्वारा प्रेरित निर्लज्ज उस (हर्षदेव) ने सभा में चन्दला की प्राप्ति की हेतु तथा परमार्डि को परास्त करने की प्रतिज्ञा की ।

परमार्डि निस्सन्देह चालुक्य विक्रमांकदेव के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । राजतरंगिणी[२] में एक स्थान पर कहा गया है — " हर्षदेव को दाक्षिणात्य पद्धति रुचिकर थी, अतः उसने कर्णाट की अनुकृति पर 'टंक' नामक सिक्के चलाये ।" कनिंघम[३] महोदय ने मध्यकालीन भारतीय सिक्कों के विवरण में हर्षदेव के सिक्कों का विवरण भी प्रस्तुत किया है । ये सिक्के स्वर्ण निर्मित हैं और उन पर "हर्ष" का नाम अंकित है । कनिंघम महोदय ने भी उन्हें कर्णाट सिक्कों की अनुकृति माना है । यह साक्ष्य चालुक्यों के साथ हर्षदेव का सम्बन्ध जोड़ता है ।

इस प्रकार विद्याधर कुमारी चन्द्रलेखा का विवाह चालुक्य विक्रमांकदेव के साथ होना ऐतिहासिक तथ्य है ।

---

१. कर्णाटभर्तुः पर्माण्डेः सुन्दरीं चन्दलाभिधाम् ।
आलेख्यलिखितां वीक्ष्य सोभूत्पुष्पायुधक्षतः ।। ७।१११९ ।।
उत्तेजयन्ति संघर्षे हास्ये जडमतीन्विटाः ।
सारमेयानिवाजस्रं प्रोत्साद्य प्रकृताशयाः ।। ७।११२० ।।
स विटोत्प्रेरितो वीतत्रपश्चक्रे सभान्तरे ।
प्रतिज्ञां चन्दलावाप्त्यै पर्माण्डेश्च विलोडने । ७।।११२१ ।।
आगे ११३६ श्लोक तक चारण और विटों द्वारा चन्दला के बहाने हर्षदेव को बेवकूफ बना कर भाँति भाँति के धन पुरस्कार आदि लेने का वर्णन है ।

२. दाक्षिणात्याभवद्भंगि : प्रिया तस्य विलासिनः ।
कर्णानानुगुणष्टंक स्ततस्तेन प्रवर्तितः ।। तरंग ७।९२६ ।। (३. अगले पृष्ठ पर)

बिल्हण के अनुसार यह विवाह स्वयंवर विधि से हुआ था । उस समय विक्रम का कल्याण में राज्यारोहण ११ फरवरी, १०७६ ई० में हो चुका था।[१] बिल्हण का स्वयंवर वर्णन[२] संक्षेप में इस प्रकार है :—

"राज्यारोहण के पश्चात् वसंत ऋतु में विक्रम ने करहाटपति की कन्या चन्द्रलेखा के शिव के आदेशानुसार स्वयंवर करने का संवाद सुना और उसके रूप तथा गुण श्रवण से उस पर अनुरक्त हो गया । दूत ने आकर चन्द्रलेखा की विक्रम पर अनुरक्ति की सूचना दी । दिन बीते, स्वयंबर-काल उपस्थित हुआ और चन्द्रलेखा स्वयंवर मण्डप में प्रविष्ट हुई । चन्द्रलेखा ने क्रमश: अयोध्याकुमार चेदिराज, कान्यकुब्जनृपति, चम्बल कातटवर्ती अर्जुनकुलज नृपति, कालंजरगिरिपति, गोपाचलक्ष्मापति, मालवेन्द्र, गुर्जरेन्द्र , पाण्ड्यनृपति और चोल नरेशों को तिरस्कृत कर दिया । अंत में विक्रमादित्य को उसने स्वयंवर माला मर्पित की ।"

आलुपेन्द्र—

सोमेश्वर द्वितीय के शासन काल में विक्रमांकदेव कल्याणपुर छोड़ कर दक्षिण दिशा को चला आया और जयकेशी (कोंकणनरेश) से मिला । तदुपरान्त आलुपेन्द्र का संरक्षण किया । विल्हण की उक्ति निम्नलिखित है —

" धवल कीर्ति उस (विक्रमांकदेव) ने विनीत आलुपेन्द्र का संवर्धन किया । औद्धत्य का सूचक अविनीत होना ही उस प्रकार के महानुभावों (विक्रमांकदेव) के क्रोध को भड़काता है ।[३]

अवशेष-क्वायन्स आफ मेडिवियल इंडिया, पृ-९४, फलक-५ सं. २२,२३

१. विक्रमा० ६।६४—६६, अ०हि०डे०, पृ० २५५

२. विक्रमा०, सर्ग, ७,८, ९

३. आलुपेन्द्रमवदातविक्रमस्त्यक्तचापलमसाववर्धयत् ।
दीपयत्यतिनयाग्रदूतिका कोपमप्रणतिरेव तादृशाम् ।। ५।२६ ।।

~~४. हिस्ट्री आफ सुलुव, सलेतोर, पृ० ३०, १९३६ ई०, पूना~~

`तुलुव` का आलुव ऐतिहासिक नाम राजवंश के अतिरिक्त उस प्रदेश के लिए भी प्रयुक्त होता था।[१] `प्रपंचहृदयम्` में आलुव की गणना सप्त-कोंकण में हुई है। सप्तकोंकण —कूपककेरल, मूषिक, आलुव, पशुकोंकण, पर-कोंकणभेद से दक्षिण से उत्तर तक विस्तीर्ण था।[२] ये आलुव स्थानीय सरदार थे जो दक्षिण कन्नड में राज्य करते थे, जैसा कि हाल में प्राप्त हुए उनके शिलालेखों से ज्ञात होता है।[३] यह राजवंश `तुलुनाडु` में प्रथम शती ई० से मध्यकाल तक शासन करता रहा।[४] पुलकेशिन् द्वितीय के चचा मंगलेश के महा-कूट स्तम्भ लेख में (६०१—२ ई०) कीर्तिवर्मन (५६६—५६७ ई०) की विजयों में पाण्ड्य चोलिय, आलुक और वैजयन्ती का उल्लेख हुआ है।[५] `आलुप` शब्द का भिन्न भिन्न रूपों में प्रयोग मिलता है। जैसे आलुक, आलुप, आल्व, आल्व और आलुव।[६] आलुपों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सलेतोर[७] का मत है कि `आलुक` शेष का विरुद है (अर्थात् नागवंशियों में श्रेष्ठ) और अन्य प्रमाणों के आधार पर उन्हें नागवंशी माना जा सकता है।

आलुपों के प्राचीन विवरणों में आलुव, आलुवसर आदि विरुद उपलब्ध होते हैं, परन्तु पृथ्वीसागर आलुपेन्द्र (७३०- ७५० ई०) के बाद से `आलुपेन्द्र` विरुद आलुप नरेशों में बहुत प्रचलित हो गया।[८] इसीलिए बिल्हण

---

१. हिस्ट्रीआफ तुलुव, सलेतोर, पृ० ३०, १६३६, पूना

२. प्रपंचहृदयम्, पृ० ३—४, सं० गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम, संस्कृत सीरीज़

३. अ०हि०इ० —याजदानी, पृ० २१३

४. हि० तुलुव, पृ० ५६

५. सोर्सेज़ आफ कर्नाटक हिस्ट्री, भाग १, सं० २५, पृ० ३६, श्रीकण्ठशास्त्री, १६४० ईसवी।

६. हि० तुलुव, पृ० ५८, पा०टि०

७. हि० तुलुव, पृ० ६०-६१

८. वही, परिशिष्ट सी०, पृ० ६१८

ने भी उसे 'आलुपेन्द्र' ही कह कर सम्बोधित किया है।

आलुपों के वंशवृक्ष से यह समझने में सुगमता होगी कि विक्रमांक-देव ने किस आलुप नरेश का संवर्धन किया था ?

आलुप वंश वृक्ष[1]

बंकिमदेव आलुपेन्द्र (१०५०-१०५८ ई०(१०७० ई० तक)

|

उदयादित्यरस पाण्ड्यपट्टिदेव पट्टोदेय (१०७०-८८ई०)

|

पाण्ड्यचक्रवर्तिन् भुजवलकवि आलुपेन्द्र (१११३- ११५५ ई०)

विक्रमांकदेव और सोमेश्वर द्वितीय (१०६८—१०७६ ई०) कुछ दिन चैन के साथ रहे, पर कालान्तर में मनमुटाव हो गया और विक्रमांकदेव को कल्याणपुर का परित्याग करना पड़ा। संभवत: १०७० ई० के लगभग उसने कोंकण नरेश जयकेशी और आलुपेन्द्र के साथ मित्र सम्बन्ध स्थापित किये। दोनों ने सोमेश्वर द्वितीय के विरुद्ध विक्रम को पर्याप्त सहायता भी दी। बिल्हण ने भी उनके साथ युद्ध होने का संकेत नहीं दिया है। जयकेशी तो चालुक्यों के अधीन था ही आलुपेन्द्र भी छोटा राज्य होने से विक्रमांकदेव का विरोध करने में असमर्थ रहा होगा। फलत: जयकेशि के साथ[2] विक्रमांकदेव के आक्रमण करने पर आलुपेन्द्र ने बिना युद्ध के ही उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। आलुप विक्रमांकदेव के सामन्त थे। भुजबलकवि आलुपेन्द्र १०३८ ई० में स्वतंत्र हुआ था।[3] इसके अतिरिक्त सलेतोर महोदय ने एक अन्य प्रमाण भी प्रस्तुत किया है —

---

१. हि० तुलुव, पृ० ६१६

२. यश्च (श्चा) लुक्यं निजे राज्ये स्थापयन्विजितालुप:।

—फ्लीट, ज०बा०,ब्रा०रा०ए०सो०, जिल्द ६, पृ० २७८, पंक्ति १२

३. हि० तुलुव, पृ० २०६

"बाराकूरु (प्राचीनकिले के निकट और पंच लिंगेश्वर मन्दिर के पीछे) विक्रमादित्य का स्थान" कहा जाता है। यह विक्रमादित्य, उज्जैन का विक्रमादित्य कदापि नहीं हो सकता , जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं। वरन् चालुक्य विक्रमार्कदेव ही था। साथ ही तुलु अनुश्रुतियों में "विक्रमार्क" नाम भी मिलता है।[१]

कोङ्कण—

कोंकण नरेश जयकेशि कदम्ब कुल में उत्पन्न हुआ था। पंजिम अभिलेख में कहा गया है कि त्रिलोचन कदंब शंभु के पुर मंथन के समय उत्पन्न स्वेद बिन्दुओं के कदंब मूल पर गिरने से उत्पन्न हुआ था।[२] अतः यह राजवंश कदंब कहलाया। जयकेशि तृतीय के अभिलेख (११८६—७ ई०) के अनुसार कदंब वंश-वृक्ष निम्नलिखित है —

जयन्त त्रिलोचन कदंब .... शष्ठ देव -स- जयकेसी प्रथम

विजयादित्य प्रथम ------ जयकेशि द्वितीय

परमाडि या शिवचित्त — विजयादित्य द्वितीय (जयकेशि द्वितीय के पुत्र)

जयकेशि तृतीय (विजयादित्य द्वितीय का पुत्र)

सोमेश्वर आहवमल्ल की प्रारंभिक विजयों के प्रसंग में मालवा और डाहल की पराजय के पश्चात् निम्नलिखित वर्णन है —

" अत्यन्त भयभीत समुद्र ने तटवर्ती वनों में दीप्त अस्त्र समूह वाले जिस (आहवमल्ल) को (अपने को) हटाने के लिए पुनः आये हुए भार्गव (परशुराम) की शंका की।[३]

---

१. कदंबकुल (मोरेस कृत) पृ० २६४ (१९३१ई०) पर प्रकाशित जयकेशि प्रथम का पंजिम ताम्रपत्र, सं० २ ,

२. ज०बा०ब्रा०ए०सो०, जि० ९, पृ० २४१-२४५

३. यं वारिधिः प्रज्वलदस्त्रजालं [illegible] नितान्तभीतः ।
भूयः समुत्सारणाकारणेन समागतं भार्गवमाशशङ्के ।। १।१०७ ।।

' जिस नरेश के योद्धाओं द्वारा रत्नसमूह ग्रहण कर लिए जाने पर (समुद्र) तट पर फट कर बिखर गई मोतियों वाली सीपियों के व्याज से मानों जलनिधि ने तटवर्ती पाषाणों पर क्रोधित होने के कारण सर फोड़ डाला ।

' चढ़े हुए धनुष वाले जिस (आह्वमल्ल) को देखकर, सतत दु:ख के कारण समुद्र रक्त के सदृश रक्तिम पाषाणों के द्वारा मानों रामचन्द्र के बाणों से हुए जीर्ण घावों के गढ़ों (स्फोट)को दिखाने लगा । ' एक स्थान पर जिसके सेना समूह को अपने तट पर एकत्र हुआ देखकर , समुद्र जलराशि के अक्षुण्ण बने रहने के कारण अपने खारेपन की सराहना करने लगा ।

' दम्भरहित वीर जिसने समुद्र तट पर, स्वच्छन्द विहार करने वाले जल हाथियों के द्वारा आलान (खूंटा) के भय से ईर्ष्यापूर्वक देखे गये विजय स्तम्भ को गाड़ दिया ।

' देवों के द्वारा जिसका सारतत्व (अमृत) ग्रहण कर लिया गया है ऐसे समुद्र ने (अपने) तट पर विचरण करने वाली रानियों के लावण्य (रूपी अमृत) रस को प्राप्त कर अमृत को प्रत्यक्ष देखने का सुख प्राप्त किया ।[१]

इन श्लोकों में कोंकण विजय का उल्लेख है । इसमें समुद्र तट (कोंकण में) पर विजय स्तम्भ गाड़े जाने का उल्लेख है । यद्यपि विल्हण ने स्पष्टत: कोंकण नाम नहीं लिया , पर परशुराम द्वारा समुद्र हटा कर निकाले जाने के उल्लेख से, यह प्रतीत होता है कि यह प्रदेश कोंकण ही था । क्योंकि परशु-राम के द्वारा अपने निवास के लिए कोंकण का समुद्र से निकाला जाना प्रसिद्ध है ।[२]

नन्देर[3](हैदराबाद) से प्राप्त शक सं० ६६६ (१ अप्रैल, १०४७ ई०)

---

१. वही १।१०८--११२

२. कोंकण प्रदेश पहले समुद्र में स्थित था । परशुराम ने उसे अपने निवास के हेतु समुद्र को हटा कर बाहर निकाला था । यह पौराणिक कथा है ।

३. अ०हि०इ०, य जदानी, पृ० ३३०, १६६० ई०

के कन्नड़ अभिलेख में कहा गया है कि उसने अपने आक्रमण के भय से कोंकण नरेश को बलपूर्वक अपने चरणों पर अवनत किया। नागई अभिलेख[1] (१०५८ ई०) में वर्णित है कि कालिदास के पुत्र मधुसूदन ने कोंकण और मालवा पर विजय प्राप्त की थी। शास्त्रीजी[2] का अनुमान है कि नागवर्म की सेउण (यादव), विन्ध्य के राजा, पर विजय और मधुसूदन के विस्तृत युद्ध अभियान, जो कोंकण से धारा तक विस्तीर्ण था, के अंग थे। गुडचट्टी अभिलेख (१०५२—५३ ई०) में जयकेशि प्रथम को चालुक्य सोमेश्वर का महामण्डलेश्वर कहा गया है।[3]

जयकेशि नरेश के सम्बन्ध में बिल्हण की उक्ति इस प्रकार है —

" जयकेशि नरेश ने इसके समक्ष उपस्थित होकर मांगे हुए से अधिक धन प्रदान करके कोंकण देश की नारियों के मुख रूपी चन्द्र पर हास्य रूपी चन्द्रिका को स्थिर कर दिया (अर्थात् युद्ध न होने से वहां की नारियां प्रफुल्ल हो गईं।)[4]

गुडिचट्टी अभिलेख (१०५२ —५३ ई०) में जयकेशि प्रथम को जयसिंह के पुत्र चालुक्य सोमेश्वर का महामण्डलेश्वर कहा गया है।[4] कोंकण के कदम्ब और कल्याणी के चालुक्यों का मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, विक्रमांकदेव की पुत्री का विवाह जयकेसि (द्वितीय) के साथ हो जाने से दृढ़तर हो गया। अभिलेख में इस प्रकार कहा गया है —

". जब सम्राट परमाडिदेव उसकी (जयकेसि) राज्य सीमा पर पहुंचा, तो वह बड़ी प्रसन्नता के साथ परमाडिदेव से मिलने आया और परमाडिदेव ने उसे अपनी प्रिय पुत्री को प्रभूत आभूषण, बर्तन, कोष तथा अनेक प्रकार के वैवाहिक उपहारों के सहित प्रदान किया।[6]

---

१. हैद० आर्क० , सीरीज, नं० ८, पृ० १३, श्लोक ४३

२. अ० हि० द०, पृ० ३३१, १९६० ई०

३. फ्लीट, डा० क० हि०, पृ० ४३९, टि० १८९६

४. विक्रम ४/२५

५. डा० क० हि०, पृ० ४३९, पा० टि० १८९६

६. ए० इं०, जिल्द, १३, पृ० ३१०

मोरेज महोदय का कथन है — ' आश्चर्य है कि बिल्हण ने इस घटना को उल्लेख विक्रमांकदेवचरित में क्यों नहीं किया ? वह इतना ही कह कर जाता है कि जब विक्रमादित्य मलयदेश से होकर प्रस्थान करता है तो जयकेशि उसके समस्त उपहारों के सहित उपस्थित होता है ।'[१]

मेरा अनुमान है कि विक्रमांकदेव ने राज्यारोहण (१०७६ ई०) के पश्चात् राज्यप्राप्ति में जयकेशि की सेवाओं से प्रसन्न होकर अपनी पुत्री (मल्लल महादेवी)[२] के साथ यह विवाह सम्बन्ध किया होगा । जयकेशि की सेवाएं अनेक हैं जिनसे इस अनुमान की पुष्टि होती है । जयकेशि ने कांची में चालुक्य और चोल में मैत्री कराई थी ।[३] यह संभव है कि जयकेशि चोल राजाओं की राजधानी कांची में विक्रम के दूत के रूप में गया हो । सम्भवत: इसका सम्बन्ध विक्रमांकदेवचरित में वर्णित 'विक्रमांकदेव का चोल कन्या के साथ विवाह[४] से है । इस प्रकार चिर शत्रु पर शक्तिशाली चोलों के साथ मैत्री करा कर तथा युद्ध में सोमेश्वर द्वितीय के विरुद्ध विक्रमांकदेव का साथ देकर जयकेशी ने विक्रमांकदेव का महत् उपकार किया था । अभिलेख में जयकेशि के सम्बन्ध में और जिसने आलुपों को जीत कर चालुक्य (विक्रमांकदेव) को अपने राज्य में स्थापित किया'[५] यह कथन इसकी पुष्टि करता है । अत: विक्रमांकदेव की पुत्री के विवाह की घटना विल्हण के प्रस्तुत विवरण से कोई सम्बन्ध नहीं रखती ।

---

१. However, it is strange that Bilhaṇa does not mention this event in his Vikramāṅkadeva - Cavita. He merely says that when Vikramāditya marched through the Malaya country Jayakeśi came to him and brought his presents.

M.Moreas, Kadamba Kula, P-183.

२. फ्लीट, ज०ब०ब्रा०रा०ए०सो०, जिल्द, ६, पृ० २४२, पंक्ति ६ व ७

३. चालुक्यचोलभूपालौ कांच्यां मित्रे विधाय य: (पंक्ति १)
पैर्माडिर्यैनिधीं चाप्यालीढ़ायपितामह: ।। (पंक्ति २) -वही, पृ० - २४२

४. ६ ठां सर्ग, ~~वही पृ० २४२~~

५. यश्च (श्चा)लुक्यं मिचे राज्ये स्थापयन्विजितालुप: ।
—फ्लीट,ज०ब०ब्रा०रा०ए०सो०, जिल्द ६, पृ०२६२ ,पं०१२ .

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि सोमेश्वर द्वितीय से मन मुटाव होने के पश्चात् विक्रमांकदेव कदंब जयकेशी के पास सोमेश्वर द्वितीय पर आक्रमण करने के हेतु सहायता प्राप्त करने गया था और उसे जयकेशि से आशातीत सहायता प्राप्त भी हुई ।

केरल या मलय नरेश —

विक्रमांक देव की केरल विजय का वर्णन बिल्हण ने (भंग्यन्तर) से दो बार किया है दोनों एक ही घटना के सूचक हैं :—

विक्रमांकदेव की दिग्विजय यात्रा के प्रसंग में —

" उस (विक्रमांकदेव) के हाथियों ने खेल खेल में मलय (चन्दन) वृक्षों के साथ साथ केरलियों के घुंघराले केश-पाश रूपी लताओं को भी छिन्न-भिन्न कर दिया । (अर्थात् केरलनिवासी पुरुष वृक्ष का छेदन कर देने के कारण विधवा केरलांगनाओं के केश रूपी लताओं को तोड़ डाला , क्योंकि विधवायें केश मुण्डन करा देती हैं —यह लोकाचार है) ।

" उस (विक्रमांकदेव) ने केरल नरेश के रुधिर से दूषित समुद्र ने अगस्त्य मुनि के भय को छोड़ दिया (अर्थात् अब दूषित हो जाने से अगस्त्य मुनि द्वारा अपने पिये जाने का भय न रहा) ।[१]

वनवास मण्डल में विश्राम करके आगे प्रस्थान किया —" वह (विक्रमांकदेव) सेना की तुरही की ध्वनि से मलयदेश नरेश को पहले (दिग्विजय काल में) दिखाये गये पराक्रम का स्मरण कराते हुए सत्व गति से धीरे धीरे आगे प्रस्थान किया ।

"पहले हुई (संभवत: दिग्विजय काल) इस (विक्रमांकदेव) की निरंतर शर-वृष्टि ने केरल नरेश की रानियों के कपोलों पर अश्रुओं को दिखाया (अर्थात्

---

१. अभज्यन्त गजैस्तस्य लीलया मलयद्रुमा: ।
सम केरल कान्तानां चूर्णा [illegible]लताभि: ।।४।२ ।।
श्लोक ३ से १७ तक केरल का वर्णन मात्र है ।
तेन केरलभूपाल-की[illegible]कलुषीकृत: ।
अगस्त्यमुनिसंत्रासमत्याज्यत पयोनिधि: ।। ४।१८

पूर्वोक्त आक्रमण से भयभीत होकर रोने लगीं ।)[१]

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि दिग्विजय काल में विक्रमांक देव ने केरल नरेश या मलय नरेश को जीता था ।

राजराज महान् (६८५ से १०१४ ई०) से लेकर परवर्ती चोल नरेश निरन्तर केरल, पाण्ड्य, सिंहल के नरेशों पर आक्रमण करते रहे । विजित हो जाने पर भी इन नरेशों ने चोलों के विरुद्ध पुन: पुन: सर उठाये, क्योंकि सभी परवर्ती चोल नरेश इन प्रदेशों को जीतने का उल्लेख करते हैं । केरल आदि नरेशों ने चोल आक्रमण से घबड़ा कर चोलों का विरोध मिल कर किया ।[२] इस प्रकार चोल युद्धों ने इन राज्यों को निर्बल बना दिया था । अत: विक्रमांकदेव केरल को सुगमता से जीत सका । चोल चालुक्य संघर्ष से होयसलवंशी `नृपकाम` अपने ग्राम सोसावीर (संस्कृत-शशकपुर) के आसपास के स्थानों पर अधिकार करता हुआ `राजमल्ल पेरुमाड़ आदि` विरुद धारण किया ।[३] उसके पश्चात् उसका पुत्र विनयादित्य (१०४७ ई० के लगभग) केरल का शासक हुआ ।[४] विनयादित्य अपने राज्य विस्तार के कारण अपने परवर्ती वंशजों के लेखों में नृपकाम से कहीं अधिक स्मृत होता रहा ।[५]

१०५५ ई० के लगभग विक्रमांकदेव गंगवादि में गवर्नर था ।[६] अत: ऐसा

---

१. उच्चचाल पुरत: शनैरसौ लीलया मलयदेशभूभुजाम् ।
पूर्वदर्शितपराक्रमस्मृतिं सैन्यतूर्यनिनादै:प्रबोधयन् ।। ५।२४।।
व्यापृतैरविरतैं शिलीमुखै: केरलक्षितिपवामचक्षुषाम् ।
पूर्वकल्पितमसावकल्पयद् गण्डपालिषु निवासमश्रुण: ।। ५।२७।।

२. दी चोलस, पृ० १६८ से आगे, १६५५, मद्रास दूसरा संस्करण

३. स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० २२७

४. दी होयसलस, डिरैट, पृ० २१, १६५७ ई०

५. वही, पृ० २३

६. एपी०इंडि०, १३, पृ० १६८ आगे भी

प्रतीत होता है कि उसने उस तिथि के आस पास केरल को जीता और विनयादित्य की सहायता से चोल पाण्ड्य और सिंहल की सेनाओं को परास्त किया।[१]

आहवमल्ल की मृत्यु और सोमेश्वर द्वितीय के राज्यारोहण (१०६८ई०) के बाद विक्रमांकदेव अपने अनुज जयसिंह के साथ दक्षिण की ओर चला आया।[२] दिग्विजय काल में हुई अपनी पराजय का स्मरण करके[३] ही प्रतिशोध की भावना से संभवत: विनयादित्य सोमेश्वर द्वितीय का सहायक बन गया।[४] सोमेश्वर के सम्राट अभिषिक्त हो जाने से उसने विक्रमांकदेव की अधीनता अस्वीकृत कर दी होगी। परन्तु १०७६ ई० में विक्रमांकदेव के कर्णाटपति हो जाने पर उसने पुन: विक्रम की अधीनता स्वीकार कर ली, क्योंकि हम विनयादित्य को अनेक युद्धों में विक्रम का साथ देता हुआ पाते हैं।[५]

पाण्ड्य—

विक्रमांकदेवचरित में पाण्ड्य नरेश का दो बार उल्लेख आया है। विक्रमांकदेव के दिग्विजय के प्रसंग में और चन्द्रलेखा स्वयंबर में।[६] इन नरेशों के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व पाण्ड्यों के पूर्ववर्ती इतिहास पर भी दृष्टि-पात करना आवश्यक है।

पाण्ड्यों ने अपने दीर्घकालीन इतिहास में अनेक उत्थान व पतन के दृश्य देखे। परन्तु दशम शताब्दी के प्रथम चरण से तेरहवीं शती के प्रारम्भ तक पाण्ड्य राज्य परतन्त्र रहा और चोल साम्राज्य का अंग बना रहा। इस काल

---

१. विक्रमा० ४।४५
२. वही, ५।१ आदि
३. वही, ५।२४
४. दी होयसलज, पृ० २६
५. वही, पृ० ३१—३२
~~६. दी पाण्ड्यन किंगडम — नीलकण्ठ शास्त्री, लंदन, १९२९, पृ० ९९~~
६. विक्रमा० ४।४५ और ९।११९, १२०.

सीमा में पाण्ड्य नरेशों के गिने चुने शिलालेख ही उपलब्ध हो सके हैं, अन्यथा चोल अभिलेखों से ही भरे पड़े हैं। इससे एक बात तो स्पष्ट है कि पाण्ड्य नरेशों ने अपनी भूमि पर कभी भी चोल शासन को स्वीकार नहीं किया, फलत: समय समय पर उसने स्वतंत्र होने के लिए विद्रोह किया और चोल नरेशों को विद्रोह दमन के लिए अनेक युद्ध करने पड़े। यही नहीं चोल नरेशों को लाचार होकर वहां के राजवंश के सदस्यों को पाण्ड्य राज्य का अधिकारी बनाना पड़ा। इस प्रकार के चोल पाण्ड्यगवर्नरों के अनेक लेख प्राप्त हुए हैं। इन असंबद्ध लेखों के द्वारा हमें कुछ ही पाण्ड्य नरेशों के नाम मिलते हैं जिनके परस्पर के रिश्तों का भी कुछ पता नहीं लगता।[१]

राजेन्द्र चोल को सम्भवत: अपने शासन काल के १० वें वर्ष मदुरा पर आक्रमण करना पड़ा था। युद्ध में पाण्ड्य नरेश अगस्त्य पर्वत में जा छिपा। इस विजय के बाद जो १०२० ई० के आसपास हुई थी, लगभग अर्धशती के लिए पाण्ड्यशासन चोल राजवंश के हाथ में आ गया और यहां के चोल पाण्ड्य गवर्नरों का शासन रहा। राजेन्द्र चोल के उत्तराधिकारी राजाधिराज के लेखों में प्रथम चोल पाण्ड्य वायसराय जटावर्मन् सुन्दर चोल पाण्ड्य का उल्लेख हुआ है।[२] इसके अतिरिक्त राजेन्द्रदेव के ऐतिहासिक परिचय (१०५२-१०६४ ई०) में कहा गया है कि उसने अपने एक छोटे भाई को विजयी मुम्मडिशोलन अर्थात् बालक चोल पाण्ड्य कह कर सम्मानित किया है।[३] अन्यत्र कुछ वर्ष बाद वीर-राजेन्द्र प्रथम ने अपने पुत्र गंगैकोण्डचोल को 'पण्डिमण्डलम्' और 'बालक चोल पाण्ड्य' कह कर आदर दिया।[४]

---

१. दी पाण्ड्यन किंगडम—नीलकण्ठ शास्त्री, लंदन, १९२९, पृ० ९९

~~विक्रमा० ४।४५ और ६।११९,१२०~~

२. वही, पृ० ११०

३. एनु०रि० आफ एपीग्रेफी, मद्रास, १९१७, पृ० १०७-०८

४. सा०इं०इं०, भाग ३, पृ० ३३

दी पाण्ड्यन किंगडम, पृ० ११०

यद्यपि चोल-पाण्ड्य नरेश केन्द्रीय चोल शासन के अधीन थे तथापि इस बीच भी पाण्ड्य राज्य का पूर्ववर्ती राजवंश सतत प्रयत्नशील था और विजेताओं को कष्ट दे रहा था । क्योंकि राजेन्द्र प्रथम गंगैकोण्ड और राजेन्द्र द्वितीय (कुलोत्तुंग) के मध्य शासन करने वाले प्रत्येक नरेश अपनी विजय तालिका में पाण्ड्य विजय का उल्लेख करते हैं । परन्तु प्राप्त प्रमाणों के ~~मूल्यांकन के~~ आधार पर हम उनका विस्तृत विवरण या परिणामों को देने में असमर्थ हैं ।[१]

पाण्ड्यों के इस उलझे और अस्पष्ट इतिहास से यह पता लगाना असम्भव सा है कि विक्रमांकदेव ने किस पाण्ड्यनरेश को अपने दिग्विजय अभियान में निस्तेज किया था ?

वीर राजेन्द्र के शासनकाल के चौथे वर्ष के (१०६६ ई०) करुवूर लेख से ज्ञात होता है कि वीरराजेन्द्र ने पोत्तप्पि नरेश , धारा नरेश जननाथ के अनुज केरलेश , और पाण्ड्य श्रीवल्लभ के पुत्र वीरकेसरि का बध कर दिया ।[२] दूसरी ओर हमें ज्ञात है कि वीरराजेन्द्र ने गंगैकोण्डचोल या तिरुमिठलु मैन्दन् नामक पुत्र को चोल पाण्ड्य गवर्नर बनाया था ।[३] अत: वीरकेसरि पाण्ड्य ही दिग्विजय काल का पाण्ड्य शासक रहा होगा ।

अत: ऐसा प्रतीत होता है कि केरल से आगे पाण्ड्य और सिंहल की ओर अग्रसर होने पर वीरकेसरि पाण्ड्य और विजयबाहु सिंहल नरेश ने विक्रमांकदेव के साथ सन्धि कर ली , क्योंकि दोनों राजवंश चोल आक्रमणों से त्रस्त थे और स्वतंत्र होना चाहते थे । इसके अतिरिक्त पाण्ड्य तथा लंका के शासकों में परस्पर आनुवंशिक और राजनीतिक सम्बन्ध थे ।[४] सिंहल के साथ मित्र सम्बन्ध के संकेत

---

१. ~~प्रा०इं०इ०, भाग २, पृ० ३३,~~ दी पाण्ड्यन किंगडम, पृ० ११९

२. साउ०इं०इं० ३,पृ०२० दी चोलज़, पृ० २६७, १९५५

३. वही, पृ० ३० , दीपाण्ड्यन किंगडम, पृ० ११०

४. पाण्ड्यन किंगडम, पृ० ११२—१३

विक्रमांकदेव चरित [१] और महावंश [२] में भी मिलते हैं। सम्भवत: इससे ही चिढ़ कर वीरराजेन्द्र ने चालुक्यों पर आक्रमण कर दिया। [३] बिल्हण ने सिंहल नरेश के पराजय के पश्चात् चोल आक्रमण का वर्णन किया है [४], अन्यत्र वह पाण्ड्य राज्य, चोल, सिंहल संघर्ष का एक साथ उल्लेख भी करता है। [५] १०६६ ई० के लगभग शायद इसीलिए वीरराजेन्द्र ने सिंहल पर आक्रमण करने के पश्चात् [६] वीरकेसरि पाण्ड्य का वध करके पाण्ड्य देश में अपने पुत्र गंगैकोण्ड को चोल - पाण्ड्य गवर्नर नियुक्त किया था।

स्वयंवर का पाण्ड्य नरेश —

पाण्ड्य नरेश सम्बन्धी बिल्हण का विवरण निम्नलिखित है —

" चन्दन लेप से शुभ्र अत्यन्त विशाल और सुन्दर शरीर वाला यह पाण्ड्य नरेश क्षीरसागर के दुग्ध में सराबोर मन्दराचल के सादृश्य को प्राप्त हो रहा है।

" हे कमलनयनी ! यदि तुम्हारी इच्छा इस (पाण्ड्य नरेश) के साथ मैत्री करने की हो तो क्रीडा उद्यान में चन्दन वृक्षों के मलय वायु तुम्हारी सेवा में नित्य रहेंगे (अर्थात् पाण्ड्य नरेश को वरण करने पर तुम्हें मलयानिल का सुख नित्य प्राप्त होगा)" [७]

---

१. विक्रमा० १।६६

२. चूलवंस, पृ० २१६- ८,

३. विक्रमांक० ४।२०—८

४. वही ४।४५

५. विक्रमा०, ४।२ —२८ और ४५, सा०इ०इ० ५।६४७ और ७।७४३ एवं ५।६७६ अ०हि०यु०, पृ० ३४१+८१

६. चूलवंस ५८।१-१७, शार्ट हिस्ट्री आफ सीलोन, कार्डिंगन्टन, पृ० ५६,३४ दी चोलज़ - शास्त्री, पृ० २७१ और टि० १५६

७. श्रीखण्ड चर्चापरिपाण्डुरोऽयं पाण्ड्य: प्रकामोन्नतचारुदेह: ।
क्षीरोदधिक्षीरपरिप्लुतस्य धातुर्विभाभामति मन्दराद्रे: ।।
अनेन मैत्रीं यदि मन्यते ते मनोभवस्तामरसायताक्षि ।
लीलावने चन्दनपादपानां श्रयन्तु नित्यं मलयानिलास्त्वाम्।।
—विक्रम० सर्ग ६।११६,१२०

बिल्हण के विवरण के अनुसार प्रतीत होता है कि पाण्ड्य नरेश चन्दन लेप के कारण शुभ्र वर्ण और आकर्षक था । यह विवरण बिल्कुल सामान्य है इससे पाण्ड्य नरेश के सम्बन्ध में कोई विशिष्ट सूचना नहीं प्राप्त होती । पाण्ड्य देश में चन्दन वृक्ष का बाहुल्य अवश्य सूचित होता है, जो वहां की उपज है ।

पूर्वी चालुक्य नरेश राजेन्द्र या कुलोत्तुंग के राज्यारोहण (१०७० ई०) के पूर्व चोल राज्य में अराजकता होने के कारण पाण्ड्य नरेशों को स्वतंत्र होने का अवसर मिला क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि इन चोल-पाण्ड्य गवर्नरों की व्यवस्था का संकेत कुलोत्तुंग और उसके उत्तराधिकारियों के काल में नहीं मिलता जैसा विजयालय राजवंशी चोल नरेश के शासन काल में था ।[१] कांजीवरम् से प्राप्त एक अभिलेख (जून १६४७ ई०)में कुलोत्तुंग को पाण्ड्य नरेश का वधकर्ता कहा गया है । पाण्ड्य नरेश का मस्तक ~~कांजीवरम् से प्राप्त~~ कुलोत्तुंग के राज्यारोहण के अवसर पर नगर के बाहर चीलों द्वारा नोचा जा रहा था । जिसके उल्लेख अन्य परवर्ती लेखों में भी मिलते हैं ।[२] अत: १०७० ई० में कुलोत्तुंग ने यह विजय की थी । चिंगिलपुर और तंजौर से प्राप्त अभिलेखों में (१०८३-८५ ई०) कुलोत्तुंग का मदुरा के पाण्ड्यों के साथ युद्ध वर्णित है, जिसमें पाण्ड्य नरेश पराजित हुआ था और उसने मदुरैकोण्ड विरुद धारण किया था ।[३] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि कुलोत्तुंग कभी भी पाण्ड्य देश पर अपना स्थायी शासन स्थापित नहीं कर सका । फलत: वह पाण्ड्यों के साथ निरन्तर युद्ध करता रहा ।

जटावर्मन् श्री वल्लभ के अनेक अभिलेख तिन्नेवेल्लि और मदुरा जिलों से प्राप्त हुए हैं । पराक्रम पाण्ड्य और वीर पाण्ड्य जटावर्मन् श्रीवल्लभ के दो पूर्वजों को पाण्ड्य देश की कृषि को उन्नत करने वाला कहा गया है ।[४]

---

१. दी पाण्ड्यन किंगडम, पृ० ११४

२. हि०इ०,सा०इ०,पृ० ८४।५, सा०इ०इ०, ३, १२५,१३६,१४३ , सं० ६४,६८, इ०ए०, १८६२,पृ० २६१

३. वही, पृ० ८८, दी चोलज़—दूसरा संस्करण, पृ० ३११-१४

४. रि०सा०एपी० १६०६, खण्ड १, अनुच्छेद, २३

श्रीवल्लभ १११५ ई० में पाण्ड्य नरेश बना था। चोलों को परास्तकरके स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् श्री वल्लभ ने "चोलान्तक" विरुद धारण किया। परन्तु शास्त्री जी के अनुसार लेख की भूमिका में इस उल्लेख के न होने से संभवत: यह विजय वीर पाण्ड्य द्वारा की गई थी और उसी पुराने विरुद को श्रीवल्लभ ने भी परम्परया धारण किया था।[1]

श्रीवल्लभ के अभिलेखों में उल्लिखितपराक्रम पाण्ड्य और वीर पाण्ड्य के शासन काल की कोई तिथि ज्ञात नहीं है। अत: यह कहना कठिन है कि चन्द्रलेखा स्वयंवर (१०७६-७७ ई०) के अवसर पर उपस्थित पाण्ड्य नरेश कौन था ? परन्तु यह संभावना अवश्य है कि १०७६ ई० में जब कुलोत्तुंग जब विक्रमांकदेव के साथ संघर्षरत था, पाण्ड्य नरेश ने अवश्य स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया होगा।

सिंहल आदि द्वीप —

चालुक्य नरेशों की सामान्य प्रशस्ति करने के प्रसंग में द्वीपों के सम्बन्ध में बिल्हण की उक्ति इस प्रकार है —

" भुजाओं के पराक्रम से द्वीपों के नरेशों के समूलोच्छेदन में प्रवृत्त वे (चालुक्य नरेश) विभीषण के राज्य (लंका) में विष्णु की प्रतिष्ठा है (क्योंकि विभीषण विष्णु के अवतार राम का उपासक था) यह सोच कर संकुचित हो गये (अर्थात् लंका विजय नहीं की)।"

" जिन (चालुक्यों) के अश्वों ने कर्पूर के पराग के सदृश शुभ्र द्वीपों में लोटने का स्वाद लेकर........ ।"[2]

यह विवरण सामान्य है। इसमें से ऐतिहासिक तथ्य निकालना असंभव

---

१. दी पाण्ड्यन, किंगडम, पृ० १२०-२१

२. द्वीपाक्षमापालपरम्पराणां दोर्विक्रमादु[illegible]सास्ते।
विष्णोः प्रतिष्ठेति विभीषणस्य राज्ये परं संकुचिता बभूवुः ।। विक्र०१।६६
द्वीपेषु कर्पूरपरागपाण्डु-ष्वास्वाद्य [illegible] ।।
.... ।। वही १।६७

नोट — द्वीपेषु कर्पूरपरागपाण्डुषु" अंश श्री विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज ने

है । चालुक्यों की रैवती द्वीप विजय का स्पष्ट उल्लेख ऐहोल के पुलकेशी के लेख में मिलता है, जिसमें वर्णित है कि मंगलेश (५६७-९८ ई०) ने जब रैवतीद्वीप (गोवा) को जीतना चाहा तो उसकी सेना उस द्वीप की प्राचीर पर चढ़ी हुई, समुद्र में प्रतिबिम्बित होकर, वरुणा की सेना सी प्रतीत होती थी ।[१] परवर्ती चालुक्य अभिलेखों से ज्ञात होता है कि मंगलेश के पास सारे द्वीपों को जीतने के हेतु पर्याप्त सैन्य शक्ति थी और उसकी सेना में नौकाओं के सेतु से समुद्र पार कर रैवती द्वीप पर आक्रमण किया था ।[२] परन्तु अन्य द्वीपों के सम्बन्ध में चालुक्य विवरण मौन है । बिल्हण के वर्णन से केवल इतना संकेत मिलता है कि चालुक्यों ने विभीषण के राज्य (लंका) पर आक्रमण नहीं किया ।

किन किन द्वीपों पर आक्रमण किया ? यह प्रश्न बना ही रह रह जाता है । द्वीपों का नामोल्लेख न होने से यह अभिप्राय निकालना असंगत न होगा कि चालुक्यों की यश: प्रशस्ति पूर्वी द्वीपों .... तक विस्तीर्ण थी क्योंकि बिल्हण की चालुक्य सभा में स्थिति, काल तक, चालुक्य नरेश विक्रमांक देव ने प्रभूत कीर्ति अर्जित कर ली थी ।

सिंहल द्वीप नृपति —

सिंहल द्वीप का उल्लेख बिल्हण ने ऐतिहासिक दृष्टि से चार बार किया है, जो निम्नलिखित है —

१. चालुक्य नरेशों की सामान्य प्रशस्ति में —' वे (चालुक्य नरेश) विभीषण के राज्य (लंका) में विष्णु की प्रतिष्ठा है (क्योंकि विभीषण विष्णु के अवतार राम का उपासक था) यह सोचकर संकुचित हो गये

---

१. ए०इ०, जिल्द ४, पृ० ८

२. अ०हि०द०-याजदानी, पृ० २१०

पिछले पृष्ठ का अवशेष—
कर्पूर द्वीप अनुवाद किया है, परन्तु बहुवचन के प्रयोग से कर्पूर के पराग के सदृश शुभ्र अर्थ ही समीचीन है । पूर्वी द्वीपों से कर्पूर प्राप्त होता है यह ध्वनि अवश्य है ।

(अर्थात् लंका विजय नहीं की)[१]

२. आहवमल्ल विक्रमांकदेव की प्रशंसा कर रहे हैं — " लंका के समीपवर्ती समुद्र से निःसृत राक्षसी सी यह राजलक्ष्मी रक्त रूपी सुरा से तृप्त होती है । (परन्तु यह तुम्हारे भुज-दण्डों से आबद्ध हो जाने पर विनयशीला हो जायेगी ।[२]

३. दिग्विजय यात्रा के प्रसंग में — " उस (विक्रमांकदेव) के भय से शरण में आये हुए सिंहल (अगस्त्य की शरण में) नृपति ने लोपामुद्रा के पति अगस्त्य मुनि के आश्रम में ही विश्राम लिया (अर्थात् भयाक्रान्त होने के कारण राज्य से भाग कर मुनि के आश्रम में शरण ली , क्योंकि आश्रम में हिंसा वर्जित होती है ।)[३]

४. आहवमल्ल की मृत्यु का संदेश लाने के दूत की उक्ति है — " सिंहल को आक्रान्त (भीत) करने वाली तुम्हारी (विक्रमांकदेव) विजय को सुन कर महाराज सुखी थे ।[४]

उपर्युक्त चारों विवरण काव्यात्मक हैं उनसे निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :—

१. चालुक्य विष्णु की प्रतिष्ठा होने से विभीषण के राज्य लंका में नहीं गये ।

२. बाद के दोनों विवरण दिग्विजय कालीन एक ही विवरण का संकेत देते हैं । जिसमें सिंहल भूपति के भयाक्रान्त होकर भाग जाने का वर्णन है ।

---

१. विष्णोः प्रतिष्ठेति विभीषणस्य राज्ये परं संकुचिता बभूवुः ।। १।६६

२. लंकासमीपाम्बुधिनिर्गतेयं रक्तासवैस्तृप्यति राक्षसीव ।
   लक्ष्मीरसौ त्वद्भुजदण्डबद्धा पात्रं भवित्री विनयव्रतस्य ।। ३।४७

३. तद्भयात्सिंहलद्वीप-भूपतिः शरणागतः ।
   विशश्रामाश्रमपदे लोपामुद्रापतेर्मुनेः ।। ४।२०

४. .... आ[illegible]सिंहलम् ।
   .... । ४।४५ ।।

विक्रमांकदेवचरित के उपरिलिखित विवरणों के अतिरिक्त महावंश से भी विक्रमांकदेव के साथ सिंहलनृपति विजयबाहु का मित्र सम्बन्ध समर्थित है। उसमें कहा गया है कि कर्णाट (विक्रमादित्य) के पास विजयबाहु ने दूत और भेंट भेजे जिसे उसने स्वीकार कर लिया।[१] यह घटना १०८८ ई० के आस पास की है। इसके अतिरिक्त विक्रमांकदेव का वैष्णव होना भी विक्रमांकदेव चरित[२] तथा अभिलेखिक साक्ष्य[३] से समर्थित है।

विक्रमांकदेव के दिग्विजय अभियान के समय सिंहल नरेश विजय बाहु रहा होगा, जो विक्रमांकदेव की शरण आया था। प्राप्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सत्रह वर्ष की आयु में १०५८ ई० में विजयबाहु ने रोहण (दक्षिण सिंहल) को स्वतंत्र किया था। परन्तु अनुराधपुर में प्रवेश और सिंहल का स्वतंत्र शासक १०७५ ई० के लगभग हुआ।[४] इस प्रकार विजयवाहु १०५८ ई० से निरन्तर चोल आधिपत्य से सिंहल के उद्धार का प्रयत्न करता रहा।

बिल्हण के विवरण के अनुसार केरल और पाण्ड्य विजय के पश्चात् विक्रमांकदेव ने सिंहल नरेश को हराया था। इस युद्ध में विजयबाहु ने विक्रमांकदेव की सहायता की होगी, जिसमें उत्तर सिंहल के चोल गवर्नर की आंशिक पराजय हुई होगी। इससे चिढ़ कर ही सम्भवत: वीरराजेन्द्र ने चालुक्यों पर आक्रमण कर दिया। जिसके विवरण विक्रमांकदेव चरित और चोल अभिलेखों (१०६१ और १०६२ ई०) में मिलते हैं।[५] कुडुलशन्गमम् युद्ध से अवकाश पाकर (१०६६ ई० के लगभग) उसके सिंहल नरेश पर आक्रमण करने[६] से भी इसी बात की पुष्टि होती है।

---

१. चूलवंस १, पृ० २१६-८

२. १७।१५-२०

३. ए०इ०,१२, पृ० १४२, १०८७ ई० का नीलगुण्ड ताम्रपत्र।

४. ए शार्ट हिस्ट्री आफ सीलोन, पृ० ५७, १९४७, दी चोलाज़, पृ० ३१०-३१६, १९५५ ई०

५. विक्रमा० ४।२ से २८ और ४५, सा०इ०इ०, ५।६४७, ७।७४३, ५/९७६ और अ०ट्रि०इ०,पृ० ३४१-३

६. दी चोलज़, पृ० २७१ और टि० १६२

<u>कांची और गांगकुण्ड के चोल -</u>

चोलों के सम्बन्ध में बिल्हण की प्रथम उक्ति इस प्रकार है :- (अयोध्या से आकर दक्षिण में बसे हुए १।६४-५) उस चालुक्यवंश में उत्पन्न हुए राजाओं ने चोलाङ्गनाओं के रहस्यमय विलासों के साक्षी दक्षिणी समुद्र के तट पर विशाल हाथियों के दांतों की नोक रूपी लेखनी से सहज में ही विजय प्रशस्ति लिख दी ।"[१]

यह चोल-संघर्ष का सामान्य विवरण है । निष्कर्षतः , अनुमान किया जा सकता है कि प्रथम सर्ग में व्यक्ति विशेष के "चोल-विजय" का वर्णन अभीष्ट न होने से कवि की दृष्टि में अपने आश्रयदाता विक्रमांकदेव , जिनकी विजयों से उसका साक्षात् परिचय था,[२] के द्वारा किये गये चोल संघर्ष का वर्णन करना रहा होगा ।

(१०१८ -१०५४ ई०) राजाधिराज चोल और आहवमल्ल (१०४२-१०६८)

" पृथ्वी के तिलकभूत जिस (आहवमल्ल) के कृपाण ने शत्रुओं के प्रताप को अत्यधिक मात्रा में पीकर -चोलांगनाओं के कपोलों पर लगे हुए चन्दन का अश्रुजलों से धोकर (शीतल होने के हेतु), पान कर लिया ।" [३]

इसमें आहवमल्ल का चोलों के साथ संघर्ष वर्णित है । यह शब्द बिल्हण के अनुसार आहवमल्ल का प्रथम युद्ध था । हमें विदित है कि चालुक्य जयसिंह जगदेकमल्ल मुसंगि युद्ध के पश्चात् (१०२१ई०) रायचूर की भूमि पर

---

१. तदुद्भवैर्भूपतिभिः सलीलं चोलीरहः - साक्षिणि दक्षिणाब्धेः ।
करीन्द्रदन्तांकुरलेखनीभिर्लेखि कूले विजय-प्रशस्ति : ।। १।६५ ।।

२. विक्रमां० १७।४२-६८

३. कौक्षेयकः क्ष्मातिलकस्य यस्य पीत्वातिमात्रं द्विषतां प्रतापम् ।
आलोड्य बाष्पाम्बुभिराचचाम चोलीकपोलस्थलचन्दनानि ।। वि० १।९० ।।

अधिकार करके तुंगभद्रा तक पहुंच गया था । १०३३ ई० में उसका एक सामन्त नोलम्बवाहि ३२००० पर शासन कर रहा था ।[१] दीर्घकाल तक शान्त रहने के पश्चात् १०४२ ई०[२] में त्रैलोक्यमल्ल आहवमल्ल सोमेश्वर प्रथम ने राज्यारोहण के तुरंतबाद वेंगिपर आक्रमण करके शान्ति भंग की । इस आक्रमण में उसे आंशिक सफलता भी मिली । नरेगल (१०४४ ई०) अभिलेख[३] से ज्ञात होता है कि महामण्डलेश्वर सोभनरस ने "वेङ्गिनाथ" विरुद धारण किया था, जो बेल्वोले ३०० और पुरिगेरे ३०० में युवराज की हैसियत से शासन कर रहा था । अत: यह युद्ध १०४२ से १०४४ ई० के बीच हुआ था ।

दूसरा संघर्ष — संभवत: वेङ्गि पर पुन: अधिकार करने के लिए चोल-राज राजाधिराज ने चालुक्यपर आक्रमण कर दिया, जिसका वर्णन बिल्हण ने इस प्रकार किया है :—

" जिस (आहवमल्ल) ने (अपने) भुजबल के अभिमान से सामने दौड़ पड़े (आक्रमण करने पर) अद्वितीय और प्रचण्ड चोल योद्धा को बाण समूह की वृष्टिसे छिद्रमय बना कर वीररस का अपात्र बना दिया ।

" चोलराज के कीर्तिरूपी वस्त्र को लूटने की क्रीडा करने वाले, जिस (आहवमल्ल) नरेश ने भुजबल से कांची को पकड़कर (या कांची नगरी पर आक्रमण करके) कंपित अंगों वाली चोल राज्यश्री को अपनी ओर खींच लिया ।

"जंगल के कंटीले वृक्षों ने इस (आहवमल्ल) के भय से भागते हुए चोल-राज के ललाट की खाल को मानों (यह) अब क्या अनुभव करेगा —इन अक्षरों

---

१. दी चोल्ज़, पृ० २२४, १९५५

२. जयसिंह जगदेकमल्ल की अन्तिम ज्ञात तिथि फ्लीट —डाय०क०, डिस्ट्रिक्ट, पृ० ४३६

३. ए०क०, ७, शि० ३२३

को पढ़ने के लिए फाड़ डाला ।[१]

चोल अभिलेख (१०४४–१०४६ ई० तक के) राजाधिराज को विजेता कहते हैं ।

राजराजनरेन्द्र के कलिदिण्डि दान-पत्रों में तीन शिव मन्दिरों को दान किये जाने का उल्लेख मिलता है । इसमें कहा गया है कि राजेन्द्र चोल प्रथम की आज्ञा से तीन सेनापतियों ने वेङ्गि पर आक्रमण किया । चोल और चालुक्य सेनाएं सम बल वाली थीं ।[२]

इसके अतिरिक्त राजाधिराज चोल के १०४५ ई० के अभिलेखों के अनुसार दन्नाड (धान्यकटक) युद्ध में चोलों ने आहवमल्ल के हृदय में भय का संचार किया उसके सेनानी मण्डपय्य और गंगाधर अपने हाथियों सहित युद्ध में काम आये । यही नहीं महान् योद्धा विक्की, विजयादित्य, संगमय्य तथा अन्य योद्धागण युद्ध के भय से कायरों की भांति पलायित हो गये । चोल सैनिकों ने अनेक हाथी, घोड़ों पर अधिकार कर लिया और "कोल्लिपाक्के" (कुलुप) को जला दिया ।[३] इस प्रकार आगे बढ़ती हुई चोल सेनाओं से सोमेश्वर के सामन्त सिंगनदेवरस ने कोल्लिपाक का उद्धार १०४५ ई० में किया ।[४]

---

१. [illegible]द्रविड प्रकाण्ड य: सम्मुखं धावित मैकवीरम् ।
अभाजनं वीररसस्य चक्रे बाणोत्करच्छिद्रपरम्पराभि: ।।
पृथ्वीभुजः परिकन्दितानि यशः पटो[illegible]ठनकेलिकार: ।
विधूत्य काचीं भुजयोर्बलेन यश्चोलराज्यश्रियमाचकर्ष ।।
चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य भालत्वचं [illegible]किनावनान्ता: ।
अद्यापि किं वानुभविष्यतीत व्यङ्पाटयन्दृष्टमिवाक्षराणि ।। वि.-१।११४-११५

नोट —यहां पर वर्णन से द्रविड और चोल भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु आद्योपान्त विक्रमांकदेवचरित में ये दोनों शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुए हैं । जैसे — ५।२८, २६, ४३,६०, ६१ , ७७, ७६, ८४, ८५, ८६, और ६।२४, ७,६,२२ ।

२. ज०आ०हि०रि०सो०, जि० २, खण्ड २, पृ० ६१-६६

३. ए०क०, शि० ७,३२३, अ०हि०द०, पृ० ३३५, १९६० कोल्लिपाक्येकावम् (कोल्लिपाक का रक्षक) विरुद धारण किया ।

४. दी चोलाज , पृ० २५३-४, १९५५

चालुक्य अभिलेखों के प्राप्ति स्थानों से ज्ञात होता है कि इस चोल आक्रमण से चालुक्य राज्यसीमा थोड़ी भी संकुचित नहीं हुई ।[१] अतः स्पष्ट है कि चोल आक्रमण विफल रहा ।

तीसरा संघर्ष— पिता द्वारा प्रेषित विक्रमांकदेव का चोलों के साथ संघर्ष हुआ था :—

" वीरों में श्रेष्ठ उस (विक्रमांक देव) की विजय यात्राओं में धनुष की प्रत्यंचा खींचने पर द्रविडाङ्गनाओं के मुख उष्ण निःश्वासों से मलिन हो गये ।

" उसके विरुद्ध होने पर चोलों के पहिले स्वामी (आदि भर्ता) ने अधिक थकान के कारण पर्वतीय निर्झरों के जल को, (मुंह नीचे करके) स्तन पान का स्वाद सा लेते हुए, पशु के सदृश पीकर (चोल) भूमि को जननी मानकर मानों (उस भूमि का) उसका परित्याग कर दिया ।[२]

राजाधिराज के शासनकाल के १०४७—८ ई० के लेखों में वर्णित है कि चोल नरेश ने गण्डरदिनकरन (गण्डरादित्य), नारायण गणपति, मधुसूदन , सामन्तों को बन्दी बना लिया, तदुपरान्त `कम्पिलि` में चालुक्य प्रासाद को ढहा दिया ।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि इस पराजय के तुरत बाद प्रमुख युद्ध कृष्णा नदी के तट पर पूण्डि या पूण्डुर में हुआ, जिसमें तेलुगु विच्चय ने चालुक्यों की ओर प्रमुख भाग लिया । उसके माता-पिता और सम्बन्धी बन्दी बना लिये गये और कायर आहवमल्ल ने दूत भेजकर चोल नरेश से दया की भिक्षा माँगी । चोल नरेश ने यतगिरि (यद्गिर) में विजय स्तम्भ स्थापित किया और लौट गया । पराजित हुए चालुक्य सेनानी नुलम्ब , काळिदास ,चामुण्ड,

---

१. चा०अ०ई०, १, खण्ड १, सं० ८४, पृ० ७७
 ए०इ०, जि० १६, पृ० ५३

२. विक्रमा०, ३।६५,६६

३. अ०हि०डे०, पृ० ३३५-३६

कोम्मय और वल्लराज थे। चालुक्य नरेश ने अपने एक उच्च अधिकारी को दो सहयोगियों के साथ युद्ध का समाचार देकर चोल नरेश के शिविर में भेजा। चोल नरेश ने उन सहयोगियों का बहुत अपमान किया और प्राचीन नगर कल्याणपुर को रौंद कर राजप्रासाद को ढहा दिया। यहीं पर 'राजाधिराज' ने वीरा-भिषेक किया और विजयराजेन्द्र की उपाधि धारण की। आज भी तंजौर जिले में 'दारासुरम' में तत्कालीन चालुक्य शैली में बनी द्वारपालक की मूर्ति देखी जा सकती है जिस पर तमिल में लिखा है 'कल्याणपुरम्' को जलाने के बाद उडैयार श्री विजयराजेन्द्रदेव द्वारा द्वारपालक लाया गया।'[1]

चालुक्य लेखों में (१०४७ और १०५० ई० के) चोलों को पराजित करने के उल्लेख हैं।[2] १०५० ई० के सूडि लेख (धारवाड़) में चोल आक्रमण द्वारा उक्त नगर के अस्तव्यस्त हो जाने का उल्लेख है। इस लेख में पुनर्निर्माण के उल्लेख से यह कहा जा सकता है कि चोल सैनिकों के हट जाने के बाद नगर का पुनर्निर्माण किया गया।[3] बिल्हण का विवरण केवल संघर्ष होने का संकेत देता है, विजय का नहीं। दोनों प्रतिद्वन्द्वी अपनी अपनी विजय का उल्लेख करते हैं। विक्रमांकदेव का यह चोल युद्ध १०४७ से १०५० ई० के मध्य किसी समय हुआ होगा।

कुछ ध्वंसात्मक हानि के अतिरिक्त चालुक्यों की कोई हानि नहीं हुई। १०४६ ई०[4] १०५३ ई०[5] और १०५४ ई०[6] के लेखों में सोमेश्वर द्वितीय का वेङ्गिपुरवरेश्वर की उपाधि धारण करना यही सिद्ध करता है।

---

१. वही, पृ० ३३६

२. वही, पृ० ३३६

३. ए०ई०, १५, पृ० ७८

४. बा०क०ई०जि०-१, खण्ड १, सं० ८४, पृ० ७७

५. ए०ई०, जि०-१६, पृ० - ५३

६. बा०क० ई० १, खण्ड-१, सं० ६०

बिल्हण के तीनों विवरण सम्भवत: एक ही युद्ध के हैं, जो १०६०- ६१ई० के लगभग ` कुडल संगमम् ` में हुआ था । दण्डनायक बालदैव और अन्य सेनानियों के साथ चालुक्य सेना की मुठभेड़ ` मुडक्काडु ` नदी के तट पर हुई । राजेन्द्रदेव (१०६१ ई०) और राजमहेन्द्र (१०६२ ई०) के लेखों से ज्ञात होता है कि उन्होंने विक्रमादित्य और जयसिंह की सेनाओं को मुडक्काडु युद्ध में पराजित किया ।[1] वीरराजेन्द्र के शासन काल के दूसरे वर्ष (१०६४ ई०) के लेख में ` कुडलसन्गमम् ` युद्ध का विस्तृत विवरण मिलता है । दोनों विवरण एक ही युद्ध की ओर संकेत करते हैं ।[2] उसने इस युद्ध में चालुक्यों के प्रधान सेनापति विक्कलन (विक्रमादित्य) तथा अन्य महासामन्तों को गंगपाडि से तुंगभद्रा तक खदेड़ दिया, बहुत भीषण युद्ध हुआ । प्राप्त प्रमाणों के आधार पर ज्ञात होता है कि विजय चोलों की हुई । परन्तु चोलों को अत्यल्प लाभ हो सका, क्योंकि राजेन्द्र चोल की मृत्यु के कारण वीरराजेन्द्र को वापस राजधानी लौटजाना पड़ा ।[3]

बिल्हण के सामान्य विवरण से केवल चालुक्य - चोल युद्ध में चोल नरेश के आक्रमण की असफलता का संकेत मिलता है । लूटमार और नगरों को अग्निआदि से एक दूसरे को हानि पहुंचा देने के अतिरिक्त कोई विशेष सफलता की सूचना नहीं मिलती । पाण्ड्य, केरल और वेंङ्गि पर चालुक्यों के प्रभाव को हटाने के लिए चोल नरेश निरंतर प्रयत्नशील रहे ।[4] यद्यपि चोल लेखों में चालुक्यों पर भीषण आक्रमण करने लूटमार करने और नगर जलाने आदि हानि पहुंचाने के विस्तृत उल्लेख मिलते हैं, तथापि चालुक्यों के साम्राज्य का

---

१. सा०ई०इ०, जि० ५ , ६४७ और वही, जि० ७।७४३, अ०हि०द०, पृ० ३४१

२. सा०ई०इ०, जि० ५,६७६, अ०हि०द०, पृ० ३४१

३. अ०हि०द०, पृ० ३४२-४३

४. दी चोलज् , पृ० २५६, १९५५ ई०

कोई भी भाग चोल नरेश स्थायी रूप से अधिगत करने में असमर्थ रहे । यह युद्ध कोप्पम नामक स्थान पर हुआ होगा जिसके उल्लेख चोलों के १०५४, १०५५ ई० के अभिलेखों में मिलते हैं ।[१] राजेन्द्र देव के बाद के अभिलेख में युद्ध का रोमांचकारी वर्णन है । राजेन्द्रदेव युद्ध में अपने को पूरा श्रेय देता है, परन्तु शास्त्री जी[२] का अनुमान है कि इन लेखों और मणिमंगलम् लेखों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि युद्ध की प्रारम्भिक अवस्था में राजेन्द्र ने कोई भाग नहीं लिया । परिणामस्वरूप राजाधिराज दिवंगत हुआ । उसके बाद युद्ध क्षेत्र में ही अपने को चोल सम्राट घोषित करके राजेन्द्र ने चालुक्यों को कोल्हापुर तकखदेड़ दिया और वहां जयस्तंभ स्थापित करके गंगापुरी लौट आया ।[३]

सोमेश्वर के शासन के बाद १०७१ ई० के दो लेखों में चोल आक्रमण और चोल नरेश की मृत्यु का उल्लेख है । इन लेखों के आधार पर शास्त्री जी का अनुमान है कि यह चोल नरेश राजाधिराज ही था । इसीलिए राजाधिराज 'आनैमेड़्हुञ्जिन्' अर्थात् ' एक हाथी की पीठ पर दिवंगत नरेश' नाम से अपने उत्तराधिकारियों के लेखों में स्मृत होता रहा ।[४]

राजाधिराज के रणक्षेत्र में काम आने से ऐसा प्रतीत होता है कि भीषण युद्ध हुआ था । दोनों ही पक्ष वीरतापूर्वक लड़े । परन्तु अतिशयोक्ति और पक्षपात से युक्त चोल लेखों पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता । अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि दोनों पक्ष वालों ने अवसर के अनुसार एक दूसरे की राज्य सीमा में घुस कर लूटमार की होगी ।

---

१. वही

२. वही, पृ० २७८, टि० ७४

३. सा०इं०इं०, ३५५, चोलज़, पृ० २५७

४. वही, पृ० २५८

वीरराजेन्द्र (१०६४—१०६६ ई०)

राजेन्द्र द्वितीय का उत्तराधिकार उसके छोटे भाई वीरराजेन्द्र को प्राप्त हुआ।[१] इसी समय विक्रमांकदेव ने चोल राज्य पर आक्रमण किया। बिल्हण के अनुसार[२] सोमेश्वर द्वितीय से मनमुटाव हो जाने के पश्चात् विक्रमांकदेव ने मन में सोचा —

१. " मेरे द्वारा अच्छी तरह कुचल दिये जाने पर वे द्रविडादि (नरेश), मेरे विरुद्ध होते हुए भी, उन पूज्य (सोमेश्वर) को, कष्ट न दे सकेंगे।"

तदुपरान्त अनुज सिंहदेव के साथ दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान कर तुंगभद्रा तट पर पहुंचा और चोल देश पर आक्रमण कर दिया —

२. " युद्ध की प्राप्ति (की लालसा से) के लिए दुश्चेष्ट भुजाओं वाले उस (विक्रमांकदेव) ने कुछ दिन उस नदी (तुंगभद्रा) को कामिनियों के (शरीर में लगे हुए) कुंकुम से मलिन करके चोल राज पर आक्रमण कर दिया।"

तत्पश्चात् मलयदेश नरेश को अपने दिग्विजय काल की स्मृति दिलाते हुए, कोंकण नरेश जयकेशि से मैत्री की। फिर चोलराज को भयभीत किया —

३. " चंचल जलनिधि रूपी नूल कुण्डलों वाली, द्राविड नरेश की भूमि शीघ्रता में उस (विक्रमांकदेव) को आया हुआ समझकर भयभीत (या लज्जावश) होकर कांप उठी।

पहले और दूसरे में तुंगभद्रा तट पर पहुंच कर विक्रमांकदेव का चोलराज पर आक्रमण वर्णित है और तीसरा उल्लेख विक्रमांकदेव के पराक्रम का चोलनाओं द्वारा स्मरण मात्र है। बिल्हण के वर्णन के अनुसार यह आक्रमण सोमेश्वर द्वितीय के राज्यारोहण के कुछ दिनों बाद (१०६६ ई० के पूर्व) हुआ था।

व्यूलर[३] का विचार है कि विक्रमादित्य ने कल्याणपुर से दक्षिण-

---

१. दी चोलस्, पृ० २४७, १९५५ ई०

२. विक्रमा० ४।११८,५।१।१०,१८,२८

३. विक्रमा०, भूमिका, पृ० ३४, टि० १

पश्चिम दिशा को प्रस्थान किया होगा । वह संभवत: वनवास मण्डल पहुँचने के लिए चोल राज्य के एक कोने से होकर गया था । बिल्हण के इस आक्रमण का यही अभिप्राय हो सकता है ।

कालान्तर में सोमदेव के साथ किन्हीं कारणों से मन मुटाव हो जाने पर आगामी संकटों को समझ कर विक्रम ने जयकेशि की सहायता से कांची में वीरराजेन्द्र के साथ मैत्री कर ली ।[१] चोल नरेश ने चालुक्की विक्रमांकदेव को कण्ठिका और रत्नपादि ७,५०००० का समर्पण किया, क्योंकि वह चोलराज की शरण में आया था ।[२] तक्कयागप्परणि (श्लोक ७७४) भी इसका समर्थन करता है ।[३]

चोलराज का विक्रमांकदेव के साथ [illegible] सम्बन्ध —

उपर्युक्त चालुक्य मैत्री विवाह सम्बन्ध से अटूट बन गई । बिल्हण का विवरण निम्नलिखित है —

" उसी समय द्रविड राज का नीतिज्ञ दूत विक्रमादित्य की सभा में आया और सप्रमाण मधुर शब्दों में इस प्रकार कहा —" हे [illegible] ! तुम्हारे गुणों की गणना करने में कौन समर्थ हो सकता है ? तुम्हारे कृपाण की तीक्ष्णता अवर्णनीय है, जिससे तुमने अपने शुभ्र यश को सर्वत्र प्रसारित किया । तुम्हारी प्रत्यंचा की टंकार शत्रु -गृहों में मृगनयनियों की करुण-ध्वनि से टकराती है और दिग्गज भयान्वित होकर मदरहित हो जाते हैं । तुमने जो अपना राज-पाट अग्रज सोमदेव को दे दिया उससे तुम्हारी कीर्ति रूपी चन्द्रिका वज्रलेप के समान स्थिर हो गई । तुम्हारे इन्हीं श्रेष्ठ गुणों से आकर्षित होकर चोलराज अपनी कन्या का विवाह तुम्हारे साथ करना चाहता है । विक्रमांकदेव चोलराज के इस सन्देश को सुनकर प्रसन्न हुआ और कहा — मैंने [illegible] काल में द्रविड़ नरेश का बहुत अप्रिय किया है, तो भी उनका गाढ़तर प्रेम मुझे उनका आदेश

---

१. चालुक्यचोलभूपालौ कांच्यां मित्रे विधाय य:(पंक्ति १)
—फ्लीट, ज०बा०ब्रा०रा०ए०,सो०, जिल्द—६,२४१

२. ए०इ०, जिल्द २५, पृ० २६५ और सा०इ०इ०, भाग ३८४

३. दी चोलज़, पृ० २७२, १९५५

मानने के लिए विवश कर रहा है ।` यह सुनकर दूत ने तुंगभद्रा से चिह्नित सीमा [१] पर चोल चालुक्य मिलाप निश्चित किया ।

तुंगभद्रा के दक्षिण तट पर पड़ाव डाले हुए विक्रमांकदेव ने चोल सेना को देखकर सहस्र युद्धों को अनुभव वाली अपनी भुजाओं को सादर चूम लिया । द्रविड नरेश ने भी विक्रमांकदेव की उत्कृष्ट राजसेना से युक्त विजयवाहिनी को देखकर यह समझा कि मैंने इस विवाह सम्बन्ध से चोल राज्य का महत् उपकार किया है । दोनों का मिलन, `गुरुपुष्ययोग` की भाँति श्लाघनीय हुआ । चोलराज ने `मेरी आत्मा रूप इस कन्या को ग्रहण कर मेरी यश-पताका को चिरस्थायी बनायें` यह कहा और विशाल सम्पत्ति के साथ अपनी कन्या प्रदान की । अपने राज्य में लौट कर जब विक्रमांकदेव विवाह की खुशी में उत्सव मना रहा था, तभी अचानक गुप्तचर के द्वारा उसे चोलराज की मृत्यु की सूचना मिली । यह सुनकर वह दु:खी हुआ और दलबल के साथ कांची नगरी पहुँचा । वहाँ से गंगापुर पहुँचा और राजविप्लव का दमन करके उसने अपने साले को चोल सिंहासन पर अधिष्ठित किया । तदुपरान्त अपने राज्य को लौट गया ।[२]

इस विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय चालुक्य राज्य का काफी हिस्सा हथिया कर विक्रमांकदेव स्वतंत्र हो चुका था, [३] और विक्रमांकदेव को अपनी कन्या के लिए योग्य वर समझ कर ही चोल नरेश वीर राजेन्द्र इस सम्बन्ध के लिए तैयार हुआ होगा । इस प्रकार गठबंधन करके वीरराजेन्द्र की भविष्य के लिए क्या योजना थी, यह उसकी अचानक मृत्यु हो जाने से अव्यक्त ही रह गई । यद्यपि इस विवाह सम्बन्ध का उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता, तथापि राजेन्द्र चोल और विक्रमांक देव के मैत्री विषयक साक्ष्य परोक्ष रूप से इसकी यथार्थता की पुष्टि करते हैं ।

---

१. तुंगभद्रा, चालुक्य राज्य की दक्षिणी सीमा थी, जो चोल राज्य से मिली जुली हुई थी ।

२. विक्रमां० ५।२६— ८६ और ६।१—२५

३. दक्षिण भागों से प्राप्त पूर्ववर्ती १०७६ ई० के पूर्ववर्ती विक्रमांकदेव के अभिलेखों में उसके लिए `त्रैलोक्यमल्ल` विरुद से ज्ञात होता है कि चालुक्य साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो चुका था —दी चोलज, पृ० २७३, १९५५

अधिराजेन्द्र चोल (१०६६—१०७० ई०)

इस प्रकार वीरराजेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अधिराजेन्द्र विक्र-मांकदेव की सहायता से चोल राज्य का शासक हुआ। अधिराजेन्द्र का शासनकाल अत्यल्प था। बिल्हण के अनुसार" विक्रमांकदेव के चोल राज्य से लौट आने के पश्चात् कुछ दिनों के व्यतीत होने पर दैवात् राजिग[1] अर्थात् राजेन्द्र कुलों-तुंग नामक वेंगिनाथ ने स्वाभाविक शत्रुता के कारण चोलपुत्र (अधिराजेन्द्र) की हत्या कर दी और उसकी राज्यलक्ष्मी का अपहरण कर लिया।"[2]

इस सम्बन्ध में भी हम बिल्हण के साक्ष्य पर ही आधारित हैं। १०७० ई०[3] में राजेन्द्र कुलोत्तुंग का चोल सम्राट होना इस घटना का परोक्ष समर्थन करता है। अधिराजेन्द्र के पश्चात् चोल साम्राज्य वेंङ्गि के पूर्वी चालुक्यों के अधिकारमें चला गया। यद्यपि कुलोत्तुंग के अभिलेख तथा जयगोण्डार कृत कलिंग-त्तुप्परणि वीर राजेन्द्र के साथ कुलोत्तुंग का सीधा उत्तराधिकार कहते हैं तथापि विक्रमांकदेव चरित के अतिरिक्त विक्रमशोलन-उला भी वीर राजेन्द्र और कुलोत्तुंग के मध्य एक अन्य शासक की स्थिति का उल्लेख करते हैं।[4] जो निष्पक्ष होने से अधिक विश्वसनीय है।

वेङ्गि- चोल विजय (४।२१—२८) के पश्चात बिल्हण ने विक्रमांकदेव की वेङ्गि विजय का निम्नलिखित विवरण प्रस्तुत किया है —

" अपने पराक्रम की उन्नति चाहते हुए उसने (विक्रमांकदेव ने) वेङ्गि नरेश की रानियों को कामदेव के प्रताप का अपात्र बना दिया (अर्थात् आक्रमण-भय से उनकी काम वासना का अन्त हो गया) ।[5]

---

१. फ्लीट ने (राजिग को राजेन्द्र का प्रचलित नाम सिद्ध किया है,—ए०इ०, जि० २०, पृ० २७६ और २८२

२. विक्रमां०, ६।२५,२६

३. सा०इ०इ०, भाग ३, पृ० १२७

४. दी चोलज़, पृ० २६२,२६३,१६५५

५. तेनानास्पदमात्मीय - प्रतापोत्कर्षरागिणा ।
चक्रे ऽनङ्गप्रतापस्य वेङ्गिभूपाङ्गनाजनः ।। ४।२६।।

वेङ्गिराज्यका पूर्ण विस्तार कलिंग की महेन्द्र पर्वतमाला से नेल्लौर में मण्णेरु नदी तक तथा पश्चिम में पूर्वीघाट की तलहटी तक था ।[१] वेङ्गि में इस समय पुलकेशी द्वितीय के भ्राता कुब्ज विष्णुवर्धन् से प्रवर्तित चालुक्य शाखा के नरेश राज्य करते थे ।[२] पूर्वी चालुक्य विमलादित्य का शासन १०१८ ई० में समाप्त हुआ, परन्तु उसके पुत्रों में सिंहासन के लिए झगड़ा उठ खड़ा हुआ । उसका पुत्र विजयादित्य जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल (पश्चिमी चालुक्य नरेश) की सहायता से अपने भाई राजराज को राज्य से भगा कर वेंगि का शासक बनबैठा । राजराज राजेन्द्र चोल की शरण गया और १०२२ ई० में वेंगि राज्य अधिगत कर लिया ।[३] परन्तु १०४२ ई० में उसे पश्चिमी चालुक्य, संभवत: सोमेश्वर प्रथम के आक्रमण का सामना करना पड़ा ।[४] ऐसा प्रतीत होता है कि इस कलिदिण्डि युद्ध के पश्चात् कुछ काल के लिए शान्ति हो गई । परन्तु इसी बीच , राजेन्द्र चोल की मृत्यु के पश्चात् , राजाधिराज गद्दी पर आया । उसने अपनी स्थिति सुदृढ करते ही वेंगि पर आक्रमण कर दिया । १०४५ ई० के (२७ वें वर्ष के) लेख में वह चालुक्य सेनापतियों और विक्की (संभवत: विक्रमादित्य) को मार भगाने वाला कहा गया है । इस युद्ध में राजराज को पुन: वेंगि राज्य प्राप्त हो गया ।[५] बिल्हण ने इसे युद्ध का उल्लेख नहीं किया है , क्योंकि इसमें सोमेश्वर की पराजय हुई थी ।

यह पराजय क्षणिक थी क्योंकि सोमेश्वर आहवमल्ल के शासन-काल के अनेक लेख वेंगि पर उसका आधिपत्य कहते हैं । १०४७ ई० का एक अभिलेख उसे वेंगि और कलिंग नरेशों को पराजित करने का श्रेय देता है और १०४६ से १०५४ ई० के बीच के कई अभिलेखों में उसके बड़े पुत्र सोमेश्वर द्वितीय को वेङ्गिपुरवरेश्वर कहा

---

१. ए०इ०, जिल्द, ४, पृ० ३४२, अ०हि०ड०जि० १, पृ० ४७१

२. अ०हि०ड०जि०, १, पृ० ४७१

३. वही

४. वही, पृ० ४६०

५. वही पृ० ४६०-४६१

गया है ।[१] इसके अतिरिक्त पूर्वी चालुक्यके सभासद नारायण भट्ट की पुत्री कुप्पम ने १०५५ -५६ ई० में पूर्वी गोदावरी जिले में द्राक्षाराम में स्थित शिव मंदिर को दान दिया था ।[२] वीर राजेन्द्र के कन्याकुमारी और चार्ले अभिलेखों के आधार पर जिसमें उल्लिखित है, वेंगि और कलिंग देश जो उसके कुटुम्बियों के अधिकार में थे उसके दो भ्राताओं द्वारा त्यक्त हो जाने पर, शत्रुओं के अधीन हो गये थे ।[३] इससे सिद्ध होता है कि वेङ्गि और कलिंग पर सोमेश्वर आहवमल्ल का अधिकार राजाधिराज के शासन काल से लेकर वीर-राजेन्द्र के शासनकाल के अन्तिम वर्षों तक रहा । राजराज ने पहले चोलों की सहायता लेकर पश्चिमी चालुक्यों से मुक्ति पाने का प्रयत्न किया, परन्तु हताश होकर उसे आहवमल्ल के साथ सन्धि करनी पड़ी । यही नहीं आहवमल्ल का एक सभासद नारायण भट्ट उसकी राज्य सभा में रहता था । पूर्वी चालुक्य राजराज १०६१ ई० में दिवंगत हो गया ।[४]

राजराज प्रथम की मृत्यु के पश्चात् अवसर पाकर विक्रमांकदेव ने अपने चिर-सहायक विजयादित्य सप्तम[५] को वेंगि का शासक नियुक्त किया । इस कृत्य से राजेन्द्र द्वितीय (राजराज का पुत्र) चिढ़ गया होगा । उसके लेखों[६] में वर्णित है कि कुलोतुंग जब केवल युवराज था, उसने अपने शत्रुओं के षड्यंत्रों को छिन्न भिन्न किया था । उसने वैरागढ में बहुत संख्या में हाथियों को पकड़ा और वहां के नरेश धारावर्ष से कर लेना प्रारम्भ किया । अन्यत्र इसी प्रसंग में

---

१. बा०क०-६, फलक १, सं०-८४ मुलुण्ड अभिलेख (१०५३ ई०) ए०इ०, १६, सं६९, पृ० ५३/७, बा०क०, ६, फलक १, सं० ६०, अ०हि०द०, पृ० ४६१

२. सा०इ०इ०, भाग ४, सं० १०१०, अ०हि०द०पृ० ४६१

३. ए०इ०, २५, पृ० २६२, इसके और विक्र०ा० ४।२१-२८ तक में वर्णित चोल पराजय और वेंगि पराजय संभवत: एक हैं ।

४. अ०हि०द०, पृ० ४६२

५. अ०हि०द०, पृ० ३३४,३३५

६. सा०इ०इ०, सं० ६४ आगे, अ०हि०द०, पृ० ३४४-५

वह कुन्तलसेना को तितर बितर करने का उल्लेख करता है । कलिंगत्तुप्परणि से ज्ञात होता है कि चक्रकूट में कुलोत्तुंग का शत्रु विक्रमांकदेव था ।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि चक्रकोट, जो सोमेश्वर के अधीन था, पर आक्रमण करके कुलोत्तुंग ने विक्रमांक देव को चिढ़ा दिया अत: विक्रमांकदेव ने वेंगि के पश्चात् चक्रकूट पर आक्रमण किया था ।[२] सोमेश्वर आहवमल्ल (१०६८ ई०) की मृत्यु के पश्चात् वेंगि की राजनीति में परिवर्तन उपस्थित हुआ । पश्चिमी चालुक्य सिंहासन पर सोमेश्वर द्वितीय आसीन हुआ । दूसरी ओर गंगवाडि में विक्रमांकदेव और उसका अनुज सिंहदेव नोलम्ब सिंदवाडि में गवर्नर था ।[३] अपने सामन्त जयकेशि कदम्ब की सहायता से विक्रमांकदेव ने चोल वीरराजेन्द्र से मैत्री स्थापित की[४] और वीरराजेन्द ने विक्रमांकदेव के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया,[५] जिससे मैत्री दृढ़तर हो गयी। तत्पश्चात् विक्रमांकदेव और उसके सामन्त सहायकों की सहायता से वीर राजेन्द्र ने वेंगि पर आक्रमण किया और विजयादित्य को चोल आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा ।[६]

राजेन्द्र या राजिग कुलोत्तुंग –

राजेन्द्र राजराज नृपेन्द्र का पुत्र और वेंगि नरेश विजयादित्य का भतीजा था । उसने बिना किसी सहायता के वेंगि की सीमा पर चक्रकूट (बस्तर) में छोटा सा राज्य स्थापित किया और सम्भवत: अपने चाचा विजयादित्य के साथ सन्धि करके अवसर की ताक में बैठा रहा ।[७]

---

१. अ०हि०द०, पृ० ३४५

२. विक्रमां०, ४।३०

३ अ०हि०डे०, पृ० ३१० और आगे, ए०क० जिल्द ७ शिकारपुर १३६, सा०ई०इ०, ६, पृ० ११४–११५

४. फ्लीट, ज०बा०ब्रा०रा०ए०सो०, जिल्द ६, पृ० २४२, पंक्ति १

५. विक्रमां०, ५ वां सर्ग

६. दी चोलज़, पृ० २६०, १६५५ मद्रास

७. वही, पृ० २६७

दूसरी ओर बिल्हण के अनुसार (वीर राजेन्द्र) "चोल नरेश अपनी कन्या का विवाह (१०६६-७० ई० के लगभग) करने के कुछ दिनों पश्चात् दिवंगत हो गया । वीरराजेन्द्र की मृत्यु होते ही चोल राज्य में उपद्रव छा गया । अत: चोलराज के पुत्र का राज्याभिषेक करने के हेतु विक्रमांक देव अपने दल बल के साथ कांची पहुंचा । वहां कुछ दिन विहार करके वह गांगकुण्डचोलपुर में प्रविष्ट हुआ और चोल पुत्र (अधिराजेन्द्र) को सिंहासन पर आरोपित किया । गांगकुण्डचोलपुर में विक्रमांकदेव ने एक मास तक निवास किया । तत्पश्चात् वह दुर्गम पथों के जंगली धनुर्धारियों (कोल-भिल्ल आदि) को भगाता हुआ तुंगभद्रा नदी के पार अपने प्रदेश में चला आया । फिर कुछ ही दिनों के व्यतीत होने पर दैवात् (दुर्भाग्य से) राजिग नामक वेंगि नरेश ने स्वाभाविक शत्रुता के कारण चोलपुत्र (अधिराजेन्द्र) की हत्या करके उसकी राज्यलक्ष्मी का अपहरण कर लिया । कुटिल नीति में दक्ष उस राजिग ने शत्रुओं को पराजित करने में कुशल इस (विक्रमांकदेव) के पुन: (कांची में) आगमन की शंका करते हुए इस (विक्रमांकदेव) के सहज शत्रु सोमदेव को (विक्रमांकदेव पर) पीछे से आक्रमण करने के हेतु तैयार कर लिया । .... उदार बुद्धि इस (विक्रमांकदेव) ने अग्रज सोमदेव के साथ कौन-सा दुर्व्यवहार किया था, जो इसका अपकार करने के भाव से अपने वंशानुगत वैरी राजिगचोल के साथ सन्धि कर ली । विक्रमांकदेव के राजिग का वध करने के हेतु प्रस्थान करने पर सोमदेव विशाल हस्तिसेना , अश्वसेना के साथ युद्ध में आ डटा । विक्रमांकदेव ने नेत्रों में आंसू भर कर सोमदेव को बहुत समझाया पर कोई फल न निकला । विक्रमांकदेव बिना युद्ध किये लौट जाना चाहता था पर स्वप्न में चन्द्रशेखर शिव का आदेश पाकर उसे युद्ध करना पड़ा । युद्ध में राजिग भाग गया और सोमदेव बन्दी बना लिया गया । पहिले विक्रमांकदेव ने उसे राज्य वापस करने की बात सोची, पर शंकर के आदेश से वह वैसा न कर सका ।"

फिर राज्याभिषेक के पश्चात् अपने अनुज सिंहदेव को विशाल सम्पत्ति का पात्र बनाया (वनवासि मण्डल का)"

"उसने (विक्रमांकदेव) चोल के प्रताप को बुझाकर , समस्त राज समूह के समाप्त हो जाने पर, प्रत्यंचा खोले हुए धनुष के साथ फिर से कल्याणपुर

में प्रवेश किया ।"[१]

राजिग राजेन्द्र कुलोत्तुंग का प्रचलित नाम था ।[१] यद्यपि 'कलिंगत्तुप्परणि' तथा कुलोत्तुंग के लेख उसे वीर राजेन्द्र का उत्तराधिकारी अर्थात् युवराज बताते हैं, तो भी अधिराजेन्द्र के अभिलेख और 'विक्रमशोलन् - उला' बिल्हण की बात का ही समर्थन करते हैं कि कुलोत्तुंग अधिराजेन्द्र के पश्चात् चोल सम्राट बना । अधि-राजेन्द्र की हत्या के सम्बन्ध में विक्रमांकदेव चरित को छोड़ कर शेष समस्त साक्ष्य मौन हैं । बिल्हण राजिग को वेंगिनरेश कहता है । अन्य प्रमाणों से ज्ञात होता है कि वह वेंगिनाथ राजराज प्रथम का पुत्र था और चक्रकूट से जहाँ उसने अपना छोटा सा राज्य स्थापित किया था,[३] संभवत: अपने चाचा विजयादित्य को पराजित करके सर्वप्रथम वेंगि पर अधिकार कर लिया, क्योंकि १०७५ ई० में विज-यादित्य सप्तम विक्रम के साथ वनवास मंडल में था ।[४] तत्पश्चात् कुलोत्तुंग ने द्रविड राज्य में उत्पन्न विप्लव अर्थात् आंतरिक अशांति का नाम उठा कर सहज बैर के कारण किसी प्रकार अधिराजेन्द्र की हत्या कर दी और चोल साम्राज्य पर अधिकार कर लिया ।

इस आन्तरिक अशान्ति का कारण क्या था ? बिल्हण ने स्पष्ट कुछ नहीं कहा है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वीरराजेन्द्र की अकस्मात् मृत्यु हो जाने के कारण शिथिल शासन हुए चोल राज्य में अराजकता उत्पन्न हो गई और पाण्ड्य, सिंहल आदि अधीन राज्यों के नरेश विद्रोह करने लगे ।[५]

---

१. विक्रमा० ६।७-६६ और ७।२

२. इ०ए०जि०, २०, पृ० २७६ और २८२

३. दी चोलज़, पृ० ३०३

४. अ०हि०द०, पृ० ३५४

५. कलिंगत्तुप्परणि (१०।२७-३२) में इस अराजकता का कारण धर्म का नाश और अधर्म का प्रकोप चित्रित किया है । (इ०ए०, १६, पृ० ३३२) , परन्तु शास्त्री जी ने ठीक ही इसे अराजकता का परम्परागत विवरण माना है -दी चोलज़, पृ० ३०५

अधिराजेन्द्र स्थिति को संभाल न सका । यद्यपि विक्रमांकदेव ने एक माह तक चोल राज्य में रह कर वहां शान्ति स्थापित की तथापि उसके वापस लौटते ही अधिराजेन्द्र के सहज शत्रु[१] राजिग ने उसकी हत्या कर दी और १०७० ई० के पूर्व चोल साम्राज्य का अधिपति बन बैठा ।[२]

चोल अभिलेखों में इस युद्ध सम्बद्ध विवरण कुछ छिन्न भिन्न है । कुलोत्तुंग के शासन के ७ वें वर्ष के लेख में उल्लिखित है — विक्कलन और सिंगणन पश्चिम सागर में डूब रहे है ।" अतः शास्त्री[३] जी का कथन है कि कुलोत्तुंग के साथ विक्रमादित्य का युद्ध कुलोत्तुंग के राज्यारोहण के कुछ वर्षों बाद हुआ था न कि राज्यारोहण के कुछ दिनों बाद जैसा बिल्हण ने उल्लेख किया है । इसकी पुष्टि १०७६ ई० के एक चालुक्य अभिलेख से भी होती है ।[४] चोल लेख विक्रमांकदेव को मणलूर से तुंगभद्रा तक खदेड़ देने का दावा करते हैं तथा घनघोर युद्ध का विवरण देते हैं कि चालुक्य राज्य का [illegible] और सिंगणम

---

१. अथ कतिषु चिदेव दैवयोगात् परि[illegible] दिनेषु चो[illegible] : ।
श्रियमहरत [illegible]भिधानः प्रकृति विरोध हृतस्य वेङ्गिनाथः ।। ६।२६ ।।
विक्रमा०

उक्त श्लोक के "प्रकृति विरोध हृतस्य चोल सूनोः" का अनुवाद ब्यूलर महोदय ने "द्रविडराज्य विप्लवेन (वही ६।८) के आधार पर इस प्रकार किया है — प्रजा के विरोध के कारण मृत चोलपुत्र" । —भूमिका, पृ० ३५, टि० ३, वस्तुतः इस श्लोक का अनुवाद निम्नलिखित होगा — "फिर कुछ ही दिनों के व्यतीत होने पर दैवात् राजिग नामक वेंगिनाथ ने सहज वैर के कारण चोलराजपुत्र का वध करके उसका राज्य छीन लिया ।" इस अर्थ का समर्थन "प्रगुणमकृत पृष्ठकोपहेतोः [illegible]विरोधिनमस्य सोमदेवम् —(विक्रम० ६।२७) के द्वारा होता है, जहाँ "प्रकृति विरोधिनम्" (विक्रम ६।२७) ~~के समस्त~~ का अर्थ "सहजशत्रु" के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त राजेन्द्र कुलोत्तुंग का वेंगि देश पर पैतृक अधिकार था , परन्तु वीर राजेन्द्र ने उक्त प्रदेश का शासक चाचा विजयादित्य सप्तम को स्वीकार कर लिया । वीर राजेन्द्र के इस व्यवहार से उसका चिढ़ जाना स्वाभाविक था ।
(अ०हि०डे०,पृ०३३७,३३८ इस अर्थ का "द्रविडरा[illegible]न" अर्थात् द्रविड राज्य

(क्रमशः जारी)

प्रदेश भी चोलों ने अधिगत कर लिया था । इसके अतिरिक्त कुलोत्तुंग अपने लेखों के प्राप्ति स्थान के आधार पर मैसूर का अधिकांश भाग जीत लेने का संकेत देता है, पर बिल्हण उसके युद्ध क्षेत्र से भाग जाने की बात कहता है, जो विश्वास योग्य नहीं । कलिंगत्तुप्पणि और विक्रमशोलन -उला भी कुलोत्तुंग की कोंकण तक के भू-भाग की विजय का उल्लेख करता है ।[1]

युद्ध का स्वरूप-

विक्रमांकदेव चोल साम्राज्य में प्रविष्ट होकर कोलार जिले तक पहुंचा , जहां उसकी मुठभेड़ चोल सेना से हुई ।[2] इसी समय बिल्हण के अनुसार राजिग (कुलोत्तुंग) ने अपने पराभव के भय से विक्रम के सहज शत्रु सोमदेव को विक्रम पर पीछे से ~~सोमेश्वर के~~ आक्रमण ~~करने~~ के लिए तैयार कर लिया ।[3] फिर पीछे से सोमेश्वर के आक्रमण कर देने पर विक्रमांकदेव विशाल सेना के साथ उसकी ओर मुड़ा और उसे बन्दी बना लिया ।[4]

---

१. पिछले पृष्ठ का अवशेष -

मैं उत्पन्न अराजकता के कारण (विक्रमां० ६।६) से कोई विरोध नहीहै ।

२. एपी०इं०, ७, पृ० ७, टि० ५

३. दी चोलज़, पृ० ३०७

४. बाम्बे गजे०, १, खण्ड, २, पृ० २७१

---

१. दी चोलज़, पृ० ३०८

२. वही, पृ० ३०८

३. कुटिलमतिरसौ विशङ्०कमानः पुनरमुमेव पराभवप्रगल्भम् ।
प्रगुणमकृत पृष्ठकोपहेतोः प्रकृतिविरोधिनमस्य सोमदेवम् ।।

-~~स~~ विक्रमां० ६।२७

४. वही, ६।३६-६०

दूसरी ओर सम्भवत: विक्रमांकदेव के कुछ सामन्त नरेश कुलोत्तुंग को रोके रहे होंगे, जिससे वह पीछे से विक्रम पर आक्रमण न कर दे। विक्रमांकदेव की उस अल्प सेना को पराजित करता हुआ वह मैसूर प्रान्त से होकर चोल विवरणों के अनुसार सम्भवत: कोंकण तक पहुंच गया।[१] शास्त्री जी चोल विवरण को अतिशयोक्तिपूर्ण मानते हुए कहते हैं कि सम्भवत: चोल नरेश ने विक्रमांकदेव को तुंगभद्रा तक पीछे हटा दिया था और उक्त नदी के दक्षिण और पूर्व में स्थित प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था।[२] बिल्हण के वर्णन से ज्ञात होता है कि जैसे ही विक्रमांकदेव ने सोमदेव का दमन करके समस्त चालुक्य साम्राज्य को अधिगत कर लिया, वह कुलोत्तुंग की ओर अभिमुख हुआ और उसे अपने साम्राज्य से मार भगाया। फिर निश्चिंत होकर कल्याणपुर में प्रवेश किया।[३] अनेक वीर सामन्तों से समर्थित[४] विशाल सेना के अधिपति विक्रम के लिए यह कार्य असंभव न था। अत: चोल विवरणों और बिल्हण के विवरण से कोई विरोध नहीं उत्पन्न होता। इसके अतिरिक्त स्वयंवर के प्रसंग में विक्रमांकदेव का परिचय देते हुए बिल्हण ने पुन: इस युद्ध का उल्लेख संभवत: विक्रम के जीवन की एक विशिष्ट सफलता होने के कारण ही किया है —

"अद्भुत साहसी और बली इस (विक्रमादित्य) ने विजयोत्सव के द्वार में प्रवेश करने वाले सोमेश्वर और चोलराज (राजिग) दोनों को अपनी दोनों भुजाओं से बलपूर्वक परास्त किया।"[५]

---

१. दी चोल्ज, ३०८

२. अ०हि०द०, पृ० ३५४

३. विक्रमां० ६।६० और ७।२

४. अनुज सिंहदेव, विजयादित्य सप्तम कदम्ब ज[illegible] अतिरिक्त होयसल नरेश विनयादित्य, और उसका पुत्र एरेयंग उच्चिङ्गि के पाण्ड्य, संभवत: यादव नरेश सेउण द्वितीय, आदि — अ०हि०द०, पृ० ३५१-५२

५. सोमेश्वरचोलमहीपतिश्च जयोत्सवद्वारि बलाद्विशन्तौ।
द्व[illegible]भुतसाहसेन द्वाभ्यां भुजाभ्यां बलिनानिरस्तौ ।। विक्रमां० ६।१४२।।

'सोमेश्वर से अपने बाहुबल के द्वारा राज्य प्राप्त करके यश अर्जित किया' — हैदराबाद संग्रहालय में सुरक्षित दो तिथिरहित लेखों में उल्लिखित उक्त अंश भी विक्रमांकदेव द्वारा सोमेश्वर की पूर्ण पराजय का समर्थन करता है।[1] यह युद्ध उसके 'पट्टबन्धोत्सव' अर्थात् राज्यारोहण की तिथि ११, फरवरी १०७६ ई० के पूर्व हो चुका था।[2] युद्ध की तिथि के सम्बन्ध, में बिल्हण 'कतिषु-चिदेव दैवयोगात् परिगलितेषु दिनेषु' अर्थात् कुछ दिन बीतने पर दैवात्' (विक्रमा०-६।२६) लिखा है। यह विवरण कथा के क्रमिक विकास (अर्थात् इसके बाद क्रमश: यह घटना घटी) के अनुरूप है, बिल्हण कहीं भी निश्चित अवधि या तिथि नहीं देता। वर्णन में घटना क्रम सुरक्षित रहे— बिल्हण को यही अभिप्रेत है। इस संघर्ष में जयसिंह अनुज की सहायताओं से प्रसन्न होकर, विक्रम ने उसे विशाल सम्पत्ति का- वनवासमण्डल का—पात्र बनाया।[3]

स्वयंवर काल का चोलराज —

पाण्ड्यदेशाधिपति के वर्णन के पश्चात् बिल्हण ने चोलराज का सामान्य विवरण प्रस्तुत किया है।

' जो हाथी समुद्र में जलक्रीडा करके तटवर्ती वनों में हथिनियों पर चढ़ते हुए (रति के हेतु) रतिक्रीडा में मग्न दिग्गजों की सदृशता को प्राप्त होते थे।

' विजय यात्राओं में जिस महापराक्रमी (चोलदेव(राज) के) मदजल बहाने वाले वे हाथी मानों दिग्गजों को देखने की लालसा से समस्त दिशाओं में भ्रमण कर रहे हैं। अर्थात् दूर दूर तक उसकी विजय वाहिनी विचरण कर रही थी)।

रत्नों से लगातार याचक समूह को भरने वाले जिस (चोलराज) को समुद्र मानों जल हस्तियों के मद के डिण्डिम (ढोल) के सदृश गंभीर ध्वनि से मना

---

१. अ०हि०द०, पृ० ३५५

२. वही

३. विक्रमा० ६।६६ और १४।४

कर रहा है (अपव्यय करने से रोक सा रहा था) ।

(चोलराज) सैन्यभार से धंसती हुई पृथ्वी पर, समुद्रतट पर विद्यमान पर्वतशिखर के सदृश ऊंचे ऊंचे हाथियों के द्वारा मानों उछलती हुई तरंगों वाले दक्षिण सागर को बांध रहा है ।

' जिसके हाथी ऊपर की ओर उछाले गये शुंड के जल कणों के मिष से मानों समुद्र जल के साथपानिकिलेहुए, पैरों से दबकर टूटी हुई मोती भरी सीपों की मोती के चूर्ण का वमन कर रहे हैं ।

' जिस चोल देश की वेश्याओं के दिशाओं के छोर को छिपा देने वाली हथिनियों पर बैठ कर भ्रमण करने से दिक्पालों की नगरियों के गवाक्ष दिनमेंभी उनकी (वेश्याओं की) चन्द्रिका से प्रक्षालित हुआ करते हैं ।

' हे चंचल नैना ! जिस (चोलराज) के विजयोत्सवों में प्राप्त होते हुए कीर्ति समूह से दिशाओं के मुख मानों मांगलिक शंखनाद कर रहे हैं -यह वही चोल नरेश है ।'[१]

यह विवरण काव्यात्मक है तथापि चोलराज के सम्बन्ध में कुछ सामान्य तथ्य निकाले जा सकते हैं -वह दूर दूर तक विजय करने वाला, महापराक्रमी, और शुभ कीर्तिवाला था । यह स्वयंवर १०७६ ई० के लगभग हुआ था । उस समय चोल सिंहासन पर राजेन्द्र कुलोत्तुंग (१०७०-११२२ ई०) शासन कर रहा था । कुलोत्तुंग ने सिंहल द्वीप जैसे सुदूर देशों पर भी आक्रमण किया और पाण्ड्य, केरल पश्चिमी चालुक्य आदि नरेशों के साथ निरन्तर युद्धों में व्यस्त रहा । बिल्हण द्वारा वर्णित चोलराज कुलोत्तुंग ही था, क्योंकि काल-दृष्टि तथा कृत्यों से उसके सम्बन्ध में दिये गये बिल्हण के विवरण में कोई विरोध नहीं है ।[२] अधिक श्लोकों में चोलराज के प्रताप का वर्णन तत्कालीन राजनीति में चोलों के महत्व को सूचित करता है । चोलों के बाद तुरत चालुक्य विक्रमांक देव की प्रशस्ति उनकी परस्पर बद्ध वैरता की सूचक है । बिल्हण गुणग्राही था उसने चोलों के महत्त्व

---

१. विक्रमा०, ६।१२२-१२८

२. दी चोलज़, पृ० ३०१ से ३३४ दृष्टव्य ।

को कहीं भी अस्वीकृत नहीं किया ।

चोल और सिंहदेव (जयसिंह) की सन्धि —

गुप्तचर सिंहदेव के अनुचित आचरण को बताते हुए कहता है —

" भाई (अनुज सिंहदेव) का अभ्युदय चाहने वाले तुम्हारे द्वारा युद्ध में वेंगिनाथ (राजिग) को जीतकर बनवास मण्डल में भेजे हुए उसके नीति मार्ग में अत्यधिक विपरीतता है ।[१]

जैसा कि छठें सर्ग में भी वर्णित है[२] विक्रमांकदेव ने वेंगिनाथ राजिग को पराजित करने के पश्चात् सिंहदेव या जयसिंह को वनवास मण्डल का शासक बनाया था। अभिलेखों[३] में भी यह वनवासमण्डल का शासक कहा गया है।

आगे गुप्तचर जयसिंह की चोलों के साथ हुई सन्धि का उल्लेख निम्न-प्रकार से करता है —

" वह सिंहदेव द्रविड नरेश (राजिग) को निरन्तर उपहारों को देकर (उसकी) सहायता प्राप्त कर रहा है । किन किन उपायों के द्वारा यह (सिंहदेव) आपकी (विक्रमांकदेव) सेना को भेद नीति से जर्जरित करना नहीं चाहता ?"[४]

सिंहदेव गवर्नर के रूप में १०८३ ई० तक अभिलेखों[५] में उल्लिखित होता

---

१. वेंगिनाथमविजित्य संयति भ्रातुरभ्युदयशंसिना त्वया ।
प्रेषितस्य वनवासमण्डले वर्तते नयविपर्ययो महान् ।।१४।४ ।।

२. वही ६।६६

३. बा०क० १९३३-४ का ६४ और ४

४. वि. १४/१२

५. अ०हि०द०, पृ० ३५८

नोट —ब्यूलर महोदय की धारणा है कि कादम्ब अभिलेख का कादम्ब तैलप को १०७८ ई० में वनवास का गवर्नर कहता है । अत: यह घटना संभवत: जयसिंह के राज्यच्युत कर दिये जाने के बाद ही हुई थी (विक्रमा०,भू० पृ० ४३, टि० १), परन्तु अभिलेख साक्ष्य जयसिंह को बाद तक शासन करता हुआ कहते हैं ।

रहा । तत्पश्चात् उसका उल्लेख किसी लेख में नहीं मिलता । बिल्हण के विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि सिंहदेव और कुलोत्तुंग में सन्धि हो गयी थी और कुलोत्तुंग से प्राप्त होने वाली उसी सहायता के भरोसे सिंहदेव ने विद्रोह किया । इस बात की अधिक संभावना प्रतीत होती है कि चोलों के साथ हुई सन्धि वार्ता की सूचना गुप्तचर द्वारा पाकर सिंहदेव को चोल सहायता प्राप्त होने के पूर्व ही विक्रमांकदेव ने उस पर आक्रमण कर दिया हो अथवा केरल, पाण्ड्य कुलोत्तुंग ,सीलोन आदि प्रदेशों में होने वाले विद्रोहों में व्यस्त होने के कारण कुलोत्तुंग पूरी सहायता न दे सका हो ।

चोलराज कुलोत्तुंग और विक्रमादित्य का संघर्ष —

श्री विक्रमांकदेव का चरित बिल्हण ने चोलों की पराजय से समाप्त किया । उस पराजय का विवरण [१] इस प्रकार है :-

" चिरकाल तक शत्रुओं के अभाव से दु:खी , वीरता के कारण उत्पन्न हुई (युद्ध की) खुजलाहट वाली भुजाओं वाले उस नरेश (विक्रमांकदेव) ने चोलराज को बल के घमंड में चूर है —ऐसा सुनकर युद्ध की तृष्णा से पुन: कांची की ओर प्रस्थान किया ।

---

१. विपक्षदुर्भिक्षकदर्थितश्चिरं [illegible] क्षिते: पति: ।
निशम्य चोलं बलगर्वितं पुनर्जगाम कांचीसमनीकतृष्णया ।। १७।४३ ।।

श्लोक ४४ से ६६ तक युद्ध का लोमहर्षण विवरण देने के पश्चात् इस प्रकार वर्णन है —

ब्रूम: किमन्यदयमुत्सहते स्म यत्र दर्प्यैव तत्र गतिराविरभून्नृपाणाम् ।
कारागृहे पतनमाशु पलायनं वा चोलोऽपि शीघ्रमपसारमतश्चकार ।।६७ ।।

अथ शिथिलितचापश्चाललक्ष्मीं [illegible]
कृतविविधविनोदस्तत्र कांचीनगर्याम् ।
निजनगरमगच्छत्प्रोच्छलत्सान्द्रसेना-
भरभरितदिगन्त: कुन्तलक्ष्माभुजंग: ।। ६८।।

'और क्या कहें ? इसने (विक्रमांकदेव) जहां पराक्रम दिखाया था, वहां राजाओं की दो ही गतियां उत्पन्न हुईं । 'कारागार में बन्दी होना अथवा भाग जाना । अत: चोलराज भी शीघ्र भाग खड़ा हुआ । 'फिर कुन्तलाधिपति (विक्रमांकदेव) चोल-लक्ष्मीको लेकर(लूट-पाट करके) धनुष की प्रत्यंचा ढीली करके उस कांची नगरी में विविध क्रीडा करके (प्रसन्नता में) कूदती हुई विशाल सैना समूह से दिशाओं को भरता हुआ अपने नगर (कल्याण अथवा विक्रमपुर) को चला गया । इस विवरण में बिल्हण का चोल नगरी कांची पर आक्रमण वर्णित है । चोलराज पराजित होकर भाग गया और विक्रमांकदेव लूट पाट[1] करके वापस लौट आया ।

व्यूलर महोदय[2] के अनुसार 'विक्रमांकदेव चरित की रचना के पूर्व का यह अन्तिम आक्रमण प्रतीत होता है । संभवत: यह युद्ध अभिलेखों के पाल नरेश (पल्लव) के विरुद्ध १०८१ ई० में हुआ था । क्योंकि केरल पल्लवों की एक शाखा चोल प्रदेश में स्थापित हो गई थी और इसने सप्तम शती में कुछ काल तक शासन किया था । यह संभव है कि इन पल्लवों ने विक्रमांकदेव के शासन काल में चोलों की शक्ति क्षीण होने से, प्रायद्वीप के पूर्वी भाग पर पुन: विगत प्रभाव अर्जित कर लिया हो ।' यद्यपि वे इस घटना पर पुन: निरीक्षण की आवश्यकता ब समझते हैं । उनकी धारणा अनुमान मात्र है ।

श्री नीलकण्ठ शास्त्री का विचार है – 'वस्तुत: अपने दीर्घकालीन शासनकाल में विक्रमादित्य कुलोत्तुंग के विरुद्ध अपनी योजनाओं को पूर्ण करने में हर संभव उपायों का निरंतर प्रयोग करता रहा । परन्तु बिल्हण का उपयुक्त शत्रुओं के अभाव में अपनी नायक की भुजाओं की खुजली के लिए कांची पर अन्तिम आक्रमण सम्बन्धी काव्यात्मक विवरण कठिनता से सत्य माना जा सकता है ......

---

१. 'चोल-लक्ष्मी गृहीत्वा' का अर्थ चोलों के समस्त राज्य पर अधिकार कर लेना नहीं है, वरन् चोलराज्य का कुछ भाग अधिकृत कर लेना अथवा लूटमार कर लेना ही है ।

२. विक्रमा०, भू०, पृ० ४४, टि० २

है ।[१]

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि विक्रमांकदेव कुलोत्तुंग के विरुद्ध निरंतर सचेष्ट रहा । ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रमांकदेव ने चोल प्रदेश पर आक्रमण अवश्य किया था । विक्रमांकदेव की १०८४ ई० के अभिलेख में शत्रु-चोल युद्ध-क्षेत्र में नहीं उपस्थित हुआ ।[२] यह शिकायत है । शास्त्री जी का विचार है कि वस्तुत: दक्षिण के पूर्व-अधिकृत प्रदेशों के मामले में व्यस्त कुलोत्तुंग का ध्यान उत्तर की ओर आकर्षित करने के लिए ही विक्रमांकदेव ने वेंगि और उसके सामन्त राज्यों पर आक्रमण किया था परन्तु उसका कोई फल नहीं निकला ।[३]

इस सम्बन्ध में चूलवंश का विवरण दृष्टव्य है ।" कर्णाट नरेश और चोल नरेश के द्वारा उसके पास बहुमूल्य उपहारों के साथ दूत भेजे गये । उन्होंने नरेश से प्रार्थना की जिससे वह बहुत प्रसन्न हुआ और दोनों दूतों का यथोचित सत्कार करके, उसने पहिले कर्णाट दूतों के साथ अपने दूतों को कर्णाट के लिए बहुमूल्य उपहारों सहित भेजा फिर चोलराज को ।

परन्तु चोलराज ने दूतों को नाक-काट कर अपमानित किया ।" दूत का अपमान दूत के स्वामी का अपमान होता है ।" अत: विजयबाहु ने दमिल दूतों के द्वारा चोलराज के लिए सन्देश भेजा कि मैं तैयार हूँ वे शक्ति परीक्षा कर लें । तदनन्तर उसने मीचकावाटतीत्थ और महातीत्थ बन्दरगाहों पर दो भेजा । जिस समय दण्डनायक दण्डनायकों को चोल राज्य पर आक्रमण करने के लिए जल पोत आदि की

---

१. In fact, throughout his long reign Vikramāditya was untiring in the pursuit of his design against Kulottunga in all possible quarters. But Bilhana's rhapsodic account of a final expedition against Kāñchi for the exercise of his hero's arms itching for a fight in the absence of suitable foes, (V.D.C.17/-/43 ff.) can hardly be accepted as true. - The Colas, P.309, 1955.

२. ए०इं०, जिल्द १५, पृ० १०१,१०३

३. दी चोलज़, पृ० ३२८,१९५५

व्यवस्था कर रहे थे, उसी समय (शासन के ३० वें वर्ष) सेना के वेलक्कार विभाग ने विद्रोह कर दिया, क्योंकि वे वहां नहीं जाना चाहते थे । उन्होंने दोनों दण्डनायकों को मार डाला और पुलत्थिनगर को चारों ओर से लूट लिया । उन्होंने नरेश की छोटी बहिन और उसके तीन पुत्रों को पकड़ लिया और मारकाट के साथ राजमहल को भस्मसात् कर दिया । नरेश ने नगर छोड़ दिया और अपने को दक्षिण देश में छिपा लिया । अपनी बहुमूल्य सामग्रियों को वातगिरि चट्टान पर छिपाकर , वह सिंहवत् साहसी उपराज वीर बाहु के साथ आगे बढ़ा और विशाल सेना के द्वारा पुलत्थिनगर को घेर लिया, जहां घमासान युद्ध के पश्चात् उसने इकट्ठी हुई सेना की टुकड़ियों को थोड़ा पीछे हटाया । फिर पीठ पर हाथ बंधे हुए विश्वासघाती नेताओं को मृत दण्डनायकों के वध-स्थान के चतुर्दिक खड़ा कर और खूटे से बंधवा कर उन्हें लपलपाती हुई अग्नि-लपटों के हवाले कर दिया । इस प्रकार विद्रोही नेताओं का समाप्त करके उसने लंका भूमि को सर्वथा निष्कंटक बना डाला ।

परन्तु उसने जो चोलराज के साथ युद्ध करने की ठानी थी उसे नहीं भूला । पैंतालीसवें वर्ष वह समुद्रतट के बन्दरगाह पर पहुंचा और वहां चोलराज के आगमन की प्रतीक्षा की । परन्तु जब चोल नहीं आया तब नरेश ने उसके (चोल के) दूतों को निकाल दिया और पुलत्थिनगर लौट कर, वहां चिर काल तक निवास किया ।[१]

इस विवरण से ज्ञात होता है कि अपने राज्य के दक्षिणी प्रदेशों, प्रमुखत: सिंहल की राजनीति में कुलोत्तुंग व्यस्त था और सिंहल नरेश विजयबाहु के साथ विक्रम के मित्र सम्बन्ध थे । अत: १०८४ ई० के पूर्व विक्रम ने वेंगि और उसके अन्य सामन्त राज्यों पर आक्रमण कर दिया होगा और लूटमार की होगी । फलत: कुलोत्तुंग का ध्यान सिंहल को छोड़ कर अपने राज्य की रक्षा की ओर गया होगा । यही कारण प्रतीत होता है, जो वह विजयबाहु के ललकारने पर भी

---

१. महावंस, चूलवंस १, पृ० २१६-१८, दी चोलज़, ३१४-१६, १९५५ ई०

११०३ ई० में, उसके विरुद्ध युद्ध-क्षेत्र में नहीं उतरा । बिल्हण विक्रम का चरित समाप्त करने जा रहा था, तभी संभवत: यह युद्ध हुआ और उसने विक्रम की नगरी और निर्माण कार्य के विवरण के प्रसंग को छोड़ कर, प्रसंगेतर युद्ध वर्णन कर डाला । यह युद्ध वर्णन क्रम से जयसिंह के विद्रोह (१०८२ ई० के पूर्व) के बाद वर्णित है । यह युद्ध १०८२ ई० और १०८४ ई० के बीच कभी हुआ होगा । अत: इस युद्ध की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है ।

बिल्हण ने अन्तिम सर्ग में चोल राज को भयभीत करने वाले चालुक्य राज के द्वारा[१] कहा है, जो पूर्वकृत विजयों का सूचक विक्रम का विशेषण मात्र है ।

---

१. " उत्र [illegible]च्चालुक्येन्द्रात् " —विक्रमा०, १८।१०१

अध्याय—५

चालुक्यों का इतिहास

(क) विक्रमाङ्कदेव के पूर्वज

चालुक्यों की उत्पत्ति—

मंगलाचरण के बाद कवि और काव्य की प्रशंसा करके बिल्हण ने चालुक्यों की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार किया है —

' एक बार जब ब्रह्मा प्रात: संध्या में व्यस्त थे, उसी समय सुरराज इन्द्र ने आकर उनसे अनुनय की ' भगवन् पृथ्वी पर अधर्म बढ़ रहा है, अत: आप किसी महापुरुष को जन्म दीजिए, जो इस अव्यवस्था का अन्त करे । ' फलत: ब्रह्मा ने अपने चुलुक में स्थित जल को देखा, जिसमें से एक वीर पुरुष उत्पन्न हुआ । उस भट से उद्‌भूत होने वाला वंश चालुक्य वंश कहलाया । इस वंश के प्रथम प्रख्यात पुरुष हारीत और मानव्य हुए। इस वंश में उत्पन्न युद्ध लोलुप कई नरेश अयोध्या को राजधानी बनाकर रहने लगे और कुछ ने विजयों के लोभ से पान की लताओं से सट कर उगे हुए सुपाड़ी के वृक्षों से संकुलित दक्षिण दिशा में अपना राज्य स्थापित किया ।'[१]

अध्ययन की सुविधा के हेतु उक्त विवरण को तीन खण्डों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) ब्रह्मा के चुलुक से चालुक्यों की उत्पत्ति हुई ।

(२) हारीत और मानव्य प्रख्यात पुरुष हुए ।

(३) चालुक्यों का उदय अयोध्या में हुआ । वहाँ से वे दक्षिणापथ में आकर बसे ।

बिल्हण[२] ने चालुक्य और चुलुक्य दो शब्दों का प्रयोग किया है ।

---

१. विक्रमा० १।३१-६४

२. वही १।६६ और २।५० तथा अन्य कई उदाहरण हैं ।

हन्दार्कि अभिलेख[१] में बिल्हण के अनुरूप ही उल्लेख है । दूसरा विवरण किंचित् भिन्न है , जिसमें कहा गया है कि पांचाल नरेश द्रुपद को कुचलने के हेतु द्रोण के चुलुक से एक वीर उत्पन्न हुआ, जिससे चालुक्य वंश प्रसूत हुआ ।[२]

अन्यत्र उन्हें उत्तरी भारत के हारीत पंचशिख के चुलुक से उत्पन्न कहा गया है ।[३] वीर पाण्ड्यदेव के अभिलेख (११४८ ई०) में उल्लिखित है — " विष्णु की नाभि से श्वेत कमल उत्पन्न हुआ । उससे ब्रह्मा और उनके हरित् हुए । हरित के पुत्र हारीत हुए, जिनके चुलुक के जल से यशस्वी "सत्तिम-देव "सींचे हुए खड्ग से युक्त उत्पन्न हुआ । उनसे सत्याश्रम, तैलप आदि हुए"[४]। पूर्वी चालुक्य विमलादित्य के रणस्तुपुण्डि दान अभिलेख (१०११ ई०) में ब्रह्मा से सोम और उसके बाद चालुक्य वंशावली वर्णित है ।[५]

चौलुक्य कुमारपाल की बडनगर प्रशस्ति में (१०५१ई०) कहा गया है — " राक्षसों के अपमानों से त्रस्त देवतागण ब्रह्मा के पास गये । ब्रह्मा संध्या करने जा रहे थे । अत: उन्होंने अपने चुलुक में गंगाजल लेकर एक वीर की सृष्टि की , जिसका नाम चौलुक्य पड़ा । इससे अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध एक जाति उद्‌भूत हुई ।"[६] मेरुतुंग का अभिमत है — " संसार की अव्यवस्था सोचते हुए, पृथ्वी को स्थिर करने के हेतु संध्या के समय ब्रह्मा के चुलुक से एक खड्गधारी वीर भट्ट उत्पन्न हुआ ।"[७]

---

१. ज०रा०ए०सो० ४, पृ० ८

२. एपी०इंडि० १, पृ० २५७ कलचुरि युवराजद्वितीय का लेख

३. इण्डि०ए०, ७, पृ० ७४

४. एपी०क०, ११,सं० ४१, पृ० ३०

५. एपी०ई०,४, सं० ३६, पृ० ३५७

६. एपी०ई०, जि० १, पृ० २६६, श्लोक २,३

७. अधिव्या मातङ्गा परिगलितपक्षा:शिखरिणो
जहप्रीति: कूर्म: फणिपतिरयं च द्विरसन: ।
इतिध्यातुर्धातुर्धरणिधृतये सान्ध्यचुलुकात्
समुत्तस्थौ कश्चिद्विलसदसिपट्ट: स सुभट: ।।
प्रबन्ध चिन्तामणि,भाग १, पृ० १५,१६३३ जिन विजय मुनि द्वारा संपा० द्व्याश्रय काव्य१।२पर टीका करते समय अभयतिलकगणिने भी इसे किंचित पाठभेद के साथ उद्धृत किया है।

बालचन्द्रसूरि ने इस प्रकार वर्णन किया है —

" पहले दानवों से त्रस्त विश्व के उद्धार के हेतु क्षीरसागर से हाथ में खड्ग धारण किये हुए एक वीर उत्पन्न हुआ ।"[१]

अय्यणार्वंशचरित काव्य (१७३७ शकाब्द), जो बहुत बाद की रचना है, में चालुक्य नाम की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है — "लक्ष्मी के निवास पुरुषोत्तम नारायण की नाभि - कमल से जगत् स्रष्टा स्वयंभू ब्रह्मा हुए । उनसे मानस-पुत्र अत्रि और उन्हीं अत्रि से सोम वंश का प्रवर्तक सुधांशु उत्पन्न हुआ ।"[२]

इसके अतिरिक्त अन्य राजवंशों की उत्पत्ति भी दैवी कही गयी है । कोंकण के कदम्ब लेखों में उल्लिखित है —

" गौरीपति शंकर के पुर (त्रिपुर) को जीतने के समय उत्पन्न स्वेद बिन्दुओं से कदम्ब-तरु मूल में त्रिलोचन कदम्ब का उद्भव हुआ ।"[३] `नवसाहसांकचरित` में वशिष्ठ के यज्ञ से परमार वंश का उदय कहा गया है ।[४]

इसी अग्नि कुण्ड की कथा का पल्लवित रूप `पृथ्वीराज रासो` में भी मिलता है, जहां वशिष्ठ के यज्ञकुण्ड से प्रतिहार, चालुक्क, पंवार और चाहुवान की उत्पत्ति वर्णित है ।[५]

इन विवरणों से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा के चुलुक से चालुक्यों की उत्पत्ति विषयक वर्णन ग्यारहवीं शती में प्रचलित ~~बिल्हण-ने~~ हुआ और `चालुक्य`

---

१. बसंत विलास महाकाव्यम् ३।१ संपा० श्री सी०डी०दलाल

२. श्रीधाम्न:पुरुषोत्तमस्य महतो नारायणस्य प्रभो—
नाभीपङ्कजरुहादबभूव जगत: स्रष्टा स्वयम्भूस्त: ।।
जज्ञे मानससूनुरत्रिरितियस्तस्मान्मुनेरत्रित: ।
सोमो वंशकर:सुधांशुरुदित: श्रीकण्ठचूडामणि: ।।
— अय्यणार्वंशचरितम् , १।४६ (भारद्वाज संपादित)

३. ज०बा०ब्रा०रा०ए०सो०, ६, पृ० २४१ लेख सं० ८, और १

४. नवसाहसांकचरित ११।६४—७१

५. पृथ्वीराज रासो, अनु० श्यामसुन्दरदास, प्रथम समय, पृ० ३३-३५ ,दूसरा सं०१६०४

नाम का उद्गम चुलुक से मान लिया गया है, जबकि बिल्हण ने चालुक्य (अधिक प्रचलित) नाम को ही निरंतर व्यवहृत किया है। चुलुक से चुलुक्य और उससे अण् प्रत्यय[1] लगाने पर चौलुक्य अथवा चुलुक से उत्पन्न पुरुष भी अभेद से चुलुक हुआ और उसमें अण् लगाने पर चौलुक्य बनना अधिक व्याकरण संमत है। इस उत्पत्ति सिद्धान्त के अचानक जन्म लेने से और एक ही काल में उनके परिवर्तित रूपों के प्रयोग से स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त कल्पना प्रसूत है। इस तरह से उत्पत्ति की कल्पना के उदाहरण पुराणों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं।[2]

(२) क्रमश: हारीतऔर मानव्य नामक नरेश हुए।[3]

५७८ ई० (शक ५००) के एक बादामी अभिलेख में सामान्यत: मानव्य सगोत्र और हरीति पुत्र चालुक्यों के लिए कहा गया है।[4] वनवासी से प्राप्त चूटु परिवार के (लगभग २ री शती) लेख में 'विण्हुकुड् डुट्कुलानन्द' हारीति पुत्र हा है।[5] कदम्ब शिवस्कन्द वर्मन् के मलवल्लिलेख, शान्तिवर्मन् के तालगुण्ड

---

१. "चौलुक्यवंशाय चुलुके संध्यावंदनाय विधात्राम्बुना भृते हस्तेभवो" दिगदि देहांशाघ: (६।३।१२६) इति ये चुलुक्य: । ....
चुलुक्यस्यादिक्षत्रियविशेषपुरूषस्यायं " तस्येदम्" (६।३।१६०) इत्याणि चौलुक्य: ।स चासौ वंशश्च । यद्वा । चलुकोत्पन्न:पुरुषोप्यभेदाच्चुलुकस्तस्यापत्यं वृद्धं " गर्गादित्वाद्यञि " (६।१।४२) चौलुक्यस्तस्य वंश: संतानश्चौलुक्यवंशस्तस्मै भद्रं स्वस्त्यस्तित्याशीर्वाद: ।
द्वयाश्रयकाव्यम् १।२ पर अभयतिलकगणि की टीका।

२. हरिवंश पुराण अ० ५ -और श्रीमद्भागवत् स्कन्ध ४ अ० १३ और १४ में पृथु और निषाद के वंशों का जन्म इसका एक निदर्शन है।

३. विपक्षवीराद्भुतकीर्तिहारी हारीत इत्यादि पुमान्स यत्र ।
मानव्यनामा च बभूव मानी मानव्ययं य: कृतवानरीणाम् ।।
—विक्रमां० १।५८

४. अ०हि०ड० याजदानी शास्त्री, पृ० २०५, मानव्यगोत्री और हरीति पुत्र पूर्वी और पश्चिमी चालुक्यों के लेखों में कहा गया है।-सोर्सेज आफ कर्णाट हिस्ट्री जिल्द १, लेख सं० १२,२४,२५ एपी०कै०जि० ११ में त्रिभुवन मल्ल पाण्ड्य का ११२३ ई० का लेख, दावणगर तलुक, सं० १

५. सोर्सेज़ आफ कर्णाट हिस्ट्री, सं० ५

लेख, मृगेशवर्मन् के हिरेशकुल लेख में उन्हें मानव्य सगोत्र हारीत पुत्र कहा गया है[१]। गोत्र एक होने से ये राजवंश एकही प्रतीत होते हैं। चि०वि० वैद्य का अभिमत है कि

हारीतिपुत्र सातवाहन नरेशों के वाशिष्ठीपुत्र , गौतमी पुत्र आदि विरुदों की भाँति चालुक्यों के मातृकुल का गोत्र है और मानव्य पितृकुल का गोत्र है।[२]
यह अधिक संभव है कि पौराणिक मनु से समस्त राजवंश उद्भूत हुए, चालुक्यों ने अपने को मानव्य गोत्री कहा है। अय्यणार्वंशचरित (२।१८-२३) में उल्लिखित है कि विष्णु भट्ट सोमयाजी ने विजयादित्य की गर्भवती भार्या को आश्रय दिया था, जिससे उसके पुत्र का नाम विष्णुवर्धन् पड़ा।

यह संभव है कि वह ब्राह्मण हारीत गोत्री रहा हो। अत: कृतज्ञता और श्रद्धावशात् परवर्ती चालुक्य अपने को हारीतपुत्र कहने लगे हों।

कल्याणी के चालुक्य जयसिंह जगदेकमल्ल के सन् १०२५ ई० के एक प्रकीर्णक अभिलेख में "ब्रह्मा से मनु, मनु से मानव की उत्पत्ति उल्लिखित है। मानव्य का पुत्र हरित् था, जिसका पुत्र पंचशिखि हरित् हुआ। उससे चालुक्य उत्पन्न हुआ, जिसके नाम से यह वंश विख्यात हुआ।"[३] संभवत: इसी विवरण के आधार पर बिल्हण ने भी चालुक्यों के प्रारम्भिक नरेशों के नाम हारीत और मानव्य मान लिए, परन्तु चुलुक सिद्धान्त की कल्पना को अधिक पुष्ट करने के हेतु उसका क्रम इस प्रकार कर लिया -ब्रह्मा- चालुक्य - हारीत - मानव्य। कालान्तर में एक लेख में (११४८ ई० का वीर पाण्डदेव का लेख) विष्णु की

---

१. वही, सं ८,६, २१

२. हि० में हिन्दू इंडिया , खण्ड, १, पृ० ६५-६६,१६२१ ई०

३. कर्णाटक इंस्क्रि० , खण्ड १, पृ० ४८, बा० गजेटियर जि० १, खण्ड २, पृ० ३३६

नाभि से ब्रह्मा - हरित —हरित् के चुलुक से सत्तिमदेव आदि का क्रम से उल्लेख हुआ है, परन्तु मानव्य का उल्लेख नहीं है।[१] अय्यणावंशचरित महाकाव्य में मानव्य और हारीत का उल्लेख ही नहीं है।[२]

पश्चिमी चौलुक्य विक्रमादित्य पंचम के कौथेम दान लेख (१००६ ई०) में उल्लेख है कि अयोध्या में ५६ नरेशों ने राज्य किया, तत्पश्चात् १६ नरेशों ने दक्षिणापथ पर शासन किया। दक्षिणापथ में इसवंश को जयसिंह ने स्थायित्व प्रदान किया।[३] दूसरी ओर पूर्वी चालुक्य नरेश विमलादित्य के रणास्तुपूण्डि दान अभिलेख (१०११ ई०) में अधिक विस्तृत विवरण मिलता है। ब्रह्मा से सोम फिर उदयन से ५६ नरेशों ने अयोध्या में शासन किया। तत्पश्चात् विजयादित्य नामक नरेश ने दक्षिण दिशा के प्रदेशों पर आक्रमण किया, परन्तु त्रिलोचन पल्लव के साथ हुए युद्ध में वह दिवंगत हो गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् पत्नी के नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम उसने अपने रक्षक मुडिवेमु के ब्राह्मण विष्णु भट्ट सोमयाजिन् के नाम पर विष्णुवर्धन् रखा। जब वह बड़ा हुआ, उसने चालुक्य पर्वत की देवी गौरी की पूजा की और उनकी कृपा से उसने कुमार और नारायण अपने पूर्वजों के राजचिह्न —श्वेत छत्र आदि को पुन: प्राप्त किया फिर कदम्ब , गंग तथा अन्य नरेशों को पराजित करके समस्त दक्षिणापथ साढे सात लाख,सेतु से नर्मदातक,पर अपना स्वत्व स्थापित किया।[४]

श्री चि०वि०वैद्य महोदय विमलादित्य के उक्त दान अभिलेख को सर्वाधिक विश्वसनीय मानते हैं। उनका अनुमान है — ' यदि उदयन ६०० ई० पू०

---

१. एपी०क० ११, लेख संख्या ४१, पृ० ३०

२. भारद्वाज, प्रथम द्वितीय सर्ग भाग २,

३. इ०ए०, १६,२३

४. एपी०इं०, ४, सं० ३६, पृ० ३५७

में हुए मान लिए जायं तो उनके पश्चात् ५६ नरेश या ११८० वर्ष हैं और विजयादित्य को ५८० ई० में मान लेने पर लगभग १०० वर्षों का व्यवधान पड़ता है । वस्तुत: ५६ नरेशों की वंश तालिका में प्रत्येक नरेश के लिए २० वर्ष की शासन अवधि का निर्धारण हमें एक विस्तृत तिथि नहीं दे सकता, अत: हम केवल यही कह सकते हैं कि विजयादित्य का दक्षिणापथ आना सम्भव है ।[1] इसके अतिरिक्त यह वंश तालिका 'अय्यणावंशचरित महाकाव्य[2]' से भी मेल नहीं खाती, जिसमें विष्णु से ब्रह्मा - अत्रि — सुधांशु -बुध -पुरूरवा...... उदयन तक ५६ नरेशों की तालिका है फिर विजयादित्य का वर्णन है । आगे कहा गया है कि विजयादित्य अपने भाई चित्रकण्ठ से अपमानित (विमनायित) होकर १४३ शकाब्द (२२१ई०) में चौवलि ग्राम में माहेश्वर मन्दिर के निकट निवास करने लगा । फिर नर्मदा पार कर अजन्ता में आया और कालान्तर में त्रिलोचन कदम्ब पर आक्रमण कर दिया, जिसमें विजयादित्य ने वीरगति पाई । उसकी गर्भवती रानी का भाई उसे लेकर भाग निकला और मुडिवेहु नामक ग्राम में सोमयाजी ब्राह्मण विष्णुभट्ट की शरण में आया । कालान्तर में रानी के प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'विष्णु' रखा गया । जो आगे चलकर विष्णुवर्धन् के नाम से प्रख्यात हुआ । उसने कदम्ब और गंग नरेशों को पराजित कर साढ़े सात लाख ग्रामों के विस्तीर्ण दक्षिणापथ पर अपना-राज्य स्थापित किया । उसके पराक्रम से प्रभावित हो कर कांची के पल्लव नरेश ने अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया । कालान्तर में उसका पुत्र पराक्रमी विजयादित्य (द्वितीय) और फिर बल्लभेन्द्र आदि विरुद वाले जयसिंह हुए ।[3] इस विवरण के अनुसार विजयादित्य चौवलि ग्राम नर्मदा (तट)

---

१. हि०आफ० मैडी०हि० इंडि०, भाग १, पृ० ६७

२. सर्ग १।४६ विक्रमा०, भारद्वाज, पृ० ३-४ पर उद्धृत

३. सर्ग १।६२, ६३ और २।१ - ४२ विक्रमांकदेवचरित खण्ड २, भू०पृ० ४—७ पर उद्धृत अय्यणावंश चरित महाकाव्य में प्रथम द्वितीय सर्ग ।

पर २२१ ई० में आया था। विजयादित्य का पूर्ववर्ती नरेश उदयन था। अत: उदयन और विजयादित्य के बीच लगभग ८२१ वर्ष की अवधि का अन्तर आता है। इस अवधि में ५६ नरेशों के राज्य करने का उल्लेख है, जिनके शासनकाल का अनुपात लगभग १४ वर्ष प्रतिनरेश पड़ता है।

अय्यणावंशचरित में वर्णित विजयादित्य (१४३ शक) के पश्चात्, विष्णु-वर्धन् विजयादित्य (द्वितीय) , जयसिंह (प्रथम) (३५६ शक) , बालवर्मा या बुद्ध वर्मा (३८३ शक) , विजय (३६४) शक, वनराज, रणराग (४११ शक) , पुलकेशी (प्रथम), सत्याश्रम पुलकेशी, कीर्तिवर्मा (४८८ शक तक) मंगलीश (४८६ से ५३२ शक तक) आदि पूरी वंशावली और कीर्तिवर्मा आदि की तिथियां अभिलेखों से साम्य रखती हैं। उक्त वंशवृक्ष में विजयादित्य से जयसिंह तक चालुक्यों ने २१६ वर्ष शासन किया था अर्थात् प्रति नरेश ५४ वर्ष पड़ा। अय्यणा वंश चरित के आधार प्रामाणिक ग्रन्थ, अभिलेख आदि रहे होंगे, क्योंकि कीर्तिवर्मा से लेकर परवर्ती नरेशों की तिथियां और घटनाएं विश्वस्त साक्ष्यों के अनुरूप हैं। अत: हम कीर्तिवर्मा से पहले दी हुई तिथियों और विवरणों को अन्य प्रमाणों के अभाव के कारण अमान्य नहीं कर सकेंगे, परन्तु इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि चालुक्यों के पूर्वज अयोध्या से दक्षिण भारत आये थे। यदि अय्यणावंशचरित का प्रमाण स्वीकार किया जाय तो यह अनुमान किया जा सकता है कि चालुक्य अयोध्या से प्रयाग, चेदि राज्य होते हुए नर्मदा तट पर माहेश्वर में स्थित बौवलि ग्राम में बसे जहां से दक्षिण भारत में फैले।[1]

बौद्ध ग्रन्थों के विवरण से ज्ञात होता है कि चेतिय अर्थात् चेदिय प्रदेश में चालिक ग्राम था, जिसके समीप चालिका या चालिय पर्वत था जहां बुद्ध ने १३ वें, १८ वें, १६ वें वर्षावास किये थे। चालिका ग्राम के पास किमिकाला नदी थी। इस ग्राम का नाम चलपंक (दलदल) होने के कारण 'चालिका' पड़ा था।[2] चेदि प्रान्त में चालिका ग्राम व पर्वत की स्थिति और बौवलि

---

1 अय्यणावंशचरितम्

2. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ४३१-२, हि०सा० सम्मेलन, प्रयाग, विक्रमा० २०१८

(माहेश्वर में स्थित) ग्राम में चालुक्यों के बसने के उल्लेख से प्रतीत होता है कि चालुक्य कभी चालिक्का ग्राम में बसे होंगे और उन्हें `चालुक्य` संज्ञा संभवत: इसीलिए प्राप्त हुई । `विक्रमांकाभ्युदय` में उल्लिखित है कि चालुक्य पर्वत पर शर्वर (शंकर) के आशीर्वाद से इस वंश का नाम चालुक्य पड़ा ।[१] श्री वैद्य महोदय का कथन है` यह असत्य नहीं है कि क्षत्रिय योद्धागण उत्तर से दक्षिण में ऐश्वर्य की खोज में अक्सर आया करते थे और शिवाजी के पूर्वजों की भाँति वहाँ बस गये ।`[२]

चालुक्यों को दक्षिण भारतीय मानते हुए ऐयंगर महोदय निम्न-लिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं :-(१) चालुक्यों की पल्लवों के साथ परम्परागत शत्रुता थी, जिसका कारण अस्पष्ट है ।

(२) चालुक्यों की परम्परागत उत्पत्ति विषयक गाथाएं उनका सम्बन्ध अयोध्या के इक्ष्वाकु कुल के साथ जोड़ती हैं । इसका कारण जो भी रहा हो । उस समय इन इक्ष्वाकु वंशावली के साथ सम्बन्ध जोड़ने का चलन हो गया था । यह संभव है कि चालुक्य पड़ोसी आन्ध्र के इक्ष्वाकु नरेशों के साथ सम्बन्ध जोड़ते हों ।

(३) चालुक्यों ने एक ओर वाराह चिह्न का प्रयोग किया है, दूसरी ओर `चालुक्य` शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा में संभव न हो सकने के कारण यह प्रतीत होता है कि चालुक्यों की उत्पत्ति दक्षिण भारतीय है ।[३]

अभिलेख एवं साहित्य साक्ष्य चालुक्यों को अयोध्या निवासी कहते हैं । चालुक्यों की दक्षिणी उत्पत्ति सूचक एक भी उल्लेख न मिलने से दक्षिण

---

१. चालुक्यपर्वते शर्वर प्रसादात् चालुक्य इति व्यदेशमुवाह ।

—विक्रमांकाभ्युदय, नागर, गायकवाड़ सी०,१५०, पृ०१७,१९६६

२. हिस्ट्री आफ हिन्दू मिडीवल इंडिया, खण्ड १, पृ० ६८

३. एन्शेंट इंडिया एण्ड साउथ इंडियन हिस्ट्री —ले०एस० कृष्णस्वामी ऐयान्गर, पृ० ५१०, ५११, १९४१ ई०

उत्पत्ति के लिए किंचित् भी स्थान नहीं है ।

जाति —

बिल्हण ने चालुक्यों के पूर्वजों को क्षत्रिय कहा है ।[१] उनके शासन काल में पौराणिक धर्म, का उत्थान हुआ । मंगलीश का महाकूट अभिलेख (१२ अप्रैल, ६०२ ई०) उसे अग्निष्टोम, अग्निचयन, वाजपेय , अश्वमेध आदि वैदिक यज्ञों को करने वाला कहता है ।[२] इसके अतिरिक्त उनके शासन-काल में शिव, विष्णु ,ब्रह्मा, सूर्य, देवी गौरी, स्कन्द की पूजा के निमित्त होने लगी तथा गौ और ब्राह्मणों का सम्मान बढ़ा ।[३] सामाजिक दृष्टि से भी वे क्षत्रिय प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे हैह्य राष्ट्रकूट , पल्लव, सेन्द्रक (नागवंशी) आदि क्षत्रिय परिवारों में ही वैवाहिक सम्बन्ध करते थे ।[४] बिल्हण ने विक्रमांकदेव का चोलों के साथ जिस सम्बन्ध का उल्लेख किया है, वह राजनीतिक है और अपवाद स्वरूप है । इसके अतिरिक्त युन-च्वांग (६२६-४५ई०) ने लिखा है — वह जन्मत: क्षत्रिय था और उसका नाम पुलकेशी था ।[५]

कुछ विद्वानों ने भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर चालुक्यों को विदेशी सिद्ध करने की चेष्टा की है । डा० प्रबोधचन्द्र बागची[६] का अनुमान

---

१. तेक्षत्रियास्तामवदातकीर्त्तिं पुरीमयोध्यां विदधुर्निवासम् ।।
— विक्रमा० , १।६३

२. सोर्सेज आफ कर्णाट हिस्ट्री, जि० १, सं० २५, पृ० ३६,३७

३. अ०हि०ड०, याजदानी, पृ० २४२—४

४. वैद्य, हि०आफ मेडि०हिन्दू इंडिया, भाग १, पृ० ७४

५. युवन च्वाङ् का यात्रा विवरण — अनु० थामस वाटर्स, खण्ड २ , पृष्ठ २३६, १९६१ ई०

६. ज०आफ० डिपा० आफ लेटर्स, जि० २१

है कि स या श के लिए संस्कृत भाषा में 'च' हो जाने के अनेक उदाहरण हैं। वे 'चुलिक शुलिक और चुलिक पैशाची और चालुक्यों का सम्बन्ध काशगर की सोग्दियन' जाति के साथ जोड़ते हैं, जो मार्कण्डेय आदि पुराणों, बृहत्संहिता, चरकसंहिता आदि ग्रन्थों में किरात, लम्पाक, कश्मीरी आदि जातियों के साथ परिगणित हुई है। ईशान् वर्मन के हरहा लेख में शूलिकों का उल्लेख गौडों के साथ हुआ है। चीनी लेखकों ने भी इनका नामोल्लेख किया है।

विदेशी उत्पत्ति के समर्थकों ने केवल चालुक्यों के पारिवारिक नाम को लेकर द्राविड़ प्राणायाम करते हुए ऊपर से तर्क संगत प्रतीत होते हुए एक सिद्धान्त को गढ़ डाला है। वे अपने समर्थन में चालुक्यों से सम्बद्ध कोई विवरण प्रस्तुत नहीं कर सके। वस्तुत: कोरा भाषा शास्त्रीय प्रमाण, जिसका समर्थक अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं है किसी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुंचाने में असमर्थ होता है। इस सम्बन्ध में डा० राजबली पाण्डेय की धारणा समीचीन है।

"भाषाशास्त्रीय प्रमाण केवल समर्थन करने या सहायक प्रमाण के रूप में महत्व रखते हैं। वे स्वत: निर्माण करने में तब तक समर्थ नहीं होते, जब तक कि समस्त सीधे और तिथि क्रम से सम्बद्ध प्रमाणों का अभाव न हो गया हो। यह नहीं सिद्ध किया जा सका है कि भारतीय आर्यों के प्राचीन इतिहास के साक्षात् प्रमाणों का अभाव है, अत: हमें भाषाशास्त्र के अप्रत्यक्ष यत्र तत्र विकीर्ण एवं आकस्मिक प्रमाणों पर भरोसा करना पड़ेगा।"[१]

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि चालुक्य उत्तरी भारत (संभवत: अयोध्या) के क्षत्रीय नरेश थे, जो अपने अभिलेखों में सोमवंशी कहे गये हैं।[२]

---

१. इं०हि०क्वा०, जि० २५, नं० २ जून

२. सोर्सेज आफ कर्णाटक हिस्ट्री, लेक्स० २४, एपी०, क० ११, सं— ४१,ई०प० १,५४ जि० ७, २६६, जि० १६, ३३८ आदि अय्यणावंशचरित १।४६।

बिल्हण इस सम्बन्ध में मौन हैं। चालुक्यों ने अयोध्या के सूर्यवंशी क्षत्रियों को जीतकर वहां राज्य स्थापित किया था। विक्रमांक० १७,११६६६०

चालुक्यों की उत्पत्ति, मूल आवास स्थान और जाति का उल्लेख करने के पश्चात् बिल्हण ने पश्चिमी चालुक्यों की उत्तरवर्ती शाखा के संस्थापक तैलप से लेकर क्रमबद्ध वंशावली प्रस्तुत की है ।

तैलप—

चालुक्यों की उत्पत्ति तथा उनके पूर्वजों का वर्णन करने के उपरान्त बिल्हणने परवर्ती कल्याणी के चालुक्य शाखा के संस्थापक तैलप के पराक्रम का वर्णन इस प्रकार है । तैलप अपने कुल का तिलक था तथा उसने राष्ट्रकूटों का समूलोच्छेदन कर दिया । फलत: उसके पास शत्रुओं की राज्यलक्ष्मी स्वत: आ गई । रणक्षेत्र में स्वेद युक्त होने पर उसके हाथ में खड्ग इन्द्र द्वारा बरसाये हुए पुष्प की धूलि से दृढ़ हो गया ।[१] बिल्हण ने तैलप की एक ही, पर प्रमुख विजय का उल्लेख किया है, जिसने तैलपको स्वतंत्र शासक बनाया :-

" पृथ्वी के कण्टक (अर्थात् निकटवर्ती नरेश जिनके युद्धों एवं पराक्रमों से सशंकित रहते थे) राष्ट्रकूट वंश के नरेशों का समूलोच्छेदन करने में दक्ष चालुक्य - कुल चन्द्र जिस तैलप के पास (विपक्षी) राजाओं की राजलक्ष्मी सहज ही चली आई ।"

प्रथम राष्ट्रकूट नरेश, जिसने साम्राज्य की स्थापना की, दन्तिदुर्ग (७३५-५५ ई०) थथा । वह अपनी विजयों के लिए प्रसिद्ध था । उसके परवर्ती राष्ट्रकूट नरेश गोविन्दराज द्वितीय, गोविन्द तृतीय, अमोघवर्ष और इन्द्र तृतीय निरन्तर युद्ध-रत रहे और वे सफल सेनापति थे ।[3] इसीलिए राष्ट्रकूटों को विश्वम्भराकण्टक कहा गया है । ऐसे पराक्रमी शत्रुओं की अधीनता का परित्याग

---

१. विक्रमा०, १।६८-७३

२. विश्वम्भराकण्टकराष्ट्रकूट-समूलनिर्मूलनकोविदस्य ।
सुखेन यस्यान्तिकमाजगाम चालुक्यचन्द्रस्यनरेन्द्रलक्ष्मी: ।।
— वही १।६६

३. अल्तेकर अ०हि०इ०, सम्पा० याज़दानी, लंदन, १६६० , पृ० २४६—२६८

कर उनके साम्राज्य को अधिगत कर लेना परवर्ती चालुक्यों के इतिहास में एक विशिष्ट घटना थी । अत: विल्हण ने तैलप की इसी एक विजय का उल्लेख किया है ।

तैलप विक्रमादित्य चतुर्थ का पुत्र तथा राष्ट्रकूटों का सामन्त था ।[१] इस समय वह हैदराबाद राज्य के उत्तरी भाग में (बीजापुर जिले में) राज्य कर रहा था ।[२] अन्तिम प्रतापी राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय की मृत्यु (९६८ ई०) के पश्चात् उसका भाई खोट्टिग नित्यवर्ष मालवा के परमार नरेश सीयक हर्ष द्वारा बुरी तरह पराजित हुआ ।[३] खोट्टिग परमार-आक्रमण के तुरत बाद ही दिवंगत हो गया और उसका भतीजा कर्क द्वितीय (९७३ ई०) शासक हुआ । कुछ ही माह में वह तैल द्वितीय के द्वारा राज्य च्युत कर दिया गया जो समय की प्रतीक्षा में था । बाद की अनुश्रुतियों में तैल भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार कहा गया, जिसने रट्ट राक्षस - वंश के साथ १०८ युद्ध किये तथा उनके ८८ दुर्गों पर आधिपत्य स्थापित किया । तैल की यह सफलता भी कल्याणी के चालुक्य साम्राज्य का प्रारम्भ थी ।[४] तैलप की राष्ट्रकूट विजय अनेक अभिलेखिक प्रमाणों से समर्थित है । एक लेख में तैल को झञ्झावात सेसंबोधित किया गया है —झंझावात से जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार एक समय का राष्ट्रकूट शासन स्मृति मात्र रह गया[५] । कर्क की अन्तिम ज्ञात तिथि जुलाई १९७३ ई०[६] होने से सन् ९७३ ई० के वसंत या जाड़े में कर्क द्वितीय की

---

१. आर्कि० सर्वे० इंडि०रिपोर्ट, १९३०-३४, पृ० २२४,२४१

२. राष्ट्र एण्ड देअर टाइम्स, पृ० १३०, १९३४ ई० पूना

३. ए०इं०१, पृ० २३५,२७७ , श्लोक १२

४. हि०आफ०सा०इंडिया०, शास्त्री, पृ० १७०, १९५५ ई०

५. भदान दान-पत्र (शिलाहार नरेश अपराजित —९९७ ई० का) ए०इं०,भाग३ पृ० २६९, दृष्टव्य—नीलगुण्ड शिलालेख (९८२ ई०) रट्टराज शिलाहार नरेश १००८ ई० का खोरपेटण दानपत्र , विक्रमादित्य पंचम का कौथम दानपत्र १००९ ई०) और विक्रमादित्य षष्ठ का गदग लेख—फ्लीट,डा०हि०कना० डिस्ट्रिक्ट, पृ० ४२६, १८९६ ई० , बम्बई ।

६. इ० ए०, भाग १२, गुन्दुर लेख, पृ० २७२ (आषाढ़ का)

की पराजय हुई होगी ।[१] अभिलेखों में तैलप को आहवमल्ल, चालुक्य सिंह ,रण-रंग-भीम[२] आदि विरुदों से अभिहित किया गया है । विल्हण ने भी संग्राम लीलासरस: स्फूर्जद्यशोहंसविलासपात्रम्[३] (युद्ध भूमि क्रीडासर के प्रसरित होने वाले यश रूपी हंस का क्रीडास्थान) विशेषण उसकी कृपाण के लिए प्रयुक्त किया है, जो उसके पराक्रमी होने की पुष्टि करते हैं ।

सत्याश्रय—

सत्याश्रय के प्रताप का वर्णन इस प्रकार है —

"तदनन्तर (तैलप के पश्चात्) क्रुद्ध भृकुटि के समान अपने कृपाण से शत्रुओं के कपालों (खोपड़ियों) को भी चूर्ण करने वाला चालुक्य वंश में निर्मल मोती की कान्ति से युक्त (तेजस्वी) सत्याश्रय नरेश हुआ ।

" युद्ध रूपी रात्रियों में शत्रु नरेशों के मुकुटों की मणियों से नये हुए जिसके बाण मानों दीपक लिए हुए कृपाण रूपी अंधकार में शत्रु समूहों को पहचान रहे थे ।

" युद्ध रूपी प्रांगणों में सरलता से धनुष की प्रत्यंचा खींचने वाले जिसका धनुष दोनों कोटियों के झुक जाने से मानों अमोघमार मारने वाले अस्त्रों का चुम्बन करता हुआ शोभित होता था ।

" अति साहसी जिसके सहस्रों भूभृतों (राजाओं या पर्वतों) के शरीरों में छिद्र करने वाले शर क्रौंच पर्वत में छिद्र करने में दक्ष परशुराम के शरों के गर्व को न सह सके ।

" युद्ध के भाग दौड़ में सूत्र मात्र अवशिष्ट (सारे रत्न टूट कर गिर गये थे) हार वाले शत्रु के शरीर पर यज्ञोपवीत के शुभ्र भ्रम से प्रहार करने वाला

---

१. राष्ट्रकूट एण्ड दैयर टाइम्स, अल्टेकर, पृ० १२६, १९३४ ई० पूना

२. ए०इ०, जिल्द २, पृ० २१५

३. विक्रमा० १।७२

वह क्षण भर के लिए (ब्राह्मण अवध्य होने से कहीं यह ब्राह्मण न हो इस भ्रम से) विघ्नित हुआ ।[१]

तैलप के पश्चात् उसका बड़ा पुत्र सत्याश्रय ६६७ ई० में या उसके तुरत बाद, चालुक्य साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ ।[२] सत्याश्रय का 'इडिबबेडंग (आक्रमण करने में भयंकर योद्धाओं के लिए विस्मयावह) और अकलंक-चरित' विरुद मिलते हैं । अपने पिता तैलप की भाँति उसने साम्राज्यविस्तार की नीति अपनाई और कई युद्धों में भाग लिया ।[३] लेखों के अनुसार उसने श्रीपर्वत पर पड़ाव डाला । उसके ब्राह्मण सेनापति ने दन्नाड (धान्यकटक) के दो दुर्गों को जलाया , और चोलों को परास्त किया था ।[४]

जयसिंहदेव—

सत्याश्रय के पश्चात् जयसिंहदेव का वर्णन है —

' तदनन्तर जिसकी गजसेना के युद्धों में प्राप्त यश मानों हाथ में (रखे हुए) गजमुक्ता के समान सुशोभित होते थे, ऐसे श्री जयसिंहदेव ने चलुक्यसिंहासन को सुशोभित किया ।

' जिसके प्रताप से पीड़ित विपक्षी नरेशों की रानियाँ (ठंडक पाने की इच्छा से) चन्दन से अवलिप्त प्रियतमों के अंकों में करवटें लेने का स्मरण करती थीं (अर्थात् पति मृत हो गये थे, उनकी स्मृति मात्र नरेशों में सन्ताप का उदय नहीं एवं उनकी स्त्रियों के हृदयों में स्मृति मात्र शेष थी) ।

' प्रात:काल के सदृश युद्धों में, सूर्य के समान उसके प्रताप के प्रतिष्ठित हो जाने पर सूर्यकान्तमणियों के समान किन नरेशों में सन्ताप का उदय नहीं हुआ ?

---

१. विक्रमा० १।७४—७८

२. अ०हि०डे०, पृ० ३२३

३. ए०ई०, जिल्द २, पृ० ४७

४. वही, पृ० ३२४

" जिसकी युद्ध यात्राओं में विजयवाहिनी के भार से डांवाडोल समस्त पृथ्वी ने ताजे घावों से युक्त पीठ वाले कच्छपराज को घबराहट में डाल दिया ।

" किरीट की मणियों की किरणों की फिलमिलाहट (वीचि) से आच्छादित, जिसके विपक्षी मृत नरेशों को युद्धभूमि में सियारियों ने चिताग्नि के भय से सहसा ग्रहण नहीं किया ।

" जिसने विजययात्राओं में दिक्पालों की नगरियों को लूट कर केवल दिग्गजों को नहीं ग्रहण किया । वे दिग्गज विजयी हाथियों के सप्तपर्ण वृक्ष के समान गन्ध से डर कर भाग गये ।

"युद्ध क्षेत्रों में असीम वीरव्रत में निपुण , चढ़े हुए धनुष वाले उसके सामने शत्रु सदा पराङ्मुख हो जाते थे परन्तु यश सम्मुख आता था ।

"युद्ध रूपी उत्सवों में निरभिमानी जिसने देवपुरी को यश से सुशोभित करते हुए इन्द्र के द्वारा अपने हाथ से पहिनाई हुई पारिजात पुष्प की माला प्राप्त की ।[१]

सत्याश्रय के पश्चात् १००८ ई० में उसके भतीजे विक्रमादित्य पंचम ने १०१५ ई० तक शासन किया । तदुपरान्त उसके भाई अय्यण द्वितीय ने १०१५ ई० में कुछ सप्ताह शासन करने के पश्चात् उसका अनुज जयसिंह जगदेकमल्ल चालुक्य सिंहासन पर आसीन हुआ, जिसने १०१५ से १०४२ ई० तक शासन किया ।

जयसिंह का शासन-काल युद्ध के अनेक मोर्चे से भरा हुआ था । उसने मालवनरेश भोज , राजेन्द्र चोल और वेंगि नरेश को पराजित किया और जगदेकमल्ल (संसार का अद्वितीय योद्धा) का विरुद धारण किया[२] जो बिल्हण के विवरण से ध्वनित उसके पराक्रम की पुष्टि करता है ।

---

१. विक्रमा०, १।७६–८६

२. अ०हि०डे०, पृ० ३२६–३३०

विक्रमांकदेवचरित में दिये हुए जयसिंह के विवरण में उसकी वीरता की प्रशस्ति मात्र है, परन्तु एक श्लोक [१] में संभवत: मालवराज भोज के साथ हुए उसके संघर्ष का संकेत है ।

श्री गौरीशंकर [२] हीराचन्द ओझा के अनुसार भोज और जयसिंह के संघर्ष में चालुक्य जयसिंह ने रणक्षेत्र में वीरगति पाई । इसीलिए विल्हण ने उसे इन्द्र के द्वारा पारिजात माला प्राप्त करने वाला कहा है ।

चालुक्य जयसिंह के साथ भोज के संघर्ष के अनेक प्रमाण हैं । इस संघर्ष के पीछे सम्भवत: तैलप द्वारा मुंज की हत्या के कारण हुआ वंशानुगत वैर था । अपनी दक्षिण विजयों में भोज ने कोंकण पर आक्रमण किया था, जिस विजय के उपलक्ष्य में उसने (सन् १०२० ई०) वि०सं० १०७६ में दान-पत्र लिखवाया था ।[३] हमें ज्ञात है कि कोंकण तैलप के समय में ही चालुक्यों द्वारा विजित हो चुका था ।[४] जयसिंह को एक लेख में 'कोंकणधूमकेतु '[५] (कोंकण के लिए अनिष्टसूचक पुच्छलतारा) कहा गया है । गांगुली महोदय का अनुमान है कि इसी विजय यात्रा में भोज की मुठभेड़ जयसिंह के साथ हुई होगी । भोज ने त्रिपुरी के कलचुरि गांगेयदेव और चोल नरेश राजेन्द्र प्रथम के साथ क्षणिक मैत्री करके कर्णाट पर एक साथ आक्रमण किया होगा (कुलेनुर लेख) । और संभवत: भोज को इस युद्ध में पहले कुछ सफलताएं मिली थीं ।[६] गांगुलि महोदय का यह अनुमान चिन्त्य है । इसके निम्नलिखित कारण हैं —

---

१. यशोवतंसं नगरं सुराणां कुर्वन्नगर्व: समरोत्सवेषु ।
अस्तां स्वहस्तेन पुरन्दरस्य य: पारिजातस्रजमाससाद ।। १।८६

२. हिस्ट्री आफ सोलंकीज़, भाग १, पृ० ८७ , अजमेर

३. राजा भोज —रेऊ कृत, पृ० १११,१३, पं० १०,१९३२

४. ए०इ०, जिल्द २, पृ० ४७

५. वही, जिल्द १६, पृ० ७५ और आगे ।

६. हिस्ट्री आफ परमार डाय, गांगुली, पृ० ९१, १९३३ ई०

तीन भिन्न भिन्न दिशाओं में स्थित कलचुरि, परमार और चोलों में मैत्री कैसे हुई, जबकि तीनों जयसिंह के साथ स्वतंत्र रूप से मोर्चा लेने में समर्थ थे। कल्वन लेख[1] से विदित होता है कि तीनों राज्यों को पराजित करने का श्रेय जयसिंह को दिया गया है, न कि इनके सम्मिलित जत्थे को। १०१६ ई० के लेख[2] में मालवा के सम्मिलित सैन्य में इस जत्थे का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इस प्रकार कई राज्यों के नाम साथ साथ उल्लिखित होने मात्र से उनके संघ की कल्पना की जाने लगेगी, तो इतिहास में संघों कीभरमार हो जायेगी। कल्वन अभिलेख[3] और उदयपुर प्रशस्ति[4] में भोज को कर्णाट राज्य पर विजय प्राप्त करने वाला कहा गया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिणी राज्यों पर अधिकार करने का उसका प्रयत्न पराजय में परिणत हो गया। जयसिंह के शासनकाल के १०१६ ई० के एक अभिलेख में उसको `भोज रूपी कमल के लिए चन्द्र के समान` और मालवा के सम्मिलित सैन्य को पराजित करने वाला कहा गया है।[5] उसी नरेश के १०२८ ई० के कुलेनुर अभिलेख में कहा गया है कि जयसिंह ने चोल, गांगेय और भोजराज की हस्तसेनाओं को छिन्नभिन्न कर दिया बिल्हण ने भी जयसिंह जगदेकमल्ल की विजयवाहिनी के प्रताप का वर्णन किया है।[6]

बिल्हण के वर्णन के आधार पर इस युद्ध में जयसिंह को दिवंगत मानना अनुचित है। क्योंकि भारतीय कथाओं में वीरगति को प्राप्त हुए वीरों को अप्सरायें जयमाला अर्पित करती थीं, इन्द्र नहीं। यह मानते हुए भी व्यूलर ने

---

१. इ०ए० जिल्द ५, पृ० १७
२. ए०इ०, जि० १५, पृ० ३०
३. वही जिल्द १६, पृ० ७१-७२, पं० ६-७
४. वही, जिल्द १, पृ० २३५, श्लोक ५
५. बु.फि, जिल्द ५, पृ० १७
६. विक्रमा०, १।७९-८६

बिल्हण के वर्णन से जयसिंह का मारा जाना ही स्वीकार किया है।[१]

प्रस्तुत वर्णन में बिल्हण को जयसिंह की मृत्यु दिखाना कदाचित् ही अभिप्रेत रहा हो। क्योंकि विक्रमांकदेवचरित के अन्त:साक्ष्य से यह धारणा निर्मूल प्रतीत होती है। पन्द्रहवें और सत्रहवें सर्ग में वीरगति प्राप्त हुए वीरों को अप्सराओं द्वारा स्वयंवर माला अर्पित करने के उल्लेख हैं, इन्द्र द्वारा नहीं।[२] चौथे सर्ग के ६३ वें श्लोक में "राजा आहवमल्ल ने तुंगभद्रा की तरंगों को अपने आप को इन्द्र मन्दिर में उछालने वाली समझा" दूसरी जगह "मानों इन्द्र दूत लेने आये हैं यह समझा" —ये स्थल आहवमल्ल की जीवितावस्था के हैं। परन्तु अन्यत्र "ब्रह्मा ने स्वर्ण-स्तम्भ की शोभा वाले आहवमल्ल की भुजाओं को स्वर्ग के राज्य-कार्य में इन्द्र की सहायतार्थ इस पृथ्वी से दूर हटा लिया है," अर्थात् स्वर्ग में बुला लिया है। यह विवरण निश्चय ही आहवमल्ल की मृत्यु का सूचक है।[३] इसके अतिरिक्त प्रथम सर्ग में तैलप के प्रताप का वर्णन करता हुआ कवि कह रहा है —युद्धों में पराक्रम की गर्मी के कारण स्वेदयुक्त हाथ वाले तैलप का शत्रुओं के लिए कालभूत खड्ग इन्द्र द्वारा की हुई पुष्प वृष्टि के पराग संपर्क से सूखकर हाथ में अधिक दृढ़ हो गया।"[४] यहां पर तैलप पर इन्द्र ने पुष्पवृष्टि की —पर तैलप की मृत्यु के बाद नहीं। यदि यह कहा जाय कि बिल्हण ने आहवमल्ल को मालवा या भोज विजय का श्रेय दिया है ;[५] जयसिंह को नहीं। इसलिए जयसिंह रणक्षेत्र में मारा गया होगा तो भी उचित नहीं, क्योंकि बिल्हण का लक्ष्य तैलप आदि विक्रमांकदेव के पूर्वजों के प्रताप का सामान्य वर्णन करना था, उनकी विशेष विजयों का नहीं। आहवमल्ल की विजयों का

---

१. विक्रमां०, भूमिका, पृ० २७, टि० १,१८५७

२. वही १५।२,८० और १७।४४,५७,५८,५६,६०,६१ और ६३ एवं ६४

३. वही, ४।६३,४८,७६

४. वही, १।७०

५. वही, १।६१-४

वर्णन तो उसके विक्रमांकदेव का पिता होने के नाते ही किया है ।

इसकेअतिरिक्त यदि इस युद्ध में जयसिंह की मृत्यु होना मानली जाय तो समय विरोध होता है । यदि जयसिंह १०१६ ई० के पूर्व हुए इस युद्ध में मारा गया तो उसने, आह्वमल्ल सोमेश्वर प्रथम से पूर्व १०४२ ई० तक राज्य कैसे किया ?

मेरे विचार से बिल्हण के विवरण से जयसिंह और भोजराज के युद्ध का संकेत लेना समीचीन नहीं है, क्योंकि उस श्लोक में युद्धोत्सवों में इन्द्र द्वारा पारिजात माला प्राप्त होने का सामान्य वर्णन है अर्थात् जयसिंह को अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करने का श्रेय था । बिल्हण ने आह्वमल्ल के पूर्वज तैलप, सत्याश्रय औरजयसिंह के पराक्रमों का सामान्य विवरण मात्र प्रस्तुत किया है, विशेष युद्धों का नहीं । तैलप ने इस राजवंश की संस्थापना राष्ट्रकूटों का उल्लेख करके की थी, अत: इस महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख हुआ है ।

आह्वमल्लदेव अथवा त्रैलोक्यमल्ल (१०४८–१०६८ ई०)

" जयसिंहदेव से आह्वमल्ल जिसका दूसरा नाम त्रैलोक्यमल्ल भी था, उत्पन्न हुआ । जिसका निर्मल-चरित राम के सदृश आख्यायिका, अद्भुत कथाओं महाकाव्यों और नाटकादि दश रूपकों में हुआ था ।[१]

आह्वमल्ल की प्रारंभिक विजयें — राज्यारोहण के तुरत बाद ही (१०४२-३ ई० में) आह्वमल्लको चोलों के साथ संघर्ष करना पड़ा ।[२] इमें ■

---

१. विक्रमा० १।८७-८६ —आह्वमल्ल से सम्बद्ध कोई रचना अभी तक प्राप्त नहीं हुई है ।

टि०—व्यूलर — नरेश का वास्तविक नाम सोमेश्वर (१) था । बिल्हण इसके स्थान पर सदैव उपरिलिखित सम्मान सूचक विरुद का प्रयोग करता है । सम्भवत: इसका कारण है कि विक्रम के घृणित-भाई तथा अग्रज का नाम भी सोमेश्वर(२) था, अत: बिल्हण विक्रम के अधिक पूज्य पिता को उसी नाम से सम्बोधित नहीं करना चाहता था —विक्रमा, भूमिका, पृ० २७, टि० २, इसके विपरीत श्री वैंकटरमा ऐय्यर का अनुमान समीचीन प्रतीत

(आगे जारी :)

ज्ञात है कि चालुक्य जयसिंह मुशंगि युद्ध के पश्चात् (१०२१ई०) रायचूर भूमि पर अधिकार करके तुंगभद्रा तक पहुंच गया था और १०३३ ई० में उसका सामन्त नोलम्बवाडि ३२००० पर शासन कर रहा था ।[१] दीर्घकालीन शान्ति के पश्चात् आहवमल्ल ने राज्यारोहण के तुरत बाद वेंगि पर आक्रमण करके शान्ति भंग की । इस आक्रमण में उसे आंशिक सफलता भी मिली । नरेगल (१०४४ई०) अभिलेख[२] से ज्ञात होता है कि महामण्डलेश्वर सोभनरस ने वेंगिनाथ विरुद धारण किया था, जो वेल्वोले ३०० और पुरिगेरे ३०० में युवराज की हैसियत से शासन कर रहा था । अत: यह युद्ध १०४२ ई० से १०४४ ई० के बीच हुआ था ।

मालवा विजय— चोल-संघर्ष से मुक्ति पाकर आहवमल्ल ने चालुक्यों के चिर-शत्रु मालवा की ओर ध्यान दिया । उसकी कृपाण ने प्रमार नरेशों की कीर्ति रूपी धारा (नगर) का पान कर लिया (अनेक नरेशों को नष्ट कर लेने पर भी उसका कृपाण मालवराज की एकमात्र धारा नगरी को नहीं छोड़ सका । राजा भोज द्वारा शासित होते हुए भी धारा नगरी की कीर्ति क्षीण कर दी और विवश होकर धारा को छोड़ कर भोज के भाग जाने पर ही उसका क्रोध शान्त हुआ ।[३] नन्देर (हैदराबाद से प्राप्त शक सं० ६६६ , १ अप्रैल, १०४७ ई०) के कन्नड़ अभिलेख [४] से ज्ञात होता है कि अभिमानी (भोज) को धारा में सोमेश्वर द्वारा पराजित होना पड़ा था । अन्य अभिलेखों [५] से इसकी — पुष्टि होती है ।

पिछले पृष्ठ का शेष — होता है कि सोमेश्वर प्रथम 'आहवमल्ल' नाम से ही बहुश्रुत हो चुका था, क्योंकि वह इसी नाम से अधिकांश चोल और चालुक्य विवरणों में स्मृत होता रहा । इ०ए०, जि० ४८,पृ० ११८, टि० ५५ मेरी समझ में बिल्हण ने पिता और पुत्र दोनों का एक ही सोमेश्वर नाम होने से पाठक को नामों में भ्रम न हो जाय इसीलिए सोमेश्वर प्रथम के बहुश्रुत विरुद आहवमल्ल का ही प्रयोग किया है ।

२. वही, १।६०

---

१. दी चोलेज़, पृ० २२४, १९५५

२. एपी०क०, ७,शिकारपुर,३२३

३. विक्रमां०, १।६१-६४

४. आ०हि०डे० ३३०,१९६० लंदन ।

५. एनु०रि०आर्कि० डिपा० १९२८ , पृ० ७२, पं० १३, १९१९, पृ० ६८-६९, ए०इं० १५, पृ० ८७, श्लोक २ और पृ० १६, पृ० ८६, पं० ४,५ है० आर्कि०सी० नं० ८, पृ० २०

यह आक्रमण परमारों के लिए भीषण सिद्ध हुआ, जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने राज्य के दक्षिणी प्रदेश का बहुत सा भू-भाग खो दिया, क्योंकि सीयक द्वितीय के राजत्व काल से ही गोदावरी परमार राज्य की दक्षिणी सीमा थी । परन्तु १०८७ ई० के सीताबल्दी स्तम्भ लेख से यह सिद्ध होता है कि उस समय उनकी राज्य-सीमा मध्य-भारत में नागपुर तक पीछे हट गई थी । यह सम्भवत: सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल के आक्रमण के कारण ही हुआ था, जिसने एक समय समस्त मालवराज्य को अपने अधीन कर लिया था । यह चालुक्य आक्रमण परमारों के पतन का प्रधान कारण बना । इस आक्रमण ने परमार राज्य-सीमा को ही नहीं संकुचित किया अपितु पड़ोसी नरेशों को उनकी दयनीय स्थिति का लाभ उठाने के लिए उकसाया भी ।[१]

डाहल कर्ण के साथ युद्ध – सम्राट भोज से मुक्ति पाकर आहवमल्ल को डाहाल कर्ण के आक्रमण का सामना करना पड़ा, जिसमें वह सफल हुआ । बिल्हण ने इस विजय का स्पष्ट उल्लेख किया है –" जिस नरेश के साथ अबाध संघर्ष में कर्ण के क्षीण या पराजित हो जाने के कारण डाहाल भूमि की राजलक्ष्मी कर्पूरवत् श्वेत कर्णाभूषण के सदृश यशों से आज भी युक्त नहीं हो रही है ।[२] कलचुरि कर्ण भी कुन्तल की श्री को क्षुब्ध करने का दावा करता है[३] परन्तु यह उल्लेख आहवमल्ल पर कर्ण के आक्रमण मात्र को सूचित करता है, विजय नहीं । इस युद्ध का उल्लेख चालुक्य लेखों में नहीं मिलता । रीवां अभिलेख (१०४८ ई०) के विवरण के अनुसार यह कहा जा सकता है कि दक्षिण यात्रा में कर्ण की मुठभेड़ कल्याणी के चालुक्य आहवमल्ल के साथ हुई होगी, जिसमें कर्ण असफल रहा होगा। बिल्हण भी डाहल- क्ति को छिन्न-भिन्न कर देने का

---

१. हि० परमार डायनेस्टी, गांगुली, पृ० ६४, १९३३

२. विक्रमां०, १।१०२-१०३ –यहां "विशीर्ण" शब्द का अर्थ क्षीण शक्ति होना या सेना का तितर बितर होना है, मर जाना नहीं ।

३. हठग्[illegible]-कुन्तल-श्री ...... ।२५।।

—का०इ०इ०, जि० ४, खण्ड १, लेख सं० ५१

उल्लेख करता है। यह संघर्ष १०४८ ई० के पूर्व हो चुका था।

कोंकण विजय--

कर्ण की पराजय के पश्चात् आहवमल्ल ने कोंकण पर आक्रमण किया और समुद्रतट पर विजय स्तम्भ गाड़ दिया।[1] बिल्हण ने स्पष्टतः कोंकण नाम नहीं लिया, पर परशुराम द्वारा समुद्र हटाकर निकाले जाने के उल्लेख से, यह प्रतीत होता है कि यह प्रदेश कोंकण ही था। क्योंकि परशुराम के द्वारा अपने निवास के हेतु कोंकण का समुद्र से निकाला जाना प्रसिद्ध है। नन्देर (हैदराबाद) १०४७ ई० से प्राप्त कन्नड़ अभिलेख[2] में कहा गया है कि सोमेश्वर ने कोंकण नरेश को बलात् अपने चरणों पर अवनत किया। अन्यत्र[3] मधुसूदन (सोमेश्वर के सेनापति) को कोंकण और मालवा विजय का श्रेय दिया गया है। शास्त्री जी[4] का अनुमान है कि नागवर्म की सेउण (यादव) और विन्ध्य के राजा पर विजय, मधुसूदन के विस्तृत युद्ध अभियान, जो कोंकण से धारा तक विस्तीर्ण थे, के अंग थे। यह कोंकण नरेश जयकेसि प्रथम था क्योंकि १०५२- ३ ई० के गुडव्ट्टी अभिलेख[5] ~~आहवमल्ल, सामने से आते चोलराज को निस्तेज कर दिया और जो~~ उसे सोमेश्वर का महामण्डलेश्वर कहा गया है।

पुनः चोल संघर्ष --

कोंकण विजय के पश्चात् सोमेश्वर आहवमल्ल को पुनः राजाधिराज से टक्कर लेनी पड़ी। संभवतः वेंगि पर पुनः अधिकार करने के लिए राजाधिराज चोल ने आहवमल्ल पर आक्रमण कर दिया। बिल्हण के अनुसार[6]

---

१. विक्रमा०, १।१०७--११२

२. आ०हि०द०, पृ० ३३०,१६६०

३. हैद० आर्कि० सीरीज़, नं० ८, पृ० १३, श्लोक ४३

४. अहि०द०, पृ० ३३१, १६६० ई०

५. फ्लीट, डा०क०डि०, पृ० ४३६, टि० १८६६

६. विक्रमा०, १।११४--११६

आहवमल्ल ने सामने दौड़ पड़े चोल राज को निस्तेज कर दिया और चोलराज को पराजित होकर लौट जाना पड़ा । राजराजनरेन्द्र के कलिदिण्डि दानपत्रों[१] में तीन शिव-मन्दिरों को दान दिये जाने का उल्लेख है । इसमें कहा गया है कि राजेन्द्र चोल प्रथम की आज्ञा से तीन सेनापतियों ने वैंगि पर आक्रमण किया । चोल और चालुक्य सेनाएं सम बल वाली थीं । इसके अतिरिक्त राजाधिराज के १०४५ ई० के अभिलेखों के अनुसार दन्नाड (धान्यकटक) युद्ध में चोलों ने आहवमल्ल के हृदय में भय का संचार किया, उसके सेनानी गण्डपय्य और गंगाधर अपने हाथियों सहित युद्ध में काम आये । यही नहीं महान् योद्धा विक्की, विजयादित्य , संगमय्य तथा अन्य योद्धागण युद्ध के भय से कायरों की भांति पलायित हो गये । चोल सैनिकों ने अनेक हाथी और घोड़ों पर अधिकार कर लिया और कौल्लिपाक्कै (कुलुप) को जला दिया[२]। इस प्रकार १०४५ ई० में आगे बढ़ती हुई चोल सेनाओं से सोमेश्वर के सामन्त "सिंगनदेवरस" ने कौल्लिपाक की रक्षा की ।[३] चालुक्य अभिलेखों के प्राप्ति स्थानों से ज्ञात होता है कि चोल आक्रमण से चालुक्य राज्य सीमा थोड़ी भी संकुचित नहीं हुई ।[४] वरन् ऐसा प्रतीत होता है कि सोमेश्वर का प्रभाव और भी अधिक बढ़ गया । मुलगुण्ड अभिलेख[५] (१०५३ ई०) में सोमेश्वर द्वितीय को "वैंगिपुरवरेश्वर" कहा जाना यही सिद्ध करता है ।

अपने शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में चोल, मालवा और कोंकण नरेशों को पराजित करने के पश्चात् आहवमल्ल ने कल्याणपुर को अपना प्रमुख निवास बनाया ।

---

१. ज०आ०हि०रि०सो०,२,२पृ० ६१ -६६ आ०हि०द०, पृ० ३३४

२. आ०हि०द०, पृ० ३३४,३३५ और दी चोलज्, २२४, सन् १९५५

३. ए०पी०क०,७, शिकारपुर, ३२३

४. दी चोलज्, पृ० २५३-४,१९५५

५. ए०इं०, जिल्द, १६, पृ० ५३

कल्याणनगर का पुनर्निर्माण —

इस (आहवमल्ल) पृथ्वीपति ने क्रम से (राज्यारोहण के पश्चात् अपने शत्रुओं को पराजित कर लेने के बाद) 'कल्याण' नामक श्रेष्ठ नगर बसाया,(नये सिरे से आमूल परिवर्तन और परिवर्धन करके पुनर्निर्माण किया) जिसके ऊँचे ऊँचे प्रसादों की पंक्तियों पर जलने वाले अगणित दीपों के कज्जल के सदृश नभमण्डल प्रतीत होता था ।"[१]

राष्ट्रकूटों के शासन-काल से जयसिंह जगदेकमल्ल (१०४२ ई०) के शासन-काल के अन्त तक मान्यखेट ही कुन्तल-साम्राज्य की राजधानी बना रहा । चोल अभिलेख राजेन्द्रचोल के शासनकाल की समाप्ति पर्यन्त (१०५४ ई०) मान्यखेटको ही(कुन्तल - साम्राज्य) प्रमुख चालुक्य नगर के रूप में उल्लेख करते रहे । वे कल्याणी के सम्बन्ध में मौन रहे । अमूयणावेशचरित (७।२०) से ज्ञात होता है अमूयण द्वितीय (१६३६—७६ शक) ने वातापी से हटाकर कल्याणी को अपनी राजधानी बनाया था । ऐतगिरि (यागगिरि) कोल्लिपाक (हैदराबाद) होट्टलकेड़े (वर्तमान दण्णामकन केड़े —बेल्लारी जिले में) और पट्टदकेड़े (१०३८ ई०) जयसिंह की उप राजधानियाँ (उप पड़ाव) के रूप में स्मृत हुए हैं ।[२] जयसिंह के शासन काल के अन्तिम वर्षों के अभिलेख में कल्याणी उपराजधानी (नेलेविडु स्थायी राजधानी) के रूप में उल्लिखित है ।[३] अत: यह स्पष्ट है कि कल्याणी आहवमल्ल के राज्यारोहण के पूर्व वर्तमान था ।[४] प्रस्तुत प्रसंग में बिल्हण का

---

१. चकार कल्याणमिति क्रमादसौ पुरं परार्ध्यं पृथिवीपुरन्दरः ।
यदुच्चहर्म्यावलिदीपसंपदा विभाव्यते कज्जलसंनिभं नभः ।। २।१ ।।
आगे २५ वें श्लोक तक कल्याण नगरी के वैभव का वर्णन है ।

२. एपी०क०, ७, शिकारपुर, १५३

३. वही जिल्द १२,तिरा ३७ और सा०इं०ई०, जिल्द ६ सं० ६६ पर शास्त्रीजी के अनुसार यद्यपि तिथि संदेहास्पद है और लेख संभवत: बाद की प्रतिलिपि है- अ०हि०डे०, पृ० ३३०, टि० ३

४. व्यूलर, भूमिका, पृ० २८, टि० १, और इं०ए०, जिल्द १, पृ० २०६

आशय यही प्रतीत होता है कि आहवमल्ल ने पूर्वजों की राजधानी मान्यखेट को छोड़कर कल्याणपुर को अपनी राजधानी बनाया और प्रथम बार आह्वमल्ल ने उसका पुनर्निर्माण करके उसे श्रेष्ठ नगरियों की ~~ही नहीं~~ समकक्षता/ न सिर्फ प्रदान की वरन् श्रेष्ठता भी प्रदान की । चोल लेखों का १०४४ ई० तक कल्याणी को कोई महत्व न देना भी इसी विवरण का समर्थन करना है । विल्हण के विवरण से ऐसा प्रतीत होता है जिसका विरोध अन्य किसी विवरण से नहीं होता, कि १०४४ या १०४५ ई० में चोलों के युद्ध से मुक्ति पाने के बाद इसी काल के लगभग आहवमल्ल ने साम्राज्य के केन्द्र में होने तथा सामरिक महत्व के कारण कल्याणी को अपनी प्रधान राजधानी बनाया ।[१] यह स्वाभाविक है कि राजधानी की आवश्यकतानुसार उक्त नगर का पुनर्निर्माण और विस्तार करना पड़ा होगा ।[२] अय्यणवंश चरित भी इसी धारणा की पुष्टि करता है[३]।

आहवमल्ल ने क्रमश: चोल, मालवा, डाहाल, कोंकण और पुन: चोल संघर्ष के पश्चात् कल्याण नामक नगर को अपनी राजधानी बनाया । तदुपरान्त बिल्हण ने आहवमल्ल के पुत्रों की उत्पत्ति का वर्णन किया है ।[४] हमें ज्ञात है कि कल्याण को आहवमल्ल ने १०४४ ई० के बाद राजधानी बनाया होगा, क्योंकि उस समय तक वह चोल अभिलेखों में महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर सकी थी । दूसरी ओर 'विक्की' (विक्रमादित्य) को पराजित करने के उल्लेख चोल अभिलेखों में १०४५ ई० से ही मिलने लगते हैं ।[५] १०४६ ई० में महामण्डलेश्वर सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल बेल्वोल और पुरिगेड़े में गवर्नर था[६]।

---

१. ए०वी० वेंकटरमा अय्यर - इं.ए., जि.-४८, ११८

२. पुरवर्धन और उसके नवीकरण के अनेक उदाहरण हैं ।
दृष्टव्य प्राचीन भारतमें नगर और नगर जीवन (डा० राय) पृ० २६६-७१

३. स्वराजधानीं कल्याणीं विस्तार्थं परित: क्रमात् ।
चकार शोभनां तां स पताकाऽऽरामम़ण्डपै: ।। ७।४७

४. विक्रमां० १।६०—११६ और २ रा सर्ग

५. अ०हि०ड०, पृ० ३३४-५, सा०इं०इं०, ३, पृ० ५६

६. ए०इं०, १६, पृ० ५३ और आगे

और विक्रमादित्य षष्ठ १०५५ ई० गंगवाडि में शासन कर रहा था ।[१] इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि बिल्हण का यह विवरण कल्पना मिश्रित है, क्योंकि १०४५ ई० में विक्रमादित्य का उल्लेख है, जबकि बिल्हण के विवरण के अनुसार उसे १०४५ ई० के बाद जन्म लेना चाहिए । ऐय्यर[3] और डा० पाठक[४] का अनुमान समीचीन प्रतीत होता है कि सोमेश्वर द्वितीय और विक्रमादित्य षष्ठ १०३० ई० के पूर्व उत्पन्न हो चुके थे ।

(ख) राज्यारोहण के पूर्व विक्रमाङ्कदेव

सोमेश्वर, विक्रम और जयसिंह का जन्म और विक्रम की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा—

बिल्हण का विवरण निम्नलिखित है :-

'यद्यपि आहवमल्ल ने अनेक विजयें कीं और अपूर्व ऐश्वर्य अर्जित किया, तथापि वे पुत्र हीनता के दु:ख से सन्तप्त थे । उन्होंने अपनी पत्नी से कहा कि गृहस्थ धर्म बिना पुत्र के अपूर्ण है । यह पुत्र का अभाव पूर्वकृत कर्मों के कारण ही है, अत: इष्ट देवता शंकर की उपासना से कर्मफल से मुक्ति और अभीष्ट की सिद्धि हो सकती है । इस प्रकार पत्नी के साथ वह, राज्यभार मंत्रियों पर सौंप कर, अभीष्ट सिद्धि के लिए विशिष्ट अनुष्ठान में तत्पर हो गया । वह स्वयं अविचित पुष्पों से शंकर की पूजा करता था और भूशयन करता था । चन्द्रशेखर शिव के मन्दिर को रानी स्वयं लीप पोत कर स्वच्छ करती थीं । इस प्रकार यह दम्पत्ति शंकर का पूजन पूरे मनोयोग से कर रहा था । फलत: एक दिन आकाशवाणी हुई, हे राजन् ! तुम्हारी इस रानी से तीन पुत्र उत्पन्न होंगे, जो चालुक्य वंश का नाम उज्ज्वल करेंगे । तुम्हारा मध्यम पुत्र महाप्रतापी,

---

१. ए०इ०, १३, पृ० १६८

२. वही

३. इ०ए०, जि० ४८, पृ० १३३

४. ए०हि०ड०, पृ० ६४, १६६६

चौंसठकला युक्त होगा और राम के सदृश होगा । दो पुत्र तुम्हारे कठिन अनुष्ठान के कारण प्राप्त होंगे, परन्तु मध्यम पुत्र मेरी विशेष कृपा से तुम्हें प्राप्त होगा ।" इस समाचार से राजा गद गद हो गया, विधिवत् व्रत का पारण किया और विप्रों को दानादि से तृप्त करके राज्य-कार्य में पुन: प्रवृत्त हो गया ।

यथा समय आह्वमल्ल की रानी के शुभमुहूर्त में पुत्र उत्पन्न हुआ । जिसके उपलक्ष में बड़ा उत्सव मनाया गया । चुलुक्यवंशी नरेशों के नेत्र-चकोरों को संतुष्ट करने के कारण उस पुत्र का नाम 'सोम' रखा गया । आकाशवाणी का स्मरण करता हुआ, आह्वमल्ल दूसरे पुत्र के लिए उत्कंठित हुआ ।

रानी को पुन: गर्भवती जान कर राजा ने देवताओं की सभी मनौतियां पूर्ण कीं, जिससे आकाशवाणी के अनुकूल ही पुत्र हो । उस समय रानी में विचित्रविचित्र दोहद पूर्ण करने की इच्छा होने लगी, जिनसे प्रतापी पुत्र होने की सम्भावना होने लगी । तदनन्तर रानी ने धर्मशास्त्र के अनुसार क्रम से पुंसवन सीमन्तोन्नयन प्रभृति संस्कारों के सम्पादित होने पर, पुत्र के शीघ्र होने के लक्षण प्रकट होने लगे । जिन्हें देखकर राजा हर्ष-विभोर हो गया । समयानुसार वैद्यों, पुरोहितों आदि के द्वारा की गई विविध सावधानियों के बाद अद्भुत गुणयुक्त शुभलग्न में पुत्र उत्पन्न हुआ । नभ से पुष्प वृष्टि होने लगी , इन्द्र की दुन्दुभी ध्वनित हो उठी और सर्वत्र तरहतरह के उत्सव मनाये जाने लगे । तत्पश्चात् राजाने कुलपुरोहित को बुलाकर शिशु का जातिकर्म आदि संस्कार विधिवत् सम्पादित कराया और तब पुत्र के स्पर्श से गदगद हो गया ।"

इस दूसरे पुत्र ने अपने विशिष्ट लक्षणों के कारण विक्रमादित्य यह अन्वर्थक नाम पाया । यह पुत्र चालुक्य नरेश आह्वमल्ल का विशेष दुलारा था । भाँति भाँति की बालक्रीड़ा करते हुए बालक विक्रम बड़ा होने लगा । राजाने यथा समय क्रम से उसका चौलकर्म आदि संस्कार किया । यह बालक खेल में भी अद्भुत वीरता के लक्षण प्रकट करता था । वह मेधावी भी था । वह शीघ्र ही समस्त लिपियों में कुशल हो गया । अपने धनुर्विद्या के अभ्यास से अर्जुन को भी नीचे कर दिया । यही नहीं कवित्व और वक्तृत्व शक्ति की दात्री सरस्वती

भगवती ने उसके मुख को चूम लिया ।"[१]

इस वर्णन की प्रेरणा बिल्हण को सम्भवत: रघुवंश से मिली होगी क्योंकि दोनों के वर्णन में पर्याप्त समानता है ।[२] बिल्हण के समक्ष इस कथा सूत्र के लिए एक प्रमुख उदाहरण हर्षचरित भी था । हर्षचरित[३] में हर्ष-वर्धन सूर्य के वरदान से उत्पन्न हुए थे । बिल्हण के बाद में रचित द्वयाश्रय[४] काव्य में भी इसी प्रकार सिद्धराज का जन्म लक्ष्मी के वरदान से होना वर्णित है । यद्यपि बिल्हण ने इस कथा में आकाशवाणी और विक्रमांकदेव के जन्म का विवरण इस रूप में प्रस्तुत किया है कि महाप्रतापी वह देवताओं का प्रिय था और शिव की विशेष कृपा से उत्पन्न हुआ था, जो कल्पना-प्रसूत है, तथापि अनुष्ठान के द्वारा आहवमल्ल को पुत्र प्राप्त होने का उल्लेख सर्वथा काल्पनिक नहीं कहा जा सकता । इस विवरण में सत्यांश इतना ही स्वीकृत हो सकता है कि आहवमल्ल को जब विवाह होने के कुछ वर्षों पश्चात् पुत्र-लाभ नहीं हुआ तो उसने कुलदेवता शिव[५] की आराधना की

---

१. विक्रमां० २।२७-६१ , ३।१-२५

विक्रमांकदेव के पुत्र सोमेश्वर तृतीय ने भी बिल्हण के अनुरूप ही, पर अत्यन्त विस्तार के साथ, आहवमल्ल के पुत्रविहीनता के संताप , पुत्र-प्राप्ति के उपाय का अन्वेषण तथा तपस्या का वर्णन किया है । बिल्हण के विरुद्ध सोमेश्वर ने सोमदेव का जन्म अशुभ घड़ी में दिखाया है तथा सोम-देव की कुचेष्टाओं का वर्णन किया है । सोमेश्वर ने तर्क सम्मत ढंग से सोमदेव और जयसिंह का दुष्ट और विक्रमांकदेव को पुरुषोत्तम विष्णु के अवतार के रूप में प्रस्तुत किया है । विक्रमांकाभ्युदयम्, पृ० ३३-५४

२. रघुवंश में पहले दूसरे और तीसरे सर्गों में दिलीप अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ नन्दिनी गौ की सेवा से रघु जैसा प्रतापी पुत्र प्राप्त करते हैं । इसके अतिरिक्त रघु० के १।६५ से ७१ और २।२-३ के श्लोक क्रमश: विक्रमां०२।२६ से ३५ और २।४६ से ४८ तक श्लोकों से साम्य रखते हैं ।

३. हर्षचरित, चतुर्थ उछ्वास

४. द्वयाश्रय १०।१-६०

५. ब्यूलर का अनुमान है कि वाराह प्रतीक का प्रयोग करने से कल्याणी के

(क्रमश: जारी)

जिस अनुष्ठान के पश्चात् उसे पुत्र प्राप्त हुए ।[१] बिल्हण के इस विवरण से कि हे राजन् तुम्हारी इस पत्नी से (विक्रमा०)तीनों भाई सहोदर प्रतीत होते हैं जो अन्य प्रमाणों से भी समर्थित है ।[२] तीनों पुत्रों में विक्रमांकदेव सबसे अधिक प्रतापी था वह उक्ति भी उसके जीवन इतिहास से समर्थित है । कथाक्रम विक्रमांकदेव के चौलकर्म आदि संस्कार किये गये । वह मेधावी था । उसने लिखने पढ़ने का सामान्य ज्ञान प्राप्त करके वह अस्त्र-शस्त्र के (धनुर्विद्या आदि) प्रयोग में विशेष दक्ष हो गया । जो युद्ध प्रधान मध्ययुग के लिए आवश्यक था ।

युवराज सोमेश्वर –

' कालान्तर में विक्रमादित्य' को संग्राम महोत्सवों में जाने के लिए उत्कंठित देखकर आहवमल्ल ने सोचा कि यह समर्थ है । अत: उन्होंने विक्रमांक-देव को युवराज बनाना चाहा, परन्तु विक्रमादित्य ने उत्तर दिया कि ज्येष्ठ

पिछले पृष्ठ का शेष –

चालुक्यों के कुलदेवता विष्णु थे – विक्रमा०, भू० पृ० ३२, टि० ४, परन्तु अभिलेख विल्हण का ही समर्थन करते हैं । चालुक्य नरेश 'श्रीशैल' तीर्थ की यात्रा अक्सर किया करते थे – सा०इ०इं०, ६(१) ११६,१२१,१३४, अ०हि०द०, पृ० ४४१

---

१. पुत्र लाभ के लिए तरह तरह के अनुष्ठान करने की परम्परा हिन्दुओं में चिर काल से चली आ रही है । विवाह के कुछ वर्षों बाद तक यदि दम्पति को पुत्र लाभ न हो तो आज भी अधिकांश वृद्ध चिन्तित होने लगते हैं और ज्योतिषियों तथा चिकित्सकों की शरण में जाते हैं ।

२. राइस सोमेश्वर और विक्रमांक देव के गंग विरुदों से उन्हें गंग वंश की माँ के पुत्र और जयसिंह को पल्लववंशी माँ का पुत्र मानते हैं और जयसिंह को सौतेला भाई कहते हैं (ए०क० ७, शिकारपुर,३६) इ०ए० ४८, पृ० १३४) परन्तु ऐय्यर महोदय ने ठीक ही उन्हें एक माँ पल्लववंशी वाचालदेवी का पुत्र सिद्ध किया है – इ०ए०, जि० ४८, पृ० १३४, यह विक्रमांकाभ्युदय के विवरण से भी समर्थित है , पृ० २२-४८

भ्राता सोमदेव के रहते मुझे युवराज पद प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। यद्यपि राजा ने कहा कि आकाशवाणी ने तुम्हें ही युवराज पद के लिए उपयुक्त कहा है, तथापि उसने युवराज बनना स्वीकार नहीं किया। अन्तत: आहवमल्ल को सोमदेव को ही युवराज बनना पड़ा। यद्यपि सोमेश्वर युवराज हो गये तो भी पिता का स्नेह और राज्यलक्ष्मी विक्रम की ~~ओर राज्यलक्ष्मी विक्रम~~ की ओर ही रहे। `विक्रमांकदेव विष्णु के कच्छपावतार की भाँति राज्य भार वहन करता रहा ~~है~~।

सेनापति विक्रम की विजयें —

आहवमल्ल ने युद्धोत्सवोंमें उस आज्ञाकारी विक्रमांकदेव को भेजा और उसके द्वारा अर्जित यश और जय का भोग किया।[1]

विक्रमांकदेव अपने पिता को अधिक प्रिय था। उसके पराक्रम से प्रभा-होकर ही आहवमल्ल उसे ही युद्धों में भेजता था। चोल अभिलेखों से सिद्ध होता है कि आहवमल्ल के शासन काल में (१०४५ से   ) विक्रमांकदेव चोल युद्धों में भाग लेता रहा।[2] विक्रमांकदेव ने १०४५ ई० में दन्नाड युद्ध[3] में चोलों का सामना किया और १०५५ ई० से १०६२ ई० तक हम उसे गंगवाडि[4], वनवासि, सान्तलिग और नोलम्बपाडि प्रदेशों पर शासन करता हुआ पाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि महापराक्रमी चोलों के साथ युद्धों में विक्रमांकदेव को ही सेनापतित्व करना पड़ता था। यही कारण था कि विक्रमांकदेव को चोल सीमा वाले प्रदेशों पर ही नियुक्त किया जाता। परन्तु विक्रमांकदेव की विजयों से प्रभावित होते हुए भी मरणासन्न आहवमल्ल ने सोमेश्वर को ही अपना उत्तराधिकारी बनाया[5]। सोमेश्वर १०४६ ई० में युवराज बन चुका था।[6] ऐसा उसने

---

१. विक्रमां. ३।२६-६०, ४।५३,५४

२. अ०हि०इ०, पृ० ३३४, टि० ४, सा०इ०इ०, जि० ३, पृ० ३७ और ५६

३. अ०टि०इ०, पृ० ३३४

४. ए०इ०, जिल्द १३, पृ० १६८ आगे इ०ए०४, पृ० २०३, ए०क०, ७,शि ८३,, १५२,११, और इ०ए०, ४८, पृ० १३८

५. इ०ए०, जि० ५, पृ० ३२६-३३२, विक्रमा०, ४।५३,५४

६. ए०इ०, १६, पृ० ५३, वा०क० १,१, —८४-६०

सम्भवत: परम्परा के अनुसार ही किया था ।[1] बिल्हण के विवरण का यह अंश कि आहवमल्ल ने विक्रमांकदेव को युवराज बनाना चाहा परन्तु विक्रमांकदेव ने उसे अस्वीकृत कर दिया संदिग्ध है । श्री वेंकटरमा ऐय्यर का अनुमान है कि पिता के द्वारा किया गया इस प्रकार का प्रस्ताव असंभव नहीं है । दूरदर्शी आहवमल्ल की अपने राज्य , जिसके लिए उसने दीर्घकाल तक श्रम किया था, को सर्वाधिक योग्य पुत्र के अधीन सुदृढ़ और विस्तृत करने की इच्छा अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है । कुछ हिचकिचाहट के बाद उसके अन्दर का राजनीतिज्ञ उभरा होगा और उसने अपनी योजना के मार्ग में जिसके पीछे महत्वपूर्ण घटनाएं अन्तर्निहित थीं, उपस्थित इस रीति की उपेक्षा करने का निश्चय कर लिया होगा । यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि आहवमल्ल ने प्रस्ताव रखा होगा, तो यह भी निश्चित है कि विक्रमादित्य ने उसे अस्वीकृत कर दिया होगा । क्योंकि बिल्हण के अनुसार सोमेश्वर अपने पिता के जीवन काल पर्यन्त युवराज बना रहा और पिता की मृत्यु के बाद सोमेश्वर निर्विघ्न उत्तराधिकारी बना । विक्रमादित्य की ओर से कोई विघ्न नहीं उपस्थित किया गया, जैसा कि हम आगे देखेंगे वह सिंहासन के लिए बिलकुल इच्छुक नहीं था और वेंगि के मामले में उलझा हुआ राजधानी से बहुत दूर था । भाई भाई में परस्पर हार्दिक स्नेह के उदाहरण, राजकुलों में भी कम नहीं है, तथापि ऊपर से देखने में यह असंभव प्रतीत होता है ।" इसके समर्थन में वे `शिलप्पदिकारम्` (३०।१७४-१८०) से (भरत के त्याग को छोड़कर) `इलन्को अडिगल` द्वारा अपने अग्रज के लिए राज्य परित्याग किये जाने का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।[2]

---

१. वातापी और कल्याणी की राज-परम्परा में अधिक प्रतापी अनुज के रहते हुए भी अग्रज को ही उत्तराधिकार प्राप्त होता रहा । इस परंपरा का समर्थन रामायण, महाभारत, निरुक्त, अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों और विल्हण के समकालीन ग्रन्थों से भी होता है ।

— हि०ए०ड०, पाठक, पृ० ७४-७१

२. इ०ए०, ४८, पृ० १३६ और टि० ८६

यद्यपि ऐय्यर महोदय द्वारा प्रस्तावितसंभावना विश्वस्त है, परन्तु यह बात भी विचार्य है जैसा कि ब्यूलर महोदय का कथन है " विक्रमादित्य के जीवन का यह अंश भी, जो सिंहासन के लिए उसकी उपयुक्तता और अपने से कम योग्य सोमेश्वर के प्रति उसकी उदारता को अंकित करता है, ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रम के चरित्र को उज्ज्वल और उसके शत्रुओं के चरित्र को कलुषित सिद्ध करने के लिए कल्पित किया गया है।"[१] " इसके अतिरिक्त विक्रमादित्य षष्ठ के अभिलेख, जो सोमेश्वर द्वितीय को बदनाम करते हैं और उसके बलपूर्वक राज्य छीन लेने के कृत्य को न्यायोचित सिद्ध करते हैं। उत्तराधिकार के इस प्रस्ताव का कोई उल्लेख नहीं करते। जो विक्रमांकदेव के समर्थन में एक महत्वपूर्ण तर्क था।"[२] परन्तु प्रत्यक्ष विरोधी साक्ष्यों के अभाव में हमें बिल्हण पर ही विश्वास करना होगा।

"विक्रमांकदेव के धनुष की प्रत्यंचा के चढ़ने मात्र से चोल नारियां सन्तप्त हो जाती थीं। उसने चोलराज को परास्त करके उसे प्यासा ही गिरि-गुहाओं और वनों में भटकाया। उसने मालव नरेश को निष्कंटक राज्य पर स्थापित किया। अनेक नरेशों ने अपनी कन्या के बहाने उसको अपना सर्वस्व

---

१. This part of the narrative of Vikrama's life, also, which strongly puts forward his fitness for the throne and his generosity to the less able Someśwara, looks as if it had been touched up in order to whitewash Vikrama's character and to blacken that of his enemy." V.D.C.Intro. P-31,Note-1

२. Further, inscriptions of Vikramāditya VI, which denounce Someśwara II justify the former in his usurpation of the throne (E.I. XVI 349) makes no reference to this offer of heir - apparency - a very important argument for justifying supersession. - Ancient Historians of India - P-65.

अर्पित किया । उस राजकुमार ने गौड नरेश से हाथी छीने और कामरूप नरेश की प्रतापश्री को नष्ट किया, जिसका यशोगान सिद्ध कन्याएं करती थीं । यही नहीं विक्रम की पैदल सेना ने कांचीनगरी को भली भांति लूट लिया ।

इस प्रकार विजयें प्राप्त करते हुए विक्रम ने मलयाचल के चन्दन वृक्षों के साथ ही केरलदेशीय स्त्रियों के केशों को भी भूमि पर गिरा दिया । उसकी सेना ने समुद्रतट को रौंदते हुए केरल नरेश के रक्त से समुद्रजल को रंजित कर दिया विक्रम की इन विजयों से भयभीत होकर सिंहल द्वीप राजा विक्रम की शरण आया । उसके धनुष की टंकार से गांगकुण्डपुर की स्त्रियां कर्णाभूषण से विहीन हो गईं । विक्रम ने शत्रु राजधानी के शिखरों को खंडित कर दिया और द्रविड नरेश को राज्य से भगाकर नगर को वीरान जंगल कर दिया । उस राजकुमार ने वेंगि नरेश की रानियों को कामवासना से रहित कर दिया और चक्रकोट नरेश की चित्रशाला में अंकित हाथियों को ही छोड़ा । परन्तु जब वह दिग्विजय करके वापस लौट रहा था, तो उसे अनेक अपशकुन होने लगे । अत: वह कृष्णा नदी के तट पर दुर्निमित्त के निवारणार्थ रुक गया । जिस समय वह इन क्रियाओं में व्यस्त था , उसी समय कल्याण से एक दूत आया । दूत को देखते ही विक्रम ने शंकालु मन से पिता जी की कुशल पूछा । दूत ने शिथिल शब्दों में कहा राजकुमार धैर्य रखें । आपके पिता आहवमल्ल ने पाण्ड्य राजा को कान्तिहीन करने वाले, चोल नरेश को विचलित करने वाले और सिंहल नरेश को परास्त करने वाले तुम्हारी विजयों को सुनकर बहुत आनन्द का अनुभव किया ।

खेद है कि दुष्ट विधाता ने राजा को दाहज्वर से पीडित कर दिया । सर्वाङ्ग चन्दन आदि के लेप से भी कोई लाभ नहीं हुआ । जब महाराज को यह ज्ञात हो गया कि औषधियों से किसी प्रकार लाभ न होगा, तब उन्होंने अपने मंत्रियों से कहा कि मेरे पुत्र अब समर्थ हो गये हैं । अब मुझे पार्वतीपति शंकर को छोड़ अन्य किसी पर भरोसा नहीं । अत: मैं शिव का चिन्तन करता हुआ तुंगभद्रा नदी की गोद में पुनर्जन्म के बन्धन से सदा के लिए मुक्ति पाना चाहता हूं । तदनन्तर महाराज ने दक्षिणापथ-जाह्नवी तुंगभद्रा में उतर कर स्नान किया और चन्द्रशेखर के चरणों का ध्यान करते हुए आकण्ठ जल में खड़े होकर कैलाश नगरी को प्रस्थान किया । यह सुनकर विक्रमांकदेव सन्तप्त

हो कर आत्म-भर्त्सना करने लगे। कुछ देर के पश्चात् जब उनका शोक कम हुआ तब उन्होंने कृष्णा नदी के तट पर अपने पिता की अन्त्येष्टिक्रिया सम्पन्न की। फिर अपने अग्रज सोमेश्वर को ढाढ़स बंधाने के लिए राजधानी की ओर प्रस्थान किया। सोमेश्वर विक्रम से नगर के बाहर आकर मिला और चिर-काल तक दोनों परस्पर आलिंगन बद्ध होकर अश्रु बहाते रहे। अश्रु थमने पर विक्रम ने दिग्विजय से प्राप्त सभी सामग्री अग्रज को अर्पित कर दी।'[1]

आगे हम उक्त तथ्यों का पृथक् पृथक आकलन करेंगे।

चोलयुद्ध –

पिता के द्वारा प्रेषित विक्रमांकदेव का चोलों के साथ संघर्ष हुआ था – ' वीरों में श्रेष्ठ उस (विक्रमांकदेव) की विजययात्राओं में धनुष की प्रत्यंचा खींचने पर द्रविडांगनाओं के मुख उष्ण निःश्वासों से मलिन हो गये।

' उसके विरुद्ध होने पर चोलों के पहले स्वामी ने अधिक थकान के कारण पर्वतीय निर्झरों के जल को, (मुंह नीचे करके) स्तन-पान का स्वाद सा लेता हुआ, पशु के सदृश पीकर (चोल) भूमि को जननी मान कर मानों उसका परित्याग कर दिया।[2]

राजाधिराज के शासन-काल के १०४७ - ८ ई० के लेखों में वर्णित है कि चोल नरेश ने गण्डरदिनकरन (गण्डरादित्य), नारायण , मधुसूदन , सामन्तों को बन्दी बना लिया, तदुपरान्त ' कैम्पिलि ' में चालुक्य प्रासाद को ढहा दिया और विक्रमनारायण (चालुक्य सेनानी) के सैनिक जत्थों को पराजित किया।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि इस पराजय के तुरत बाद प्रमुख युद्ध कृष्णा नदी के तट पर पूण्डि या पूण्डूर में हुआ, जिसमें तेलुगु विक्कय ने

---

१. विक्रम०, ३।२५ से ४।६६

२. वही ३।६५-६६

३. अ०हि०इ०, पृ० ३३५-३६

चालुक्यों की ओर से प्रमुख भाग लिया । उसके माता पिता और सम्बन्धी बन्दी बना लिए गये और कायर आहवमल्ल ने दूत भेज कर चोल नरेश से दया की भिक्षा मांगी । चोल नरेश ने येतगिरि (यद्गिर) में विजय स्तम्भ स्थापित किया और लौट गया । चालुक्यराज ने अपने एक उच्चअधिकारी को दो सहयोगियों के साथ युद्ध का समाचार देकर चोल नरेश के शिविर में भेजा । चोलराज ने उन सहयोगियों का बहुत अपमान किया और प्राचीन नगर कल्याण-पुरम को रौंदकर राजप्रासाद ढहा दिया । यहींपर राजाधिराज ने वीराभिषेक किया और विजयराजेन्द्र विरुद धारण किया ।[१]

चालुक्य लेखों में (१०४७--१०५० ई०के) चोलों को पराजित करने के उल्लेख हैं ।[२] परन्तु १०५० ई० के सूदि लेख (धारवाड़) में चोल आक्रमण द्वारा उक्त नगर के अस्तव्यस्त हो जाने का उल्लेख है । इस लेख में पुनर्निर्माण के उल्लेख से यह कहा जा सकता है कि चोल सैनिकों के लूट जाने के बाद नगर का पुनर्निर्माण किया गया ।[३] बिल्हण का विवरण केवल संघर्ष होने का संकेत देता है, विजय का नहीं । दोनों प्रतिद्वन्द्वी अपनी अपनी विजय का उल्लेख करते हैं । यह चालुक्य-चोल युद्ध १०४७ और १०५० ई० के मध्य कभी हुआ था । कुछ ध्वंसात्मक हानि के अतिरिक्त चालुक्यों की कोई विशेष हानि नहीं हुई । १०४६ ई०[४], १०५३ ई०[५] और १०५४ ई०[६] के लेखों में सोमेश्वर द्वितीय का "वेंगिपुरवरेश्वर" कहा जाना यही सिद्ध करता था ।

---

१. अहि०इ०, ३३६

२. वही, ३३६

३. ~~वही~~ ए०इ०, १५, पृ० ७८

४. बा०क०इ०जि० १, खण्ड १, सं० ८४

५. ए०इ०,१६, पृ० ५३

६. बा०क०इ०, १,१, सं० ६०

मालवराज की राज-प्रतिष्ठा--

चोल युद्ध के पश्चात् विक्रमांकदेव ने शरणागत मालवराज को निष्कंटक राज्य पर (पुन:) स्थापित किया ।[१] प्रबन्ध चिन्तामणि से ज्ञात होता है कि गुजरात नरेश भीम ने कलचुरि कर्ण से मिलकर मालवा पर आक्रमण कर दिया । संयोग से भोज इसी विषम परिस्थिति में दिवंगत हो गया, कर्ण ने मालवा के दुर्ग को तोड़ कर सारा राजकोष लूट लिया और मालवा पर कर्ण और भीम का अधिकार हो गया ।[२] भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह स्वयं अपने प्रयत्न से तो शायद ही मालवा का राज्य पुन: प्राप्त कर सकता । अत: उसने वंशानुगत वैर छोड़कर सोमेश्वर की शरण ली होगी और सफलता प्राप्त की । जिसका प्रतिशोध कर्ण ने आह्वमल्ल के दिवंगत होते ही मालवा पर पुन: अधिकार करके लिया ।[३] मान्धाता ताम्रपत्रों[४] से ज्ञात होता है कि जयसिंह १०५५ ई० तक मालवा का शासक बन चुका था और भोज के तिलकवाड ताम्रपत्र से भोजका १०४७ ई० के बाद तक जीवित रहना सिद्ध होता है ।[५] बिल्हण ने जयसिंह को राज्य पर प्रतिष्ठित करने की घटना को गौड विजय के पूर्व प्रस्तुत किया है, जो १०५३ ई० के पूर्व हुई थी ।[६] अत: १०४७ से १०५३ ई० के बीच किसी समय यह घटना घटी होगी ।

गौड विजय --

आगे विक्रमांकदेव 'गौड नरेश को युद्ध में जीतकर हाथियों का अपहरण करने वाला[७] कहा गया है । लूटमार के अतिरिक्त इस आक्रमण का गौडदेश

---

१. विक्रमा०, ३।६७
२. हि०परमार डायनेस्टी , गांगुली, पृ० ११६
३. स्टडीज इन इन्डोलाजी, जि० २ , मिराशी, पृ० ७३, १९६१ , नागपुर
४. ए०इ०, जि० ३, पृ० ४८-५०
५. गांगुली, पृ० ८५
६. ए०इ०, जि० ४, पृ० २६२
७. विक्रमा० ३।७४ -- नोट-श्लोक ६८ से ७३ तक सामान्य वर्णन मात्र है ।

पर कोई स्थायी प्रभाव परिलक्षित नहीं होता । सोमेश्वर की १०४७ ई० की विजयों में मगध कलिंग, अंग, नेपाल आदि की सूची के साथ गौड का उल्लेख नहीं मिलता ।[१] बंग अर्थात् गौड विजय का प्रथम उल्लेख १०५३ ई० के कैलवाडि अभिलेख [२] में सोमेश्वर प्रथम के सेनापति भोगदेवर्ष को वंग विजय करने का श्रेय दिया गया है । विज्जल के पुत्र चालुक्य सोमेश्वर चतुर्थ (१०६६ शकाब्द)[३] को 'गौड' से कर लेने वाला कहा गया है । डा० मजूमदार की धारणा है कि यह उल्लेख बंगाल में बसे हुए सेनवंशी कर्णाट सरदारों की वंगविजय का है, जो अब भी अपने स्वामी को नाममात्र का कर दे रहे थे ।[४] ये सेनवंशी कर्णाट सरदार विक्रमांकदेव के गौड आक्रमण में यहां आये होंगे और उन्होंने यहां पर छोटे छोटे राज्य स्थापित कर लिये । पहले वे स्थानीय नरेशों के अधीन रहे और कालान्तर में उन्होंने केन्द्र के निर्बल पड़ने पर सारा प्रदेश अधिगत कर लिया[५]। जैसा कि लेख की तिथि से प्रतीत होता है, यह आक्रमण १०५३ तक किया जा चुका था ।[६] इस समय गौड नरेश नयपाल (१०३८-५५ ई०) था[७]। अत: यह युद्ध उसी के साथ हुआ होगा ।

कामरूप विजय –

तदनन्तर विक्रमांकदेव को कामरूप नरेश की प्रताप-श्री को नष्ट करने का श्रेय दिया गया है ।[८] आसाम के इतिहास में पालवंशी नरेश कल्याणी के

---

१. अ०हि०इ०, पृ० ३३० और ३३७
२. ए०इं०, जि० ४, पृ० २६२
३. वही, जि० १५, पृ० ३१५, श्लोक १२-१६
४. हि०बंगाल, पृ० २०८-२०९
५. डा०हि०ना०इ०, १ , भाग १, पृ० ३३१ , १९३१ और मजूमदार, पृ० ६०
६. ए०इं०, जि० ४, पृ० २६२.
७. विक्रमां०, ~~३।७४~~ स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० २७
८. विक्रमां०, ३।७४

चालुक्यों के समकालीन थे (`रत्नपाल` को गुर्जराधिप, केरलेश, वाह्लीक तक, दाक्षिणात्य क्षोणीपति पर आक्रमण करने वाला कहा गया है ।[१] परन्तु यह विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि इन प्रदेशों के शासक क्रमश: भीम प्रथम , नयपाल, चालुक्य सोमेश्वर प्रथम थे । इनमें से केवले सोमेश्वर प्रथम को ही कामरूप विजय का श्रेय विक्रमांकदेव चरित में दिया गया है । डा० रे सोमेश्वर की विजय रत्नपाल पर हुई मानते हैं और रत्नपाल का शासनकाल १०१०-१०५० होने का अनुमान करते हैं ।[२] श्री पी० भट्टाचार्य[३] के अनुसार इन्द्रपाल या हर्षपाल के समय में यह आक्रमण हुआ । श्री के०एल० बरुआ[४] और प्रतापचन्द्र चौधरी [५] हर्षपाल के काल में मानते हैं । उनके मतानुसार रत्नपाल ने १०१०—१०४०, इन्द्रपालने १०४०—१०६५, गोपाल ने १०६५- १०८० और हर्षपाल ने १०८०-- १०९५ ई० तक क्रमश: आसाम पर शासन किया ।[६] अनुमान पर आधारित इन तिथियों के आधार पर कोई निश्चित निर्णय लेना कठिन है ।

भोजवर्मन् के बेलवादान पट्ट से ज्ञात होता है कि गोपाल निर्बल शासक था ।[७] अत: संभवत: गौड में बसे हुए सेन वंशी कर्णाट सरदारों ने जो विक्रमांकदेव के साथ पूर्वी अभियान में आये थे,[८] गोपाल को परास्त किया होगा और कामरूप राज्य की कुछ भूमि दबा ली होगी । डा० चौधरी[९] जहाँ एक ओर विक्रमादित्य की कामरूप विजय परम्परागत आदर्श दिग्विजय के रूप में मानते

---

१. डा० हार्नले, ज०ए०सो०बं०, जि० ६७, पृ० ९९ और १२०- १२५

२. डा०हि०ना०ई०, पृ० २५१

३. कामरूप शासनावली, पृ० ३८

४. अ०हि० कामरूप, पृ० १४२

५. दी हि० आफ सिविलाइजेशन आफ दी पीपुल आफ आसाम, पृ० २५४,१९५९ गौहाटी

६. वही, पृ० २५४,२५५,२५८

७. ई०आफ बंगाल , एन०जी० मजूमदार, जि० ३, पृ० १४, चौधरी, पृ० २५८

८. डा०हि०ना०इ०,जि० १, पृ० ३३१, और हि० बंगाल, मजूमदार, पृ० २०८,२०९

९. हि०आफ सिवि० एण्ड पीपुल आफ आसाम, पृ० २५६,२६०

हैं, वहां वे गोपाल और हर्षपाल के शासन-काल में उनकी पश्चिमी सीमा के संकुचन के तथ्य को झुठला नहीं सके हैं। गोपाल की अनुमानित तिथि १०६५ ई० से १०८० ई० है, पर बिल्हण ने और विजय का प्रतिफल होने से इस विजय का उल्लेख भी उसी के बाद कर दिया है।

चोल युद्ध —

कामरूप विजय के पश्चात् उसे पुन: चोल युद्ध में भाग लेना पड़ा। विक्रमांकदेव की पदाति सेना से लूटी गई कांची नगरी की स्त्रियां विवश हो गयीं।[१] यह युद्ध कोप्पम नामक स्थान पर हुआ होगा, जिसके उल्लेख १०५४ ई० और १०५५ ई० के अभिलेखों में मिलते हैं।[२] राजेन्द्रदेव के बाद के अभिलेख में युद्ध का रोमांचकारी वर्णन है। राजेन्द्रदेव युद्ध में अपने को पूरा श्रेय देता है, परन्तु शास्त्री जी[३] का अनुमान है कि इन लेखों और मणिमंगलम् लेख के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि युद्ध की प्रारम्भिक अवस्था में राजेन्द्र ने कोई भाग नहीं लिया। परिणामस्वरूप राजाधिराज दिवंगत हुआ। उसके बाद युद्ध-क्षेत्र में अपने को चोल सम्राट घोषित करके राजेन्द्र ने चालुक्यों को कोल्हापुर तक खदेड़ दिया और वहां जयस्तम्भ स्थापित करके गंगापुरी लौट आया।[४]

सोमेश्वर के शासन के बाद १०७१ ई० के दो लेखों में चोल आक्रमण और चोल नरेश की मृत्यु का उल्लेख है। इन लेखों के आधार पर शास्त्रीजी का अनुमान है कि यह चोल नरेश राजाधिराज ही था। इसीलिए राजाधिराज (आनैमेहुदुन्जिन अर्थात् एक हाथी की पीठ पर दिवंगत नरेश नाम से अपने उत्तराधिकारियों के लेखों में स्मृत होता रहा।[५] राजाधिराज के रणक्षेत्र

---

१. विक्रमां०, ३।७६-७

२. दीचोल्ज़, पृ० २५६, १६५५

३. वही, पृ० २७८, टि० ७४

४. सा०इ०इ०, ३,५५, चोल्ज़, २५७

५. वही, पृ० २५८

में काम आने से ऐसा प्रतीत होता है कि भीषण युद्ध हुआ था। दोनों ही पक्ष वीरतापूर्वक लड़े। परन्तु अतिशयोक्ति और पक्षपात से युक्त चोल लेखों पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि दोनों पक्ष वालों ने अवसर के अनुसार एक दूसरे की राज्य सीमा में घुसकर लूटमार की होगी।

केरल या मलय विजय –

संभवत: इन विजयों से प्रसन्न होकर आहवमल्ल ने विक्रमांकदेव (१०५५ई०) को गंगवाडि का गवर्नर नियुक्त किया।[१] गवर्नर नियुक्त होते ही विक्रमादित्य ने समुद्र के किनारे स्थित केरल नरेश को पराजित किया। इस विजय का वर्णन विक्रमांकदेव चरित में दो बार आया है। प्रथम दिग्विजय के वर्णन में उसके हाथियों को केरलियों के घुंघराले लता रूपी केश-पाश को छिन्न-भिन्न करने वाला कहा है और विक्रमांकदेव को केरल भूपाल के रक्त से समुद्र को दूषित करने वाला कहा है।[२] इसके बाद दूसरे स्थल पर विक्रमांकदेव ने केरल भूपाल को दिग्विजय काल के अपने पराक्रम का स्मरण कराते हुए कोंकण की ओर प्रस्थान किया।[३] केरल पाण्ड्य और सिंहल नरेश चोलों के आक्रमणों से जर्जरित हो गये थे।[४] अत: विक्रमांकदेव उन्हें विजित करने में सफल हो गया। नृपकाम का पुत्र विनयादित्य १०४७ ई० में केरल का राज्याधिकार पाकर अपनी शक्ति बढ़ा रहा था।[५] अत: ऐसा प्रतीत होता है कि १०५५ ई० के लगभग विक्रमांकदेव ने केरल नरेश को अपने अधीन कर लिया और उसी समय से विनयादित्य

---

१. ए०ई०, १३, पृ० १६८ आगे

२. विक्रमां०, ४।२२-२८

३. वही, ५।२४, १५

४. दी चोलज़, पृ० १६८ आगे भी, १९५५ ई०

५. दी हौयसलस, पृ० २१ से २३, १९५७ ई०

चालुक्यों को अनेक युद्धों में सहायता देता रहा ।[१]

पाण्ड्य और सिंहल विजय —

बिल्हण ने विक्रमांकदेव को पाण्ड्य को निस्तेज करने वाला कहा है । यद्यपि यह विशेषण विक्रमांकदेव की विजयों के पश्चात् प्रयुक्त हुआ है, तथापि चोल और सिंहल आक्रमणों के साथ उल्लिखित दिग्विजय काल की विजय के रूप में वर्णित होने से ऐसा प्रतीत होता है कि केरल विजय के पश्चात् विक्रमांकदेव ने पाण्ड्यभूमि में प्रवेश किया होगा और आगे सिंहल तक गया ।[२] इस समय पाण्ड्य में चोल-पाण्ड्य गवर्नरों का शासन था, तो भी बीच बीच में पूर्ववर्ती राजवंश सतत प्रयत्नशील था और विजेताओं को कष्ट दे रहा था । क्योंकि राजेन्द्र प्रथम गंगैकोण्ड और राजेन्द्र द्वितीय कुलोत्तुंग के मध्य शासन करने वाले प्रत्येक चोल नरेश अपनी विजय तालिका में पाण्ड्य विजय का उल्लेख करते हैं । परन्तु प्राप्त प्रमाणों के आधार पर हम उनके विस्तृत विवरण या परिणामों के मूल्यांकन में असमर्थ हैं ।[३] वीरराजेन्द्र के करुवूर अभिलेख[४] (१०६६ ई०) में उसे वीरकेसरि पाण्ड्य का बध करने वाला और एक अन्य लेख[५] में अपने पुत्र गंगैकोण्ड चोल को चोल-पाण्ड्य गवर्नर नियुक्त करने वाला कहा गया है । अत: संभवत: वीरकेसरि पाण्ड्य ही विक्रमांकदेव की दिग्विजय यात्रा में पाण्ड्य शासक था ।

अत: ऐसा प्रतीत होता है कि केरल से आगे पाण्ड्य की ओर, अग्रसर होने पर वीरकेसरि पाण्ड्य और विजयबाहु सिंहल नरेश ने चोल शासन के विरुद्ध विक्रमांकदेव के साथ सन्धि कर ली, क्योंकि दोनों राजवंश चोल आक्रमणों से

---

१. होयसलस, पृ० २१ से ३२

२. आपाण्डुपाण्ड्यमलोलचोलमाक्रान्तसिंहलम् । .... ।४।४५ और ४।२-२८ तक

३. दी पाण्ड्यन किंगडम, पृ० ११२,११३,१६२६, लंदन

४. सा०इ०इ०३,२०, दी चोलैज़, पृ० २६७,१६५५ ई०

५. सा०इ०इ०, पृ० ३०, दी पाण्ड्यन किंगडम, पृ० ११०

त्रस्त थे और स्वतंत्र होना चाहते थे । इसके अतिरिक्त पाण्ड्य तथा लंका के शासकों में परस्पर आनुवंशिक और राजनीतिक सम्बन्ध थे ।[१] सिंहल नरेश विजयबाहु के साथ मित्र सम्बन्ध के संकेत विक्रमांकदेव चरित[२] और महावंश[३] में भी मिलते हैं । संभवत: इससे चिढ़ कर ही वीरराजेन्द्र ने चालुक्यों पर आक्रमण कर दिया, क्योंकि बिल्हण ने सिंहलनृपति की पराजय के पश्चात् चोल आक्रमण का वर्णन किया है । यह चोल आक्रमण १०६१ ई०[४] के लगभग हो चुका था । अत: इस समय तक पाण्ड्य और सिंहल विजय की जा चुकी होगी और विक्रमांकदेव ने वापस अपनी राज्य-सीमा में आकर चोलों का सामना किया होगा ।

चोल युद्ध —

बिल्हण के अनुसार विक्रमांकदेव के धनुष की टंकार ने गंगकुंडपुर की नारियों को कुण्डलरहित कर दिया उनके मुख सफेद पड़े गये । चोल राजधानी टूटे हुए शिखरों वाला प्रासादों के कारण सिरकटी प्रतीत होने लगी । चोल राजधानी वीरान हो गई । द्रविड नरेश ने पर्वतगुहाओं में आश्रय लिया और कांची नगरी उजड़ गई ।[५] इसीलिए आगे विक्रमांकदेव को चोल नरेश को अस्थिर बनाने वाला[६] कहा गया है ।

राजेन्द्रदेव (१०६१ ई०) और राजमहेन्द्र (१०६२ ई०) के लेखों से ज्ञात होता है कि उन्होंने विक्रमादित्य और जयसिंह को मुडक्काडु नदी के तट पर परास्त किया था ।[७] वीरराजेन्द्र के शासनकाल के दूसरे वर्ष (१०६४ई०)

---

१. दीपाण्ड्यन किंगडम, पृ० ११२,११३

२. विक्रमा०, १।६६, ४।२०

३. चूलवंस, १, पृ० २१६-८

४. सा०इं०इं०, ५,६४७ पश्चिमी चालुक्यों के सूदि लेख (१०६१ ई०) से ज्ञात होता है कि इस समय आहवमल्ल दक्षिण विजय और चोल विजय के पश्चात् सिंधवाडि में पु[illegible] में पड़ाव डाले हुए था —ए०इं०, पृ० ८५ आगे

५. ~~ए०इं०, ११, पृ० ११८ आगे~~ विक्रमां. ४।२१-२ और २।६३-६

६. विक्रमां ४।४५

७. सा०इं०इं० ५,६४७ और ७,७४३ , अ०रि०ए०ई० पृ० ३४१

के लेख में कूडुल -शन्गमम्(तुंगभद्रा पर) युद्ध का विस्तृत विवरण मिलता है। दोनों विवरण एक ही युद्ध की ओर संकेत देते हैं।[१] उसने इस युद्ध में चालुक्यों के प्रधान सेनापति विक्कलन (विक्रमादित्य) तथा अन्य महासामन्तों को गंगपाडि से तुंगभद्रा तक खदेड़ दिया, बहुत भीषण युद्ध हुआ। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर ज्ञात होता है कि विजय चोलों की हुई। परन्तु चोलों को अत्यल्प लाभ हो सका, क्योंकि राजेन्द्र चोल की मृत्यु के कारण वीरराजेन्द्र को वापस राजधानी लौट जाना पड़ा।[२]

वेंगि और चक्रकूट युद्ध --

इसी बीच वेंगि नरेश राजराज प्रथम की मृत्यु (१०६१ई०) हो जाने से वेंगि राज्य में अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो गई। अत: अवसर पाकर विक्रमांकदेव ने अपने चिर-सहायक विजयादित्य सप्तम[३] (राजराज का चचेरा भाई) को वेंगि ~~का~~ शासक बनाया। इसीलिए बिल्हण ने चोल युद्ध के पश्चात् लिखा है 'अपने पराक्रम की उन्नति चाहते हुए उसने (विक्रमांकदेव) वेंगि नरेश की रानियों को कामदेव के प्रताप का अपात्र बना दिया अर्थात् आक्रमण भय से उसकी काम भावना का अन्त कर दिया। तत्पश्चात् रिपु समूह को जीत कर उसके केवल चक्रकोटपति की चित्रशालाओं में चित्रित हाथियों को ही छोड़ा।'[४] कुलोत्तुंग जब केवल युवराज था उसने अपने शत्रुओं के षड्यंत्रों को छिन्न-भिन्न किया। उसने वैरागढ़ में बहुल संख्या में हाथियों को पकड़ा और धारावर्ष से कर लेना प्रारम्भ किया। अन्यत्र इसी प्रसंग में वह कुन्तल सेना को रणक्षेत्र में तितर -बितर करने का उल्लेख करता है।[५] कलिंगत्तुप्परणि से ज्ञात होता है कि चक्-

---

१. सा०इ०इ० , ५।९७६, अ०हि०डे०, पृ० ३४१

२. अ०हि०डे०, पृ० ३४२-३

३. वही , पृ० ३३४,३४५

४. विक्रमां० ४।२९,३०

५. सा०इ०इ०, ३, सं० ६४ आगे, अ०हि०डे०, पृ० ३४४-५

कूट में कुलोत्तुंग का शत्रु विक्रमादित्य था ।[१] इन प्रमाणों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि राजराज प्रथम, जिसका सोमेश्वर आहवमल्ल के साथ समझौता हो चुका था, की मृत्यु (१०६१ ई०)[२] होने के बाद विक्रमांकदेव ने वेंगि पहुंच कर विजयादित्य को राजराज का उत्तराधिकारी नियुक्त किया । यह बात राजेन्द्र द्वितीय (बाद में कुलोत्तुंग) को अखरी होगी । फलत: वह चक्रकूट चला गया , और सम्भवत: वहाँ अपने लिए एक छोटा राज्य स्थापित कर लिया । अपनी शक्ति बढ़ा कर चक्रकूट नरेश नागवंशी नरेश धारावर्ष को कर देने के लिए बाध्य किया । धारावर्ष सोमेश्वर की अधीनता पहले ही स्वीकार कर चुका था[३]। अत: कुलोत्तुंग के इस व्यवहार से विक्रमांकदेव ने चक्रकूट पर आक्रमण कर दिया । परन्तु वीर राजेन्द्र ने सम्भवत: अपने भाजे का साथ दिया और विक्रमांकदेव पर आक्रमण कर दिया ।[४] इस आक्रमण से उसे पीछे हटना पड़ा । (१०६७ई ६८ ई०) विक्रमांकदेव ने कृष्णा नदी के तट पर पड़ाव डाला । जहाँ से पिता की जलसमाधि की सूचना पाकर उसे कल्याण लौट जाना पड़ा ।[५]

विक्रम की विजयों के काल क्रम पर विचार करने से व्यूलर का यह आरोप कि बिल्हण की विजयों के काल-क्रम का निर्धारण करना असंभव है[६] निर्मूल सिद्ध हो जाता है ।

---

१. अ०हि०डे०, पृ० ३४५

२. वही, पृ० ४६२

३. नन्देर लेख (१०४७ ईसवी) का, अ०हि०डे०, पृ० ३३०

४. वही, पृ० ३४३—५

५. विक्रमा० ४।३६

६. भू० पृ० ३१, टि ३

दिग्विजय प्रशस्ति का मूल्यांकन –

इस दिग्विजय के सम्बन्ध में पाठक जी का कथन है " अत: यह कोई बड़ा आश्चर्य नहीं, जो बिल्हण ने भी विक्रम के दिग्विजय का वर्णन परम्परागत शैली के अनुसार कर दिया है। जैसा कि धर्मशास्त्रों में निदिष्ट है और गद्य काव्यों में वर्णित है, युवराज का कार्यभार वहन करने के पश्चात् विक्रम ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। < < <

गौड, कामरूप, सिंहल राज्यों, जो चक्रवर्ती-क्षेत्र की पूर्वी और दक्षिणी सीमा का स्पर्श करते हैं, की विजय का उल्लेख सम्भवत: विक्रम की विजयों को परम्परागत दिग्विजय का स्वरूप प्रदान करने के लिए हुआ है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस पारम्परिक ढांचे में बिल्हण ने वास्तविक इतिहास अंकित किया है।"[1] उन्होंने साहित्य एवं अभिलेखिक साक्ष्य के आधार पर चक्रवर्ती – क्षेत्र के अन्तर्गत हिमालय से मलयगिरि और मारवाड़ से लेकर पूर्वी राज्यों की गणना की है।[2] काव्यमीमांसा में राजशेखर ने नवद्वीपों से युक्त प्रदेश को 'भारत' और उसके एकछत्र शासक को 'सम्राट' कहा है। वे कुमारीपुर से लेकर बिन्दुसर (गंगोत्री से दो मील ऊपर) तक एक सहस्रयोजनों में विस्तीर्ण प्रदेश को चक्रवर्ती क्षेत्र कहते हैं और उस क्षेत्र का विजेता चक्रवर्ती होता था।[3] विक्रम के सामन्त नरेश त्रिभुवनमल्ल पाण्ड्यदेव के अभिलेखों (११२१ ई० और ११२४ ई०) में गंग अंग, कलिंग , गौड, मगध, पांचाल, नेपाल

---

१. ए०हि०इ०, पृ० ७८-७९

२. वही, पृ० ७८

३. तान्येतानि योजयति स सम्राडित्युच्यते। कुमारीपुरात्प्रभृति बिन्दुसरोऽवधि योजनानां दशशती चक्रवर्तिक्षेत्रम्। तां विजयमानश्चक्रवर्ती भवति।

—काव्यमी०,पृ० २२३, बि०रा०भा०प०,१९५४

बर्ब्बर, सौराष्ट्र, वराट, लाट, करहाट, चेदि,कश्मीर, गुर्ज्जर, सिन्धु, द्रविड, आन्ध्र, मालव, तुरुष्क, आदि प्रसिद्ध अवनीश्वरों पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख है ।[१] ग्यारहवीं शती में भारत अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था । अभिलेखों से उन राज्यों के नरेश अपने को चक्रवर्ती सम्राट के सदृश अंकित कराते थे ।

बिल्हण द्वारा वर्णित विक्रम की विजययात्रा में चक्रवर्तिक्षेत्र के उत्तर और पश्चिम का बहुत सा भूभाग उल्लिखित नहीं है, जबकि चालुक्य अभिलेखों में उनका उल्लेख मिलता है । इसके अतिरिक्त बिल्हण, जो कालिदास का अनुगामी है, ने पिता के राजत्वकाल में कालक्रमानुसार विक्रम की विजयों का वर्णन किया है, जबकि कालिदास ने रघु दिग्विजय में पिता से राज्य प्राप्त कर लेने के बाद रघु की क्रमश: पूर्व, दक्षिण और पश्चिम दिशाओं में स्थित राज्यों की विजय का उल्लेख किया है ।[२] अत: बिल्हण का दिग्विजय वर्णन परम्परागत नहीं है ।

प्रमुख दिग्विजय प्रशस्तियों पर दृष्टिपात करने से वे स्वरूपत: तीन प्रकार की प्रतीत होती है । प्रथम वर्णन में अक्सर नायक को समुद्रों से आवृत समस्त पृथ्वी का विजेता कहा जाता है । दूसरी कोटि में राजा की विजयों में प्रसिद्ध पर्वत, नदी, और समुद्र से युक्त क्षेत्र की गणना कर ली जाती है । तीसरी कोटि की प्रशस्तियों में चक्रवर्ती क्षेत्र के समस्त राज्यों के नामों की अथवा कुछ राज्यों की गणना की जाती है। इन प्रशस्तियों में ऐतिहासिक सत्य पूर्ण अथवा आंशिक रूप में सुरक्षित रहता है । दिग्विजय प्रशस्तियों के मूल्यांकन में डा० रमेशचन्द्र मजूमदार की धारणा सर्वथा ग्राह्य है । उनका कथन है कि इस विषय में कोई भी निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती , क्योंकि

---

१ एपी०, क०जि० ११, दावणगेरे तालुका, सं० २, और ३

२. रघु० ४।२४ आगे, हर्षचरित सप्तम उच्छ्वास ।

तथाकथित दिग्विजय वर्णनों के लिए सदा एक बात नहीं लागू होती । किसी भी इतिहासज्ञ को समकालीन विवरण की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, जब तक उस विवरण का किसी प्रामाणिक तथ्य से विरोध न होता हो । यदि किसी स्थल पर संदेह हो तो कल्पना के सहारे, बिना किसी पूर्वाग्रह के, नये तथ्यों को निकालने का प्रयत्न करना चाहिए । तत्पश्चात् प्रमाणों के प्रकाश में उसकी सत्यता के निरूपण का प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा पहले ही उस तथ्य को अन्तर्गत मान लेनेपर हम किसी सत्य की प्राप्ति की सम्भावना ही छोड़ देंगे ।[१]

आहवमल्ल की मृत्यु –

जिस समय विक्रम कृष्णा तट पर पड़ाव डाले हुए था, उसे दूत से कष्टप्रद और असाध्य दाहज्वर[२] से पीड़ित पिता आहवमल्ल के दक्षिणापथ-जाह्नवी तुंगभद्रा नदी में आत्मप्रवाह का सन्देश प्राप्त हुआ । आहवमल्ल के इस आत्मप्रवाह की घटना (२८ मार्च, १०६८ ई०) का समर्थन चालुक्य अभिलेख से भी होता है जिसमें कहा गया है कि सोमेश्वर ने महायोग की क्रिया के द्वारा 'कुरुवत्ति' नामक स्थान पर तुंगभद्रा नदी में पीड़ाप्रद और दुःसाध्य रोग से मुक्ति पाने के लिए आत्मप्रवाह कर दिया ।[३] इस क्रिया को रा०गो०भण्डारकर ने (जल समाधि) कहा है ।[४] विशिष्ट तीर्थ अथवा नदी में प्राणोत्सर्ग

---

१. इन्टरप्रिटेशन आफ दी दिग्विजय प्रशस्तीज़, शीर्षक निबन्ध ' जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री' खण्ड ३, दिसम्बर १९६४ ई० (जि० ४२)

२. दृष्टव्य –सुश्रुत , उत्तर तन्त्र ३९।५६ से ६५ , चौखम्बा, १९५९ , माधवनिदान, चौखम्बा, सं० १५८, १९६०

३. ए०क०, ७ , शिकार, १३६

४. अ०हि०ड०, पृ० १४४, टि० ३६

करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसे विश्वास के अनेक उदाहरण मिलते हैं ।[१] इस संवाद से दु:खित विक्रम वहीं पर पिता की अन्त्येष्टि क्रिया करके कल्याणपुर लौटा और अग्रज सोमेश्वर के साथ प्रेम पूर्वक रहने लगा ।

११ अप्रैल १०६८ के गुत्ति लेख से ज्ञात होता है कि नये शासक सोमेश्वर द्वितीय के शासन काल को उपयुक्त समझ कर चोलराज (वीर राजेन्द्र) ने आक्रमण कर दिया, परन्तु चालुक्य सेना ने उसे पीछे लौटने को बाध्य कर दिया । संभवत: इस युद्ध में सोमेश्वर को विक्रमांकदेव, जयसिंह और दण्डनायक लक्ष्मण से प्रभूत सहायता प्राप्त हुई थी । जिसके कारण ही उसने दक्षिण सीमा पर विक्रमांकदेव को गंगवाडि में, जयसिंह को नोलम्ब सिन्दवाडि में और लक्ष्मण को वनवासि में गवर्नर नियुक्त किया । शासन में इन्हें क्रमश: उच्च से निम्न स्थान प्राप्त हुआ था । अन्य लेखों से भी ज्ञात होता है विक्रमांकदेव अपने अग्रज के अधीन युवराज था ।[२]

(ग) सोमेश्वर और विक्रम के पारस्परिक सम्बन्ध और विक्रम का राज्यारोहण --

" कुछ काल तक दोनों भाई परस्पर प्रेमपूर्वक रहे परन्तु कालान्तर में सोमेश्वर पथ-भ्रष्ट होकर मदिरापान और अन्य दुराचारों में लिप्त रहने लगा । बड़ों के उपदेशों पर वह ध्यान ही नहीं देता था । सोमेश्वर लोभ और राजमद से विवेक शून्य होकर राक्षस के समान प्रजाजनों को निरन्तर कष्ट देने लगा । राज्यांगभूत राज्यलक्ष्मी विक्रम के पास आने के लिए तत्पर थी, किन्तु उसने उसका ग्रहण नहीं किया । अविवेकी सोमेश्वर ने विक्रमादित्य के साथ भी दुर्व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया । यह देखकर विक्रम ने भाई के राज्य से बाहर जाना ही ठीक समझा । उसने सोचा कि द्रविड देश या अन्य नरेशों का मर्दन करूंगा और अपने अनुज जयसिंह के साथ दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान कर दिया । उसी समय सोमेश्वर की सेना ने उसका पीछा किया परन्तु विक्रम ने उसे मार भगाया ।"[३]

---

१. अ०हि०ड०याजदानी, पृ० ४२१, ज०उ०प्र०हि०सो०,१०,पृ० ६५, पर प्रकाशित श्री धीरेन्द्र दीनेश की चट्टोपाध्याय का रिलीजस स्युसाइड ऐट् प्रयाग शीर्षक लेख

२. एपी० क० ७, शिकारपुर तल्लुक, १३६, अ०हि०ड०,पृ० ३४६,५०

३. विक्रमां०, ४।६६--११६ और ५।१-८

बिल्हण ने सोमेश्वर को पथभ्रष्ट, उच्छृंखल, और दुष्ट के रूप में चित्रित किया है। जिसका समर्थन केवल विक्रमांकदेव या उसके सामन्तों के लेखों से होता है।

विद्वान् ऋग्वेदी ब्राह्मण सोमेश्वर भट्ट, जो 'धर्मशास्त्रकारिन्' धर्म सम्बन्धी कार्यों का अमात्य था, के एक लेख में उल्लिखित है "सोमेश्वर प्रथम ने सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल को अपना उत्तराधिकारी बनाया। भुवनैकमल्ल ने पहले अपने कृत्यों से शत्रु राजाओं को भयभीत किया और अपने सहयोगियों को मुदित किया। परन्तु कालान्तर में वह अभिमान के कारण प्रजापालन के कर्तव्यों से विमुख हो गया। इसीलिए धर्मबुद्धि वाले उसके अनुज ने उसे अपने अधीन कर लिया।"[1]

दूसरी ओर सोमेश्वर द्वितीय के शासन के लेख में उसके अच्छे चरित्र की प्रशंसा की गई है "सोमेश्वर के राज्यारोहण के साथ धर्म की विजय हुई, धर्म समस्त सम्मत कार्य होने लगे, पृथ्वी मुदित हो गई और कृतयुग का प्रारम्भ हुआ।"[2] विक्रमांकदेव के शासन काल के लेखों में भी सोमेश्वर की प्रशंसा की गई है। ११४४ ई० के लेख में कहा गया है कि इसका शासन सारे जगत् ब के द्वारा प्रशंसित हुआ।[3] विक्रम के सामन्त नरेश पर्माडिदेव प्रथम के लेख में उल्लिखित है "सोमेश्वर, जो पूर्णतः साम्राज्य व्यवस्था में रत था, पृथ्वी का भार वहन करने में पूर्ण समर्थ था, वह अपने राज्य संचालन में सफलता के चार उपायों से युक्त कूर्म की बुद्धि के द्वारा प्रकाशित-क्षमता के लिए प्रसिद्ध था और अपने भीषण पराक्रम के कारण भयंकर था, महान् पुरुष और नायकों में श्रेष्ठ वह 'भुवनैकमल्ल' नाम से सुशोभित था।"[4] अन्यत्र कहा गया है —

---

१. एपी०इं०, १५, ३४६
२. एपी० क०७, शिकारपुर तलुक, १, पृ० १०२
३. वही, पृ० १०५
४. ज०बा०ब्रा०रा०ए०सो०, ११,पृ० २३१

" उससे (सोमेश्वर आहवमल्ल से) संसार को प्रमुदित करने वाला, शृंगार-वीर रसिक, कवि-जगत् का प्रिय, रमणियों के चंचल नेत्र-कमलों के लिये सुन्दर चन्द्र, चालुक्य वंश का तिलक भुवनैकमल्ल हुआ ।"[१] उसे बैल्वोल में मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराने का श्रेय भी दिया गया है ।[२]

अपने अभिलेखों से भिन्न विक्रमांकदेव के शासन काल के लेखों में भी सोमेश्वर के सुशासन, निर्माण कार्य आदि का उल्लिखित होना, उस पर लगाये गये अयोग्यता के आरोप को असत्य सिद्ध करते हैं। परन्तु शेष अंश की ऐतिहासिकता में सन्देह के लिए कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता । अत: प्रारम्भ में सोमेश्वर और विक्रमांकदेव दोनों भाई प्रेमपूर्वक रहे और कालान्तर में परस्पर किन्हीं कारणों से मन मुटाव हो गया ।[३] जिससे प्रेरित होकर

---

१. तस्याद् (तस्माद्) अजायत --जगज्जनिता -प्रमोद:
शृंगार-वीर-रसिक: कवि लोक-कान्त: ।
कान्ताविलोल-नयनोत्पलचारु-चन्द्रस्
चालुक्यवंशतिलको भुवनैकमल्ल: ॥
एपी०क० ११, दावड़गेरे तलुक, १, पृ० ३६, और इंडि० ए०, ८, पृ० २०

२. एपी०इं०, १५, पृ० ३३७ और ३४७-४८

३. राजपरिवारों में परस्पर मनमुटाव कराने वाले अनेक अधिकारी रहते हैं क्योंकि परस्पर संघर्ष कराकर वे अपना उल्लू सीधा करने में सफल होते हैं। राजतरंगिणी (७।२७१- ३१० और ४७२-५) में वर्णित है -- चतुर मंत्री हलधर ने मृत्युशय्या पर पड़े हुए अनन्त और सूर्यमती को समझाया था कि जिन्दुराज अवसर पाकर आपके पुत्र को आपका शत्रु बना देगा । अत: अवसर पाकर अनन्त ने नि:शस्त्र जिन्दुराज को बन्दी बना लिया । इस पर अवसर देख कर दुष्ट सेवकों ने राजाकलश का हृदय कलुषित कर दिया । विटों और चाटुकारों की बातों से भ्रान्तचित्त हो कलश दोषों को ही गुण समझने लगा । यही नहीं धूर्तों ने मृत्यु शय्या पर पड़ी सूर्यमती से कलश को मिलने नहीं दिया । अन्त में खिन्न होकर सूर्यमती ने शाप देते हुए कहा जिन लोगों ने हम दोनों के साथ पुत्र का यह प्राणान्तक वैर करवाया है उनका सकुटुम्ब नाश

(क्रमश: जारी)

संभवत: सोमेश्वर ने विक्रमांकदेव का कुछ अहित करने का प्रयत्न किया होगा, परन्तु किसी तरह बचकर वह दक्षिण की ओर चला गया ।

इस प्रकार "सोमेश्वर की सेना का संहार करके, विक्रम तुंगभद्रा के तट पर पहुंचा और चोलराज पर आक्रमण कर दिया । यहीं पर चोल दूत विक्रम के पास विवाह प्रस्ताव लाया । तत्पश्चात् चोल राज गुणवान् विक्रम को प्रभूत सम्पत्ति के साथ अपनी कन्या प्रदान करके अपने नगर को चला गया ।" [१]

चोल नरेश वीर राजेन्द्र (१०६२—१०७० ई०) रहा होगा । बिल्हण के अनुसार इस चोल आक्रमण में विक्रमांकदेव के साथ संभवत: अनुज जयसिंह जो विक्रम के साथ दक्षिण में आया था और नोलम्बवाडि का गवर्नर था,[२] कोंकण नरेश जयकेशि प्रथम, और आलुपेन्द्र[३] थे । प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जयकेशि प्रथम के प्रयत्न ने युद्ध के समाप्त होने के पूर्व ही, चोलराज के साथ विक्रमांकदेव की सन्धि हो गई ।[४] जिसके परिणाम स्वरूप वीरराजेन्द्र ने विक्रम के साथ अपनी कन्या का परिणय कर दिया । इस विवाह सम्बन्ध का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता परन्तु चोल-चालुक्य सन्धि परोक्षरूप से इसका समर्थन करती है ।

पिछले पृष्ठ का शेष —

हो जाय ।" इसी प्रकार दुष्टों के बहकावे में आकर विजयमल्ल ने हर्ष-देव से विद्रोह कर दिया था (राज०७।८६६ और आगे) ।

बिल्हण के विवरण से ज्ञात होता है, जो अन्य प्रमाणों से भी समर्थित है कि पिता की मृत्यु के समय विक्रमांकदेव कृष्णानदी के तटपर ससैन्य पड़ाव डाले हुए था । (विक्रमां० ४।३६) । यदि वह चाहता तो उसी समय सोमेश्वर पर आक्रमण कर देता, परन्तु उसके इस तरह के किसी कार्य का कहीं संकेत नहीं मिलता ।

---

१. विक्रमां०, ५।८-७६ और ६।१-७

२. वही ५।१ और एपी०क० ७, शिकारपुर १३६

३. आलुपों को जीतकर जयकेशि ने चालुक्य(विक्रम) को अपने राज्य पर स्थापित किया था —ज०ब०बा०रा०ए०सो०६, पृ० २७८, पंक्ति १२

४. ज०बा०बा०रा०ए०सो० ६, पृ० २४२, पंक्ति १

२४ दिसम्बर १०६६ ई० के लेख में उल्लिखित है कि वीर राजेन्द्र ने शलुक्कि विक्रमादित्य (विक्रमांकदेव) को रट्टपाडि ७,५०,००० रूपी कण्ठिका (हार) अर्पित की, क्योंकि विक्रम चोलराज के पास सहायता प्राप्त करने के लिए आया था ।[१] शास्त्री जी का कथन है कि तक्कयागप्परणि (श्लोक ७७४) में उल्लिखित राजगम्भीर द्वारा किट्टन पिरट्टन से राज्य छीन कर इरुट्टन को ७,५०,००० (रट्टपाडि) देश अर्पित करने की घटना भी इसकी का समर्थन करती है ।[२] १०७१ ई० के बैल्लरि और अनन्तपुर से प्राप्त लेखों में विक्रमांकदेव को स्वतंत्र शासक के विरुदों से अलंकृत किया गया है और विक्रमांकदेव के १०७६ ई० के पूर्व के अभिलेखों, जो चालुक्य साम्राज्य के दक्षिणी भाग में पाये गये हैं, में चालुक्य- विक्रम सम्वत् और विक्रमांकदेव के लिए त्रिभुवनमल्ल विरुद का प्रयोग है । अत: ऐसा प्रतीत होता है कि वीरराजेन्द्र के हस्तक्षेप से चालुक्य साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो गया[3] और विक्रमांकदेव स्वतंत्र हो गया ।

"चोलकन्या से विवाह करने के उपरान्त जब विक्रम रंगरेलियों में व्यस्त था, उसे चोल राज के दिवंगत होने का समाचार मिला ,अत: वह गांगु-कुंडचोलपुर में चोल राजपुत्र का अभिषेक करके वापस कल्याणपुर लौट आया । कुछ दिनों के बाद वेंगिनरेश राजिग ने स्वाभाविक शत्रुता के कारण चोलपुत्र की हत्या कर उसकी राज्यलक्ष्मी पर अधिकार कर लिया । विक्रम के आक्रमण कर देने पर चोलराज ने सोमेश्वर को पीछे से विक्रम पर आक्रमण करने के लिए उत्प्रेरित किया । घमासान युद्ध में राजिग पलायित हुआ और सोमदेव बन्दी बना लिया गया । तत्पश्चात् राज्याभिषेक के बाद जयसिंह को महती सम्पत्ति का भाजन बना कर तथा नरनाथ चक्र को पराजित कर विक्रम धनुष को खोल कर कल्याणपुर में प्रविष्ट हुआ ।"[४]

---

१. सा०इ०इ०, ३,८४, ए०इंडिका, २५,२६५

२. दी चोलज़्, २७२, १६५५ ई० मद्रास

३. वही, पृ० २७२— ३

४. विक्रमा० ६।८— ६६

`राजिग ` राजेन्द्र कुलोत्तुंग का प्रचलित नाम था ।[१] यद्यपि `कलिंगत्तु-प्परणि और कुलोत्तुंग के अभिलेखों में कुलोत्तुंग को वीर राजेन्द्र का उत्तराधिकारी कहा गया है, तथापि अधिराजेन्द्र (वीर राजेन्द्र का पुत्र) के अभिलेख और विक्रमशोलन --उला बिल्हण के विवरण का ही समर्थन करते हैं कि वीर राजेन्द्र के पश्चात् अधिराजेन्द्र ही उत्तराधिकारी हुआ था ।[२] अधिराजेन्द्र की हत्या के सम्बन्ध में विक्रमांकदेवचरित को छोड़कर शेष साक्ष्य मौन हैं । बिल्हण राजिग को वेंगि नरेश कहता है । अन्य प्रमाणों से ज्ञात होता है कि वह वेंगिनाथ , राजराज प्रथम का पुत्र था और चक्रकोट से, जहां उसने अपना छोटा सा राज्य स्थापित किया था[३] संभवत: अपने चाचा विजयादित्य को पराजित करके सर्वप्रथम वेंगि पर अधिकार कर लिया, क्योंकि १०७५ ई० में विजयादित्य सप्तम विक्रम के साथ वनवास मण्डल में था ।[४] तत्पश्चात् कुलोत्तुंग ने `द्रविड-राज्य में उत्पन्न विप्लव अर्थात् आन्तरिक अशान्ति का लाभ उठा कर सहज वैर के कारण किसी प्रकार अधिराजेन्द्र की हत्या कर दी और चोल साम्राज्य पर अधिकार कर लिया ।

इस अन्तरिक अशान्ति का कारण संभवत: यह था कि वीरराजेन्द्र की अकस्मात् मृत्यु हो जाने से शिथिल शासन हुए चोल राज्य में अराजकता उत्पन्न हो गई और पाण्ड्य सिंहल आदि अधीन राज्यों के नरेश विद्रोह करने लगे ।[५] अधिराजेन्द्र स्थिति को संभाल न सका । यद्यपि विक्रमांकदेव ने एक माह तक चोल राज्य में रह कर वहां शान्ति स्थापित की, तथापि उसके वापस लौटते ही अधिराजेन्द्र के सहजशत्रु राजिग ने उसकी हत्या कर दी और

---

१. फ्लीट, इ०ए०, २०, पृ० २७६,२८२

२. दी चोल्ज़, पृ० २६७

३. वही, पृ० ३०३

४. अ०हि०ड०, ३५४

५. इ०ए०, १६, पृ० ३३२, और दी चोल्ज़, पृ० ३०५

१०७० ई० के पूर्व चोल-राज्य का अधिपति बन बैठा ।[१]

"चोल अभिलेखों में इस युद्ध से सम्बद्ध विवरण कुछ भिन्न हैं । इस युद्ध का सर्वप्रथम उल्लेख कुलोत्तुंग के शासनकाल के ७वें वर्ष के लेख में है विक्कलन और सिंगणान पश्चिम सागर में डूब रहे हैं । अत: शास्त्री जी का कथन है कि कुलोत्तुंग के साथ विक्रमादित्य का युद्ध कुलोत्तुंग के राज्यारोहण के कुछ वर्षों बाद हुआ था न कि राज्यारोहण के कुछ दिनों बाद , जैसा कि बिल्हण ने उल्लेख किया है । इसकी पुष्टि १०७६ ई० के एक चालुक्य अभिलेख से भी होती है ।[३] चोल लेख विक्रमांकदेव को मणलूर से तुंगभद्रा तक खदेड़ देने का दावा करते हैं तथा घनघोर युद्ध का विवरण देते हैं कि चालुक्य राज्य का गंगमण्डलम् और सिंगणाम प्रदेश भी चोलों ने अधिगत कर लिया था । इसके अतिरिक्त कुलोत्तुंग अपने लेखों के प्राप्ति स्थान के आधार पर मैसूर का अधिकांश भाग जीत लेने का संकेत देता है, पर बिल्हण उसके युद्ध क्षेत्र से भाग जाने की बात कहता है, जो विश्वास योग्य नहीं । विक्रम - शोलन् उला भी कुलोत्तुंग की कोंकण तक के भूभाग की विजय का उल्लेख करता है । कलिंगत्तुप्परणि में कई चोल -- चालुक्य युद्धों का संकेत है ।"[४]

विक्रमांकदेव चोल साम्राज्य में प्रविष्ट होकर कोलार जिले तक पहुंचा, जहां उसकी मुठभेड़ चोल सेना के साथ हुई ।[५] इसी समय राजिग ने विक्रम के सहजशत्रु सोमेश्वर को उस पर पीछे से आक्रमण करने के लिए तैयार कर लिया ।[६]

---

१. इ०ए०, ७, पृ० ७, टि० ५

२. दी चोलज़ , पृ० ३०७

३. बाम्बे० गजे०, १ खण्ड, २, पृ० २१७

४. दी चोलज़, पृ० ३०७-८

५. वही, पृ० ३०८

६. वही विक्रमां०, ६।२७

फिर पीछे से सोमेश्वर के आक्रमण कर देने पर विक्रम विशाल सेना के साथ उसकी ओर मुड़ा और उसे बन्दी बना लिया ।[१]

दूसरी ओर संभवत: विक्रमांकदेव के कुछ सामन्त कुलोत्तुंग को रोके रहे होंगे, जिससे वह विक्रम पर पीछे से आक्रमण न कर दे । विक्रम की उस अल्प सेना को पराजित करता हुआ कुलोत्तुंग मैसूर प्रान्त से होकर चोल विवरणों के अनुसार संभवत: कोंकण तक पहुंच गया ।[२] शास्त्री जी चोल विवरण को अतिशयोक्ति पूर्ण मानते हुए कहते हैं कि संभवत: चोल नरेश ने विक्रमांकदेव को तुंगभद्रा तक पीछे हटा दिया था और उक्त नदी के दक्षिण और पूर्व में स्थित प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था ।[३] जैसे ही विक्रमांकदेव ने सोमदेव का दमन करके समस्त चालुक्य साम्राज्य को अधिगत कर लिया, वह कुलोत्तुंग की ओर अग्रसर हुआ और अपने साम्राज्य से उसे मार भगाया फिर समस्त शत्रु नरेशों या विद्रोही सामन्तों को क्रम से जीत लेने से निश्चिन्त होकर कल्याणपुर में प्रवेश किया ।[४] अनेक वीर सामन्तों से समर्थित,[५] विशाल सेना के अधिपति विक्रम के लिए यह कार्य असंभव न था । अत: चोल विवरणों और बिल्हण के विवरण से कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता ।

इसके अतिरिक्त स्वयंवर के प्रसंग में विक्रम का परिचय देते हुए बिल्हण पुन: इस युद्ध का उल्लेख संभवत: विक्रम के जीवन की एक विशिष्ट सफलता होने के कारण ही किया है ।[६] सोमेश्वर से बलपूर्वक विक्रम ने राज्य अर्जित किया

---

१. विक्रमां०, ६।३६-६०

२. दी चोलज़, पृ० ३०८

३. अ०हि०ड०, पृ० ३५४

४. विक्रमां०, ६।६० और ७।२, ब्यूलर, भू०, पृ० ३८, टि० २

५. अ०हि०ड०, पृ० ३५१- २

६. विक्रमां० ६।१४२

था, और यह युद्ध ११ फर्वरी १०७६ ई० में हुए उसके राज्यारोहण से पूर्व हो चुका था ।[१]

इस संघर्ष में जयसिंह अनुज की सहायताओं से प्रसन्न होकर, विक्रम ने उसे विशाल सम्पत्ति-वनवास-मण्डल का पात्र बनाया ।[२]

स्वयंबर में चन्द्रलेखा के साथ परिणाय –

बिल्हण आगे कहता है :–

" जिस समय विक्रम ने कल्याणपुर में प्रवेश किया उस समय वसंत ऋतु का आगमन हो चुका था और सर्वत्र मादकता का साम्राज्य स्थापित हो गया था । ऐसे मनोरम समय में उसने सुना कि चन्द्रलेखा नाम की करहाट राजपुत्री अप्रतिम सुन्दरी है और शंकर के आदेश से अनुरूप वर प्राप्ति के हेतु स्वयंवर रचा रही है । चन्द्रलेखा के रूप गुण श्रवण से विक्रम को उसके प्रति अनुराग हो गया । दूत से ज्ञात हुआ कि दूसरी ओर चंद्रलेखा भी गुण श्रवण से विक्रम पर अनुरक्त हो गई है ।

कालान्तर में स्वयंवर का दिन भी आ गया और विक्रमांकदेव उसमें सम्मिलित हुआ । सभी नरेशों के आसन ग्रहण कर लेने पर एक हाथ में कुसुममाला और वाम-हस्त में कर्पूरी पान की वीटिका को लिए हुए प्रसन्न वदना चन्द्रलेखा ने स्वयंवर मण्डप में प्रवेश किया । उसी समय प्रतिहार रक्षी (दासी) ने चन्द्रलेखा को क्रमश: प्रत्येक नरेश का परिचय देना प्रारम्भ किया –

भगवान् राम के वंश में उत्पन्न यह अयोध्या कुमार हैं । मयूरी के शब्द से गुंजित सरयू के तटवर्ती वनों में विहार करने का आनन्द लो ।

महापराक्रमी चैदिराज को देखो । इस कान्यकुब्ज नरेश को पसन्द करो । किरातार्जुनीय युद्ध के पात्र पार्थ के कुल में उत्पन्न नरेश को, यदि चर्मण्यवती के तटवर्ती मनोरम वनस्थली में विहार करना हो तो, देखो ।

---

१. अ०हि०इ०, पृ० २५५

२. विक्रमा०, ६।६६, १४।४

श्री नीलकण्ठ महोदय की विलासभूमि कालिंजर पर्वत के अधिपति, जिसने समस्त राजमण्डल को जीत लिया है, को देखो ।

महा पराक्रमी और अपनी भुजाओं से अर्जित शक्ति वाले गुर्जरेन्दु पर दृष्टिपात करो ।

यदि चन्दन मिश्रित मलय वायु का सेवन अभीष्ट हो, तो श्वेत चन्दन से अवलिप्त पाण्ड्य नरेश को वरण करो ।

चारों दिशाओं की विजय की इच्छा से युक्त हस्तिसैन्य वाले दानी और मनोरम दृश्यों वाली कांची राजधानी के अधिपति चोलराज को अपनी बाहों में भर लो ।

क्रमश: आगे बढ़ने पर, अरे यह दिग्विजय करके निश्चिन्त चोलराज राजिग और सोमेश्वर का दमन करने वाला तथा लक्ष्मी और सरस्वती का निवास विक्रमांकदेव है ।

चन्द्रलेखा ने विक्रम को जयमाल पहिना दी । फिर नववधू के साथ विक्रम ने विवाह मण्डप में प्रवेश किया ।"[१]

करहाट या कहाड कृष्णा और कोयना नदियों के संगम पर सतारा जिले में स्थित था ।[२] वहां शिलाहार वंशी नरेश राज्य करते थे जो अपने को जीमूतवाहन का वंशज कहते हैं ।"[३] उन्हें विद्याधरों का राजा कहा गया है ।[४] अत: विद्याधर कुमारी चन्द्रलेखा संभवत: शिलाहार नरेश महामण्डलेश्वर मारसिंह (शक ६८० अर्थात् १०५८ ई०) की पुत्री रही होगी जो इस समय करहाट प्रदेश का अधिपति था ।[५] वह विक्रमाङ्क देव का सामन्त रहा होगा ।[६]

---

१. विक्रमा०, ७,८, और ९ सर्ग

२. डा०क०डि०, फ्लीट, पृ० ५४६, १८९६ बम्बई

३. ए०इं०, १२, पृ० २६२, २६३

४. कथा सरित्सागर, तरंग २२।१६,१७ और २३

५. ए०इं०, ५, पृ० २२१, २२२, और २२२ पृष्ठ पर टि० और फ्लीट—डा०क०डि० पृ० ५४७

६. जी०एच० खरे, सोर्सेज आफ मिडीवियल हिस्ट्री आफ दी डेकन, भाग १, पृ० ३७ और आगे ।

चालुक्य अभिलेख विक्रम की प्रिय महिषी चन्द्रलेखा(चन्दलदेवी)[१] का उल्लेख करते हैं जो चन्द्रलेखा का दूसरा नाम था ।[२] इसके अतिरिक्त राजतरंगिणी में उल्लिखित है" काश्मीर नरेश हर्षदेव कर्णाट के अधिपति परमार्डि (विक्रमादित्य) की चन्दला नामक सुन्दरी को चित्र में देखकर कामासक्त हो गया । धूर्त विटों आदि के द्वारा प्रोत्साहित होकर उसने चन्दला को प्राप्त करने के लिए परमार्डि को परास्त करने की प्रतिज्ञा की थी ।"[३] अन्यत्र कहा गया है कि उसे दाक्षिणात्य पद्धति रुचिकर थी और कर्णाट की अनुकृति पर `टंक` नामक सिक्के चलाये थे ।[४] अत: चन्द्रलेखा का विवाह विक्रमांकदेव के साथ होना ऐतिहासिक तथ्य है ।

बिल्हण के विवरण के अनुसार चन्द्रलेखा का विवाह स्वयंवर सभा में हुआ था । इस समय विक्रमांकदेव का राज्यारोहण कल्याणपुर में हो चुका था ।[५]

डा० विश्वम्भरशरण पाठक[६] के अनुसार बिल्हण वर्णित चन्द्रलेखा

---

१. कन्नड़ देश इन्स्क्रि० १, पृ० ४१५,४२२, याजदानी, अ०हि०द० ३६६,और ए०इ०-२८ , पृ० ३२, टि० ४,६

२. विक्रमा० ११।६८

३. राज० ७।१११९—११२१

४. राज०७।६२६, कनिंघम साहब को हर्ष के स्वर्ण के सिक्के मिले, जो कर्णाट शैली के हैं —क्लायन्स आफ मैडी०इंडिया, कनिंघम,पृ० ३४,फलक ५,संख्या२२,२३

५. विक्रमा० ६।९४-९६ विक्रम की राज्यारोहण तिथि ११ फर्वरी,१०७६ है । अ०हि०द० ३५५

६. ए०हि०इ०? पृ० ७७

The queen Chandralekhā had atleast three sons - Jayakarna, Someśvara III, and Tailapa III. Her second son, Mahāmaṇḍaleśvara Someśvaradeva was ruling Banvāsi 12,000 in 1089, and still earlier in 1083 he was a Governor of Kisukad 70, Bagadage 70 and Narayangala 12. Since he was younger than his co-uterine brother Jayakarna, the marriage of Vikrama with Chandralekhā must have taken place much earlier than 1076, when Vikrama was anointed as a king, and probably earlier than 1068, when Someśvara II ascended the throne."

x x x x

स्वयंवर ऐतिहासिक नहीं है । इस धारणा की पुष्टि में उन्होंने निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किये हैं —

" महारानी चन्द्रलेखा के कम से कम जयकर्ण, सोमेश्वर तृतीय और तैलप तृतीय तीन पुत्र थे । उसका दूसरा पुत्र, महामण्डलेश्वर सोमेश्वर बनवासी १२००० में १०८६ ई० में शासन कर रहा था और इसके भी पूर्व १०८३ ई० में वह किसुकद ७०, बागादगे ७० और नरयंगल१२ में गवर्नर था । वह अपने सहोदर भाई जयकर्ण से छोटा था, अत: विक्रम के साथ चन्द्रलेखा का विवाह १०७६ ई० जब विक्रम का राज्याभिषेक हुआ था , से बहुत पूर्व हो चुका होगा और संभवत: १०६८ ई० के भी पूर्व जब सोमेश्वर द्वितीय राज्याभिषिक्त हुआ था ।"

< < < < <

कालंजर, कान्यकुब्ज , चेदि, पाण्ड्य और चोल जैसे दूरस्थ और शक्तिशाली राज्यों के नरेश एक क्षुद्र सामन्त के आमन्त्रण पर शायद ही स्वयंवर में आये होंगे । इस प्रकार अपने नायक की सम्राट जैसी हैसियत दिखाने के लिए, जो उसने अपने परवर्ती जीवन में प्राप्त की थी, बिल्हण ने संभवत: महामण्डलेश्वर विक्रम के साथ एक सामन्त नरेश की पुत्री के विवाह को एक भव्य स्वयंवर के रूप में चित्रित किया है ।"

(Contd.)

The mighty kings of far off Kālañjara, Kānyakubja, Chedi, Pāndya and Chola regions, would hardly have come to a Svayamivara at the invitation of a feudatory chieftain of so humble a status. Thus, in order to indicate the paramount position which his hero attained later in life, Bilhana seems to have exalted an ordinary marriage of the Mahāmandaleśvara Vikrama with the daughter of a feudatory chieftain to their union in a grand ceremony of Svayamivar.

डा० पाठक के तर्क उनकी धारणा की पुष्टि में अपर्याप्त हैं क्योंकि उनकी धारणा अनुमान पर आधारित है। उन्हें कोई भी साक्ष्य ऐसा नहीं उपलब्ध हो सका, जो स्वयंबर काल (१०७६ ई०)और उसके अस्तित्व को असत्य घोषित कर सके।

(१) उनका प्रथम तर्क है कि चन्द्रलेखा का द्वितीय पुत्र सोमेश्वर तृतीय १०८३ ई० में गवर्नर हो चुका था अत: चन्द्रलेखा का विवाह १०६८ ई० के पूर्व हो चुका होगा।

यदि चन्द्र लेखा का विवाह १०७६ ई० के बाद हुआ और उसका द्वितीय पुत्र सोमेश्वर तृतीय १०८३ ई० में गवर्नर था तो उस समय उसकी आयु (१०८३- १०७६ = ७- २ वर्ष =५) लगभग ४ या ५ वर्ष की रही होगी। वर्तमान युग को दृष्टि में रखते हुए यह असंभव सा प्रतीत होता है कि ५ वर्ष का बालक गवर्नर बने, परन्तु संस्कृत ग्रन्थों में बालकों के शासन करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं[१]। बिल्हण के समकालीन उदाहरण भी प्रचुर हैं।

राजतरंगिणी[२] में उल्लेख है कि अनन्तदेव (काश्मीर नरेश का चचेरा भाई क्षितिराज अपने पुत्र भुवनराज के विद्रोही हो जाने पर दु:खी हो गया और रामलेखा नामक रानी से उत्पन्न राजा कलश के दूसरे पुत्र उत्कर्ष को, दुध-मुहे (स्तनन्धय) शिशु होने पर भी अपने राज्य (लोहर दुर्ग) का उत्तराधिकारी बना दिया और भगवद्भक्त विद्वानों के साथ तीर्थसेवन करने लगा। १०८८ ई० के दूब कुंड अभिलेख[३] में विक्रमसिंह को बालक कहा गया है। यही नहीं मुगल

---

१. कौटिल्य का अर्थशास्त्र (हिन्दी अनुवाद) —श्री गैरोला, वि०रा०ग्र०, १९६२ वाराणसी।

२. राजतरंगिणी तरंग, ७।२५१—२५७

३. बालस्यापि विलोक्य तस्या परिधाकारं भुजं दक्षिणं —१६ ।।
—प्राचीन लेख माला भाग २, काव्यमाला, ६४ और ए०इं०, जिल्द २, पंक्ति २६, पृ० २३८

और वेंगि के गवर्नर विक्रम चोल को उसके एक अभिलेख में उसे बचपन में ही कलिंग विजय का श्रेय दिया गया है —दी चोलज़, पृ० ३२०, पाद टिप्पणी ६१, पृ०३३८ पर, १९५५ ई०

काल में भी इसके उल्लेख हैं। सम्राट अकबर अल्पवय (१३ वर्ष)होते हुए शत्रुओं से अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा योग्य एवं स्वामिभक्त सलाहकारों की सहायता से कर सका, तो क्या प्रतापी पिता विक्रमादित्य के जीवनकाल में उसके अल्पवयस्क पुत्र गवर्नर नहीं रह सकते थे। वस्तुत: शासन तो राजकर्मचारी करते हैं, राजकुमार नाम मात्र के शासक नियुक्त को जाया करते थे।

(२) पाठक जी का अनुमान है कि विक्रमांकदेव का चन्द्रलेखा के साथ विवाह १०६८ ई० के पूर्व हो चुका था। १६ ~~वर्ष~~

यदि १०६८ ई० में विवाह के समय चन्द्रलेखा १६ वर्ष की थी, जो सन्तान उत्पन्न करने की उचित आयु मानी जा सकती है, तो काश्मीर नरेश हर्ष के राज्यारोहण के बाद १०८९ ई० में ३७ वर्ष की होती है। ३७ वर्ष में एक नारी का यौवन ढलने लगता है। ऐसी स्थिति में कश्मीरनरेश हर्षदेव क्षीणयौवना तथा १४,१४ वर्ष के लड़कों की मां चन्द्रलेखा को प्राप्त करने की योजना क्यों बनाता ? जबकि १०७६ ई० में उसका परिणय मानने पर हर्षदेव के काल तक वह केवल २९ वर्ष की नवयौवना ही थी।

इसके अतिरिक्त विल्हण द्वारा उल्लिखित समस्त नरेश स्वयंवर काल (१०७६) ई० में शासक रहे। बिल्हण के वर्णन एवं कालदृष्टि से निरीक्षण करके मैंने उन नरेशों को पहचानने का प्रयत्न किया है जो निम्नांकित है —

स्वयंवर में वर्णित नरेश	उनकी पहचान
क. अयोध्याकुमार	कोई रघुवंशी नरेश ?
ख. चेदिराज	यश:कर्ण (१०७२-३)
ग. कान्यकुब्ज	(बदायूं लेख में वर्णित) गोपाल जो लगभग १०८५ ई० में चन्द्रदेव गाहडवाल से परास्त हुआ।
घ. अर्जुनकुलजनृपति	दूबकुंड के कच्छपघात नरेश अर्जुन का वंशज, विक्रम सिंह (१०७०-१०८८ ई०
ङ. कालंजरगिरिपति	कीर्त्तिवर्मन् चन्देल (१०६० —११००)
च. गोपाललक्ष्मापति	महीपाल कच्छपघात (१०७३-४ -१०९४)

स्वयंवर में वर्णित नरेश	उनकी पहचान
छ. मालवेन्द्र	उदयादित्यपरमार (१०६८ से १०७६ के मध्य राज्यारोहण से १०८६ ई०)
ज. गुर्जरेन्दु	चौलुक्य कर्ण (१०६३–१०९४ ई०)
झ. पाण्ड्यदेशाधिपति	(संदिग्ध)
ञ. चोलराज	कुलोत्तुंग (१०७०–१०४५ ई०
ट. विक्रमांकदेव	(१०७६ से ११२६ ई०)

कर्नल टाड कृत राजस्थान तथा अन्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि स्वयंवर राजपूतों में बहुत बाद तक प्रचलित रहा ।[१] संयोगिता स्वयंवर का प्रसिद्ध विवरण भी इसी का समर्थन करता है ।[२]

आज भी उत्तर प्रदेश में खत्री समाज में विवाह के अवसर पर धूमधाम के साथ प्रचलित जयमाला कार्य-क्रम उसी प्राचीन स्वयंवर प्रथा का अवशिष्ट रूप है ।

(३) पाठक जी का यह संदेह , कि कालंजर, कान्यकुब्ज , चेदि, पाण्ड्य और चोल जैसे शक्तिशाली एवं सुदूरवर्ती नरेशों की एक सामन्त के यहां स्वयंबर में उपस्थित होना असंभव है, अत: स्वयंबर बिल्हण की अपनी कल्पना है ,निराधार है । महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों में उल्लिखित विवरणों से तथा वर्तमान युग के उदाहरणों से भी ज्ञात होता है कि सुन्दर पत्नी

---

१. विक्रमा० भूमिका, व्यूलर कृत, पृ० ४०, पा०टि० अन्तिम अनुच्छेद(पैरा) १८७५ ई०

२. दृष्टव्य–संयोगिता , डा० दशरथ शर्मा, राजस्थान भारती, १९५६ ई० जुलाई अंक, २, पृ० २१-२७, इसी का समर्थन श्री अशोक कुमार ने भी किया है । ना०प्र०पत्रिका २०२३, अंक २, पृ० ७१-७२

पाने के लिए लगभग सभी पुरुष लालायित रहते हैं। राजपूत काल में मुख्यत: जर (जमीन) और जोरू (पत्नी) अक्सर युद्ध का कारण हुआ करती थीं । अत: क्या आश्चर्य जो सुन्दरी[१] चन्द्रलेखा को प्राप्त करने के लिए उपरिलिखित नरेशों ने भी इच्छा की हो और आशान्वित होकर स्वयंवर में उपस्थित हुए हों। जब बिल्हण द्वारा वर्णित राजाओं का वर्णन, समय का निरूपण और स्वयंवर के नायक और नायिका का उल्लेख ऐतिहासिक एवं सत्य है, तो स्वयंबर का होना कैसे असत्य माना जा सकता है ,

(४) पाठकजी[२] एक और प्रमाण प्रस्तुत करते हैं --

"चन्द्रलेखा स्वयंवर से अपने वर्णनात्मक परन्तु परम्परागत विवरण में बिल्हण ने जो 'कालिदास के काव्य मार्ग का अनुगामी था'[३] कालिदास से आगे बढ़ जाने का प्रयत्न किया है।"

इसमें सन्देह नहीं बिल्हण ने कालिदास के काव्य मार्ग का अनुकरण किया है यही नहीं पदावलीभाव साम्य भी है। पर आँख बन्द करके कालिदास की प्रतिलिपि नहीं प्रस्तुत की है। प्रस्तुत प्रसंग में इन्दुमती स्वयंबर के साथ चन्द्रलेखा स्वयंवर की तुलना के द्वारा यह सिद्ध होता है। इन्दुमती स्वयंबर में मगध नरेश, अंगनाथ, अवन्तिनाथ, माहिष्मती का अनूपराज , मथुराका शूरसेनाधिपति , सुषेण, कलिंगनाथ हेमाङ्गन्द और पाण्ड्य नरेश की उपस्थिति वर्णित है[४] पर चन्द्रलेखा स्वयंबर में इससे बिल्कुल भिन्न ही तालिका प्रस्तुत है। केवल पाण्ड्य नरेश का वर्णन दोनों में पूर्ण साम्य रखता है।[५] अत: बिल्हण

---

१. राजतरंगिणी ७।२५१-२५७ और विक्रमा० ८ वां सर्ग

२. In his graphic but conventional account of the Svayamvara of Chandralekhā, Bilhaṇa who "traversed the path leading to the muse of Kālidās", tried to emulate the latter.

Ancient Historians of India - P.76.

३. कर्ण सुन्दरी (उपसंहार) पृ० ५६, श्लोक २

४. रघु० ६।२१-७६

५. विक्रमा० ९।११६-१२१ और रघु० ६, ५९, ६०,६४

ने अपने वर्णन को स्वतंत्र रूप से उपस्थित किया है। यदि बिल्हण ने रघुवंश की अनुकृति मात्र में चन्द्रलेखा स्वयंबर की असत्य कल्पना की होती, तो उन्हें समस्त भारत के राज्यों के नरेशों को स्वयंवर में उपस्थित करने में किंचित भी संकोच न होता। बिल्हण वैदर्भी शैली के समर्थक थे अत: यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि बिल्हण ने कालिदास की सुकुमार वैदर्भी रीति का अनुकरण किया है। लक्षण ग्रन्थ भी महाकाव्य में विवाह आदि के वर्णन का निवेश मानते हैं, पर स्वयंवर विधि का होना कहीं भी अनिवार्य नहीं माना है।

विक्रमांकदेव और सिंहदेव --

फिर विक्रमांकदेव के भांति भांति के आमोद प्रमोदों, क्रमश: सूर्यास्त, सूर्योदय, ग्रीष्म, वर्षा ऋतु का मनोरम वर्णन करने के पश्चात्[१] विक्रम के अनुज सिंहदेव के विद्रोह का विवरण है --

" वर्षा ऋतु के अन्त में किसी आत्मीय पुरुष ने विक्रमांकदेव से एकान्त में आकर कहा कि आपने वात्सल्यवश अपने अनुज सिंहदेव को, वनवास मण्डल का अधिपति बनाया था, परन्तु आज वही आपके विरुद्ध शस्त्र उठाने के लिए तत्पर है। उसने समस्त आटविक मण्डल को हस्तगत कर लिया और प्रजा से धन वसूल कर सैन्य वर्धन कर रहा है। यही नहीं उसने चोल राज के साथ सन्धि कर ली है। विक्रम ने सिंहदेव को युद्ध से निरत करने के लिए अनेक संदेश भेजे, परन्तु वह नहीं माना। फलत: भीषण युद्ध हुआ और जयसिंह पराजित हुआ। विक्रम ने शत्रु लक्ष्मी ~~मुक्त~~ ग्रहण कर हथिनी के ऊपर स्वर्ण सिंहासन पर बैठकर अपनी राजधानी कल्याणपुर में प्रवेश किया।"[२]

विक्रमांकदेवचरित से ज्ञात होता है कि सिंहदेव को विक्रम ने राज्यारोहण के दिन प्रभूत सम्पत्ति का भाजन बनाया था।[3] यद्यपि इस प्रसंग में इस

---

१. विक्रमां०, सर्ग १०,११,१२,और १३

२. वही, सर्ग १४,१५

३. वही ~~१४।४~~ ६।९९

सम्पत्ति का स्वरूप उल्लिखित नहीं है, तथापि अन्यत्र वर्णन है कि विक्रम ने वैंगिनाथ को जीतने के पश्चात् सिंहदेव को बनवासमण्डल का अधिपति बनाया था।[१] अत: स्पष्ट है कि विक्रम ने उसे यह सम्मान सोमेश्वर के साथ हुए युद्ध में उसकी सहायता से प्रसन्न होकर दिया होगा।[१क] विक्रम के शासन के तीसरे वर्ष के अभिलेख से ज्ञात होता है कि जयसिंह विक्रमांकदेव का रक्षक था।[२] १०८० ई० का जयसिंह का अभिलेख उसके लिए कहता है — " शालीनता का आश्रय , विक्रमांकदेव के हृदय का सच्चा साथी, प्रिय अनुज, जिसने चालुक्य राम पर विजय प्राप्त करके, उन्नति की और उसका स्नेह भाजन बना।"[३] अन्यत्र उसकी सहायता से विक्रमांकदेव के सप्तकोंकण को कण्ठिका की भांति भोग करने का उल्लेख है।[४] अत: जयसिंह विक्रम का विश्वस्त और कृपापात्र था।

बिल्हण ने जयसिंह के विद्रोह का विस्तृत वर्णन किया है जिसका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। बिल्हण के अनुसार इसका कारण सम्भवत: उसकी महत्वाकांक्षा थी। पाठक जी के अनुसार " चालुक्य साम्राज्य में इस प्रकार वह (जयसिंह) सम्राट के बाद सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति था। परन्तु सहसा २५ दिसम्बर, १०८२ ई० के कुछ दिनों पूर्व, वह युवराज पद से च्युत कर दिया गया और राजकुमार मल्लिकार्जुन , जो विक्रम की पट्टमहिषी से उत्पन्न सबसे बड़ा पुत्र था, युवराज नियुक्त हुआ। बहुत स्वाभाविक है पदच्युति और उसके कारण हुए अपमान ने जयसिंह को अपने भाई के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए बाध्य कर दिया होगा।"[५]

---

१. विक्रमा०, १४।४

१क सोमेश्वर के साथ मनमुटाव हो जाने पर जयसिंह विक्रम के साथ दक्षिण चला आया था — विक्रमा०, ५।१, एपी०क०, ११,देवगेरे,१

२. बा०क०, १८२८-२६ का २३७ अ०हि०ड ३५७,

३. एपी०क० ७, शिकारपुर २८७

४. वही, १०७

५. हि०आफ ए०ई०, पृ० ७३

पाठक जी के पास कोई प्रमाण नहीं है कि मल्लिकार्जुन को युवराज बनाने से जयसिंह ने विद्रोह किया। अन्य प्रमाणों के अभाव में हमें बिल्हण पर विश्वास करना होगा और यह मानना होगा कि जयसिंह का दमन करने के बाद ही मल्लिकार्जुन युवराज बनाया गया होगा, ऐसा प्रतीत होता है कि जयसिंह को वनवासमण्डल का अधिपति नियुक्त करने पर वहां के अधिपति वर्म्मदेव की हानि हुई, जो इस समय जयसिंह के अधीन था।[१] वर्म्मदेव के कुचक्र से अथवा अन्य कारणों से जयसिंह और विक्रम में परस्पर कुछ मन मुटाव हो गया होगा और जयसिंह ने चोलराज कुलोत्तुंग के साथ सन्धि कर ली होगी। सम्भवत: चोल कुलोत्तुंग की सहायता प्राप्त होने के पहिले ही विक्रम ने गुप्तचर से सूचना पाकर आक्रमण करके उसे कुचल डाला और मल्लिकार्जुन को उसका उत्तराधिकारी बनाया।

शास्त्री जी के अनुसार इस छोटी घटना को बिल्हण ने बढ़ा चढ़ा कर कहा है कि जयसिंह सफलता के निकट पहुंच गया था।[२] बिल्हण ने लिखा है, जयसिंह ~~ने निकट भविष्य में~~ धन एकत्र करके युद्ध की तैयारी कर ली थी समस्त जंगली जातियों को अधीन बना लिया था और उसके साथ अनेक सामन्त नरेश भी थे,[३] जबकि विक्रम शान्ति पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा

---

१. अ०हि०द०, पृ० ३५८

२. अ०हि०द०, पृ० ३५६

३. विक्रमा०, सर्ग १४

इरुक्कवेल पाण्ड्य त्रिभुवनमल्ल-वीर -नोलम्ब-पर्माडिदेव, जो विक्रमांकदेव का अनुज प्रतीत होता है, का अनुज कहा गया है। राइस महोदय का अनुमान है कि इस उल्लेख से इरुक्कवल और जयसिंह में परस्पर घनिष्ट मित्रता सूचित होती है —

(एपी० कं० ११, मू० १७, महामण्डलेश्वरज़ अण्डर दी चालुक्यज़ आफ कल्याणी।

निदकर देसाई कृत, पृ० २३२, १९५१ बम्बई)

यदि राइस महोदय का अनुमान सही है, तो इरुक्कवेल ने विक्रम के विरुद्ध जयसिंह का साथ दिया होगा।

था ।[१] अत: यह संभव है कि विक्रम को जयसिंह को पराजित करने में कठिनाई हुई हो ।

बिल्हण ने जयसिंह के विद्रोह कार्य को नीति मार्ग के विरुद्ध कहा है । इसके विपरीत विक्रम को पहिले जयसिंह के विद्रोह की घटना का विश्वास न हुआ, फिर तरह तरह से उसे समझाना चाहा पर वह अपने निश्चय से नहीं हटा ।[२] यह वर्णन विक्रम के चरित्र को ऊंचा उठाने के लिए किया गया प्रतीत होता है ।

सोलहवें सर्ग में शरद् की परिसमाप्ति पर उपस्थित हुई हेमन्त ऋतु का वर्णन है ।

'तत्पश्चात् कल्याणपुर में वापस आकर विक्रम ने याचकों को दान दिया । चालुक्य साम्राज्य की प्रजा युद्धों के समाप्त हो जाने से उत्पन्न रामराज्य की भांति सुख शान्ति का अनुभव करने लगी ।

क्रम से उसके वंश मर्यादा के पालक आत्मानुरूप पुत्र हुए ।' बिल्हण ने पुत्रों के सम्बन्ध में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है, परन्तु अभिलेखों में उसके मल्लिकार्जुन, जयकर्ण, सोमेश्वर तृतीय और तैलप तृतीय आदि पुत्रों का उल्लेख है ।[३]

'विक्रम ने भगवान् कमला-विलासिन् (विष्णु) का विशाल मन्दिर बनवाया । जिसका शिखर रत्नजटित सुवर्ण कुम्भों से मंडित था और नर्तन करती हुई पुत्तलिकाओं से सुशोभित था । उसके सामने विस्तीर्ण सरोवर भी बनवाया । वहीं पर ब्रह्मपुरियों से आवृत नगर बसाया, जो अपने प्रासादों से वैभव-

---

१. विक्रमां०,७।२, सर्ग १०,११,१२,१३

२. वही, १४।४,१४-२२

३. विक्रमां० १७।१—६ एपी०इंडिका २८,३३ और वही, पृ० ३२ टि० ४,६

पूर्ण था ।[१] विक्रम प्रत्येक पर्व पर (तुलादानादि) षोडश, दान किया करता था[२]।" अनेक अभिलेख का निर्माण करने, ब्राह्मणों का निवास बनवाने और उसके दान-कृत्यों का समर्थन करते हैं ।[३]

चोल युद्ध—अन्त में चोल युद्ध का वर्णन निम्नांकित है —

" चिर काल से शत्रुओं के अभाव से दु:खी युद्ध के लिए उत्पन्न हुई खुजलाहट वाला वह विक्रम, " चोलराज बल के घमंड में चूर है" यह सुनकर युद्ध के लोभ में पुन: कांची पर आक्रमण कर दिया । घोर युद्ध हुआ । चोलराज पलायित हो गया और कुन्तलाधिपति चोल-लक्ष्मी को लेकर कल्याणपुर लौट आया ।"[४]

निष्कर्ष यह है कि चोलराज भाग गया और विक्रम लूट मार करके लौट आया ।

श्री नीलकण्ठ शास्त्री इस विवरण को कोरा काव्य मानते हैं ।[५] परन्तु अभिलेखों से ज्ञात होता है कि विक्रम कुलोत्तुंग के विरुद्ध निरन्तर सचेष्ट रहा । ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रम ने चोल प्रदेश पर आक्रमण अवश्य किया

---

१. विक्रमा०, १७।१५—३५

विक्रमपुर नामक नगर (विजापुर जिले में अरसीबीडि) पूर्ववर्ती अभिलेखों में उल्लिखित है —१०५३ ई० के अभिलेख में अक्कादेवी, जो किसुकद ७० में शासन कर रही थी, ने ४२ पंडितों को भूमिदान दिया था (बाम्बे कर्णा० इस्क्रि० १,१ सं० ८८) अत: ऐसा प्रतीत होता है कि संभवत: उसने इसी विक्रमपुर को " कमलाविलासिन" के मन्दिर, विशाल प्रासादों और ब्रह्मपुरियों (ब्राह्मण बस्तियों) के द्वारा विस्तीर्ण करके उसका नवनिर्माण कियाथा— (इण्डि०एन्टी०,जि०५,पृ० ३२३) सर डब्ल्यू इलियट का कथन है कि एक विस्तीर्ण सरोवर तथा अन्य वस्तुएं इस नगर के विगत वैभव को कहती हैं ।)

—ज०रा०ए०सो०,जि० ४,पृ-१५

२. विक्रमा० १७।३६—४२

३. एपी०इं०, १२,१५४, और अ०हि०ड०पृ० २६७

४. विक्रमा०,१७।४३-६८

५. दी चोलज, पृ० ३०६,१९५५

था । विक्रमांकदेव को १०८४ ई० के अभिलेख में शत्रु-चोल युद्ध-क्षेत्र में नहीं उपस्थित हुआ ।"[१] यह शिकायत है । शास्त्री जी का विचार है कि वस्तुत: दक्षिण के पूर्व - अधिकृत प्रदेशों के मामले में व्यस्त कुलोत्तुंग का ध्यान उत्तर की ओर आकर्षित करने के लिए ही विक्रम ने वेंगि और उसके सामन्त राज्यों पर आक्रमण कर दिया था, परन्तु उसका कोई फल नहीं निकला ।[२]

इसी बीच "कर्णाट और चोल नरेशों ने सिंहल राज विजयबाहु के पास उपहारों के साथ दूत भेजे । उत्तर में विजयबाहु ने भी पहिले कर्णाट को फिर चोलराज को दूत भेजे । परन्तु चोलराज ने सिंहल दूतों का नाक कान काट कर उन्हें अपमानित किया । विजयबाहु ने अपने दो दण्डनायकों को चोलों पर आक्रमण करने के लिए भेजा । इसी समय वेलक्कार टुकड़ियों ने तीसवें वर्ष (१०८८ ई०) में विद्रोह कर दिया । जिनका पूर्ण दमन विजयबाहु ने किया । पैंतालीसवें वर्ष (११०३ ई०) में विजयबाहु ने समुद्र तट पर प्रतीक्षा की, पर चोलराज के न आने से वापस लौट गया ।[३] "

इस विवरण से ज्ञात होता है कि अपने राज्य के दक्षिणी प्रदेशों, प्रमुखत: सिंहल की राजनीति में कुलोत्तुंग व्यस्त था और सिंहल नरेश विजयबाहु के साथ विक्रम के मित्रतापूर्ण सम्बन्ध थे । अत: १०४८ ई० के पूर्व विक्रम ने वेंगि और उसके अन्य सामन्त राज्यों पर आक्रमण कर दिया होगा और लूटमार की होगी । फलत: कुलोत्तुंग का ध्यान सिंहल को छोड़कर अपने राज्य की रक्षा की ओर गया होगा । यही कारण प्रतीत होता है, जो वह विजयबाहु के ललकारने पर भी,११०३ ई० में उसके विरुद्ध युद्ध क्षेत्र में नहीं उतरा । बिल्हण विक्रम का चरित समाप्त करने जा रहा था, तभी सम्भवत: यह युद्ध हुआ और उसने विक्रम की नगरी और निर्माण कार्य के विवरण के प्रसंग को छोड़ कर,

---

१. ए०इ०, १५ पृ० १०१-१०३

२. दी चोल्ज़, पृ० ३२८, १६५५

३. महावंस चूलवंस १, पृ० २१६—१८
दी चोल्ज़, ३१४—३१६

प्रसंगेतर युद्ध वर्णन कर डाला । यह युद्ध वर्णन वर्णन-क्रम से जयसिंह के विद्रोह (१०८२) के बाद वर्णित होने से १०८२ ई० और १०८४ ई० के बीच किसी समय हुआ होगा । अत: इस युद्ध की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है ।

निष्कर्ष —

विक्रमांकदेवचरित के समस्त ऐतिहासिक तथ्यों के सम्यक् विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि बिल्हण ने यथाशक्य उनका सत्य निरूपण किया है । बिल्हण अपने समय की मान्यताओं से बाहर नहीं है, अत: उसने भी चरित, काव्यों की समस्त विशेषताओं को सुरक्षित रखा है । इस काव्य का नायक विक्रमांकदेव सद्वंश में उत्पन्न क्षत्रिय है और उसमें धीरोदात्त नायक के सभी गुण अपने कृत्यों का बखान न करना, क्षमाशील, महान् योद्धा, आपद्काल में भी धैर्यवान् मनोभावों को अव्यक्त रखने वाला और दृढ़वती है ।[१] वस्तुत: वह मानव है कमियां तो उसमें भी रही ही होंगी । सांसारिक व्यक्तियों की तरह मानअपमान और साथियों के भड़कावे से क्षुब्ध होता होगा । भाइयों के साथ युद्ध के यही कारण रहे होंगे । कल्हण ने लिखा है "पशुवत् विचार शून्य एवं मूर्ख नृप धूर्त (मिथ्या-वादी और स्वार्थी) लोगों के कथनानुसार विद्वान् तथा वाग्मी व्यक्ति को यह सोच कर पास न रख कर बाहर भेज देते हैं कि यह दूत-कार्य के लिए उपयुक्त है । बन्धु वियोग के भय से बुद्धिमान मंत्री का परित्याग कर देते हैं ।" यह चतुर मंत्री राज्य अपहृत कर लेगा" यह सोच कर उसे दूर कर देते हैं । ऐसे नृप शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ।"[२]

---

१. अविकत्थन: क्षमावानतिगम्भीरो महासत्व: ।
   स्थेयान्निगूढमानोधीरोदात्तो दृढव्रत: कथित: ।। —साहित्यदर्पण,३।३२
   —मोती०, १६५६ ई० शालिग्राम शास्त्री ।

२. दूत्यार्होऽयमिति प्रहाय निकटाद्देशान्तरं वाग्मिनं
   सूरिं बन्धुवियोगकृन्ननुवचोऽमुष्येति संत्यज्य च ।
   शूरो राज्यमसौ हरेदिति तथा हित्वा विचारोज्झितो
   धूर्तप्रेरणयाबुधो नृपपशुर्नायाति नाशं चिरात् ।। —७।६६८ और आगे । राजत०

प्राचीन भारतीय परिवार प्रणाली में ज्येष्ठ पुत्र ही, अव्यवस्था की दशा को छोड़कर, उत्तराधिकारी नियुक्त होता था ।[१] बाण के अनुसार अग्रज के रहते अनुज कभी उत्तराधिकारी नहीं हो सकता ।[२] विक्रमांकदेवचरित में भी इसी आदर्श का चित्रण है । विक्रमांकदेव पिता के द्वारा युवराज पद प्राप्त होने पर कहता है कि आपको उपदेश देना मुझे शोभा नहीं देता फिर भी कहता हूं — "आपका मेरे प्रति अधिक पक्षपात है जो (आपकी) विचार शक्ति को कुंठित कर रहा है । ज्येष्ठ पुत्र के रहते मेरा युवराजत्व का अधिकार नहीं है । यदि चालुक्यवंश में भी अनाचार होने लगा तो इससे बड़ा अनर्थ क्या हो सकता है ?" "रामके पिता ने अपने राज्य में " क्रम का उल्लंघन करके जो भरत का अभिषेक किया, उससे उत्पन्न "स्त्री के वशीभूत रहने की उनकी अपकीर्ति आज भी दिशाओं में व्याप्त है" ।[३] इससे स्पष्ट है कि बिल्हण की दृष्टि में किसी भी स्थिति में अग्रज को राज्यच्युत करके साम्राज्य को हस्तगत कर लेने का कार्य सराह्य नहीं है । अतः बिल्हण ने दोनों भाइयों के परस्पर युद्ध और उनके परिणाम के विवरण को तर्क-सम्मत ढंग से उपस्थित किया है :—

विक्रमादित्य को उसके जन्म के पूर्व ही उसे शिव की विशेष कृपा से प्राप्त और महाप्रतापी कहा गया है[४]।

इस प्रकार उत्तराधिकार के लिए सबसे योग्य होते हुए भी विक्रमांकदेव ने पिता से युवराज बनने के अनुरोध को, (पितृ भक्त होते हुए भी) न्याय

---

१. रामायण २।११०,३५, महाभारत १।८५,२२ , अर्थशास्त्र २।१०
कृतकल्पतरु (लक्ष्मीधर कृत१११० ई०) राजधर्म काण्ड भूमिका, पृ० २८
आदि दृष्टव्य पाठक, पृ० ७०-७१

२. कादम्बरी, पृ० ३६, बम्बई, १६२१ ई० (परेख द्वारा संपादित)

३. विक्रमा०, ३।३५-३६,४०

४. वही २।७५२-५३

विरुद्ध होने से अस्वीकृत कर दिया ।[१] ऐसे साधु प्रकृति और निर्लोभ विक्रम ने अन्तत: अग्रज से युद्ध और राज्य-भार क्यों ग्रहण किया ?

इस प्रश्न के उत्पन्न हो जाने पर बिल्हण ने शिव की शरण ली । सोमेश्वर द्वितीय को दुष्ट और अयोग्य चित्रित करके चालुक्य वंश की प्रतिष्ठा के लिए और स्वप्न में प्राप्त शिव के आदेश से राज्य भार वहन किया । इस प्रकार विक्रमांकदेव की धीरोदात्तता सुरक्षित रह गई ।

बिल्हण यदि इतिहास को विकृत करना चाहते, तो वे इस प्रसंग को थोड़ा परिवर्तित भी कर सकते थे । वे चालुक्यों के परम्परागत शत्रु चोलराज द्वारा सोमेश्वर द्वितीय का वध करवा कर विक्रम को निर्विरोध राज्य का उत्तराधिकारी बना देते । इस कल्पना का सूत्र `हर्षचरित (षष्ठ उच्छ्वास) के गौडाधिप के द्वारा राज्यवर्धन के वध से मिल सकता था । सोमेश्वर ने `विक्रमांकाभ्युदय` में इस प्रसंग की चर्चा ही नहीं की और योग्यतम पुत्र विक्रम को युवराज घोषित कर दिया ।[२]

विक्रमांकदेव चरित में अङ्गीरस वीर है, शेषरस अङ्गभूत हैं । इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, वन, पर्वत, मृगया, ऋतुवर्णन आदि का विस्तार के साथ प्रसंगानुकूल वर्णन हुआ है, जो महाकाव्य के आवश्यक वर्ण्य विषय माने जाते थे ।` शेष विवरण अन्य प्रमाणों से समर्थित है ।

आत्म वृत्त के प्रसंग में बिल्हण ने काश्मीर के प्राचीन राजाओं का संक्षिप्त वर्णन किया है, जो राजतरंगिणी से पूर्णत: समर्थित है । इन नरेशों के सम्बन्ध में बिल्हण ने उनकी विजयों, किये गये कार्यों और उनके गुणों का संक्षिप्त परिचय दिया है । इससे स्पष्ट है कि मध्यकालीन विचार-धाराओं के आलोक में विक्रमांकदेवचरित पूर्ण ऐतिहासिक काव्य सिद्ध होता है। अत: प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री का विचार सर्वथा अग्राह्य है , जहाँ वे कहते

---

१. विक्रमां० ३।३५-४० और ४।५३-५४

२. विक्रमांकाभ्युदय, पृ० ५४

हैं कि मैंने बिल्हण के विवरणों को, जो अन्य प्रमाणों से स्पष्टत: समर्थित नहीं हैं, ऐतिहासिक नहीं माना है ।[१]

इसके अतिरिक्त बिल्हण ने वैदर्भी शैली का प्रयोग किया है, जिसमें श्लेष रूपक आदि अलंकारों से उनके विवरण अस्पष्ट नहीं होने पाये हैं ।

---

१. The principle adopted in this work is not to accept as history any statement of Bilhaṇa which is not clearly corroborated by other evidence -(E.H.D., Vol.V, P-345.)

— अ०हि०डे०,जि० ,पृ० ३४५ टिप्पणी

उत्तरार्ध (सांस्कृतिक)

अध्याय-६

भूगोल

बिल्हण ने समस्त भारत के प्रधान विभाजनों में केवल मध्य देश का उल्लेख किया है।[१] बिल्हण के पूर्ववर्ती काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने मध्य-देश को प्रसिद्ध मानकर उसकी विस्तृत व्याख्या नहीं की है, पर उसकी सीमा का निर्धारण अवश्य कर दिया है। राजशेखर के अनुसार वाराणसी से पूर्व के प्रदेश पूर्वदेश, माहिष्मती से आगे दक्षिणापथ, देवसम (देवास) और उसके आगे पश्चादेश, पृथूदक (पेह्वा तीर्थ, जो थारेसर के पश्चिम १४ मील पर स्थित है) से आगे उत्तरापथ और उनके मध्य में स्थित प्रदेश मध्यदेश के अन्तर्गत आते हैं।[२] चीनियों का पंचभारत भी इसी विभाजन का समर्थन करता है।[३] राजशेखर बिल्हण से एक शतक से भी अधिक पूर्व हुए थे। अत: अधिक संभव है, बिल्हण ने मध्यदेश का उल्लेख राजशेखर के अनुकूल ही किया हो। विक्रमांकदेवचरित के भूगोल के अध्ययन की सुविधा के लिए मैंने भी काव्यमीमांसा में विभाजित शीर्षकों को ही अपनाया है।

(क) उत्तरापथ

कुरुक्षेत्र से उत्तरस्थ प्रदेश इसके अन्तर्गत आते हैं। बिल्हण कश्मीर के मध्य में स्थित खोनमुष का निवासी था। अत: उसकी दृष्टि से उक्त क्षेत्र के

---

१. विक्रमां०, १८।७३

२. काव्यमीमांसा, अ० १७, पृ० २७६—२८२ तक, विक्रमाब्द १९९१, बनारस, द्रष्टव्य, डा० अवधविहारीलाल अवस्थी, प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप लखनऊ, १९६४ ई०

३. एंशेन्ट-ज्याग. कनिंघम पृ-१०

भूगोल का अध्ययन हमें अपने को वहीं स्थित मान कर करने में अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है। इस दृष्टि से पहले कश्मीर फिर उसके चतुर्दिक् स्थित राज्यों की स्थिति निर्धारित करेंगे।

काश्मीर—

बिल्हण ने प्रवरपुर के विवरण के प्रसंग में काश्मीर शब्द (जनपद के रूप में जिसका मुख्यनगर प्रवरपुर है) का नामोल्लेख किया है[१]। संस्कृत में इस घाटी का नाम काश्मीर प्रयुक्त हुआ है, जो 'कश्मीरक' शब्द से निर्मित हुआ है। स्टायन का अनुमान है कि कश्मीर का प्राकृत रूप 'कश्वीर' रहा होगा, जिससे टालेमी (Ptolemy) के कस्पीट या कस्पीरिआ रूपों का उदय हुआ। अतः यह शब्द संस्कृत उत्पत्ति का है।[२] श्री रे का कथन है कि काश्मीरी इसे कशिर् कहते हैं और उनकी भाषा में कोशिर् प्रयुक्त होता है। यह शब्द दरद उत्पत्ति का है क्योंकि भारोपीय भाषा परिवार में 'स्म' का परिवर्तन कभी भी स् या श् के रूप में नहीं होता।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि दरद-उत्पत्ति के इस शब्द 'काश्मीर' यह संस्कृत रूप दे दिया गया, जैसा कि अन्य विदेशी नामों के लिए किया जाता रहा है।[४] कालान्तर में इस शब्द का सम्बन्ध महर्षि 'कश्यप' के साथ जोड़ दिया गया। सती सरस के वृत्त से प्रतीत होता है कि यह घाटी

---

१. विक्रमा० १८।१

२. स्टायन, खण्ड २, पृ० ३८६, १९६१

३. सुनीलचन्द्र रे, अर्ली हि० कल्चर कश्मीर, पृ० २४ और ३०, टि० १३६

४. जैसे अलेक्जेण्डर अलसचण्ड, अलसन्द आदि — इं० हि० क्वा०, जि० १२, पृ० १२१—१३३

यह परिवर्तन पाणिनि के काल तक किया जा चुका था क्यों उसमें काश्मीर शब्द सुरक्षित है — स्टायन, २, पृ० ३६५, इसके अतिरिक्त पर्वत रूपी चहार-दीवारी के कारण दुर्गम यह घाटी भारतीयों के लिए विदेश जैसी ही थी।

पूर्णतः या अंशतः झील में जलमग्न थी जो भूमिगत परिवर्तन होने पर ऊपर उभर आई ।[१]

प्राचीन चीनी विवरणों से ज्ञात होता है कि काश्मीर रत्नजटित हिमाच्छादित पर्वतमाला से आवृत्त था, जिसके दक्षिण में एक घाटी थी, जो द्वार का कार्य करती थी । यह वितस्ता के मैदान और उसकी सहायक नदियों से सिंचित समीपवर्ती घाटियों से युक्त प्रदेश था, जो बारामूल दर्रे के ऊपर था[२]। यह वितस्ता के मैदान और उसकी सहायक नदियों से घिरी हुई यह घाटी कुछ कुछ अण्डाकार है, जो उत्तर पूर्व से दक्षिण-पश्चिम में लगभग ८४ मील और चौड़ाई में २० से २५ मील तक विस्तीर्ण है । इसकी स्थिति ३३° से ३४°, ३५′ उत्तर है और ७४° ८ से ७५° २५′ पूर्व में है । यह चारों ओर से पर्वत शिखरों से आवृत्त है जिनकी ऊंचाई १२००० से १८००० तक है । इसके उत्तर में नंगापर्वत पूर्व में हरमुख, दक्षिण में महादेव ग्वाशब्रारि और अमरनाथ पर्वत शिखर हैं। पीर-पन्त्साल शिखर माला दक्षिण-पश्चिम में, तोषमैदान पहाड़ी उत्तर में और उत्तर पश्चिम में कजिनग पहाड़ी है ।[३]

काश्मीर की यह प्राकृतिक (भौगोलिक) स्थिति अपरिवर्तनीय रही है, परन्तु उसकी राजनीतिक सीमाएं विविध कालों में संकुचित एवं विस्तृत होती रहीं । टालेमी (२ री शती) के समय कस्पीरिया (काश्मीर) दरद देश से लेकर हाइफेसिस (व्यास) पर स्थित कुलिंद से पूर्व तक विस्तीर्ण था , यही नहीं सीमा उसकी विन्ध्य पर्वत तक पहुंच गई थी । ह्वेन्त्सांग के अनुसार तक्षशिला उरशा (हजारा) सिंहपुर (नमक पर्वत) और पाणोत्स तथा राजपुरी

---

१. स्टायन,२, ३८६, नीलमत पुराण तथा अन्य विदेशी स्रोतों में इस अनुश्रुति का उल्लेख है ।

२. वही, पृ० ३५५

३. रे, हि०क०, कश्मीर, पृ० १,२

४. तालैमी, ७,१,पृ० ४२-७, स्टायन, २, पृ० ३५१

काश्मीर के अन्तर्गत थे ।[१] अष्टम शती के मध्य में ललितादित्य ने पूर्व में कान्यकुब्ज तक विजयें कीं और उसके पौत्र जयापीड ने पूर्व में कन्नौज, गौड और नैपाल तक आक्रमण किया ।[२] शंकरवर्मन् (८८३–९०२ ई०) ने दार्वाभिसार और उत्तरी पंजाब का कुछ भाग काश्मीर का अंग बनाया ।[३] बिल्हण के समकालीन अनन्त (१०२८ –१०६३ ई० और १०८१ ई० तक) ने दरद देश, चम्पा , लोहर दार्वाभिसार त्रिगर्त भर्तुल तक काश्मीर का प्रभाव क्षेत्र बढ़ाया और कलश ने राजपुरी, चम्पा,वल्लापुर, लोहर, उरशा, कान्ड, काष्ठवार, कुरुक्षेत्र और स्त्रीराज्य (संभवत: तिब्बत) तक विजयें कीं ।[४] परन्तु बिल्हण द्वारा काश्मीर नामोल्लेख एक निश्चित भौगोलिक इकाई का ही सूचक प्रतीत होता है, क्योंकि पर्वतमालाओं से आवृत्त काश्मीर अपना पृथक् अस्तित्व बनाये हुए है ।

प्रवरपुर –

काश्मीर जनपद का नगरों में प्रमुख नगर प्रवरपुर है । यह नगर अत्यधिक प्राचीन है, जो शंकर के साथ पार्वती के परिणय का साक्षी है ।[५] शंकर पार्वती के विवाह का साक्षी कह कर बिल्हण ने प्रवरपुर की अतिशय प्राचीनता व्यक्त कर दी है । बिल्हण ने प्रवरपुर के विवरण के प्रसंग में अनेक मन्दिरों, मठों स्थानों तथा नदियों का उल्लेख किया है, जिनके द्वारा प्रवरपुर की स्थिति सुस्पष्ट हो जाती है । प्रवरपुर से वितस्ता (झेलम) की लहरें टकराती हैं । (१८।१) । वहां श्रीमद्भट्टारकमठपुर है (१८।११) । उसके शीर्ष पर प्रद्युम्न पर्वत (हरिपर्वत) है (१८।१५) । उसके मध्य में वितस्ता आदि पुण्यनदियाँ (वितस्ता

---

१. सि-यु-कि, बील का अनुवाद, १, पृ० १३६,१४३,१४७ और १६३

२. राज० ४।१३२–१८५,४२० और आगे तथा स्टायन की पाद टिप्पणियां ।

३. वही ५।१३६-१५५

४. विक्रमा०, १८।३३-६३,राज० ७।२१८-२२३,२५६-२५७, ५८८-५९०

५. विक्रमा० १८।१

और सिन्धु)[१] का संगम है, जहां पर हलधर के अग्रहार हैं (१८।१६,२२) वहां विद्यामठ (१८।२१) , सोमगौरीश्वर का मन्दिर (१८।२३) संग्रमराज के मठ से बह्ज सीमा चन्द्रसीमा (चन्द्रपुर) प्रदेश, वितस्तातट पर अनन्त के अग्रहार काष्ठील द्विजों की वस्तियां (१८।२५) सुभटा द्वारा निर्मित गौरीशंकर मंदिर के निकट ऊंचा गञ्जधाम (गोशाला) (१८।२६-४६) प्रवरगिरिजावल्लभ मंदिर (१८।२८) हैं ।

इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों में अनन्त द्वारा निर्मित मठ वितस्ता जल से आवृत्त विजयक्षेत्र में स्थित है (१८।३६) अधिष्ठान[२] (राजधानी) के मध्य सुभटा निर्मित सुभटामठ है ।

बिल्हण द्वारा उल्लिखित समस्त तीर्थ, मन्दिर , मठ, अग्रहार प्रवरपुर में थे, जिनके अवशेष वर्तमान श्रीनगर में उपलब्ध होते हैं । अत: श्रीनगर ही बिल्हण का प्रवरपुर था । इसका समर्थन कल्हण और ह्वेन्त्सांग के उल्लेखों से भी होता है ।

प्रवरसेनपुर या प्रवरपुर की स्थापना छठवीं शती के लगभग कश्मीर नरेश प्रवरसेन द्वितीय ने की थी ।[३] ह्वेन्त्सांग (६३१) ई० का कथन है कि नयी राजधानी (प्रवरपुर) पुराणाधिष्ठान से उत्तर पश्चिम में १० ली अर्थात् २ मील की दूरी पर स्थित थी । वर्तमान पाण्ड्रेथन (पुराणाधिष्ठान) से श्रीनगर इतनी ही दूरी पर स्थित है । इसकेअतिरिक्त वह जयेन्द्र विहार को कश्मीर की

---

१. राज० ५।९७--१००, ७।२१४

२. पहाड़ी दर्रे से अलबेरूनी द्वार (वर्तमान ढंग) होकर अद्दिश्तान , जो कश्मीर की राजधानी थी, पहुंचा था उसका विवरण बिल्कुल यथार्थ है और अद्दिश्तान संस्कृत अधिष्ठान (राजधानी) है , जो श्रीनगर के लिए प्रयुक्त है (स्टायन, जि० २, पृ० ३६२) श्रीनगर बिल्हण का प्रवरपुर था । यहीं पर सुभटा मठ था ।

३. राज० ३।३३६-३६०

राजधानी के अन्तर्गत बताता है ।[१] कल्हण भी इसका समर्थन करता है कि वृहद् बुद्ध के इस विहार को प्रवरसेन द्वितीय के मामा जयेन्द्र ने प्रवरपुर में बनवाया था ।[२] बिल्हण और कल्हण दोनों ही प्रवरपुर को दो पुण्य नदियों वितस्ता और सिन्धु के संगम पर स्थित बताते हैं,[२८] जो वर्तमान श्रीनगर की स्थिति को ही लक्ष्य करते हैं ।

बाहुस्थल—

लोहर नरेश क्षितिपति की विजयों में बिल्हण ने `बाहुस्थल` प्रदेश का उल्लेख किया है ।[३] कल्हण ने भी एक स्थल पर `बाहुस्थल` नामक प्रदेश का राजा `शूर` को बताया है ।[४] स्टायन का कथन है कि बाहुस्थल के सम्बन्ध में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है और इस प्रदेश का केवल यहीं पर उल्लेख हुआ है ।[५] काश्मीर में ११०१ ई० में द्वितीय लोहर राजवंश की संस्थापना हुई । उच्चल के पश्चात् उसका भाई सुस्सल राजा हुआ । १०२८ ई० में सुस्सल के बध के पश्चात् उसके पुत्र जयसिंह ने शासन संभाला । जयसिंह के शासन काल में लोहर में विद्रोह हुआ ।[६] राजा ने रिल्हण को विद्रोह के दमनार्थ भेजा । जब राजा की सेना चारों ओर फैल गई, तब उसने अट्टालिका पर अपना शिविर बना कर शत्रु मार्ग अवरुद्ध कर दिया । किले (लोहर दुर्ग) के पास के ग्राम फुल्लपुर में लुल्ल आदि योद्धाओं ने एकत्र होकर शत्रु को भयभीत किया । बहुस्थल प्रदेश के अधिराज शूर जिस के साथ सुस्सल ने (अपनी रानी) लोठण की पुत्री पद्मलेखा का विवाह किया था, सहायतार्थ पहुंचा और शत्रुसेना पर प्रतिक्षण

---

१. बील, लाइफ आफ ह्वेनत्सांग, पृ० ६६

२. राज० ३।३५५ २८- विक्रमां० -१८।२६,२२, राज० - ३।३५८

३. यस्य क्रीडाक्वलककरोद्राजपुर्याः प्रताप
बाहुर्बाहुस्थलकमलिनीराजहंसाम्बुवाह: ।। १८।४६

४. सुस्सलक्ष्मापतिर्बद्धे लोठने तत्सुतामदात् ।
यस्मै प्राक्पद्मलेखाख्यां बहुस्थलधराभुजे ।। राज० ८।१८४४

५. स्टायन, जि० २, पृ० १४३, टि० १८४४

६. राज०, ८।१ , १८३५

आक्रमण करने लगा ।[१] इस विवरण से प्रतीत होता है कि बहुस्थल लोहर के निकट रहा होगा । काश्मीर के भूगोल में पीरपन्तसाल की ओर इन्त्स के पश्चिम में बीरु परगना अवस्थित है । इसका प्राचीन नाम बहुरूप है । बहु-रूप नाम उसी नाम के झरने की वहाँ स्थिति के कारण है ।[२] इस झरने की तीर्थ रूप में प्रतिष्ठा थी ।[३] लोहर प्रान्त के निकट स्थित होने तथा नाम साम्य से यह प्रतीत होता है कि यही बहुस्थल या बाहुस्थल प्रदेश रहा होगा और बहुरूप के निकटवर्ती स्थल के लिए (बहुरूप स्थल) प्रयुक्त संक्षिप्त रूप रहा होगा ।

चन्द्रसीमा प्रदेश-

बिल्हण के अनुसार प्रवरपुर में संग्राम मठ चन्द्रसीमा प्रदेश की सीमा पर स्थित था ।[४] अनुश्रुति साक्ष्य से प्रतीत होता है कि महापद्मनाग के अनुरोध पर महाराज विश्वगश्व ने चन्द्रपुर से दो योजन की दूरी पर विश्वगश्वपुर बसाया और नागों के निवास हेतु चन्द्रपुर को झील के रूप में परिवर्तित कर दिया , जिसका नाम महापद्मसरस पड़ा ।[५] वर्तमान वोलुर झील उसी का स्थानापन्न है ।[६] झील का तटवर्ती प्रदेश मनोहारी है । इसीलिए बिल्हण ने उसे नेत्रों के लिए सुधावर्षण करने वाला कहा है ।[७] उस झील की सीमा या तट पर

---

१. राज०, ८।१८३६-१८४५

२. स्टायन, २, पृ० ४७६

३. नीलमत ६४८,११८०, १३४१ आदि, जोनराज-२८६,८४० और श्रीवर २।१६ ३।१५६,४।६२० में भी इस झरने का उल्लेख है । अबुल फजल ने उसे बिरुआ कहा है । जिसका जल कुष्ट रोग के निवारण में प्रयुक्त होता था ।
—आयने अकबरी२, पृ० ३६३

४. विक्रमां १८।२४

५. नीलमतपुराण ६७६-१००८, ब्यूलर रिपोर्ट, पृ० १०

६. स्टायन, जि० २, पृ० ४२३-२४

७. विक्रमां० १८।२४

स्थित प्रदेश ही बिल्हण का चन्द्रसीमा प्रदेश रहा होगा ।

चम्पा—

बिल्हण ने कश्मीर के दक्षिण पूर्वस्थ प्रदेशों में चम्पा का उल्लेख किया है । शक और दरद नरेश का दर्प दलन करने के पश्चात् राजा अनन्त ने चम्पा को जीता था ।[१] कनिंघम के अनुसार चम्पा वर्तमान पर्वतीय राज्य चम्बा था, जो कांगड़ा और किश्तवर (काष्ठवाट) के मध्य में अवस्थित है ।[२]

उसने कश्मीर के दक्षिण-पश्चिम में स्थित प्रदेशों में लोहर और दार्वाभिसार (राजपुरी) राज्य का उल्लेख किया है, जिन्हें अनन्त ने जीता था ।[३]

लोहर —

बिल्हण ने लोहर प्रदेश का शासक , क्षितिपति को कहा है ।[४] क्षितिपति के राज्य में, जो एक दुर्ग था, अनन्त का आदेश मान्य था ।[५] स्टायन ने इस लोहर प्रदेश की समता वर्तमान लोहरिन् पर्वतीय राज्य के साथ स्थापित की है ।[६] तोषमैदान दर्रे से होकर जाने वाला मार्ग प्रवरपुर से लोहर के लिए सर्वाधिक सीधा मार्ग है ।

दार्वाभिसार और राजपुरी —

भौगोलिक दृष्टि से दार्वाभिसार वितस्ता और चन्द्रभागा (झेलम और चिनाव) नदियों के मध्य में स्थित था जिसमें निचली पहाड़ियां आती थीं ।[७]

---

१. विक्रमा० १८।३८
२. एन्शैन्ट ज्योग्रफी, पृ० ११६
३. विक्रमा, १८।३३,३८
४. वही, १८।४७-६७
५. वही १८।३८-६७
६. स्टायन, जि० २, पृ० २६४,२९८,३६६,४३३
७. वही, जि० १, पृ० ३२, टि० १८० और विल्सन एसैज, पृ० ११६

और लोहर प्रदेश की दक्षिण पश्चिम सीमा उससे सटी हुई थी । अनन्त का दार्वाभिसार पर अधिकार कहा गया है और उसके अधीनस्थ लोहर नरेश क्षितिपति को राजपुरी का जेता कहा गया है ।[1] तोषमैदान दर्रे से लोहर होता हुआ राजपुरी जाना सुविधाजनक था ।[2] राजपुरी की सीमा लोहर प्रदेश से मिली हुई है । यह पीर पन्त्साल पर्वत माला के मध्य भाग से दक्षिण में स्थित पर्वतीय राज्य राजौरी है ,[3] और तोही तथा उसकी सहायक नदियों से सिंचित भू भाग है । इस राज्य की स्थिति से स्पष्ट है कि यह दार्वाभिसार भूखण्ड का एक भाग था ।

दरदों का राज्य –

अनन्त ने शक तथा दरद नृप का दर्प दलन करके कृपाण/जन्हु कन्या गंगा जो किशन गंगा ही रही होगी के जल से धाया था ।[4] शर्दि (शारदातीर्थ) से आगे किशनगंगा नदी निर्जन और संकीर्ण घाटी में होकर बहती है । इस संकीर्ण घाटी के दूसरे ओर से दरदों का राज्य प्रारम्भ होता है । ऊपरी किशन गंगा और उसकी सहायक नदियों पर दरद जाति के निवास करने के कारण यह छोटा सा राज्य दरदेश बन गया था , जिसका प्रधान नगर दरत्पुरी वर्तमान गुरेज़ था और जिसकी ओर विजयमल्ल ने लहर के मार्ग से प्रस्थान किया था ।[5]

शक राज्य–

कल्हण द्वारा उल्लिखित दरद नरेश अचलमंगल के साथ के सप्त म्लेच्छ नरेशों ने---

१. विक्रमा० १८।३८,४६

२. हर्ष ने लोहर होकर ही राजपुरी पर आक्रमण किया था ।
राज० ७।६३६ आगे

३. एन्शेन्ट ज्याग , कनिंघम, पृ० १०८-१०६

४. विक्रमा० १८।३३

५. स्टायन, जि० २, पृ० ४३५,राज० ८।६११

में शक [१] नरेश भी रहा होगा, जिसे दरद राज्य के समीप होना चाहिए। शक या सीथियन लोग यू-ची यों के दबाव के कारण २ री शती के मध्य में भारत आये और पेशावर के मैदान में अपने निवास बना लिये। कालान्तर में शकों ने कश्मीर के कुछ भागों में भी अपने निवास की व्यवस्था की होगी। कश्मीर के पड़ोसी प्रदेश बल्तिस्तान के निवासी बल्तिस की उत्पत्ति शक जाति से मानी जाती है। अत: रे महोदय का अनुमान है कि बल्तिस्तान (स्कार्दो और लद्दाख) से शकों ने कश्मीर में प्रवेश किया होगा। [२] शकों के प्रसरण के इतिहास से स्पष्ट है कि ये लोग अनन्त के राज्यत्वकाल (१०२८ ई० से १०६३ ,१०८० ई०) तक बल्तिस्तान में आ गये थे और अनन्त ने उनके राजा को परास्त किया था। बल्तिस्तान दरददेश (चित्राल, यासीन, गिलगित तथा कश्मीर की सीमा तक का भू भाग) के पड़ोस में स्थित है।

अलकापुरी—

यह पुराणों की कुबेर नगरी है। बिल्हण उसके द्वार पर क्रौंच पर्वत की स्थिति बताता है। [३] क्रौंच पर्वत हिमवत् प्रदेश में स्थित पुराणों के क्रौंचशैलवन के निकटस्थ कोई पर्वत शिखर था। [४] अत: अलकापुरी हिमालय पर ही कहीं स्थित रही होगी।

त्रिदशनगरी (अमरावती)

यह पौराणिक नगरी है और बिल्हण के अनुसार मेरु पर्वत (पामीर) [५]

---

१. राज० ७।१६६-१७६

२. अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ कश्मीर, सुनील चन्द रे, पृ० २१, १९५७ इ०

३. विक्रमा०, १८।३५

४. अर्ली, ,पृ० ५८

५. वही, पृ० ६१

पर स्थित थी ।

बालकाम्बुधि और स्त्री राज्य

बिल्हण के अनुसार कलश कैलाश पर्वत से लौट कर मानसरोवर आया और बिल्हण के अनुसार वहाँ से हैम कमलों को लाकर गंगा को अर्पित किया । इसके अतिरिक्त जयापीड की भाँति बालुकार्णव लाँघ कर स्त्रीराज्य को जीता[१]। इस विवरण से स्पष्ट है कि स्त्री राज्य तिब्बत में रहा होगा । इस प्रसंग में ~~बिल्हण जयापीड की~~ बिल्हण जयापीड की स्त्रीराज्य की विजय का स्मरण करते हैं । जयापीड ने पूर्वदेश के नरेश भीमसेन, नैपाल नरेश अरमुडि को परास्त करके उत्सव मनाया । दिग्विजय के पश्चात् उसने विशाल स्त्रीराज्य पर आक्रमण किया ।[२] परन्तु इस विवरण से स्त्रीराज्य कीस्थिति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता । इस सम्बन्ध में ललितादित्य की दिग्विजय यात्रा दृष्टव्य है । ललितादित्य की विजयों का क्रम इस प्रकार वर्णित है — कान्यकुब्ज कलिंग, कर्णाट, कोंकण , द्वारका अवन्ति, काम्बोज, तुःखार, भौट्ट, दरद, प्राग्ज्योतिष और फिर बालुकाम्बुधि को पार कर स्त्री राज्य जीता । तत्पश्चात् उत्तरकुरु मिला ।[३] प्राग्ज्योतिष पुराणों में कामरूप (आसाम) की राजधानी कही गयी है जिसका संस्थापक विष्णु पुत्र नरक कहा जाता है ।[४] विवरण क्रम से प्रतीत होता है कि कल्हण ने ललितादित्य की उत्तर विजय में कम्बोज से उत्तर कुरु तक के प्रदेशों को परिगणित किया है । स्टायन के अनुसार उत्तर कुरु और स्त्रीराज्य कल्पित नाम हैं ।[५] बालकाम्बुधि निश्चित रूप से उत्तर में स्थित था और

---

१. विक्रमा० १८।५३—५७

२. राज० ४।५१६—५८७ चित्रं जितवतस्तस्य स्त्रीराज्य मण्डलं महत् ।
इन्द्रियग्रामविजयं वह्वमन्यन्त भूभुजः ।।४।५८७

३. वही ४।१३२—७३

४. विष्णुपुराण ५, पृ० ८८, स्टायन, जि० १, पृ० ६६ , टि० १४७

५. स्टायन, १, पृ० १३७, टि० १७१—१७५

ऐसा प्रतीत होता है कि यह पूर्वी तुर्किस्तान और तिव्बत का मरुस्थल रहा होगा।[१] बिल्हण और कल्हण दोनों ही एक मत हैं कि स्त्रीराज्य बालुकाम्बुधि को पार करने के पश्चात् मिला था और असंदिग्ध है कि उत्तर में अवस्थित था। स्त्रीराज्य विषयक उल्लेखों से उसकी स्थिति स्पष्ट है।

तिव्बत में स्त्री राज्य की स्थिति के अनेक प्रमाण हैं। युवन-च्वांग ने पो-लो-हि-मो-प-लो (ब्रह्मपुर) देश का उल्लेख किया है, जिसे वह पूर्वी स्त्री-राज्य कहता है और जिसका विस्तार उसने पूर्वी तिव्वत तक बताया है ।[२] बृहत्संहिता में स्त्रीराज्य की गणना पश्चिमोत्तरीय देशों में की गई है।[३] कामसूत्र में स्त्रीराज्य की प्रथाओं का वर्णन उपलब्ध होता है[४]। उसके आधार पर श्री विद्यालंकार ने स्त्रीराज्य को तिव्बत में बताया है — भिक्खु राहुल-सांस्कृत्यायन से ज्ञात हुआ कि तिव्बत की वर्तमान प्रथाओं से कामसूत्र के विवरण में अपूर्व समानता है। तिव्बत की भूमि का ऊसरपन और दरिद्रता वहां ~~बहु~~ बहुपतिक प्रथा को प्रोत्साहन देती है। उन विवाहों मेंपाण्डवों की भांति एक रात में एक ही पुरुष से भोग करने का नियंत्रण नहीं रखते। रात को समूचा परिवार चुटकू (थुलमा या गुदमा संस्कृत कुतप,मुलायम रोयें वाले कम्बल का बना) में, जो थैले की भांति तीन किनारों पर सिला रहता था और चौथाछोर अन्दर प्रवेश करने के लिए खुला रखा जाता है, सोता है। कामसूत्र (२।५पृ० १३०) पर उल्लिखित प्रथा बहुपतिक विवाह की स्वाभाविक प्रतिक्रिया प्रतीत होती है, क्योंकि निर्धन अपरिणीत स्त्रियों के लिए 'अपद्रव्य' के सेवन से आत्मतुष्टि करना ही एक मात्र उपाय था। इसी प्रकार कामसूत्र २।५ पर टीका करते हुए टीकाकार लिखता है —वज्रदन्तदेशात्पश्चिमेन स्त्रीराज्यम्। भूटान को तिव्बती डुगुयुल (विजली का देश) कहते हैं। सप्तकौशिकी के पूरब उनका दार्जे-लिंग - वज्रद्वीप है। यदि वज्रदन्त ही वज्रद्वीप है, और 'पश्चिमेन' का अर्थ उत्तरपश्चिम समझा जाय तो आधुनिक बाहु०प्रदेश स्त्रीराज्य रहा होगा और कामसूत्र २।६

---

१. स्टायन, वही, और राज० ४।१७२,४।२७६ आगे और ४।३०६

२. भारतभूमि और उसके निवासी विद्यालंकार, पृ० ३१६,दू०सं०युवान चांग ,वाटर्स, पृ० ३३०,भारतीय सं० १९६१

३. वही

(शेष अगले पृष्ठ पर)

की टीका मैं स्त्रीराज्यसमीप एवं ग्रामनारीविषय:` अंश मैं उल्लिखित ग्रामनारी विषय इन्ही होगा ।

बहुपतिक प्रथा का प्रचलन कई स्थानों पर मिलता है लोगन महोदय ने मालावार द्वीप के बिकट मिनिकोई द्वीप को स्त्रीराज्य सिद्ध किया है ।[2] दूसरा उल्लेख सिकन्दर की विजयों के प्रसंग मैं आता है । सिकन्दर सम्बन्धी आख्यान यूनान से अबीसीनिया(अफ्रीका) और ईरान तक फैल गये थे । उसके अनुसार सिकन्दर ने समग्र पृथ्वी को जीतने के पश्चात् अन्त मैं आक्रमण किए बिना पत्र भेजकर स्त्रियों के राज्य को जीता था । यह स्त्रीराज्य एशिया माइनर मैं ब्लैक सागर और एजियन सागर के तट पर स्थित था । यूनानी लेखक कर्तियस ने लिखा है कि जबसिकन्दर विजय करता हुआ एशिया मैं मैं आया, तो एमैजेन देश की रानी थलेस्त्रिस् उससे मलिने के लिए आई थी ।`[3] संस्कृत साहित्य मैं स्त्रीराज्य और मूषिक राज्य एक साथ उल्लिखित हैं ।[4] अत: दोनों पास पास रहे होंगे । श्री काशीप्रसाद जायसवाल की धारणा के आधार पर राबर

पिछले पृष्ठ का शेष—

४. कामसूत्र, २।६, पृ० १४०, संवत् १६०० दृष्टव्य, सोशल लाइफ इन एन्शैन्ट इण्डिया, एच०सी० चाकदार, कलकत्ता १६५४ ई० - पृ० ४७-४६

---

१. भारत भूमि और उसके निवासी, दूसरा संस्करण, पृ० ३१६—३१८ ,

२. वही, रायबहादुर हीरालाल , प्रस्तावना,पृ० १७

३. लैम्प्रायर, कृत क्लैसिकल डिक्शनरी, पृ० ४२-४३, सैंचुरी एन्साक्लोपीडिया आफ नैम्स, टाइम्स द्वारा प्रकाशित, पृ० ४८, अग्रवाल, हर्षचरित,एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १६५,१६६ पटना, १६५३ ई०

४. स्त्रीराज्यत्रैराज्य मूषिकजनपदान् कनकाह्वय: भोक्ष्यति ` विष्णुपुराण भारतभूमि,प्रतावना, पृ० १७

बहादुर हीरालाल का अनुमान है यदि चांदा जिले का पश्चिमी भाग मय निकटवर्ती यशवतमाल जिले के स्त्रीराज्य कहलाता रहा हो और पूर्वी भाग मूषिक तो कामसूत्र के टीकाकार का कथन बिल्कुल ठीक जम जाता है, क्योंकि चांदा जिले के बीचो बीच बैरागढ़ है, जिसका प्राचीन नाम वज्र[१] था । इसके सिवाय यवतमाल जिले में अब भी एक जाति पाई जाती है, जिनमें बहुपतिक प्रथा का विशेष प्रचार था । इस जाति का नाम कोलाम है । जिसकी भाषा से जान पड़ता है कि ये लोग द्राविड़ों के पहले से वहां के निवासी हैं । जिनके आसपास द्राविडी गोंड़ बहुत रहते हैं । परन्तु उनकी वैवाहिक रीति कोलामों की रीति से बिल्कुल विपरीत है । गोड़ों में लड़की को पकड़ लाकर विवाह कर लेने की प्रथा थी । कोलामों में लड़की लड़के को पकड़ लाती थी और उससे विवाह करती थी । स्त्रियों का स्वत्व पुरुषों से बड़ा था । इसीलिए वे पुरुषों से बलात्कार कर सकती थीं । ऐसे स्थल में स्त्रियों का राज्य होना बिलकुल स्वाभाविक जान पड़ता है ।[२]

इन विवरण से ज्ञात होता है कि ये भिन्न भिन्न स्त्री राज्यों का उल्लेख करते हैं । प्रस्तुत प्रसंग में कलश ने जिस स्त्री राज्य को जीता था , जैसा हम पहले देख चुके हैं , तिब्बत में स्थित था ।

भर्तुल—

अनन्त की विजयों में क्रमश: चम्पा, लोहर, दार्वाभिसार, त्रिगर्त और भर्तुल का उल्लेख है ।[३] राजतरंगिणी में `वर्तुल` नरेश का उल्लेख आया है ।[४]

---

१. एपी०इं०, १०, पृ० २६

२. भारत भूमि—प्रस्तावना, पृ० १८ और १६

३. विक्रमा०, १८।३८

४. राज० ८।२८७, ८।५३६

स्टायन ने बाटल पहाड़ी राज्य को वर्तुल माना है । उनका कथन है कि शारदा लिपि में व और भ में संदेह के लिए पर्याप्त स्थान रहता है , अत: बिल्हण का भर्तुल और वर्तुल एक ही प्रतीत होते हैं ।[१] बिल्हण ने भर्तुल का उल्लेख दार्वाभिसार और त्रिगर्त के पश्चात् किया, अत: इन्हीं के निकट होने से चिनाव के उत्तरी तट पर, बानहाल (विषलाट) के दक्षिण-पश्चिम में स्थित बातदल प्रदेश ही नि:सन्देह बिल्हण का भर्तुल था । दार्वाभिसार भर्तुल (बातल) के पश्चिम-दक्षिण में और त्रिगर्त उसके दक्षिण में स्थित था । कल्हण ने भी क्रमश:चम्पा , बब्बापुर, वर्तुल, त्रिगर्त, बल्लापुर आदि नरेशों का साथ उल्लेख किया है ।[२]

त्रिगर्त -भर्तुल त्रिगर्त के निकट था ।[३] त्रिगर्त वर्तमान कांगड़ा प्रदेश को कहते थे । यह राज्य जालन्धर तक विस्तीर्ण था । उत्तर में स्थित चम्बा राज्य इसी के अन्तर्गत था ।[४]

सरिताएँ

जह्नुकन्या? (किशन गंगा)

गंगा भारत की पवित्रतम नदियों में परिगणित होती है । अत: सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी नदियों को गंगा कहा जाने लगा । किशनगंगा को माहात्म्य में गंगा कहा गया है ।[५] इस नाम का अन्तिम भाग गंगा ही है । जब नाम गंगा पड़ा, तो उसके साथ गंगा की पुरा कथा भी जुड़ जाना स्वाभाविक थी । अत: बिल्हण के अनुसार अनन्त ने शक और दरद म्लेच्छों का वध करने से अशुद्ध हुई अपनी कृपाण को जन्हु-कन्या अर्थात् किशनगंगा ही जल में धो डाला था ।[६]

---

१. स्टायन, जि० १, टि० ७।१५० पर, पृ० २७६

२. राज० ८।५३ब,५३६

३. विक्रमां०, १८।३८, राज० ८।५३८, ५३६

४. एन्शैन्ट ज्योगरफी, कनिंघम, पृ० ११५

५. स्टायन, जि० २, पृ० २८१

६. विक्रमां० १८।३३

दरद् देश से मिली हुई किशनगंगा ही प्रवाहित होती है । मध्यदेश की गंगा कश्मीर के उत्तर में कहाँ उपलब्ध हो सकती थीं ?

सिन्धु सरिता को भी गंगा कहा गया है[१]। यह नदी भी कश्मीर के उत्तर में द्रास से हरमुख को जाती है और श्रीनगर में वितस्ता से मिलती है । प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इस गंगा का उद्गम प्रसिद्ध गंगा सरोवर (गंगाबल) है जो हरमुख शिखरों के बीच उत्तर-पूर्वी हिमाच्छादित चट्टानों के नीचे स्थित है ।[२]

दोनों सरिताएं दरद और शकों के प्रदेश पर आक्रमण करने पर मिलती हैं और दोनों ही अपनी पवित्रता के लिए स्तुत्य हैं । अत: यह निर्णय करना कठिन है, कि बिल्हण की जन्हुकन्या सिन्धु और किशनगंगा में से कौन थी ? बहुत संभव है यह किशनगंगा ही रही हो , क्योंकि शकों और दरदों को जीत कर जन्हुकन्या के जल में कृपाण धोने से प्रतीत होता है कि हरमुख की ओर से पहले शक राज्य में (स्कार्दो गिलगित) फिर दरद राज्य होकर वह किशनगंगा के तट पर पहुँचा होगा ।

नाक नदी (सिन्धु गंगा) —

परन्तु दूसरे स्थल पर वर्णित है कि कलश ने मानसरोवर से स्वर्ण कमल लाकर शंकर के मुकुट से निकलने वाली नाकनदी (स्वर्गंगा या गंगा) में समर्पित किया था ।[३] यहाँ हरमुकुटत: ` श्लिष्ट है — शंकर के शिर से निकलने वाली या हरमुकुट से निकलने वाली ` । हरमुकुट शिखर शंकर का प्रिय निवास कहा गया है । हर मुकुट (हरमुख) पहाड़ी को कहते हैं, जिससे प्रसिद्ध गंगा सिन्धु, या उत्तर गंगा या गंगावल उद्भूत होती है । भाद्रपद महीने में प्रति वर्ष यहाँ तीर्थयात्री आते हैं । यहाँ मृतकों की सद्गति के लिए उनकी अस्थियाँ प्रवाहित की जाती हैं ।[४] अत: नि:सन्देह कलश ने इसी को

---

१. गंगा सिंधु तु विज्ञेया —
आदि नीलमत २६७, जोनराज, ८६४

२. राज० १।५७ और स्टायन, जि० १, टि० १।३६, पृ० ८

३. विक्रमां०, १८।५५

४. स्टायन, जि० २, पृ० ४०७

कमल अर्पित किये होंगे क्योंकि आज भी यह कश्मीर का सबसे पवित्र तीर्थ माना जाता है ।

मधुमती—

बिल्हण के अनुसार मधुमती नदी शारदा धाम के समीप से प्रवाहित होती थी और गंगा का अनुकरण कर रही थी ।[१] शारदा तीर्थ (वर्तमान शर्दि) के पास किशनगंगा और मधुमती के संगम पर स्थित है ।[२]

कश्मीर के तीर्थ माहात्म्यों से ज्ञात होता है कि पितृगण शाण्डिल्य के पास गये और उन्हें वहां अपने हेतु श्राद्ध करने का आदेश दिया । शाण्डिल्य के महासिन्धु, किशनगंगा, से जल लेकर उनका तर्पण करने पर उसका आधा जल मधु के रूप में परिवर्तित हो गया, जिससे उद्भूत सरिता मधुमती कहलाई ।[२] आज भी किशन गंगा और मधुमती नाम अक्षुण्ण हैं । किशनगंगा और मधुमती के संगम पर स्नान और श्राद्ध करने से तीर्थयात्रियों के समस्त पापों का निवारण होना कहा गया है ।[३] इसीलिए बिल्हण ने मधुमती को गंगा का अनुकरण करने वाली कह कर उसे गंगा के साथ सम्बद्ध कर दिया है ।

वितस्ता—

बिल्हण के अनुसार वितस्ता प्रवरपुर (श्रीनगर) के पार्श्व से होकर बहती है और प्रवरपुर में इसका संगम है । शंकर से उत्पन्न यह स्वर्गंगा का अनुकरण करती है और शारदा तीर्थ तथा चन्द्रभागा (चेनाव) के मध्य स्थित है ।[४] नीलमत पुराण में सिन्धु को गंगा, वितस्ता को यमुना तथा उसके संगम को प्रयाग कहा गया है ।[५] वर्तमान शादिपुर संगम पर अवस्थित है, अत: प्रयाग उसी को

---

१. विक्रमां०, १८।५

२. स्टायन, जि० २, पृ० २७६,२८६

३. वही, पृ० २८१

४. विक्रमां० १८।१,१६,२२ और ६ और १६।५१-२

५. गंगा सिन्धु तु विज्ञेया वितस्ता यमुना तथा ।
स प्रयागसमो देशस्तयोर्यत्र तु संगम: ।। नीलमत २६७

कहा गया होगा । शादिपुर का प्राचीन नाम शारदापुर रहा होगा । यहां नाम कश्मीर की अधिष्ठात्री देवी शारदा के नाम पर रख लिया गया होगा । संभवत: बिल्हण ने उसी स्थान को लक्ष्य करके शारदा का अधिकार प्रवरपुर पर लिखा है ।[१]

बिल्हण ने वितस्ता की कथात्मक उत्पत्ति का उल्लेख किया है कि यह नीलकण्ठ महादेव से उत्पन्न हुई है । नीलमत[१०८] और हरचरित चिंतामणि (१२।२-३४) में कहा गया है कि कश्मीर के निर्माण के पश्चात् कश्यप के अनुरोध पर शिव ने पार्वती को नदी रूप में नीलनाग के आवास के निकट त्रिशूल के प्रहार करके भूमि पर ला दिया जो पिशाचों के सम्पर्क से उत्पन्न दोष का परिमार्जन करती थीं ।

चन्द्रभागा —

" कैलाश पर्वत की शीतल वायु ने शारदा तीर्थ (कश्मीर के उत्तर) से होकर वितस्ता के शीतल जल का स्पर्श किया, फिर वह वायु पयोष्णी से टकरा कर चन्द्रभागा के ऊपर से प्रवाहित हुई और क्रमश: यमुना, सिद्धसिन्धु होती हुई विक्रमांकदेव के पास (कर्णाट) पहुंची । अन्यत्र कलश नृपतिने पर्वतों को जड़ से उच्छिन्न करने वाली अर्थात् वेगवती चन्द्रभागा और नील रंग वाली सूर्यकन्या यमुना को अपनी सेना से स्थल बना दिया था"[२] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि चन्द्रभागा वितस्ता और यमुना के मध्य प्रवाहित होती थी और वेगवती नदी थी । चन्द्रभागा वर्तमान चेनाव का ही प्राचीन नाम था । वेदों और पुराणों में यह असिक्नी कही गई है और टालेमी इसे सन्दवल कहता है ।[३]

---

१. विक्रमां० १८/५,६, स्टायन ने श्रीनगर में वितस्ता और सिन्धु नदियों के संगम पर विस्तृत टिप्पणी की है , जि० २, पृ० ३२६-३३६ बिल्हण ने १८।१६,२२ में इसी संगम का उल्लेख किया है ।

— १०८- नीलमत २३८ आदि ।

२. विक्रमां० १६।५१-५२,१८।६१,६२

३. रे० हा०हि०ना०ई०, खण्ड १, पृ० ८४, एस०एम०अली, दी ज्योगरफी आफ दी पुराणाज़, पृ० ११४, १९६६ ई०, नयीदिल्ली ।

पयोष्णी--

विक्रमांकदेवचरित में शिशिर ऋतु की शीतल वायु को क्रमश: कैलाश, शारदा-मन्दिर (कश्मीर के उत्तरस्थ), वितस्ता, पयोष्णी, चन्द्रभागा, यमुना, सिद्ध-सिन्धु(गंगा) से होकर कर्णाट तक भ्रमण कराया गया है।[१] प्रस्तुत विवरण में पयोष्णी उत्तर पश्चिम भारत की कोई नदी प्रतीत होती है। वायुपुराण में पयोष्णी विन्ध्य पर्वत की नदियों में एक है,[२] जबकि विष्णु पुराण इसे ऋक्ष पर्वत से उद्भूत मानता है। अली महोदय की धारणा समीचीन है कि यह विरुद्ध वर्णन दोनों पर्वतों के पास पास होने के कारण हो गया है।[३] विद्वानों में पयोष्णी की पहचान में मतभेद है। एक पक्ष इसे गोदावरी की सहायक नदी पैनगंगा समझता है,[४] और दूसरा इसका समीकरण ताप्ती की सहायक नदी पूर्णा के साथ करता है।[५] ऋग्वेद (१०।७५,५) में उल्लिखित हिमालय की नदियों में परुष्णी का उल्लेख है, पर रावी या इरावती का नहीं। इसी-प्रकार अल-बेरूनी की नदियों की तालिका (जो पुराणों पर आधारित है पर उसमें पश्चिम से पूर्वक्रम से उन नदियों का उल्लेख है) निम्नलिखित है -- सिन्धु, बियत्त, चन्द्रह, बियाह, इरावती, शतद्रु, सर्सत्, (सरस्वती), जौन , (यमुना), गंगा , सरयू देविका कुहू, गोमती , धूतपापा, विसाला बाहुदास, कौसिकी, निस्वीरा, गण्डकी, और लोहित।[७] अल्बेरूनी की तालिका में इरा-वती का उल्लेख है, पर परुष्णी का नहीं। परुष्णी और इरावती की

---

१. विक्रमां०, १६।५१-५२

२. वायु ४५।१०२

३. अली,ज्याग, पुराणाज़, पृ० ११२ और मानचित्र , १३

४. ज्याग एन्शैन्ट मिडीवल इंडिया, पृ० ५०, टिप्पणी २

५. वही, पृ० ५०

६. ज्याग्रफिकल डिक्श० आफ एन्शैन्ट एण्ड, मिडीवल इंडिया, नन्दलालडे , पृ० १५६

७. ज्याग, पुराणाज़, पृ० ११४-११५, टिप्पणी

एकता हिमालय से प्रसूत पंजाब की रावी नदी के साथ स्थापित की गई है ।[१]

बिल्हण की पयोष्णी वितस्ता (झेलम) और (चन्द्रभागा (चैनाव) के मध्य थी । नाम साम्य से परुष्णी और पयोष्णी एक ही प्रतीत होती हैं, परन्तु नदियों के क्रम में विरोध उपस्थित हो जाता है । प्रवरपुर (श्रीनगर) से दक्षिण की ओर प्रस्थान करने में वितस्ता, चन्द्रभागा, परुष्णी नदियों को पार करना पड़ता है । अत: या तो पास पास स्थित होने से और अवधानता के कारण चन्द्रभागा और पयोष्णी (परुस्नी) का क्रम उलट गया हो अथवा पयोष्णी कोई अन्य सरिता रही हो, जो वितस्ता, चन्द्रभागा संगम से पूर्व वितस्ता या चन्द्रभागा में मिलती थी ।

सरोवर-

अच्छोद सरोवर-

कलश स्फटिकवत् निर्मल अच्छोद सरोवर पर पहुंचा था ।[२] अगले श्लोक से उत्तर में कैलाश की स्थिति का उल्लेख है ।[३] इससे प्रतीत होता है कि अच्छोद सरोवर कैलाश के समीपस्थ है । पुराणों के अनुसार[४] कैलाश पर्वत के उत्तरपूर्व में चन्द्रप्रभा पर्वत श्रेणी है । इसी चन्द्रप्रभा पर्वतश्रेणी के निकट आच्छोद सरोवर है । बिल्हण ने अच्छोद सरोवर के साथ कादम्बरी के नायक चन्द्रापीड का उल्लेख किया है । कादम्बरी में भी आच्छोद को उत्तर में ही कहा गया है । अच्छोद कैलाश पर्वत के निकट था, जहां भगवान् शिव स्नान के लिए आया करते थे ।[५] चन्द्रापीड ने अच्छोद सरोवर के पश्चिमी तट पर कैलास की तलहटी में चन्द्रप्रभ नामक स्थान (संभवत: चन्द्रप्रभापर्वत श्रेणी) पर शूलपाणि

---

१. वही, पृ० ११४

२. विक्रमा०, १८।५३

३. वही १८।५४

४. वायु अ० ४७ , मत्स्य अ० १२१, अली, पृ० ६५

५. आसन्नकैलासावतीर्णस्य च शतशो भगवत: खण्डपरशोर्मज्जनोन्मज्जनाभिचलित चूडामणिचन्द्रखण्डच्युतेन ...... । -कादम्बरी , पृ० ४७२-३ ,मेरठ, साहित्य भंडार, १९६४ ई०

के सिद्धायतन को देखा था ।[१] यह विवरण भी पौराणिक विवरण के अनुकूल ही है ।

मानसरोवर

कलश धनपतिपुर अलका से उत्तर मानसरोवर पर गया था, फिर बालुकाब्धि लांघ कर उसने तिव्वतस्थ स्त्रीराज्य को जीता था ।[२] अत: मानस तिव्वतस्थ वर्तमान मानसरोवर ही है, जो कैलाश पर्वतश्रेणी के निकट है । व्यूलर[३] का अनुमान है कि यह मानस कश्मीरी मानस (मानसवल) है, जो समीचीन नहीं है ।

कश्मीरी मानस—

शक और दरद विजय के पश्चात् अलकापुरी के द्वार सदृश क्रौंच पर्वत के छिद्र को देखकर सिद्धों से भरे हुए तट प्रदेशवाले तिलांजलियों से युक्त मानसरोवर की तरंगों को अनन्त की रानियों द्वारा धारण किये जाने से अनन्त का मानसरोवर (तिव्बत) तक पहुंचना व्यक्त होता है ।[४] परन्तु यहां मानस से तिब्बतस्थ मानसरोवर अर्थ लेना समीचीन नहीं है । यदि तिव्बत तक अनन्त पहुंचा होता तो अनन्त को बालुकाम्बुधि और स्त्री-राज्य जीतना पड़ता ।[५] बिल्हण या कल्हण उसकी इन महत्वपूर्ण विजयों का उल्लेख अवश्य करते । अत: यह मानसे कश्मीरी मानस प्रतीत होती है, जिसे नीलमत (१३३८) और जोनराज (८६४) मानस सरस कहते हैं । नीलमत (१३३८) में इसे वितस्ता सिन्धु संगम के पश्चात्

---

१. चन्द्रप्रभनाम्नस्तस्यसरस: पश्चिमे तीरे कैलासपादस्य.... शूलपाणि: शून्यं सिद्धायतनमपश्यत्, —वही पृ० ४६४

२. विक्रमा०, १८।५५,५७

३. व्यूलर रिपोर्ट, पृ० ६

४. विक्रमा० १८।३४-३६

५. वही कलश की विजयें १८।५४—५७

कहा गया है, जो वर्तमान मानसवल की स्थिति के अनुरूप है। यह झील सम्बल के निकट आहितुंग पहाड़ी के नीचे स्थित है। इसका प्राचीन नाम और पवित्रता तिब्बतस्थ 'मानस' से ग्रहण कर ली गयी है।[१] यह दो मील लम्बी और कश्मीर की अन्य झीलों की अपेक्षा अधिक गहरी है।

पर्वत -

मेरु—

भयाक्रान्त त्रिदशनगरी के (अमरावती) मेरु शिखर पर आरुढ़ हो जाने के कारण प्रवरपुर गर्व से मस्तक ऊंचा किये हुए है।[२] विष्णुपुराण के अनुसार मेरुपर्वत ८४००० योजन ऊंचा है और तुषारमण्डित रहता है।[३] इसी से त्रिदशनगरी भाग कर इस अगम्य पर्वत पर चली गयी थी। मेरु पौराणिक भूगोल का मेरुदण्ड है। भारतीय और विदेशी सभी विवरण उसे विश्व के मध्य में स्थित बताते हैं।[४] अली ने इसका समीकरण कश्मीर के उत्तरस्थ 'पामीर' के साथ किया है।[५]

कनकाद्रि—

बिल्हण ने सुवर्णमय देवालय से युक्त या कनक भूधर कनकाद्रि के सम्बन्ध में कहा है कि यह पर्वत भाग नहीं जायगा तो दानी विक्रमादित्य उसको खण्ड खण्ड करके याचकों को दे देगा।[६] अमरकोष में मेरु को हेमाद्रि कहा गया है।[७] उसी के निकट स्थित दर्वाज़ पर्वत प्राचीन काल से अपने सुवर्णकोष के लिए प्रसिद्ध रहा है और आज भी कलाइखम्ब के समीपस्थ ताजिकिस्तान में सोने की खानें उपलब्ध होती हैं। अतः यह कनकाद्रि दर्वाज शिखर रहा होगा।[८] अमर-

---

१. स्टायन, जि० २, पृ० ४२२, ब्यूलर रिपोर्ट, पृ० ६

२. विक्रमां, १८।१५

३. विष्णुपुराण, विल्सन का अनुवाद, पृ० १०६-८

४. अली, पृ० ४७

५. वही, पृ० ४७-५६

६. विक्रमां, १७।१३-१४

७. मेरुः सुमेरुर्हेमाद्रीरत्नसानुः सुरालयः। १।५२

८. अली, पृ० ६१

कोषकार ने इसे मेरु पर्याय कहा है ।

मन्दराद्रि—

बिल्हण ने 'क्षीरसागर मन्थन' के पौराणिक आख्यान के उल्लेख में मन्दराद्रि या मन्दराचल पर्वत का उल्लेख किया है ।[१] मत्स्यपुराण (४५-७७) में कुशद्वीप में ककुदमान या मन्दर पर्वत का उल्लेख किया है । इस पर्वत पर भाँति भाँति के खनिज और बहुमूल्य रत्न उपलब्ध होते हैं और इसका रक्षक इन्द्र है । 'मन्द' शब्द का अर्थ जल होता है और ब्रह्मा के सहयोग से जन-कल्याणार्थ जल वृष्टि करने के कारण मन्दर कहलाया । अली का कथन है कि कुशद्वीप के अन्तर्गत ईरान, ईराक और उनका सीमावर्ती तप्त मरुस्थल सम्मिलित रहा होगा ।[२] अत: मन्दराचल हिन्दुकुश के दक्षिण-पश्चिम में स्थित कोई पर्वत रहा होगा ।

कैलाश—

भगवान शंकर की विलास भूमि तुहिनगिरि कैलाश की वायु शारदा-मन्दिर के घण्टानाद को दूर तक प्रसारित करती थी और वितस्ता, पयोष्णी चन्द्रभागा आदि नदियों से होकर बहती है ।[३] इस विवरण से कैलाश पर्वत की स्थिति शारदातीर्थ (कश्मीर के उत्तर में स्थित) के उत्तर में निश्चित होती है । यह पर्वत तुहिन मण्डित रहता है । पुराणों के गंगाअवतार वर्णन से भी कैलाश की स्थिति हिमालय के उत्तरस्थ हेमकूट (वर्तमान कैलाश पर्वत शृंखला) पर निर्धारित होती है ।[४] बिल्हण ने कैलाश पर्वत के उल्लेख के साथ 'रावण द्वारा कैलाशोत्तोलन के आख्यान को भी स्मरण कर लिया है ।[५] वर्तमान

---

१. विक्रमा० ६।११६,१८।७

२. अली, पृ० ४०-४१

३. विक्रमा० १६।५१, १८।५४

४. वायुपुराण अ० ४७ और मत्स्य पुराण अ० १२१

५. विक्रमा० १८।३७

कैलाश शिखर तिब्बतस्थ मानसरोवर से २० मील पर स्थित है ।[१]

प्रालेयभूधर या हिमालय –

बिल्हण ने प्रालेयभूधर और प्रालेयाद्रि हिमालय के पर्यायों का उल्लेख किया है,[२] जो विस्तीर्ण हिमालय पर्वत के लिए ही प्रयुक्त हुआ है ।

क्रौंच पर्वत –

हिमालय प्रदेश के निवासी किन्नर कहे गये हैं । महादेव जी यहाँ किरात वेश में अवतीर्ण हुए थे । हिमवत् प्रदेश के उमावन, शरवन, क्रौंचशैल वन में ये लोग निवास करते थे ।[३] क्रौंचशैल वन के हिमालय प्रदेश में स्थित होने से यह प्रतीत होता है कि हिमालय का कोई शिखर क्रौंच कहलाता था और उसके बन को क्रौंच शैलवन कहा जाता था । बिल्हण ने क्रौंच पर्वत को अलकापुरी (कुबेर नगरी) का द्वार कहा है और भार्गव परशुराम द्वारा क्रौंच पर्वत में छिद्र किये जाने की महाभारतीय कथा की ओर इंगित किया है ।[४] इसके अतिरिक्त बिल्हण ने धनपतिपुर अलका के उत्तर में मानसरोवर की स्थिति बताई है ।[५] अत: अलका और क्रौंचपर्वत की स्थिति हिमालय पर निश्चित होती है ।

प्रद्युम्न पर्वत –

बिल्हण प्रद्युम्न पर्वत को प्रवरपुर का उत्तमांग अर्थात् शीर्षभाग कहता है ।[६] संस्कृत ग्रन्थों में इस पर्वत को अनेक नामों से पुकारा जाता है जैसे, प्रद्युम्नपीठ, प्रद्युम्नगिरि, प्रद्युम्नशिखर आदि पर्यायवाची नाम और सारिकापर्वत[७] ।पण्डितों

---

१. तीर्थाङ्क, पृ० ४०

२. विक्रमा०,१८।७७,६४

३. अली, पृ० ५८

४. विक्रमा० १।७७, १४।३६, १८।३५

५. वही १४।५५

६. यत्प्रद्युम्नक्षितिधरनिभादुत्तमाङ्गं विभर्ति ।। १८।१५

७. राज० ७।१६१६, जोनराज ५८७,८७०,श्रीवर १।६३१,२।८८, महादेवमाहात्म्य २।७ प्राज्यभट्ट कृत राजावली६३८, व्यूलर रि०,पृ० १७ ,स्टायन जि०१,पृ०११३,टि-४६०

का कथन है कि इस पर्वत का वास्तविक नाम होर पर्वत या सारिका था । जिस स्थान से प्रवरसेन ने स्वर्गारोहण किया था उसके निकट के गाँव में इस देवी की उपासना की जाती थी । इस धारणा के समर्थन में कहा जा सकता है कि होर 'सारिका' का सही काश्मीरी रूप है, और संस्कृत में मैना को सारिका कहते हैं जो आज भी कश्मीर में होर ही कही जाती है ।'[१] सारिका माहात्म्य और कथासरित्सागर से ज्ञात होता है कि सारिका के रूप में दुर्गा ने इस पर्वत को वर्तमान रूप दिया और इसका उपयोग वे स्वर्गद्वार को बन्द करने के लिए करती थीं । दूसरे नाम प्रद्युम्न का सम्बन्ध प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध और ऊषा की प्रणय-गाथा के साथ जोड़ा जाता है ।[२] सारिका या दुर्गा के एक स्वरूप की पूजा प्राचीन काल से ही इस पर्वत के उत्तर पश्चिम भाग में की जा रही है । यह स्थान श्रीनगर के मध्यभाग से उत्तर की ओर है और खुडवल से पौने दो मील की दूरी पर है । इसे आजकल हरि पहाड़ी कहा जाता है ।[३]

हरमुकुट पर्वत—

'हरमुकुट से नाकनदी गंगा या सिन्धु के निकलने का उल्लेख विल्हण ने किया है[४]।इसका वर्तमान नाम हरमुख है । यह १७००० फीट ऊँचा है और इसका अधिकांश भाग हिमाच्छादित रहता है । इसे शिव का प्रिय निवास कहा गया है और नन्दि क्षेत्र तीर्थ के साथ सम्बद्ध किया जाता है ।[५] इससे सिन्धु निकलती है जिसे गंगा, उत्तरगंगा और गंगावल कहा जाता है और जो श्रीनगर में वितस्ता के साथ मिलती है । इस प्रकार कश्मीर घाटी के उत्तर में स्थित यह एक विशिष्ट स्थान है ।

---

१. ब्यूलर रिपोर्ट, पृ० १७

२. स्टायन, जि० २, पृ० ४४६ और जि० १, पृ० १०१, २, टि० ३।३३६-३४६

३. वही

४. विक्रमां० १८।५५

५. स्टायन, जि० २, पृ० ४०७

६. नीलमत १०४६ आदि

श्रीमद्भट्टारक मठपुर -

जलवायु - ग्रीष्म ऋतु में भी काश्मीर की जलवायु शीतल रहती है ।[१]

उत्पाद-- अंगूर और केशर कश्मीर की प्रधान उपज हैं ।[२] द्राक्षा ज्येष्ठ आषाढ़ में उत्पन्न होता था ।[३] प्रवरपुर के समीपस्थ खोनमुष ग्राम द्राक्षा उपवनों और केशर की क्यारियों के लिए प्रसिद्ध थे ।[४] तुखार या तुषार देश के अश्व युद्ध के लिए श्रेष्ठ माने जाते हैं । कलचुरिकर्ण और गुजरात नरेश कर्ण की सेनाओं में बिल्हण ने तुखार अश्वों का उल्लेख किया है ।[५]

(ख) पूर्वदेश

वाराणसी से पूर्वस्थ प्रदेश पूर्वदेश के अन्तर्गत आते हैं । बिल्हण ने इस कोटि के प्रदेशों में केवल दो प्रदेशों - गौड और कामरूप का उल्लेख किया है ।[६] काव्यमीमांसा में गौड का उल्लेख न होकर वंग का उल्लेख हुआ है ।[७] इससे प्रतीत होता है कि राजशेखर वंग और गौड़ में भेद नहीं समझते । वंग वर्तमान बंगाल प्रदेश ही था ।[८] डा० दि०च० सरकार के अनुसार वर्तमान पश्चिमी बंगाल गौड़ और पूर्वी बंगाल वंग कहलाता था ।[९] स्कन्दपुराण में गौड देश के अन्तर्गत

---

१. विक्रमां०, १८।३२

२. वही १८।१६, १।२१, १८।१८

३. वही १८।२

४. वही १८।७२ आज भी खुनमोह ग्राम में द्राक्षा और केशर क्षेत्र दर्शनीय हैं ।
-ब्यूलर रिपोर्ट, पृ० ५

५. विक्रमां० १८।६३, ६।११६

६. वही ३।७४

७. काव्य मीमांसा (मधुसूदन टीका युक्त) पृ० २७६, सं० १९९१, बनारस

८. बी०सी०ला० हिस्टारिकल ज्यौग्रफी, पृ० २६७

९. ज्यौगरफी आफ एन्शैन्ट एण्ड मिडीवल इंडिया , सरकार, पृ० ६८-६६, १९६०

१८ लाख ग्राम कहे गये हैं ।[१] परन्तु वंग का उल्लेख न होने से यह गौड देश भी समस्त बंगाल के लिए ही प्रयुक्त प्रतीत होता है । बिल्हण ने गौड और कामरूप विजय का जिस क्रम से उल्लेख किया है उससे प्रतीत होता है कि गौड के आगे कामरूप स्थित था ।

कामरूप —

कामरूप आसाम का प्राचीन नाम है । इसके अन्तर्गत नौ लाख ग्राम थे ।[२] इसे प्राग्ज्योतिष भी कहा गया है ।[३] संभवत: प्राग्ज्योतिषपुर कामरूप की राजधानी थी जिसकी समता वर्तमान गौहाटी से की गई है । षट्पंचाशद्देश विभाग में कामरूप का विस्तार कालेश्वर से श्वेतगिरि और त्रिपुरा से नील पर्वत तक कहा गया है । अत: निश्चित है कि वर्तमान नीलकूल या कामाख्यागिरि और त्रिपुरा कामरूप के अंग थे ।[४]

उत्पाद— बिल्हण ने विक्रमांकदेव को गौड से हाथियों को छीनने वाला कहा है, जो गौड प्रदेश में हाथियों के बाहुल्य को सूचित करता है ।

(ग) पश्चादेश

काव्यमीमांसा में देवसम और उसके पश्चिमी जनपदों की गणना पश्चादेश में की गई है । दलाल महोदय ने देवसम का समीकरण देवास के साथ किया है ।[५] राजशेखर देवसभा (नगरी) और देवसभ पर्वत का उल्लेख पश्चादेश में

---

१. प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, पृ० १२६ (स्कन्दपुराण कुमारिका खंड अध्याय ३६ ।

२. वही, पृ० १२६

३. अभिधान चिन्तामणि में प्राग्ज्योतिषा कामरूपा:, उल्लिखित है और महाभारत सभा पर्व २६।७-६, आश्वमेधिक पर्व ७५।१ में प्राग्ज्योतिषपुर का उल्लेख है ।

४. श्लोक १०, डी०सी०सरकार, ज्याग, एन्शेन्ट एण्ड मिडीवल इंडिया, पृ० ७४ व८६-७

५. काव्यमीमांसा, बड़ौदा, संस्करण, पृ० ६४

करते हैं । देवसभ पर्वत के सम्बन्ध में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है । परन्तु भोपाल और इन्दौर के सड़क मार्ग पर स्थित वर्तमान `देवास` के साथ देवसभा का समीकरण अनुचित नहीं प्रतीत होता ।[१] काव्यमीमांसा (पृ० २७८) से ज्ञात होता है कि माहिष्मती से दक्षिण में दक्षिणापथ था । देवास माहिष्मती के उत्तर पश्चिम में स्थित है । अतः देवसभा की पूर्वी सीमा से पश्चादेश प्रारम्भ होता था ।

इस प्रकार बिल्हण द्वारा उल्लिखित प्रदेशों में मालवा और सौराष्ट्र पश्चादेश के अन्तर्गत आते हैं ।

मालवा –

राजशेखर ने मालवा के कई विभाग--अवन्ति, वैदिश और मालव का उल्लेख किया है ।[२] डा० अवस्थी ने वैदिश को वर्तमान विदिशा (वेत्रवती के तट पर स्थित) माना है ।[३] अवन्ति[४] और मालव[५] प्रायः एक ही देश के लिए प्रयुक्त होते थे । काव्यमीमांसा और नवसाहसांकचरित मालवा की राजधानी उज्जयिनी को बताते हैं[६] पर बिल्हण के अनुसार मालवभर्तृ राजा भोज की राजधानी राधानगरी थी ।[७] परन्तु मालवा की राजधानी के रूप में इसके उल्लेख सम्राट भोज के शासन काल से प्रचुरता के साथ उपलब्ध होने लगते हैं भोज धारेश्वर भी कहा जाता था । परमार अर्जुनवर्मदेव के गुरु मदन कृत पारिजातमंजरी

---

१. देवसभा> देवस > देवास
२. काव्यमीमांसा, बड़ौदा, पृ० ६।३
३. प्राचीनभारत का भौगोलिक स्वरूप, पृ० ८३
४. नवसाहसांकचरित, ६।१२,२२
५. वही ६।४५
६. काव्यमीमांसा ६।३ बड़ौदा, नवसाहसांक १
७. विक्रमा०, १।६१—६४
८. का०इ०इं०, जि० ३, पृ० २३०

में धारा नगरी में चौरासी चौराहों की स्थिति का उल्लेख है[१]। जो उक्त नगरी की उन्नतावस्था का परिचायक है। इन्दौर नगर के दक्षिण पश्चिम में स्थित `धार` ही भोज की धारा नगरी थी। धार के दक्षिण में भोज निर्मित भोजशाला है, जहां भोज ने सरस्वती की प्रतिमा स्थापित की थी। यह प्रतिमा आजकल लंदन के संग्रहालय में सुरक्षित है।

सोमनाथ (सुराष्ट्र)

भोज की राजधानी धारा से होकर बिल्हण ने सौराष्ट्र में स्थित सोमनाथ महादेव के दर्शन किये थे। मार्ग में गुर्जरों के सम्पर्क से उसमें खेद उत्पन्न हो गया था।[२] इस विवरण से स्पष्ट है कि मालवा और गुजरात की सीमा मिली हुई थी जिस प्रकार आज भी है। महाभारत में भी अवन्ति और सुराष्ट्र साथ साथ उल्लिखित हुए हैं।[३] स्कन्दगुप्त के समय में सुराष्ट्र प्रतीच्य का प्रसिद्ध देश था।[४] सौराष्ट्र आज भी अपने प्राचीननाम को धारण किए हुए है और काठियावाड़ में समुद्र तट पर स्थित है।

(घ) दक्षिणापथ

बिल्हण के `दक्षिण दिशा` और `दक्षिणापथ जान्हवी` (तुंगभद्रा) पदों के प्रयोग से प्रतीत होता है कि उन्हें दक्षिणापथ विभाग का ज्ञान था।[५] अन्यत्र उन्होंने `दक्षिणाब्धि` से सीमित भू-भाग का[६] उल्लेख किया है, जो

---

१. `चतुरशीतिचतुष्पथसुरसदनप्रधाने` आदि–एपी०इं०, जि० ८, पृ० १०१

२. विक्रमा० १८।९६–९७

३. महाभारत विराट पर्व १।१३ –सुराष्ट्रवन्तयस्तथा

४. जूनागढ़ लेख श्लोक ११-१३

५. विक्रमा० १।६४, ४।६२

६. वही ४।११७

दक्षिणापथ की दक्षिणी सीमा का निर्धारण करता है। 'काव्यमीमांसा' के अनुसार माहिष्मती से आगे (दक्षिण में) दक्षिणापथ था।[१] इसके अन्तर्गत उन्होंने सिंहल द्वीप तक के समस्त प्रदेशों, पर्वतों और सरिताओं का परिगणन कर लिया है। भरत के नाट्यशास्त्र[२], संस्कृत काव्य[३] और परवर्ती चालुक्य लेखों में[४] भी नर्मदा या विन्ध्य से लेकर सेतुबन्ध रामेश्वरम् तक के भू भाग को दक्षिणापथ कहा गया है। प्रकृति कृत यह सीमा निर्धारण ही बिल्हण के काल तक दक्षिणापथ की स्थिर परिभाषा हो गयी थी। दक्षिणापथ में ७,५०,००० (साढ़े सात लाख) ग्राम कहे गये हैं।[५]

कर्णाट या कुन्तल —

बिल्हण ने चालुक्य नरेशों (कल्याण शाखा) के लिए कुन्तलेन्द्र[६], कुन्तलपति,[७] कर्णाटपृथ्वीपति,[८] कर्णाटेन्दु,[९] विशेषणों का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि कुन्तल और कर्णाट दोनों एक ही थे। कर्णाट की दो प्रसिद्ध राजधानियों कल्याणपुर और विक्रमपुर का उल्लेख है।[१०] अत: कर्णाट कल्याणी के चालुक्यों के साम्राज्य के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

---

१. काव्यमीमांसा, बड़ौदा, पृ० ९३

२. दक्षिणास्य समुद्रस्य तथा विन्ध्यस्य चान्तरे, नाट्यशास्त्र, १४।३९

३. नर्मदात: सेतुबन्धं यावद्धिस्तीर्णमिद्भुतम् ।। अय्यणवंशचरित २।३८, भारद्वाज संपा०, विक्रमांकदेवचरित, जि० २, भू, पृ० ९ पर प्रकाशित ।

४. सेतु नर्मदा मध्यं........ दक्षिणापथम् —याजदानीअ०हि०ड०जि०१,पृ०४

५. जित्वा पंचाशत्सहस्राधिकलक्षस्य सप्तकान् ।
ग्रामान् संस्थापयामास राज्यं स्वं दक्षिणापथे ।। अय्यणवंशचरित, २।३९
भारद्वाज, विक्रमां०, जि० २, भू०पृ० ९

६. विक्रमां० ३।४१,६।४२, ४५,६७,९५१, १०।६,१९,३८,५७,११।६८,१२।२२,७६

७. वही १४।२, १६।४६, १५।१, ४२,५६ में पति, भर्तृ,पार्थिव, चक्रवर्तिन आदि कुन्तल के साथ प्रयुक्त हुए हैं।

८. वही ८।८९

९. वही १८।१०२

१०. वही, सर्ग २० और १७

सोमेश्वर तृतीय ने कर्णाट वर्णन में दक्षिणापथ के विन्ध्य से मलय पर्वत तक सभी पर्वतों और पयोष्णी, गोदावरी, वंजरा, भीमरथी, कृष्णावेन और तुंगभद्रा नदियों को परिगणित किया है[१]। विल्हण ने विक्रमांकदेव और चोलराज की सन्धि तुंगभद्रा के दक्षिण तट पर कराई थी, जो चालुक्य राज्य की दक्षिणी सीमा निर्धारित करता है।[२] अत: ~~कर्णाट में भूमियों का सामूहिक सम्मिलित स्वरूप था~~।[३] अत: इस समय तक कुन्तल और वेंगि (आन्ध्र) कर्णाट के अन्तर्गत थे।[३] विभाजन हो जाने के बाद से कर्णाट कुन्तल को ही कहा गया, जो पश्चिमी चालुक्यों के साम्राज्य के लिए प्रयुक्त होता था। मूलत: कुन्तल नगर के रूप में था (मजूमदार के अनुसार शिमोग जिले में कुबतूर[४]) और कालान्तर में कर्णाट का पर्याय बन गया[५]। कुन्तल या कर्णाट में दक्षिण महाराष्ट्र, उत्तरी कन्नड़ जिले और मैसूर के बेलगाँव तथा धारवाड़ के भूखण्ड सम्मिलित थे।[६]

राजधानियाँ—

कल्याणपुर और विक्रमपुर—विक्रमांकदेवचरित में उल्लिखित है कि आहव-मल्लने राज्यारोहण के पश्चात् कल्याणपुर नामक एक श्रेष्ठ नगर का नये सिरे से निर्माण किया।[७] विद्वानों ने गुल्बर्ग जिले में स्थित बीदर के एक भाग 'कल्याण'

---

१. विक्रमांकाभ्युदय, पृ० १-२, नागर, गायकवाड़, सीरीज़, १५०, बड़ौदा, १९६६

२. विक्रमांक ५।७७-७८, ६।२५ (चोलराज्य से लौटने पर तुंगभद्रा विक्रम के लिए लहरों द्वारा वन्दनमालिका बाँध रही थी।

३. कदम्ब नरेश विष्णुवर्मन् प्रथम के बिरूर दान पत्र में 'वैजयन्ती-तिलक -समग्र-कर्णाट- भू वर्ग' कहा गया है —याजदानी, सम्पा० मजूमदारका लेख अ०हि०द० जि०१, पृ० ४०

४. ज्येष्ठ : कुन्तलराजलक्ष्मीमगृहीत इतरो वेंगिभुवम् —एपी०, इं०, ४, पृ० ८८

५. अ०हि०द०, जि० १, पृ० ४२ (याजदानी, संपा०)

६. सक्सेसर्स आफ दी सातवाहनाज़ सरकार दि० चन्द्र, पृ० २१५, मीराशी, इं०हि०का० जि० २२, पृ० ३०६-१५

७. २।१-२५, कल्याणी के उल्लेख आहवमल्ल के पूर्व से ही उपलब्ध होने लगते हैं —एपी०क०जि० १२, सिरा तालुका ३७, याजदानी, अ०हि०द०, पृ० ३३०, टि३

के साथ प्राचीन कल्याणपुर की एकता स्थापित की है।[1]
विक्रम ने राज्यारोहण (१०७६ ई०) के पश्चात् ब्रह्मपुरी से आवृत्त ~~विक्रमांकदेव~~ ~~ने~~ विक्रमपुर नामक नगर का पुनर्निर्माण कराया था।[2] यह विक्रमांकदेव की उपराजधानी था। बीजापुर जिले में अरसीवीडि (महिषीपथ), जो हुन्गुन्द तालुक में स्थित ऐय्यावोल (आर्यपुर ब्राह्मणों का निवास) या ऐहोल के निकट स्थित है, के साथ विक्रमपुर की पहचान की गई है।[3]

आन्ध्र-वेङ्ग

बिल्हण ने आन्ध्रनारियों का उल्लेख किया है।[4] पूर्वी चालुक्य लेखों में आन्ध्र पूर्वी समुद्र (बंगाल की खाड़ी), कालहस्ति पहाड़ी (नेल्लोर और चित्तूर के मध्य) महेन्द्र पर्वत (गंजाम) और श्रीशैल (कर्नूल) से आवृत्त था[5]। चौदहवीं शती के लेख में आन्ध्रखण्ड-मण्डल को गौतमनदीतट (गोदावरी) से कलिंग की सीमा तक विस्तीर्ण कहा गया है।[6] जगन्नाथपुरी से भ्रमराम्बिका मन्दिर तक विस्तीर्ण प्रदेश को आन्ध्र कहते थे।[7] मजूमदार के अनुसार भ्रमराम्बिकाचीनियों का ब्रह्मगिरि और बस्तर राज्य में स्थित भ्रमरकोट्य-मण्डल रहा होगा।[8] यद्यपि शक्तिसंगम तंत्र (३।७।१४) आन्ध्र को तैलंग से भिन्न बताता

---

१. अ.हि.ड.-जि-१, पृ-६१-२ २ विक्रमां १८।१५-३५
३. अ०हि०ड०, जि० १, पृ० ६१, दृष्टव्य—बाम्बे कर्णाटिक इंस्क्रिप्शन्स, १,१ सं० ८८, १०५३ ई० का अक्कादेवी का अभिलेख, और इ०एन्टी०जि० ५, पृ०३२३
~~२. अहि० विक्रमां० १८।१५-३५~~
~~३. अहि०ड०, पृ० ६१-२~~
४. विक्रमां० ११।८६ —आन्ध्रपुरन्ध्रिनेत्रवसते
५. दी ईस्टर्न चालुक्याज् (डी०सी०गांगुली), पृ० १३७, दृष्टव्य-ए०पी०इं०, जि० ४, पृ० ४३
६. आरभ्य गौतमनदीतटमाकलिङ्गम् —एपी० इं०, जि० ४, पृ० ३५८
७. जगन्नाथदूर्ध्वभागे अर्वाक् श्रीभ्रमराम्बिका।
तावदान्ध्राभिधो देशः .... ।। शक्तिसंगम तंत्र, ३।७।१२, ज्याग्र, एन्शेन्ट मिडीवल इंडिया, सरकार, पृ० ७५ पर प्रकाशित।
८. अ०हि०ड०(राजधानी) जि० १, पृ०२७, हीरालाल हि०इं०इन सी०पी०एण्डबेरार, पृ१५०

है, परन्तु अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि आन्ध्र, त्रिलिंग और तैलंग एक ही भूभाग को.द्योतित करते हैं ।[१]

बिल्हण ने अनेकश: वेंगिभूपाल या वेंगिनाथ विशेषण प्रयुक्त किये हैं,[२] जो आन्ध्र की राजधानी वेंगि को ही लक्ष्य करता है । यहाँ वेंगि पूर्वी चालुक्यों की राजधानी के साथ ही वेंगिराज्य का सूचक भी है । पश्चिमी चालुक्यों में वेंगिराज्य के अधिपति सोमेश्वर द्वितीय को 'वेंगिपुर वरेश्वर'[३] कहा जाता भी इसी का समर्थन करता है । बिल्हण के विवरण से प्रतीत होता है कि वेंगि की पश्चिमी दक्षिणी और उत्तरीसीमा पर क्रमश: पश्चिमी चालुक्य चोल और चक्रकोट (बस्तर) स्थित थे ।[४] इस समय वेंगिराष्ट्र मन्नेरु नदी (नेल्लोर जिला) से महेन्द्र पर्वत (गंजाम जिला) तक विस्तीर्ण था ।[५] परन्तु यह उल्लेख उक्त प्रदेश के निवासियों के सम्बन्ध में हुआ है । प्रयागप्रशस्ति पैष्टपुरक और वेंगेयक को पृथक् उल्लेख करती है । पल्लव अभिलेख वेंगिराष्ट्र को कर्मराष्ट्र (नेल्लोर के उत्तर में) को पृथक् कहते हैं । अत: 'सिन्धुयुगमान्तर देश पद से गोदावरी और कृष्णा के मध्यवर्ती जिले वेंगि राष्ट्र के अन्तर्गत परिगणित प्रतीत होते हैं ।[६] पश्चिमी चालुक्य और चोलों का युद्धस्थल ,' कुडुलसंगमम्[७] होने से भी यह स्पष्ट है कि वेंगिराष्ट्र बिल्हण के समय में गोदावरी और कृष्णा का मध्यवर्ती भू-भाग था । वेंगि और चक्रकोट विजय करने के पश्चात् विक्रमांकदेव के कृष्णा तट पर पड़ाव डालने के उल्लेख से[८] भी इसी सीमा का समर्थन होता है । वेंगिराष्ट्र

---

१. अ०हि०ह०,जि० १, पृ० २८,२६

२. विक्रमा० ४।२६, २६,१४।४

३. बाम्बे-कर्णाटक इंस्क्रिप्शन्स, जि० १, सं० ८८

४. वेंगि को लेकर चोल चालुक्य (पश्चिमी) संघर्ष हो रहे थे । विक्रम ने क्रमश: चोल,वेंगि,चक्रकोट को जीता था । विक्रमा ४।२६-३०

५. मन्नेटि-महेन्द्र-मध्यवर्तिन: , एपी०इं०,४, पृ० ३३५

६. अ०हि०,जि० १, पृ० २६-३०

७. वही, पृ० ३४१

८. विक्रमा०, ४।२६-३६

की राजधानी वेंगिपुर थी, जिसकी एकता एल्लोर से सात मील उत्तर पश्चिमी गोदावरी जिले में स्थित पेद्द-वेंगि के साथ स्थापित की गई है।[१]

चक्रकोट—

विक्रमांकदेव ने क्रम से वेंगि और चक्रकोट को जीता था, और चक्रकोट नरेश से विक्रम ने समस्त हाथी छीन लिए थे।[२] इससे प्रतीत होता है कि यह प्रदेश वेंगि की उत्तरी सीमा पर स्थित था और वहाँ हाथी अधिक पाये जाते थे। छिन्दक नागवंशी नरेशों के अनेक अभिलेख बस्तर (मध्यप्रदेश) में उपलब्ध हुए हैं, जिनमें इन नरेशों को चक्रकोट्ट चक्रकूट या चक्रकोट का अधिपति कहा गया है।[३] अत: चक्रकोट को वर्तमान वस्तर राज्य मानना उचित है। यह क्षेत्र कालेश वन (विन्ध्य, सह्य उत्कल और दक्षिण समुद्र से आवृत्त प्रदेश) के अन्तर्गत था और यहाँ सुप्रतीक कुल के हाथियों के पाये जाने का उल्लेख मिलता है।[४]

मुरल—

बिल्हण ने प्रवरपुर के द्राक्षा को मुरलदेश की कामिनी के चन्दन से अवलिप्त गण्डस्थल के सदृश शुभ्र कहा है।[५] कुछ लोग केरल और मुरल को एक ही मानते हैं।[६] पर मुरल सम्बन्धी विवरण से दोनों का पार्थक्य स्पष्ट है।[७]

---

१. अ०हि०इ०,जि० १, पृ० २७.

२. विक्रमा०, ४।२६,३०

३. हीरालाल, लिस्ट आफ इंस्क्रिप्शन्स इन दी सेंट्रल प्राविंसेज एण्ड बेरार, पृ० १५३, प्रथम संस्करण, १९१६,नागपुर।

४. श्रीविष्णु धर्मोत्तर पुराण १।२५१।३०-३१, मानसोल्लास २।६।६२० में कालिंगवन के हाथी श्रेष्ठ कहे गये हैं। चक्रकोट में हस्तियों का बाहुल्य 'आयने-अकबरी' से भी समर्थित है — विक्रमा० (भारद्वाज) जि० १,पृ० २२५,टि०१

५. श्रीखण्डाम्भ:स्नपितमुरलप्रेयसीगण्डपाण्डु
द्राक्षाखण्डस्तबकितलतामण्डपास्ते वनान्ता: ।। १८।१८ विक्रमांक, श्रीकण्ठ-
चरितम् (७।३६) नि०सा० संस्करण में मुरलपुरन्ध्रियों का उल्लेख है।

६. आप्टे, संस्कृत अंग्रेजी कोष, पृ० ६६३

७. काव्यमीमांसा में केरल और मुरल का पृथक पृथक उल्लेख हुआ है, पृ० ९३ बड़ौदा

नाम के साम्य से मुरल मुरला नदी का तटवर्ती प्रदेश प्रतीत होता है। रघुवंश (४।५३—५५) के अनुसार मुरला नदी सह्याद्रि और अपरान्त के मध्य प्रवाहित होती थी। एक अभिलेख में अपरान्त हस्तियों के मुरला नदी में क्रीडा करने का उल्लेख है।[१] परमार सिन्धुराज (६६५—१०१० ई०) को मुरल विजय का श्रेय दिया गया है।[२] इससे भी प्रतीत होता है कि मुरलराज्य अपरान्त के निकट रहा होगा। उत्तररामचरित में मुरला नदी को गोदावरी की सहायक नदी के रूप में अंकित किया गया है।[३] अत: मीराशी जी का कथन समीचीन प्रतीत होता है कि मुरल वर्तमान हैदराबाद राज्य की उत्तरी सीमा का भाग था।[४]

वनवासमण्डल—

वनवास मण्डल कल्याणी के चालुक्यों के साम्राज्य का एक प्रान्त था। यह एक राजनीतिक विभाजन था क्योंकि विक्रमांकदेव ने अनुज जयसिंह को वनवासमण्डल का अधिपति या राज्यपाल बनाया था।[५] गौतमी पुत्र शातकर्णी को नासिक प्रशस्ति में 'सर्व-मण्डलाभिवादित-चरण' कहा गया है जो मण्डल का अर्थ 'प्रान्त' ही व्यक्त करता है।[६] विक्रमांकदेवचरित में वनवासमण्डल की प्रकृति-श्री का भव्य वर्णन है। 'वहां के क्रमुक कानन (सुपाड़ी के जंगल) श्याम-वर्ण के और अत्यधिक सघन थे। वहां केतक पुष्प (केवड़ा), पके केलों और नारिकेल फल का बाहुल्य था तथा मादक समीर बहता था।[७] वनवास को

---

१. सरकार, सैलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ४५३ टिप्पणी
२. नवसाह० १४।२०, विद्धशालभंज्जिका, ३।१८ में भी मुरलदेश का उल्लेख है।
३. उत्तररामचरित, अंक, ३
४. का०इ०इ०, जि० ४, पृ० ३१४
५. विक्रमां० सर्ग १४।४
६. अ०हि०इ०, पृ० ४७ (मजूमदार)
७. विक्रमां० ५।१६-२३, वनवास मण्डल के निकटवर्ती वनों के धनुर्धरों को जयसिंह ने अपने अधीन कर लिया था—१४।११, स्वयंवनवास का शाब्दिक अर्थ भी 'वहां की वन-श्री' को द्योतित करता है।

टालेमी ने बनाओसेई कहा है ।[१] इसका समीकरण उत्तरी कन्नड़ प्रदेश में स्थित वर्तमान वनवासी और उसके निकटवर्ती भूभाग के साथ किया गया है । वनबास - मण्डल के वन विष्णुधर्मोत्तर[२] में उल्लिखित कालेशवन (विन्ध्य, सह्य, उत्कल और दक्षिणी समुद्र के मध्य) के अन्तर्गत आते हैं ।

कोंकण, परशुरामभूमि —

मालवा और डाहाल युद्धों के पश्चात् समुद्रतट पर आहवमल्ल को देखकर समुद्र ने उनमें अपने को हटाने वाले भार्गव की शंका की ।[३] बिल्हण सौराष्ट्र होता हुआ सुपाड़ी के वृक्षों से श्यामवर्ण समुद्र तट के पास पहुंचा, जहां भार्गव के तीक्ष्ण शरों के प्रहार से बनी अर्गला मानों आज भी समुद्र के प्रसार को नियंत्रित करती है ।[४] ये उल्लेख समुद्रतट पर सौराष्ट्र के दक्षिण में स्थित परशुराम क्षेत्र की ओर इंगित करते हैं । परशुराम क्षेत्र सह्यपाद में स्थित था — जिसे सप्तकोंकण कहते थे ।[५]

स्कन्दपुराण (१-२-३६-१४३) में लघु कोंकण और कोकण दो भाग कहे गये हैं । इससे कोकण से सप्तकोंकण का और लघुकोंकण से सप्तकोंकणका बोध होता है । मलयालम कोष के अनुसार विशाल कोंकण के अन्तर्गत कोंकण

---

१. क्लासिकल अकाउन्ट्स, पृ० ३७६ (मजूमदार)

२. १।२५१।३०-३१

३. विक्रमां० ११०७-११२

४. वही, १८।६८

५. सा प्रसिद्धतरा सह्यपादे परशुराम भूमि: सा सप्तकोंकणाख्या कूपककेरल-मूषिक आलुव- पशुकोङ्कण- परकोङ्कणभेदेन दक्षिणोत्तरायामेन च व्यवस्थिता — प्रपंचहृदय , पृ० ३—४ (गणपति शास्त्री) एन्शेन्ट कर्णाटक, जिल्द १ (हिस्ट्री आफ तुलुव), पृष्ठ ३०, १६३६ ईसवी, पूना में उद्धृत ।

काराट् (कराड-सतारा जिले में) ,विराट (हांगल-धारवाड जिले में) माराट (मराठा प्रान्त), हव्यग (संभवत: उत्तरी कन्नड़), तौल्व (दक्षिण कन्नड़) और केरल (मालाबार) परिगणित हुए है ।[१] शिलालेखों के आधार पर यह सप्त विभाग इस प्रकार है[२] —पैवे या हैवे ५०० उत्तरी कन्नड़ (२) कोंकण ९०० (गोवा के चतुर्दिक् भू-भाग) (३) रेवती द्वीप (संभवत: वर्तमान रेडी) (४) हरिदिग (संभवत: सावन्त्वाडि राज्य और रत्नगिरि जिले का कुछ भाग) (५) कोंकण १४००(कोलाव से थाना जिले तक फैला था) । (६) कापर्दिक द्वीप या कवदि-द्वीप सवालाख ग्राम (संभवत: कोंकण १४०० की सीमा पर था) (७) लाट और वरियव ११६ (सूरत और बड़ोदा का कुछ भाग) ।

बिल्हण ने जयकेशि को कोंकण का शासक कहा है ।[३] जयकेशि के लेख पंजिम, गुटिचद्दी आदि गोवा के निकटस्थ स्थानों से प्राप्त हुए हैं ।[४] अत: बिल्हण का कोंकण गोवा और उसके चतुर्दिक् स्थित कुछ भाग रहा होगा । शक्ति संगम तन्त्र के अनुसार भी कोंकण समुद्र तट पर घट्ट या पश्चिमी घाट से कोटीश या कोटि तीर्थ (गोकर्ण) तक विस्तीर्ण था ।[५] बिल्हण ने कोंकण को सीमित कदंबराज्य के अर्थ में प्रयुक्त किया है, क्योंकि वह आलुप, केरल का कोंकण से पृथक उल्लेख करता है ।

आलुप—

विक्रमांकचरित के अनुसार आलुप कोंकण और केरल के मध्य में स्थित था[६] । आलुप का प्राचीन नाम आलुव था । । आलुव को सप्तकोंकण के अन्तर्गत परि-

---

१. कनारीज़ डिस्ट्रिक्ट फ्लीट, पृ० २८३

२. आ०हि०डे०जि०, १,पृ० ३१

३. विक्रमा० ५।२५

४. कदम्बकुल-परिशिष्ट और फ्लीट, ज०बा०ब्रा०रा०ए०सो०, जि० ९

५. ज्याग, एन्शेन्ट मिडीवल इंडिया, सरकार, पृ० ७८ , श्लोक , ४५ और पृ० १०१ ।

६. विक्रमा० ५।२५—२७

गणित किया गया है ।[१] टालेमी ने ओलोइखोरा (आलखेड) का उल्लेख किया है ।[२] कर्णाटक अभिलेखों में उल्लिखित (आलुवखेड या आल्वखेड) से प्रतीत होता है कि यह एक राज्य(खेड या खेट) था । इसे आलुप, आल्व, आलुव कई नामों से अभिहित किया गया है ।[३] सैलातोर महोदय का कथन है कि परम्पराओं और ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार प्राचीन तुलुव (आलुप) के अन्तर्गत समस्त दक्षिणी कन्नड़ और उत्तरी कन्नड़ का भी कुछ भाग सम्मिलित था ।[४] परन्तु वर्तमान तुलुव लगभग १५० मील लम्बा और २५ मील चौड़ा है ।

केरल—

आलुप के निकट (दक्षिण की ओर) केरल स्थित था ।[५] विक्रमांकदेव चरितनेकेरल और मलय देश को पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है । केरल की सीमा के अन्तर्गत मलय(चन्दन) वृक्ष और मलयाचल स्थित था ।[६] शक्तिसंगमतंत्र में सिद्धि केरल, हंस केरल, सर्वेश केरल का उल्लेख है, जो मलयाल(ट्रावनकोर) से भिन्न कहा गया है ।[७] परन्तु प्रस्तुत विवरण में मलयाचल (ट्रावनकोर में स्थित) केरल के अन्तर्गत ही कहा गया है । अत: बिल्हण का केरल मालावार तट पर स्थित था जिसके अन्तर्गत ट्रावनकोर और कोचीन प्रान्त थे । वर्तमान केरल प्रान्त इसी का स्मरण दिलाता है ।

---

१. ~~विक्रमा~~ प्रपंच हृदय, पृ० ३-४ , एन्शेन्ट कर्णाटक जि० १, पृ० ३० पर उद्धृत (सैलातोर) , कनारीज डिस्ट्रिक्ट, पृ० २८३, फ्लीट

२. इंडियन एन्टी० जि० १३, पृ० ३६७ (मैक्रिन्डिल)

३. एन्शेन्ट कर्णाटक जि०, १, पृ० ५८, टि०

४. वही, पृ० २

५. विक्रमा०, ५।२६-२७

६. वही ४।२-१८, ५।२४

७. ज्याग, ए०मिडी०, इंडिया, पृ० ८६

पाण्ड्य—

बिल्हण के अनुसार पाण्ड्य चोल और सिंहल आस-पास स्थित थे ।[१] यहाँ चन्दनवृक्ष और मलयवायु का प्राचुर्य था ।[२] यह प्रदेश सुदूर दक्षिण में स्थित था । आधुनिक मदुरा और तिनेवेल्ली प्रान्त इसके अन्तर्गत थे ।

कर्पूर द्वीप —

' दक्षिण वायु रावण के उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे सीता के चरण चिह्नों का स्पर्श करके (लंका से होकर) कर्पूरद्वीप के समुद्रतटवर्ती वनों की धूलि में क्रीडाकर केरलियों की क्रीडा में पान और कर्पूर खाने की थकान का निवारण करती थी ।'[३] अत: कर्पूरद्वीप लंका और केरल के मध्य में समुद्रतट पर स्थित प्रतीत होता है । अधिक कर्पूर के उत्पादन के कारण ही बिल्हण ने इसे 'कर्पूरद्वीप' कहा है ।

सेतु—

बिल्हण सोमनाथ से परशुराम क्षेत्र होता हुआ सेतु पहुँचा था ।[४] यह निश्चित रूप से सेतुबन्ध रामेश्वरम् ही था जो आज भी सुदूर दक्षिण में मथुरा के निकट समुद्रतट पर प्रसिद्ध तीर्थ है ।

सिंहलद्वीप, लंका —

यह कर्पूर द्वीप के पश्चात् स्थित था तथा इसके उत्तर में केरल, चोल, पाण्ड्य राज्य थे ।[५] काव्य मीमांसा में यह दक्षिणापथ के जनपदों में परि-

---

१. विक्रमा०, ४।४५

२. वही ६।११६-१२१, कर्पूर मंजरी १।१५

३. पौलस्त्योद्यानलीलाविटपितलनिलन्मैथिलीपादमुद्रा:
कर्पूरद्वीपवेलाचलविपिनतटीपांसुकेलीरसज्ञा : ।
क्रीडाताम्बूलचर्णग्लपितमुखहृतक्लान्तय: केरलीना
मामोदन्ते समीरा: स्मर:सुभटजयाकांक्षिणोदाक्षिणात्या: ।। —विक्र०७।७५

४. विक्रमा० १८।९७-९९

५. वही ४।२०,४५,७।७५ लंका भी कहा ७।७४

गणित हुआ है ।[१] यह प्रसिद्ध लंका द्वीप ही था ।

चोल, द्रविड-

यद्यपि बिल्हण, के विवरण में पृथक् उल्लेख से चोल और द्रविड़ दोनों शव्द भिन्न प्रतीत होते हैं तथापि उनकी राजधानियां एक होने तथा द्रविड-विषय राज्य या द्रविड क्षिति का नरेश चोलराज के होने तथा एक ही प्रदेश के सूचक हैं ।[२]

षटपंचाशद्देशविभाग में चोलदेश को द्राविड और तैलंग राज्यों के मध्य में स्थित कहा गया है । डा० सरकार इस चोल देश को तेलगु चोड (अनन्तपुर चुड्डप्पाक्षेत्र के) मानते हैं ।[३] काव्यमीमांसा में सिहंल चोल दण्डक पाण्ड्य आदि का साथ ही उल्लेख है ।[४] स्कन्दपुराण (२।४।२६।५) में इसे चोड भी कहा गया है । इस प्रदेश की स्थिति मद्रास प्रदेश के तंजुवर और तिरुचिरपल्ली जिलों में निश्चित की गई है ।[५] बिल्हण ने इसकी कांची और गांगकुण्डपुर दो राजधानियों का उल्लेख किया है ।[६]

राजधानियां : कांची —

बिल्हण ने कांची को `आदिपुरी` कहा है । यही चोलों की प्राचीन राजधानी थी । क्योंकि चालुक्यों को बार बार चोल नगरी कांची विजय का श्रेय दिया गया है ।[७] समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में `कांचेयक विष्णुगुप्त` का उल्लेख है ।[८] कांची दीर्घकाल तक पल्लवों और चोलों की राजधानी रही ।

---

१ काव्यमीमांसा, पृ० ६३
२ विक्रमां० १।११५,४।२८, ५।२८,२६,४३,६०,६१,७७, ७६,८४,८५,८६,६।२४,७,६,२२,२३
३ ज्याग एन्शैन्ट मिडीवल इंडिया, सरकार, पृ० ७६ श्लोक २२,और पृ० ६३
४ काव्यमीमांसा, पृ० ६३(बड़ौदा)
५ ज्याग एन्शैन्ट, मिडीवल इंडिया, पृ० २६, टि० ७
६ विक्रमां०, १।११५,४।२८,६।१० और ४।२१ -२५,६।२१-२३
७ वही ६।६-२१, १७।४३
८ फ्लीट, का०इ०इ०, जि० ३, लेख सं० १,पंक्ति

यह दक्षिणापथ का प्रसिद्ध नगर (नगरीषु कांची) था और सप्त प्रसिद्ध और पवित्र नगरियों में इसकी गणना होती थी । इसका एकीकरण वर्तमान कांजीवरम् के साथ किया गया है । इसके दो भाग क्रमश: विष्णु कांची और शैव कांची (वैष्णव और शैव सम्प्रदायों की प्रधानता के कारण) कहलाते थे ।[१८]

गांगकुण्डपुरम् —

बिल्हण ने विक्रमांकदेव की दिग्विजय यात्रा के प्रसंग में प्रथम बार गांगकुण्डपुर की नारियों के कुण्डलविहीन हो जाने का उल्लेख किया है[१]। चोल युद्धों के क्रमानुसार यह युद्ध १०६१ ई० के लगभग हुआ था ।[२] इसके पूर्व सदा कांची ही चोल राजधानी के रूप में उल्लिखित है । इस नगर के खण्डहर से प्राप्त प्राचीनतम अभिलेख में राजकेसरी वर्मन् वीरराजेन्द्रदेव (१०६४- १०६६ ई०) का उल्लेख है , परन्तु राजेन्द्रप्रथम के (१०५४-१०६४ ई०) ~~का उल्लेख उनके~~ अन्तिम वर्षों में इस नगरी का प्रथम उल्लेख मिलता है ।[३] अत: संभवत: राजेन्द्र प्रथम ने ही गाण्डकुण्डपुरको चोल राजधानी बनाया होगा । इसके अतिरिक्त बिल्हण ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि विक्रम चोलराजपुत्र (अधिराजेन्द्र (१०६६-७० ई०) का राज्याभिषेक करने के लिए कांची होकर अत्यधिक समृद्धशाली नगर गांगपुर गया था और राज्याभिषेक का कृत्य समाप्त करने के पश्चात् एक माह तक वहां निवास किया था । लौटते समय अटवीधनुर्धरों को पराजित करता हुआ तुंगभद्रा तट पर पहुंचा था ।[४] अत: स्पष्ट है कि मार्ग में वन था । 'उडैयारपालैयम् तालुका में १६ मील उत्तर दक्षिण में फैला हुआ एक बांध है, जो कभी भारत के विशालतम सरोवरों में था । इसमें कोलेरुन (६० मील लम्बी) औरवेलार नदियों से जल आता था ।

---

१८. डा. अवस्थी, प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, पृ.- ६७-८

१. गांगकुण्डपरस्त्रीणां गलत्कुंडलमण्डला: ।। ४।२१

२. अ०हि०डे० (याजदानी) जि० १, पृ० ३४१-३

३. एनु०रि०आफ साउथ इंडियन एपी०ग्राफी० ८२,१८६२ ई० शास्त्री--दी चोलज़, जि० १,पृ० -१८१(प्रथम संस्करण)

४. विक्रमां०, ६।६-२५

यह सरोवर पूर्णतया नष्ट हो गया है और इस पर सघन वन उग आया है। इस जंगल के दक्षिणी छोर पर वन से आवृत्त गंगाकुण्डपुरम् ग्राम है। यहां-यहां के भवनों के अवशेष और टीले प्राचीन बेबीलोन की भांति अपने विगत वैभव की गाथा कह रहे हैं।'[२]

वन या अटवी--

बिल्हण ने दो बार अटवी धनुर्धरों का उल्लेख किया है। चोलराजपुत्र (अधिराजेन्द्र) का गांगकण्डपुरम् में राज्याभिषेक करके तुंगभद्रा पहुंचने के पूर्व विक्रम ने इन अटवी धनुर्धरों को परास्त किया था।[३] दूसर वनवासमण्डलाधिपति जयसिंह, ने आटविकवक्र को अपने अधीन कर लिया था।[४] चीनी यात्री युवन-च्वांग ने द्रविड़ और कन्नड़ प्रदेश के मध्यवर्ती जंगलों में दस्युदलों का उल्लेख किया जिसकी पुष्टि काकुस्थवर्मन् कदम्ब के तालगुंड अभिलेख में उल्लिखित श्रीपर्वत तक विस्तीर्ण दुर्गम वनस्थली से होती है।[५] सोमेश्वर (तृतीय) द्वारा उल्लिखित 'दशार्णव' नामक वन के अन्तर्गत यह अटवी थी क्योंकि श्रीशैल और मलयाद्रि पर विस्तीर्ण वन का नाम दशार्णव दिया है।[६]

पर्वत--

मलयाद्रि का उल्लेख बिल्हण ने केरल के पर्वत के रूप में किया है।[७] वहां की प्रमुख उपज 'चन्दन' है।[७] भवभूति के अनुसार यह पर्वत कावेरी नदी से आवृत्त

---

१. वही, ६।६-२५
२. इंडि० ऐन्टी०, जि० ४, पृ० २७४; -चोलज़ भा-१, पृ-२२२ डा.सं.
३. विक्रमा०, ६।२५
४. वही १४।४,११
५. अ०हि०द०जि० १, पृ० ८
६. श्रीशैले वेदशैले च मलयाद्रौ तथैवच ।।
   वनं दशार्णवं नाम .... । --मानसोल्लास १।१७६-७, मैसूर वि० वि०, संस्कृत सीरीज़ नं० , ६६
७. विक्रमा०, ४।२।१८

था और इलायची , सुपाड़ी चन्दन का वहाँ बाहुल्य कहा गया है ।[१] अत: यह पर्वत आनैमलय और अगस्त्यमलय दो खण्डों में पश्चिमी घाट का वह भाग था, जो मैसूर के दक्षिण से प्रारम्भ होकर ट्रावनकोर की पूर्वी सीमा बनाता है ।[२] यह सप्तकुलपर्वतों में एक है ।

नदियाँ–

तापी– बिल्हण ने तापी सरिता को रवि से उद्भूत किया है ।[३] इसकी एकता दक्षिण भारत की ताप्ती नदी के साथ की गई है, जो विन्ध्यपाद से निकल कर[४] सूरत के पास पश्चिमपयोधि (खम्भात की खाड़ी) में समाविष्ट हो जाती है ।

कृष्णा नदी, कृष्णावेणी–

वेंगि और चक्रकोट विजय के पश्चात् लौट कर विक्रम ने कृष्णानदी के तट पर पड़ाव डाला था ।[५] अत: कुन्तल साम्राज्य और वेंगि के मध्य कृष्णा नदी स्थित थी, जो कृष्णा का उत्तरी भाग था । वनवासमण्डलाधिपति जयसिंह के साथ विक्रम ने कृष्णावेणि या कृष्णावेणी नदी के तट पर युद्ध किया था ।[६] अत: यह वेंगि के समीप से वनवासमण्डल की उत्तरी सीमा पर बहती थी और इसके कृष्णा और कृष्णावेणी दो नाम थे । मजूमदार का अनुमान है कि इस नदी का कृष्णा नाम काली (कृष्णा) मिट्टी –कृष्णाभूमि, कड़े-नाड़ु-वाले भू भाग पर बहने के कारण पड़ा होगा ।[७] सतारा के ३३ मील उत्तर-पश्चिम में

---

१. महावीरचरित ५।३(भड़ौंच संस्करण) और रघु० ४।४६

२. आप्टे , संस्कृत-अंग्रेजी कोश, पृ० ६६३, अली, ज्याग, पुराणराज, मानचित्र,१३

३. विक्रमा०, ११।६२

४. वायु० ४५।१०२

५. विक्रमा०, ४।२६, ३०,३६

६. अ० वही १४।१३,५०,५३,७१

७. अ०हि०इ० (राजदानी) पृ० १०

सह्याद्रि से उद्भूत हुई है । इसीलिए अभिलेखों में यह सह्यजा या सह्य पुत्री कही गई है । यह ८०० मील लम्बी है और धान्यकटक- अमरावती तथा विजय-वाटिका (बेज़वाड) से होती हुई मसूलीपटम के निकट दो धाराओं में बंगाल की खाड़ी में गिरती है । पूर्व और दक्षिण की ओर बह कर दक्षिणपूर्व दिशा को मुड़ जाती है और सतारा से तीन मील पर स्थित माहुलि पर वेणा नदी इसमें मिल जाती है । डा० अवस्थी[1] का अनुमान है कि कृष्णा के साथ वेणि जुड़ने का यही रहस्य है । इस संगम के कारण ही इसे कृष्णावेणा, कन्हवेणा या कृष्णा-वेणि नामों से अभिहित किया गया ।

तुंगभद्रा या दक्षिणापथ जाह्नवी-

बिल्हण ने तुंगभद्रा को दक्षिणापथ जाह्नवी और पवित्र नदी कहा है । जिसमें आहवमल्ल ने आत्मोत्सर्ग किया था ।[2] कुन्तल और चोलराज्य की सीमा तुंगभद्रा थी ।[3] तुंग और भद्रा नदियां वराह पर्वत के निकट गंगामूल से निकली हैं (मैसूर के कहूर जिले के निकट) शृंगेरि के निकट से होकर तुंगभद्रा से मिल जाती है । इसीलिए यह नदी तुंगभद्रा कहलाई । यह नदी कृष्णा से मिल कर रायचूर का दोआब बनाती है । कृष्णा की सहायक नदियों में तुंगभ्रदा एक प्रमुख नदी है ।

कावेरी-

बिल्हण के विवरण के अनुसार दक्षिण वायु सिंहलद्वीप की कामिनियों के मुख से कर्पूर सुगन्धि लेकर चोलांगनाओं के नितम्बों से टकरा कर सेव्य हो गये हैं , क्योंकि वह चन्दन की शीतलता, कर्पूर की सुगन्धि और नितम्बों की

---

१. प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, पृ० ७२

२. विक्रमा०, ४।५६-६३, इंडि० एन्टी०, जि० ५, पृ० ३१६

३. वही, ५।७४-६, ६।२५

टक्कर से मन्दगति हो गई है। वह वायु नारियल से टकरा कर 'कुहूत्' शब्द उत्पन्न कर, कावेरी के तटवर्ती ताड़ वृक्षों की ताड़ी के पात्रों की टंकार से प्रचण्डतर शब्द उत्पन्न करती हुई, प्रस्फुटित नील कदली (या सेमर) के सम्पर्क से शीतल चोलाङ्गनाओं के कर्पूरवत् शुभ्र कपोलों से टकरा कर मन्दवेग होकर बह रही है।[१] बिल्हण ने कावेरी नदी का आसपास के निवासी और उपज के साथ वर्णन किया है। अत: कावेरी के निकट चोल देश था और उसके आस-पास चन्दन, कर्पूर, नारियल, ताड़ और कदली वृक्षों की अधिकता थी। वायुपुराण के अनुसार यह नदी सह्यपाद से उद्भूत थी।[२] आज भी यह नदी, इसी नाम से सुदूर दक्षिण भारत में त्रिचनापल्ली के पास से होकर समुद्र में गिरती है। इसी के निकट चोलों की नयी राजधानी गांगकुण्ड चोलपुरम् स्थित थी।

ताम्रपर्णी –

'मुक्तासदृश स्वेद बिन्दुओं से सुशोभित विक्रम ताम्रपर्णी नदी से प्रेम रखने वाले समुद्र के सादृश्य को प्राप्त हो रहा था।[३] इस विवरण से प्रतीत होता है कि ताम्रपर्णी में मोतियाँ उपलब्ध होती थीं। इसे मलयाचल की घाटी में बहने वाली सरिता कहा गया है।[४] यहाँ मोती पाये जाते थे और चन्दन कर्पूर, कालीमिर्च तथा ताम्बूल की सुगन्धि से ताम्रपर्णी (तंबवण्णि) का जल सुवासित था।[५] इसकी एकता वर्तमान ताम्ब्रवरी के साथ स्थापित की गई है, जो मद्रास के तिरुनेलि जिले में चित्तर नदी से मिलती है।[६]

---

१. विक्रमां०, ७।७१
२. वायु पुराण ४५।१०४
३. विक्रमां०, १२।३७
४. मलयोपकण्ठ सरिता, कर्पूर मंजरी ४५।१८-२१, ८२।३ और ' मलयाभिजाता नद्य: सर्वा: शीतलता शुभा: ।। ज्याग, ए० मिडीवल इण्डिया, पृ० ५३-४
५. कर्पूरमंजरी, १।१७
६. ज्याग, ए० मिडी० इंडिया, पृ० ५२

(६०) मध्यदेश

राजशेखर ने मध्यदेश का विवरण नहीं दिया है, पर उसके लिए मनु-स्मृति (२।१) का निम्नश्लोक परिभाषा रूप में प्रस्तुत किया है —

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ।। —का०मी०, पृ० ९४,बड़ौदा)

अर्थात् जो हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के मध्य में, जो विनशन (सर-स्वती नदी थानेश्वर के पश्चिम में प्रवाहित होकर जहां विलीन हो जाती है) से लेकर प्रयाग तक का प्रदेश हैं, वह मध्यदेश कहलाता था । यही स्वरूप राज-शेखर के विवरण से भी स्पष्ट होता है । चीनियों के पंचभारत में मध्यदेश में समस्त गंगा का प्रदेश थानेश्वर से मुहाने के पूर्वतक का प्रदेश आता था ।[१] अली महोदय ने पुराणों के आधार पर मध्यदेश का स्वरूप इस प्रकार निर्धा-रित किया है — मध्यदेश के अन्तर्गत लगभग ऊपरी और मध्य गंगा का मैदान यमुना, चम्बल के प्रदेश से लेकर पूर्व में सोन नदी तक, उत्तर पश्चिम में सतलज, उत्तर में हिमालय, पश्चिम अरावली और दक्षिण में सतपुड़ा पहाड़ी तक का भू-भाग था ।[२] ११६७-६८ ई० के मल्लार अभिलेख (कलचुरि नरेश जाज्जल्लदेव द्वितीय) में उल्लिखित है विस्तृत सुरनदी (गंगा) की उफनाती हुई जल-तरंगों की माला से अलंकृत जनपदों से भरे हुए समस्त भू मण्डल के हारभूत श्री मध्यदेश में (कुम्भटी ग्राम) था ।[३] यह भी प्राचीन परिभाषा के ही अनुकूल है । बिल्हण ने अपने पूर्वजों को कौशिक गोत्री और मध्यदेश का अवतंस कहा है ।[४]

---

१. कनिंघम एन्शेन्ट ज्यागरफी, पृ० १०

२. दी ज्यागरफी आफ दी पुराणाज़ , एस०एम० अली, पृ० १३२, दिव्या-वदान(पृ० १३) में उल्लिखित मध्यदेश की पूर्वी सीमा पुण्ड्रवर्धन (उत्तरीबंगाल) से मेल खाती है ।

३. आसीच्छ्रीमध्यदेश विवतसुरनदीवारिपूरोर्म्मिमालाऽलंकारे हारभूते निखिलजनपदोद्दामभूमण्डलस्य । .... ।। ६।। का०इ०इ०,४,खं०२,५१४

४. विक्रमा०, १८।७२

कौरवक्षेत्र-

राजाकलश प्रवरपुर से चन्द्रभागा कालिन्दी को शुष्क करता हुआ कौरव क्षेत्र पहुँचा था। जहाँ महाभारत युद्ध हुआ था।[१] कालिन्दी (यमुना) कौरव-क्षेत्र के समीप बहती थी। यमुना कौरवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) से होकर प्रवाहित होती थी। कौरवक्षेत्र निःसन्देह प्राचीन कुरुक्षेत्र ही था, जो सरस्वती के दक्षिण और दृषद्वती नदी के उत्तर में स्थित था।[२] यह वर्तमान हरियाणा प्रान्त के अन्तर्गत स्थित कुरुक्षेत्र ही था।

मथुरा-

बिल्हण कश्मीर से सीधा मथुरा पहुँचा था।[३] मथुरा वर्तमान मथुरा जिला ही था, जो यमुना के तट पर स्थित है।

वृन्दावन-

मथुरा से बिल्हण श्रीकृष्ण और राधिका के क्रीडा स्थान वृन्दावन गया था।[४] यह वृन्दावन भी मथुरा जिले में स्थित वृन्दावन ही था, जो आज भी कृष्ण और राधा की लीलास्थली और उनके उपासकों का पुण्यतीर्थ है।

कान्यकुब्जपुर -

वृन्दावन से वह वैभवशाली नगरी कान्यकुब्ज पुर पहुँचा, जिसके द्वार पर गंगा कलकल करती थीं।[५] इस नगर का अवशिष्ट वर्तमान फर्रुखाबाद जिले की तहसील कन्नौज ही है, जो हर्षवर्धन के शासनकाल में विशालवर्धन साम्राज्य की वैभवपूर्ण

---

१. विक्रमा० १८।६१-६३

२. दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ।। —चित्रशाला प्रकाशन, पूना, महा०वन पर्व, ८३।४, द्रष्टव्य कनिंघम, पृ० २७६,२८३

३. विक्रमा०, १८।८७

४. वही

५. वही १८।९०

राजधानी थी । कन्नौज से होकर गंगा का बहना भी इसका समर्थन करता है ।

तीर्थनाथ प्रयाग —

बिल्हण ने गीर्वाणसिन्धु (गंगा) के स्रोत रूपी म्यान में यमुना की तरंगे जहां प्रवेश करती हैं ऐसे तीर्थनाथ प्रयाग में दान पुण्य किया[1] । प्रयाग वर्तमान इलाहाबाद ही है । जहां आज भी गंगा यमुना के संगम पर देश के कोने कोने से तीर्थयात्री आकर दान-पुण्य करते हैं ।

वाणारसी या वाराणसी —

प्रयाग से वह पवित्र नगरी वाराणसी गया, जहां उसने पापों का निवारण किया ।[2] वाराणसी वर्तमान बनारस ही है, जिसका प्राचीन नाम फिर से प्रचलित हो गया है ।

अयोध्या—

फिर श्री रामचन्द्र की राजधानी अयोध्या को अपनी सूक्तियों से शीतल किया ।[3] यह नगरी सरयू तट पर स्थित थी, जहां की वनस्थली में मयूरी कूजन करती थी ।[4] प्राचीन कौशल वन और उपवनों के लिए प्रसिद्ध था । अयोध्या कौशल की राजधानी थी । आज भी यहां वन के टुकड़े हैं । मयूर कम पाये जाते हैं ।[5] वर्तमान रामतीर्थ अयोध्या ही प्राचीन नगरी थी, जो फैजाबाद जिले में सरयूतट पर स्थित है ।

कालंजरगिरिपति —

बिल्हण ने कालंजरभूधर को श्री नीलकण्ठ महादेव की विलासभूमि कहा है ।

---

१. विक्रमां०, १८।६१

२. वही, १८।६९   ३- वही १८।९४

४. वही ६।६१

५. फैजाबाद गजेटियर, नेविल, पृ० १४७, ८,६,१३,१६०५, इलाहाबाद

~~५. विक्रमां०, ६।२०५,१०६,१८।६३~~

इस स्थल को कलचुरि कर्ण ने जीता था ।[१] कालंजर मध्यकालीन इतिहास में जैजाकभुक्ति या बुन्देलखण्ड की राजधानी था । बांदा जिले में स्थित कालंजर के साथ प्रस्तुत कालंजर की एकता स्थापित की जा सकती है । विल्हण के समय में यहाँ चन्देल शासन था । चन्देल नरेश शैव थे और कालंजर में नीलकण्ठ मन्दिर की स्थिति[२] से भी इस पहिचान की पुष्टि होती है । आल्हखण्ड में कालंजर दुर्ग की सुदृढ़ता का उल्लेख है । `कालंजर` पर्वत के कारण इसका नाम कालंजर पड़ा होगा, क्योंकि विल्हण ने कालंजर गिरि का उल्लेख किया है ।

डाहल या डाहाल –

डाहल नरेश कर्ण (१०४२–१०७२ ई०) को आहवमल्ल ने परास्त किया था ।[३] विल्हण के यात्रा विवरण के अनुसार डाहाल नरेश वाराणसी और मालवा के मध्य कहीं स्थित था ।[४] भागीरथी (गंगा) और नर्मदा के मध्य में स्थित भूखण्ड डाहल कहलाता था ।[५] भेड़ाघाट मार्ग पर जबलपुर से ६ मील की दूरी पर स्थित तेउर (त्रिपुरी) डाहलाधीश कर्ण की राजधानी थी, जैसा कि उक्त स्थल पर हुए उत्खननों से स्पष्ट है । स्कन्दपुराण में डाहल ६ लाख ग्राम का प्रदेश उल्लिखित है ।[६]

चर्मण्यवती तटवर्ती पार्थ कुलजनृपति–

दूबकुण्डग्राम में स्थित जिन मन्दिर के खण्डहर से वि०सं० ११४५ (१०८८ ई०) के एक लेख से ज्ञात होता है कि दूबकुण्ड और उसके आस पास के भू भाग पर अर्जुन

---

१. विक्रमा०, ६।१०५,१०६,१८।९३

२. दी अर्ली रूलर्स आफ खजुराहो, ले० शिशिरकुमार मित्र, पृ० १०३,कलकत्ता, १९५८

३. विक्रमा० १।१०२-१०३

४. वही १८।९२-९६

५. भागीरथी नर्मदयोर्मध्यं डाहलमण्डलम् , ज०आफ आ०हिस्टा० रि०सो०,जि० ४, पृ० १५६ ,मीराशी का०ई०इ०,जि० ४, पृ० ३२३

६. अवस्थी, प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, पृ० १२६

नामक प्रथम नरेश के कुल में उत्पन्न कच्छपघातवंशी नरेश शासन करते थे ।[१] दूब-कुण्ड ग्वालियर से ७६ मील दक्षिण पश्चिम में स्थित है जो सघन वनस्थली से युक्त शिवपुरी में स्थित है । बिल्हण के अनुसार उनका राज्य चंबल तट तक विस्तीर्ण था ।[२] यहराज्य डाहल के उत्तर में स्थित था ।

गोपाचलक्ष्मापति—

गोपाचल ग्वालियर में स्थित था और संभवत: गोप से ही ग्वाल का उद्गम हुआ होगा, जो आज भी ग्वालियर राज्य के नाम से सुरक्षित है । ग्वालियर दुर्ग से ११६१ विक्रमाब्द के एक लेख में 'गोपालिकेराधिपत्ये' पद प्रयुक्त हुआ है । प्रो० ई० हुल्श ने इसे आधुनिक 'ग्वालियर' का पूर्वरूप माना है । सासबहू अभिलेख (श्लोक ६ और ११) में गोपाद्रि (गोपपर्वत) तथा अन्य लेखों में गोपगिरि या इसके पर्यायों का प्रयोग हुआ है ।[३] अत: यह राज्य ग्वालियर में था जहां कच्छपघातों की दूसरी शाखा राज्य करती थी ।[४]

वनस्थलियां —

बिल्हण ने सरयूतट पर-अयोध्या के पास[५] और पार्थकुलज नरेश चर्मण्यवती तट पर [६] (शिवपुरी जिले में) वनस्थलियों की स्थिति का उल्लेख किया है । इन स्थलों पर आज भी वनों की स्थिति है ।

पर्वत--

कालंजर गिरि[७] वर्तमान बांदा जिले में स्थित था, जहां आज भी कालंजर

---

१. एपी०इंडिका, जि० २, पृ० २३७—४०

२. विक्रमां० ६।१०१-३

३. इण्डि० एन्टी०, जि० १५, पृ० २०२, टिप्पणी,५

४. वही, पृ० ३३-४६

५. विक्रमां०, ६।६१

६. वही ६।१०३

७. वही ६।१०६, कल्याण (तीर्थांड्०क) पृ० १२४

नामक वस्ती है, वहीं पर कालंजर पर्वत पर कालंजर दुर्ग स्थित है ।

गोपालचल[१] ग्वालियर में स्थित था । ग्वालियर नाम संभवत: इस पर्वत के नाम से उद्भूत है ।

नदियाँ —

गंगा-- बिल्हण ने गंगा को अभ्रसिन्धु, सुरसिन्धु, मृगाङ्कचूड शांकर के किरीट से उद्भूत सरिता, सिद्धसिन्धु , भागीरथी आदि पौराणिक नामों से अभिहित किया है ।[२] बिल्हण को गंगा के दर्शन कान्यकुब्ज ,प्रयाग और वाराणसी में हुए थे । अत: यह नि:सन्देह मध्यप्रदेश की प्रसिद्ध नदी वर्तमान गंगा ही थी, जो हिमालय से निकल कर बंगाल की खाड़ी में गिरती है ।

यमुना—इसे भी बिल्हण ने कलिन्दकन्या, यमुना, सूर्यपुत्री, कालिन्दी नामों से पुकारा है ।[३] यह नदी प्रयाग में गंगा से मिलती थी, जो एक महान् तीर्थ था ।[४] अत: यह भी वर्तमान यमुना ही है, जो हिमालय से नि:सृत होकर इलाहाबाद में गंगा में मिल जाती है ।

चर्मण्यवती—[५] इसकी एकता वर्तमान चंबल नदी के साथ स्थापित की गई है जो मालवा से होकर बहती हुई इटावा के पास यमुना में मिल जाती है ।

सरयू-- मयूर सम्पिण्ड वनस्थली से युक्त तट वाली यह नदी अयोध्या के पास से होकर बहती थी ।[६] यह घाघरा नदी ही है जो आज भी अयोध्या में सरयू ही कही जाती है और बलिया के निकट गंगा में प्रविष्ट हो जाती है । इसके तट पर उत्पन्न गन्ने प्रसिद्ध थे ।[७]

---

१ विक्रमा, ८।१०८-९
२ वही १।३३,५७,२।४७,१६।५२,१७।२५
३ वही २।६,११।९२,१६।५२,१८।६२
४ वही १८।९१
५ वही १८।१०३
६ वही ८।९१
७ वही १८।७१

अध्याय – ७

(क) समाज

(क) सामाजिक जीवन–

वर्ण और जातियां– समकालीन विवरणों से ज्ञात होता है कि इस युग में समाज अनेक जातियों और उपजातियों में विभक्त था । कल्हण और कुल्लूक भट्ट ने चौंसठ वर्णों का उल्लेख किया है ।[१] बृहद्धर्मपुराण[२] के अनुसार ४१ शूद्र जातियां थीं और ब्रह्मवैवर्तपुराण[३] का कथन है कि वर्णसंकर जातियों की गणना असंभव है । डा० भक्तप्रसाद मजूमदार का अनुमान है "इन जातियों के नाम और उनकी संख्या काल और स्थान के आधार पर भिन्न भिन्न थी , तो भी धर्मशास्त्र और स्मृतिकारों ने इन जातियों को परम्परागत चार वर्णों में ही ढाल देने का प्रयत्न किया है । यह प्रक्रिया मनु-याज्ञवल्क्य से प्रारम्भ होकर १७ वीं सदी में रघुनन्दन और मित्र मिश्र तक चलती रही ।[४] अलबेरूनी भी इसी परम्परागत चतुर्वर्ण विभाग का उल्लेख करता है[५]। इसके अतिरिक्त अन्त्यज और हाडि, डोम, चाण्डाल तथा बधतौ भी थे । विक्रमांकदेवचरित में ब्राह्मण, क्षत्रिय,चाण्डाल, शबर, किरात, जंगली जातियां, रजक धीवर, सुवर्णकार, अयस्कार का उल्लेख है । इसके अतिरिक्त कश्मीर के निकटस्थ शक और दरद

---

१. वर्णाश्चतु:षष्टि : — राज० ८।२४०७, मनु० १०।३१ पर कुल्लूकभट्ट की टीका

२. वृहद्धर्मपुराण २।१३–१४

३. ब्रह्मवैवर्तपुराण १।१०।१२२

४. सोसियो इकोनामिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, पृ० ७६

५. सचउ १, पृ. -१००

म्लेच्छजातियों का भी उल्लेख है । विज्ञानेश्वर ने देवलोक शूद्रों को व्यवसाय में द्विजों की शुश्रूषा, पापों से दूर रहना, पत्नी आदि का पोषण, कृषि पशुपालन, भारोद्वहन, पुण्यव्यवहार चित्रकर्म, नृत्य, गीत, वेणु, वीणा, मुरज, मृदंग आदि वाद्य वादन का उल्लेख किया है ।[१] ब्रह्मपुराण के अनुसार गायक, अभिनेता, वैद्य, लोहार, शस्त्रनिर्माता, दर्जी, धोबी, चारण, सुरानिर्माता, बढ़ई, स्वर्णकार, तेली आदि के व्यवसायियों के हाथ का अन्न त्याज्य था ।[२] इस धारणा ने कालान्तर में उक्त व्यवसायियों को शूद्रकोटि में परिगणित करा दिया ।

ब्राह्मण—

विक्रमांकदेवचरित और समकालीन साक्ष्यों से स्पष्ट है कि समस्त भारत में ब्राह्मण को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था । अध्ययन अध्यापन का और धार्मिक नेता होने के कारण वही समाज के बौद्धिक जीवन का आधार स्तम्भ था । इन्हीं कारणों से ब्राह्मण अवध्य समझा जाता था । चालुक्य सत्याश्रय युद्ध क्षेत्र में शत्रु शरीर पर टूटे हुए हार के धागे से यज्ञोपवीत का भ्रम हो जाने से ठिठक जाया करता था ।[३] अलबेरूनी भी कहता है कि ब्रह्महत्या समाज में सबसे जघन्य पाप समझा जाता था, जिसे वज्रब्रह्महत्या कहते थे ।[४] तेजस्वी और विद्वान् ब्राह्मणों के निवास पवित्र शुभ और कलिनाशक समझे जाते थे ।[५]

बिल्हण के अनुसार ब्राह्मणों का व्यवसाय अध्ययन, अध्यापन यज्ञादि धार्मिक कृत्य करना था । प्रवरपुर में बृहस्पति के सदृश विद्वान् ब्राह्मण थे । इन विद्यारत ब्राह्मणों के कारण आश्वस्त होकर ही शारदा ने कैलाश पर्वत के निर्जन

---

१. मिताक्षरा टीका, याज्ञ० १।१२० पर

२. अपरार्क, पृ० ११७७—८ पर उद्धृत ।

३. दृप्तारिदेहे समरोपमर्द-सूत्रावशेषस्थितहारदाम्नि ।
 यज्ञोपवीतभ्रमतो बभूव यस्य प्रहर्तुः क्षणमन्तराय ।। — विक्रमां० १।७८ ।।

४. सचउ, जि० १, पृ० २६२

५. विक्रमां०, १८।३,७१

स्थान को अपनी तपस्या का स्थान बनाया था ।[१] वहां विद्वान् काष्ठील ब्राह्मणों के निवासों के वातायनों से निरन्तर शास्त्रगोष्ठी की ध्वनियां सुनाई पड़ती थीं । ज्येष्ठकलश का प्रांगण छात्रों से भरा रहता था । स्वयं बिल्हण सांगवेद , पतंजलि महाभाष्य , साहित्य विद्या, में पारंगत और अध्यापक था ।[२] दानकाण्ड में लक्ष्मीधर के अनुसार ब्राह्मण में वेदाध्ययन, पवित्रता, सत्यता, नैर्मल्य, धर्मभीरुता, अहिंसा, हवन, धार्मिक नियम, निर्लोभ ,गोप्रेम आदि गुण होने चाहिए ।[३] याज्ञवल्क्य के अनुसार यज्ञ, अध्ययन और दान ब्राह्मण ,क्षत्रिय और वैश्य में सामान्यत: होता ही है, परन्तु ब्राह्मण में प्रतिग्रह , यजन और अध्यापन उक्त वर्णों से अधिक होता है ।[४] समृद्ध ब्राह्मण सार्वजनिक निर्माण के कार्य भी करते थे । बिल्हण के पितामह राजकलश के मुख में चारों वेदों का निवास था । उसने सार्वजनिक, कल्याण के लिए द्राक्षा उपवन,व्याख्याभवन, निर्मल जल वाले कूप और प्रपाएं स्थापित की थी ।[५] ये पवित्र चरित्र वाले ब्राह्मण सैकड़ों यज्ञ कर चुके थे अग्निहोत्रों में प्रस्रवित स्वेद-जलों से उन्होंने कलिदोष का प्रक्षालन कर दिया था ।[६] काष्ठीलद्विज भी प्रात: सायं व निरंतर यज्ञ क्रिया में निरत रहा करते थे ।[७]

इस शैक्षिक और धार्मिक महत्त्व के कारण ही राजा लोग ब्राह्मण परिवारों को दूर प्रदेशों से ला लाकर राजधानी के निकट बसाया करते थे । अनन्तदेव हलधर और गोपादित्य ने अनेक अग्रहार प्रवरपुर और उसके निकटवर्ती प्रदेशों में बसाए थे ।[८] इसी प्रकार विक्रम ने भी ब्रह्मपुरियों से आवृत नगर का निर्माण

---

१. विक्रमां०, १८।६-८

२. वही १८।२५,७३-६१

३. कृत्यकल्पतरु,दानकाण्ड (बड़ौदा), पृ० २६-३०

४. इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।
प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे-याजनाध्यापने तथा । याज्ञ० १।११८ समिताक्षरा ।

५. विक्रमां० १८।७८

६. वही १८।७४-५,२५

७. वही १८।२५

८. वही १८।२४,३६,१६,७३, राज० १।८१,(६६,३४१,५।४०३, ४४२, ६।८६, ७।१८४

किया था ।[१] ब्राह्मण दान भी लेता था । विक्रम ने षोडशमहादान ब्राह्मणों को दिये थे ।[२] सुभटा का धन देवमन्दिर द्विज और गुरुजनों के घरों में जाता था । उसने विद्वानों अर्थात् ब्राह्मणों के लिए भाण्डागार बनवाये तथा ब्राह्मणों को यथेच्छ भूमिदान दिया ।[३]

प्रधान ज्योतिषी शुभ अशुभ शकुन का विचार करता था और पुरोधसा (पुरोहित) संस्कार और धार्मिक कृत्य करवाता था ।[४] राजतरंगिणी में ब्राह्मण पौरोहित्य करते हुए वर्णित हैं ।[५] अलबेरूनी का कथन है इन लोगों के घर में सदैव एक ब्राह्मण धार्मिक कृत्यों के सम्पादनार्थ रहा करता था । वह पुरोहित कहलाता है ।[६]

यद्यपि समसामयिक साक्ष्यों में हम ब्राह्मणों को जीविका हेतु युद्ध आदि व्यवसायों में भी निरत पाते हैं [६ अ] तथापि ब्राह्मणों का सामान्य व्यवसाय अध्ययन अध्यापन ,दान लेना व देना, पौरोहित्य आदि धार्मिकता से पूर्ण था ।

विक्रमांकदेवचरित में कश्मीर में दो प्रकार के ब्राह्मणों का उल्लेख है दोनों ही प्रकार विद्या रसिक और अग्निहोत्री थे । ब्राह्मणों के विभाजन स्थान के आधार पर थे । काष्ठील द्विज प्रवरपुर में रहते थे ।[७] राजतरंगिणी के अनुसार राजा यशस्कर ने आगामी जन्म में पुन: राज्य प्राप्त करने की अभिलाषा से वितस्ता पुलिन पर ब्राह्मणों को पचपन अग्रहार प्रदान किये ।[८] स्टायन ने विक्रमांक-देव चरित तथा परम्पराओं के आधार पर इन अग्रहारों को काष्ठील नामक स्थान पर माना है तथा काष्ठील की समता वितस्ता के नाम तट पर, द्वितीय सेंट के

---

१. विक्रमा० १८।२६
२. वही ~~१८।४२,४५~~ , १७।३६-३६
३. वही १८।४२,४५
४. वही २।८१,६१
५. राज० १।७०
६. सचउ, जि० २, पृ० १३२   ६ अ, मजूमदार, पृ०-२४-६
७. विक्रमां १८।२५
८. राज० ६।८४-८६

ऊपर स्थित वर्तमान काठ्यूल (श्रीनगर का एक भाग) के साथ स्थापित की है[१]। काष्ठील नामक स्थान पर निवास करने के कारण इन द्विजों को काष्ठील द्विज कहा गया है । अन्य कुशिक गोत्री ब्राह्मण बिल्हण के पूर्वज थे, जो मध्यदेश से गोपादित्य द्वारा लाये गये थे और खोनमुष में निवास करते थे ।[२] राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि कश्मीर के सिंहपुर मठ में सिन्ध , द्रविड, देशों के ब्राह्मण निवास करते थे ।[३] काष्ठीलद्विज सम्भवत: प्रवरपुर के स्थानीय ब्राह्मण रहे होंगे, जैसा कि उनके नाम से व्यक्त होता है और बिल्हण के पूर्वज मध्यदेश से लाकर बसाये गये थे । विविध प्रदेशों के ब्राह्मणों को उन प्रदेशों के नाम से सम्बोधित किया जाता था ।[४]

क्षत्रिय -

दूसरे प्रधान वर्ण क्षत्रिय के सम्बन्ध में विक्रमांकदेवचरित में स्वल्प ही विवरण उपलब्ध है । विक्रमांकदेवचरित में चालुक्यों के पूर्वजों को क्षत्रिय कहा गया है ।[५] क्षत्रिय शव्द की उत्पत्ति `क्षतात् त्राणाम्` से हुई है ।[६] क्षत्रिय का प्रधान कर्म प्रजापालन धर्मार्थ और वृत्यर्थ था ।[७] यज्ञ, अध्ययन दान तो सभी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिए समान थे ।[८] आहवमल्ल ने वेदाध्ययन और आगमों का श्रवण किया था । अश्वमेध आदि क्रियाकर्म भी किये थे ।[९] ये कर्म क्षत्रियों के लिए विहित थे । वीरता ही क्षत्रियों का प्रधान गुण था, क्योंकि क्षात्रतेज से विहीन राजा स्वराज्य की रक्षा करने में भी असमर्थ होता था ।[१०] थके मूर्च्छित और

---

१. स्टायन की टिप्पणी ६।८६ और ८।११६६ पर
२. विक्रमां०, १८।७३, राज० १।३४१
३. राज० ८।२४४४
४. सोसियो-इकोनामिक हिस्ट्री आफ नादर्न इंडिया, मजूमदार, पृ० ८१-२
५. विक्रमां०, १।६३
६. गृहस्थरत्नाकर, पृ० २५२, (बिब्लिओथिकाइंडिका, कलकत्ता)
७. याज्ञवल्क्य (समिताक्षरा) १।११६
८. वही १।११८
९. विक्रमां०, ३।३६,३४
१०. वही ४।१०४,५।३६

प्रसुप्त शत्रु योद्धा पर प्रहार न करना ही क्षत्रियों का धर्म था ।[१] विक्रमांकदेव-चरित से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय वर्ग अधिकांश में शासक वर्ग था और युद्ध ही उनका प्रमुख ~~क्षत्रिय वर्ग आदि का~~ व्यवसाय था । यही धर्म शास्त्रों में भी वर्णित है । यद्यपि इस युग में क्षत्रियों को आपद्काल में कृषि करने का भी आदेश था ।[२]

कायस्थ—

बिल्हण ने एक ही स्थान पर कायस्थ का उल्लेख इस प्रकार किया है । 'सुभटा का धन कुटिललिपि वाले कायस्थों के द्वारा अपहृत नहीं होता था ।'[३] इसलिए प्रतीत होता है कि मूलत: कायस्थ राजा या सामन्तों के कर्मचारी थे जिनका कार्य लेखन था । याज्ञवल्क्य स्मृति (१।३३६) में कहा गया है कि राजाओं को चाट, चोर , दुराचारी, डाकू आदि से तथा विशेषत: कायस्थों से प्रजा की रक्षा करना चाहिए । विज्ञानेश्वर का कथन है कि कायस्थ अर्थात् लेखक और गणक राजा के प्रिय और मायावी होने से दुर्निवार्य होते थे ।[४] राजतरंगिणी और क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों से स्पष्ट है कि कायस्थ जाति विशेष नहीं थी । कायस्थ नौकरशाही के समस्तपदों के लिए व्यवहृत होता था जैसे गृहकृत्याधिपति, पारिपालक, मार्गेश, गंजाधिप, नगराधिप, शौल्किक, नियोगि, अधिकरण लेखक के अतिरिक्त अश्वकायस्थ, ग्राम कायस्थ आदि । इस प्रकार सामान्य शासन के अतिरिक्त मालगुजारी व कर वसूल करना भी इन्ही का कार्य था ।[५] मालगुजारी व करों की वसूली में ये लोग प्रजा का अनुचित शोषण करते रहे होंगे ।इसीलिए

---

१. श्रान्ते च निद्रालसलोचने च शून्ये च पवित्रषु रिषून्विमुंचन् ।
न तत्र चित्रं गणयाम्बभूव क्षात्रव्रतस्य क्षतिमेक वीर: ।। वही ६।२१

२. गृहस्थरत्नाकर, पृ० १६१ में उद्धृत - मनु १०।८३

३. नो कायस्थै: कुटिललिपिभि: ' —विक्रमा०, १८।४२
तुलनीय—क्षेमेन्द्र कुटिललिपि न्यासा और 'वक्रलिपिन्यासकला—कलाविलास पृ० १०,१३

४. कायस्था लेखका गणकाश्च तै: पीड्यमाना विशेषतो रक्षेत् तेषां राजवल्लभतयातिमायावितया च दुर्निवारत्वात् । याज्ञ० १।३३६ पर मिताक्षरा टीका ।

५. अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ कश्मीर, पृ० ६५ , दृष्टव्य नर्ममाला पृ० परिहास

यह वर्ग (का (कौवा),य(यम),स्थ (स्थपति)) लोभी, क्रूर लुटेरा कहा गया है।[१]

परन्तु कश्मीर के बाहर उत्तरी भारत में तत्कालीन साक्ष्य से ज्ञात होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक कायस्थों का विशेष महत्व बढ़ चुका था और उनकी उत्पत्ति विषयक अनेक अनुश्रुतियां प्रचलित हो गयी थीं। एक अनुश्रुति उन्हें कश्यप पुत्र कुश से उत्पन्न कहती है और दूसरी के अनुसार परशुराम के भय से क्षत्रिय ही कायस्थ कहलाए। अन्य में वे शूद्रोद्भव कहे गये हैं। इस प्रकार उनकी विविध वर्णों से उत्पत्ति मानी गयी।[२] कलकत्ता हाईकोर्ट ने बंगाली कायस्थों को शूद्र घोषित किया जबकि इलाहाबाद और पटना हाईकोर्ट ने उन्हें द्विज घोषित किया है।[३] कुछ भी हो ग्यारहवीं शताब्दी में कायस्थों की उत्पत्ति विषयक कथाओं के प्रचलन से स्पष्ट है कि कायस्थों की एक भिन्न जाति ही पल्लवित हो गयी थी। यही नहीं कायस्थों के अनेक उपविभाजन भी हो गये थे।[४]

अन्य जातियां —

यद्यपि वैश्य जाति सत्रहवीं शताब्दी तक पृथक जाति के रूप में उल्लिखित होती रही तथापि मनु के काल से ही ये पतित होने लगे थे और मध्यकाल तक शूद्रत्व को प्राप्त हो गये थे।[५] कुसीद (ब्याज पर धन देना) कृषि, वाणिज्य, पशुपालन आदि वृत्यर्थ कर्म वैश्यों के लिए विहित थे। उनका धर्म दान, अध्ययन तथा यज्ञ करना था, परन्तु दूसरे श्लोक की टीका में विज्ञानेश्वर ने देवलोक्त

---

१. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जि० २, पृ० ७६ काकाल्लौल्यं यमात् क्रौर्यं स्थपतेरथ कृन्तानम्। आद्यक्षराणि संगृह्य कायस्थ, इति निर्दिशेत्।। उशनस्।। ३५।।
दृष्टव्य क्षेमेन्द्रकला विलास कायस्थ चरित, और नर्ममाला।

२. स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० ४७७-८

३. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, २, काणे, पृ० ७५

४. मजूमदार, भ०प्र० सोसियो इकोनामिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, पृ० ९९-१०५

५. जी.एस. घुर्ये- कास्ट एण्ड क्लासेज़ इन इंडिया पृ. ७५-९८, ८२, ९६, क्यूयार्क १९५०

शूद्रकर्मों में कर्षणापशुपालन,भारोद्वहन, पण्यव्यवहार, चित्रकर्म , नृत्य, गीत, वेणु, वीणा मुरज मृदंग आदि का वादन थे । [१] इससे प्रतीत होता है कि वैश्य इस समय तक द्विजों में परिगणित किये जाते थे, तथापि वैश्यों और शूद्रों में मिलते जुलते व्यवसायों को अपना लिया था । विल्हण ने वैश्य और शूद्रों का उल्लेख नहीं किया है परन्तु वे सुवर्णकार १।२५) वैराटिक (१।१६) अयस्कार, जो शस्त्र निर्माता था (१३।२६), रजक (११।२४) और मछली पकड़ने वाले अर्थात् धीवर (१३।४५) का उल्लेख करते हैं । सम्भवत: हीन व्यव-सायों को अंगीकृत करने के कारण इन व्यवसायियों को शूद्र वर्ण के अन्तर्गत गिना गया है । इनमें से रजक, धीवर (कैवर्त) वैजयन्ती में अंत्यज जातियों में परिगणित हैं ।[२]

<u>अंत्यज जातियां</u> –

ये जातियां चतुर्वर्णों से पृथक कही गयी हैं । रजक कैवर्त के अतिरिक्त चाण्डाल (४।४६), शवर (७।१०), किरात (७।११) अटवीधनुर्धर (निषाद भील आदि) (६।२५;८।१६) जातियों का उल्लेख भी विक्रमांक देव चरित में हैं जो अंत्यज जातियों में परिगणित की जाती थीं ।[३] विक्रमांकदेवचरित में चाण्डाल या मातंग अस्पृश्य के रूप में वर्णित हैं, उनका संसर्ग दोष जलधार से प्रक्षालित होने पर ही समाप्त होता था ।[४] याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्मण कन्या में शूद्र से उत्पन्न पुत्र चाण्डाल कहलाता था ।[५] चाण्डालों के द्वारा अपने शत्रुओं की हत्या करायी जाती थी[६] तथा मृत्यु दण्ड भी इन्ही के द्वारा

---

१. याज्ञ० १।११६,१२० पर मिताक्षरा टीका

२. सोसियो इकोनामिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, पृ० १०६-७

३. वही

४. विक्रमां० १।१०४

५. याज्ञ० १।६३

६. राज० ८।३०५,३२५,११०३

दिलाया जाता था ।[१] संभवत: यही कारण था कि चाण्डाल घृणित समझे जाते थे ।[२] विष्णु धर्मसूत्र (५।१०४) में चाण्डाल म्लेच्छ और पारसीक अस्पृश्य माने गये हैं। अत्रि का कथन है कि चाण्डाल ,पतित म्लेच्छ सुरापात्र और रजस्वला स्त्री का स्पर्श हो जाने पर द्विज को स्नान कर लेने के पूर्व तक भोजन नहीं करना चाहिए ।[३] बिल्हण ने दरद और शकों को भी अस्पृश्य के रूप में अंकित किया है । अनन्तदेव ने (सहज ही शक अंगनाओं को संतप्त कर और दरद दर्प दलन कर मानों अस्पृश्य दोष की शंका से अपने खड्ग को गंगाजल में धो डाला ।[४] पारसीक, मुसलमान आदि विदेशी जातियों की भांति शक और दरद जाति भी विदेशी और असभ्य होने से अस्पृश्य कही गयी हैं ।

अन्य व्यवसायी—

भिषक—आह्वमल्ल की महिषी ने वैद्यों की अनुमति से सूतिका गृह में प्रवेश किया था ।[५] क्षेमेन्द्र ने वैद्यों की गणना धूर्तों में की है और उन्हें लोभी कहा है ।[६] परन्तु भिषग्गण एक व्यवसायी वर्ग ही था, पृथक् जाति के रूप में यह कभी नहीं रहा ।[७] आज भी वैद्यों की कोई पृथक जाति नहीं है ।

विट— अनन्त की महिषी सुभटा द्वारा संगृहीत लक्ष्मी कुटिललिपि वाले कायस्थों चाटुकार विट और प्रशस्तिकार गायकों द्वारा नहीं लूटी गयी ।[८]

---

१. अलबेरूनी इंडिया (सचउ) १, पृ० १०२ , मृच्छकटिकम्, में भी चारुदत्त को मृत्युदण्ड देने के लिए चाण्डाल सन्नद्ध थे ।

२. सचउ, १, पृ० १०१-२, राज० ५।७७, ६।७६,१६२

३. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पृ० १७३, संकेत, ४०५

४. विक्रमां १८।३४

५. वही २।८१

६. क्षेमेन्द्र लघुकाव्यसंग्रह, कलाविलास ६।२-४

७. सोसियो इकोनामिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, पृ० १०५-६

८. नो कायस्थै: कुटिल लिपिभिर्नो विटैश्चाटुदक्षै-
नैं प्रत्यक्षस्तवनपटुभिर्लुण्ठिता गायनैश्च ।। विक्रमां १८।४२

क्षेमेन्द्र का कथन है कि विट मर्कटवत् चंचल, महाकुटिल, कपटी, सुजनों द्वारा त्यक्त, वेश्या द्वारा थूत्कृत मुखवाला और अशुभ आकृति सा निरन्तर घूमता है। उसके केश लम्बे और आगे चिकने, पीछे रूखे, घुंघराले बनाये गये थे तथा वह सिर नचा कर वेश्या से बोलता था।[१] 'मानसोल्लास (५।२०।१३०८-३०) ने वेश्या द्वार पर उपस्थित विटों का उल्लेख किया है। मृच्छकटिकम् (अंक १, ५,८) से ज्ञात होता है कि वह विट राजपुत्र के साथ रहता था। वह निठल्ला (परान्नोपजीवि) गान, संगीत, काव्य कला तथा अन्य गुणों से अपने मित्र का मनोरंजन करता था।[२] विल्हण द्वारा वर्णित विट भी राज परिवार से सम्बद्ध रहा होगा।

गायक—

विक्रमांकदेवचरित में उल्लिखित प्रत्यक्ष स्तवन करके धन अपहृत कर लेने वाले गायकों के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र का कथन है, " संसार के समस्त क्रिया-कलापों का प्राण धन होता है, उसे भी धूर्त लोग मधुर कण्ठ वाले गायनों से अपहृत कर लेते हैं," नट, नर्तक, चक्रचर, कुशीलव, चारण विट, ऐश्वर्यवानों में शलभवत् विचरण करते हैं, उनसे धन की रक्षा करे।"[३] विक्रम के जन्मोत्सव पर चारण, गायक आहवमल्ल से बलात् पुरस्कार मांग रहे थे और वैतालिक अतिशयोक्तिपूर्ण स्तुतियां गा रहे थे (२।६०)।

---

१. क्षेमेन्द्र लघु काव्य संग्रह देशोपदेश (५।१-२८)

२. " अन्यैः प्रसाद पात्रैश्च परिहास समुखोचितैः ।।
 गीतवाद्यविनोदज्ञैः विटविदूषकैः ।। — मानसो० ५।२।१५४ और

२. मृच्छकटिकम् शूद्रक कृत, अंक, १,५,८ और उपर्युक्त

३. अर्थोनाम जनानां जीवितमखिलक्रियाकलापस्य ।
 तमपि हरन्त्यतिधूर्ताः श्लक्ष्णगला गायना लोके ।।
 नटनर्तकचक्रचराः कुशीलवाश्चारणा विटाश्चैव ।
 ऐश्वर्यशालिशलभाश्चरन्ति तेभ्यः श्रियं रक्षेत् ।।
 — क्षेमेन्द्र-लघु-काव्य-संग्रहः, कलाविलासः ७।१,२५ ।।

वेश्या -

बिल्हण के काल में वेश्या प्रत्येक नगर में हुआ करती थी । चौल राजधानी कांची में वारविलासियाँ हथिनियों पर भ्रमण करती थीं ।[१] जो उनकी समृद्धि द्योतित करती है । सोमेश्वर ने `विक्रमांकाभ्युदय` काव्य में कल्याण -राजधानी के वर्णन में, वहां की वेश्याओं का विस्तृत वर्णन किया है । ये वेश्याएं केवल धनवान को ही पहचानती थीं और धन के हेतु अनुचित कार्य करती थीं यही नहीं आत्मसमर्पण तक कर देती थीं ।[२] धन ग्रहण कर वेश्यावृत्ति करने का उल्लेख विक्रमांकदेवचरित में भी है ।[३] राजा अनेक वेश्याओं के मध्य केलि-क्रिया करता था ।[४] इस प्रकार की रतिक्रीडाओं का विस्तृत वर्णन मानसोल्लास में उपलब्ध है ।[५]

दामोदरगुप्त कृत `कुट्टनीमतम्` काव्य से ज्ञात होता है कि अनेक कलाओं में निपुण गणिकाएं सम्मान प्राप्त करती थीं । उस युग में वेश्यागमन समाज का सामान्य अंग बन गया था । क्षेमेन्द्र के अनुसार कल्पवृक्ष के सदृश समस्त इच्छाओं को तृप्त करने वाली पण्याङ्गनाओं के पास धनिकों के एकलौते पुत्र, पुत्रहीन युवक, अमात्य, वणिक्पुत्र, भिषक्,प्रसिद्ध गुरु का पुत्र, रसिक साधु, गैर जिम्मेदार राजपुत्र, ग्रामीण अधिकारी, प्रसिद्ध व धनी संगीतज्ञ, प्रकाण्ड विद्वान् और सुरापायी जाया करते थे ।[६] इस तालिका से स्पष्ट है कि समाज का प्रत्येक वर्ग इनका ग्राहक था ।

इन्द्रजालिक -

`युद्ध में, ऊपर उठने वाले तेज रूपी अग्नि से युक्त अग्रभाग वाली तुम्हारी असि इन्द्रजालिक का काम करती है, क्योंकि कटे हुए मानवी शिरों को वह इस मस्तक से युक्त कर देती है ।`[७] भाव यह है कि हाथ की सफाई दिखाने वाले

---

१. विक्रमां० ६।१२७ , दृष्टव्य मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना का वैभव ।

२. विक्रमांकाभ्युदय, पृ० १२,१४

३. वही १२।३१ ४. वही ६।१६

५. मानसोल्लास- एक अध्ययन, पृ० ५१८-५२७,

६. क्षेमेन्द्रलघुकाव्य, समयमातृका, ५।६३- ६७

७ विक्रमां० ५।४१

इन्द्रजालिक की भाँति असि भी चमत्कार दिखाती है । तरह तरह के चमत्कार दिखाकर धन अर्जन करने वाले इन्द्रजालिक या बाजीगर के उल्लेख प्राचीनकाल से ही मिलते हैं ।

संस्कार —

'संस्कार' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता रहा है । मीमांसक इसे यज्ञाङ्गभूत पुरोडाश आदि की शुद्धि, अद्वैतवेदान्ती जीव पर स्नान आचमन आदि क्रियाओं का आरोप, नैयायिक भावों को व्यक्त करने वाली आत्म व्यंजक शक्ति को मानते हैं । कालिदास (रघु० ३।२५) के अनुसार संस्कार शिष्टता है और वैयाकरण वाणी का परिमार्जन संस्कार कहते हैं । मनु (२।२६) के अनुसार शरीर शुद्धि क्रिया को कहते हैं । अत: डा० राजबली पाण्डेय जी के अनुसार इसका अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक , मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों में से है, जिनसे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन सके । किन्तु हिन्दू संस्कार में अनेक आरम्भिक विचार धार्मिक विधि-विधान , उनके सहवर्ती नियम तथाअनुष्ठान भी समाविष्ट हैं, जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक संस्कार ही न होकर संस्कार्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि और पूर्णता भी है । साधारणत: यह समझा जाता था कि सविधि संस्कारों के अनुष्ठान से संस्कृत व्यक्ति में विलक्षणता तथा अवर्णनीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है । संस्कार शब्द का प्रयोग इस सामूहिक अर्थ में होता था ।'[१]

संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में मतैक्य नहीं है यद्यपि इनकी संख्या १०से लेकर ४० तक मिलती है , तथापि अधिकांश धर्मग्रन्थों में 'षोडश — संस्कारों' की ही गणना है ।[२] इन षोडश संस्कारों के सम्बन्ध में भी मतभेद है । परन्तु सामान्यत: ये निम्नलिखित हैं — गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, कर्णभेद , विद्यारम्भ,

---

१. हिन्दू संस्कार, डा० राजबली पाण्डेय कृत, पृ० १९, १९६९ , बनारस, चौखम्बा विद्याभवन ।

२. वही , पृ० १९-२६

उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि ।

सोमेश्वर ने मानसोल्लास के पुत्रोपभोग प्रकरण में गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णवेध, चूडाकरण, मौंजीबन्ध या व्रतबन्ध, विद्यारम्भ, गोदान, समावर्तन तथा विवाह संस्कारों का वर्णन किया है । सोमेश्वर बिल्हण के तुरत बाद हुए थे और विक्रमांकदेव के पुत्र भी थे । अत: चालुक्य परम्पराओं के सम्बन्ध में वे विल्हण से कम प्रामाणिक नहीं हैं । विक्रमांकदेवचरित में बिल्हण ने गर्भाधान (नामोल्लेख नहीं है) पुंसवन आदि कर्म (सीमन्तोन्नयन), जातकर्म, नामकरण (नामोल्लेख नहीं है), चूल-कर्म, मौंजीबन्ध (बिल्हण की आत्मकथा में), विद्यारम्भ, विवाह तथा पितृ-कर्म (मृतक क्रिया-तर्पणादि) का उल्लेख किया है । इससे स्पष्ट है कि चालुक्य कुल में प्रचलित संस्कारों का ज्ञान बिल्हण को था । वर्तमान युग में इन संस्कारों के अवशिष्ट रूप को देखने से सहज ही अनुमान होता है कि उस युग में अधिकांश संस्कार (स्मृत्यानुमोदित) प्रचलन में थे ।

गर्भाधान –

इस संस्कार का उल्लेख बिल्हण ने नहीं किया है, परन्तु पुंसवन आदि के उल्लेख से इस संस्कार का होना व्यक्त है । सोमेश्वर भी ऋतुकाल के पश्चात पुत्रार्थी के लिए स्त्री संगम करने का उल्लेख करते हैं ।[1] इसमें ऋतुकाल (१से१६) में द्वितीय और चतुर्थी तिथियों को छोड़कर स्त्री संगम करने का आदेश है । समरात्रियों में संभोग करने से पुत्र और विषम में कन्या होती है ।[2] गर्भधारण करने के पश्चात् स्तन का अग्रभाग कृष्णवर्ण होने लगता है । अत: आहवमल्ल की रानी के स्तनाग्र कृष्णवर्ण होने लगे और वीररस के दोहद का संचार होने लगा ।[3]

पुंसवन आदि कर्म–

फिर आहवमल्ल की रानी ने पुंसवन और आदि के अन्तर्गत सीमन्तोन्नयन

---

१. अभिलषितार्थचिन्तामणि, ३।१२।१३०२

२. वही ३।१२।१३०५

३. विक्रमा० २।६३,६५,७

कर्म किये ।[१] सोमेश्वर के अनुसार पुत्र की आकांक्षा से पुंसवन संस्कार गर्भ से तीसरे माह के लगने पर किया जाता था । इसके लिए रविवार, मंगल व बृहस्पति के दिन शुभ हैं साथ ही कोई पुंस नक्षत्र भी होना चाहिए ।[२] उनके अनुसार गर्भ के छठें अथवा आठवें मास के पुंस नक्षत्र में सीमन्तोन्नयन संस्कार किया जाता था[३]। यह प्रसिद्ध संस्कार है । आज भी विविध नामों से भारत के विविध क्षेत्रों में प्रचलित है । इस संस्कार में गर्भिणी का केश ऊपर उठाया जाता था ।[४]

जातकर्म -

'आहवमल्ल की रानी ने पुत्रोत्पत्ति का समय निकट जानकर वैद्यों द्वारा दी गई सर्व औषधियों से युक्त, रक्षार्थ वितीर्ण रक्षामण्डल (मन्त्र) और मन्त्राक्षरों से युक्त, चतुर कुलांगनाओं के द्वारा सुखप्रसवोचित विधियों का सम्पादन कर लेने पर प्रधान दैवज्ञ द्वारा निर्दिष्ट शुभ दिन में सूतिकागृह में प्रवेश किया । सूतिकागृह की देहली के नीचे प्रसूति रक्षार्थ औषधि गाड़ी गई थी , और देहली पर सशस्त्र प्रहरी नियुक्त थे । जिस समय मान्त्रिक इतस्ततः मन्त्राक्षरों को विकीर्ण कर आटनविधि करके हुंकार कर रहे थे , वृद्धाएं सुख प्रसव के उपाय बता रही थीं, उसी समय पुत्र उत्पन्न हुआ । मंगल वाद्य बजने लगे । चारण, गायक , वैतालिक अपने कार्यों में प्रवृत्त हुए । शास्त्र विधि के ज्ञाता आहवमल्ल ने पुरोहित द्वारा आदिष्ट विधानों का सम्पादन कर पुत्र स्पर्श किया ।'[५] बिल्हण ने न तो इसका नामोल्लेख ही किया और न विधि ही बताई है । मानसोल्लास से ज्ञात होता है कि नववें मास पुत्रोत्पत्ति पर जातकर्म किया जाता था ।[६] विक्र-

---

१. विक्रमां०, २।६३,६५-७ , २।७८

२. मानसो० ३।१२।१२५१,१२७७-८

३. वही ३।१२ । १२५३-४

४. सीमन्तः उन्नीयते यस्मिन्कर्मणि तत्सीमन्तोन्नयनमिति कर्मनामधेयम् -
-संस्कारप्रकाश , वीरमित्रोदयम, जि०१,पृ०१७२

५. विक्रमां० २।८०-९१

६. मानसोल्लास- एक अध्ययन, पृ० २१

माकाभ्युदय में विक्रम का जातकर्म इस प्रकार वर्णित है ('रत्नजटित अंगूठी और मधुसर्पिषी (मधुघृत) को अंगुलि से शिशु के मुख में डाल कर वेदमन्त्रोच्चार के साथ माता के स्तन्यपान में पुत्र को नियुजित किया । फिर इष्ट देवों का भक्ति से प्रणाम कर अमात्य, पुरोहित, अन्त: पुराधिकारियों के साथ वह सूतिकागृह से बाहर आया और धनादि दान किया ।'[१] मानसोल्लास में भी यही विधि वर्णित है ।[२]

नामकरण--

शिशु का नाम विक्रमादित्य रखा गया ।[३] बिल्हण ने किसी उत्सव का उल्लेख नहीं किया है । सोमेश्वर के अनुसार जन्म से तेरहवें दिन विक्रम का नाम करण मंगलवाद्य और ब्राह्मणों की आशीर्वाद परम्परा के बीच सम्पन्न हुआ ।[४]

बिल्हण ने अन्नप्राशन और कर्णवेध का संकेत भी नहीं दिया है । विक्रमाकाभ्युदय और मानसोल्लास के अनुसार ये छठें मास और प्रथम या द्वितीय वर्षान्त में होते थे ।[५] नामानुरूप इन संस्कारों में क्रमश: शिशु को अन्न चटाया जाता और कर्णवेध किया जाता था ।

चूलकर्म--

शनै: शनै: विक्रम बढ़ने लगा और अस्फुट शब्दोच्चार करने लगा , फिर क्रम से उसका चूलकर्म किया गया ।[६] मानसोल्लास तीसरे वर्ष में अथवा कुलपरम्परानुरूप शुभनक्षत्र में चूडाकर्म करने का निर्देश करता है ।[७]

---

१. विक्रमाकाभ्युदय, पृ० ५१

२. मानसोल्लास एक अध्ययन, पृ० २२

३. विक्रमा० ३।१

४. विक्रमाकाभ्युदय, पृ० ५१, मानसो० ३।१२।१२६२-३

५. वही, पृ० ५२, मानसो ३।१२।१२७८

६. विक्रमा० ३।६

७. मानसो ३।१२।१२८०,७६

उपनयन-

बिल्हण के मुख में मौंजीवन्धन से ही उच्च वेदोच्चारण के शब्दों के रूप में सरस्वती वास करती थीं ।[१] सोमेश्वर ने भी उपनयन न कह कर 'मौंजी निबन्धन' पद का ही प्रयोग किया है, उनके अनुसार यह गर्भ से आठवें या ग्यारहवें वर्ष सम्पन्न होता था ।[२] विक्रमांकाभ्युदय के अनुसार विक्रम का उपनयन वसिष्ठ गोत्री श्रेष्ठ ब्राह्मण पुरोहित रुद्र मिश्र ने गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में कराया था ।[३] मनु का कथन है कि गर्भ से आठवें वर्ष ब्राह्मण और ग्यारहवें वर्ष राजा का उपनयन करना चाहिए ।[४] मानसोल्लास और विक्रमांकाभ्युदय के उक्त विवरण से प्रतीत होता है कि सोमेश्वर, भी मनु से सहमत हैं । उपनयन के पश्चात् शुभ नक्षत्र में विद्यारम्भ होता था । तत्पश्चात् उन्होंने गोदान या केशान्त संस्कार का उल्लेख किया है पर आयु का उल्लेख नहीं किया है वे केवल युवावस्था में करने का निर्देश करते हैं । इसकी आयु के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में मतभेद है ।[५] सोमेश्वर द्वारा आयु का निर्देश न किये जाने से यह प्रतीत होता है कि इस काल में इस संस्कार के लिए कोई आयु निर्धारित नहीं थी । समावर्तन संस्कार में भी आयु का कोई बन्धन नहीं प्रतीत होता, पर गोदान के पश्चात् होने से यह भी युवावस्था में किया जाता रहा होगा ।[६]

विवाह-

उक्त संस्कारों के पश्चात् वयस्क होने पर विवाह संस्कार होता था । गृह्यसूत्रों के काल से ही विवाह के आठ प्रकार कहे गये हैं -ब्राह्म, प्राजापत्य,

---

१. मौंजीबन्धात्प्रभृति -विक्रमां०, १८।८१

२. मानसो०, ३।१२।८३

३. विक्रमांकाभ्युदय, पृ० ५३

४. गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ।। मनु० २।३६

५. मानसोल्लास- एक अध्ययन, पृ० घ ३६-३७

६. वही, पृ० ३७

आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस, पैचास[१]। यद्यपि विविध धर्मशास्त्रों में इनका क्रम भिन्न भिन्न है, तथापि इनके स्वरूप के सम्बन्ध में सभी में मतैक्य है।[२] मानसोल्लास में ब्राह्म, राक्षस, गान्धर्व, आसुर तथा पैशाच विवाहों का वर्णन है।[३] दैव, आर्ष, और प्राजापत्य का उल्लेख न होने से, डा० मिश्र का अनुमान ठीक ही प्रतीत होता है कि उस युग में उक्त तीन विवाहों का प्रचलन बिल्कुल नहीं था।[४] दैव विवाह में यज्ञस्थ ऋत्विज को यथाशक्ति अलंकृत कन्या दी जाती थी और आर्ष में 'गोमिथुन लेकर कन्या प्रदान की जाती थी। साथ साथ धर्म का आचरण करें' यह कह कर जिसमें कन्यादान किया जाता है वह प्राजापत्य कहा जाता था।[५] शेष पाँच सोमेश्वर[६] के अनुसार निम्नलिखित हैं —

(१) ब्राह्म में पिता अपनी कन्या को अलंकृत करके वर को प्रदान करता था।

(२) परस्पर अनुराग के कारण हुआ विवाह गान्धर्व होता था।

(३) युद्ध के द्वारा कन्या का अपहरण राक्षस कहलाता था।

(४) धन देकर कन्याग्रहण आसुर विवाह और

(५) छल के द्वारा कन्या का अपहरण करना पैशाच कहा जाता था।

विक्रमांकदेवचरित में विक्रम के दो विवाहों का वर्णन है — प्रथम चोलराज कन्या के साथ और दूसरा करहाट राजपुत्री चन्द्रलेखा के साथ। चोलराज का दूत विक्रम की सभा में चोलराज का विवाह प्रस्ताव लेकर आया। फिर चोलराज ने सीमावर्ती तुंगभद्रा नदी के तट पर विक्रम के साथ अपनी कन्या का विवाह कर, कन्या को प्रचुर सम्पत्ति देकर विदा किया। उक्त विवरण से स्पष्ट है कि यह विवाह ब्राह्म विवाह-पद्धति से सम्पन्न हुआ था। यह प्रणाली आज भी अत्यन्त प्रचलित है। विक्रम के साथ चन्द्रलेखा का परिणय स्वयंवर सभा में हुआ

---

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र १।६, गौतम धर्मसूत्र, ४।६-१३, बौधायन धर्मसूत्र, १।११, मनु ३।२१

२. काणे — हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, २,१,पृ० -५१६

३. मानसो पुत्रोपभोग प्रकरण — १५१४-२२

४. मानसोल्लास एक अध्ययन, पृ० ४५

५. याज्ञ, समिताक्षरा, १।५६, ६०

६. मानसो०पुत्रोपभोग १५१४-२२ , याज्ञ० १।५८-६१

था । स्वयंवर अपने मूल रूप में गान्धर्व विवाह ही है ।[१] अत: धर्मशास्त्रों में स्वयंवर को विवाह का पृथक् प्रकार नहीं कहा गया है । धर्मशास्त्रों और महाकाव्यों में स्वयंवर के विविध रूप उपलब्ध हैं, जिनमें से कुछ में विवाह के अन्य प्रकारों का सन्निविश भी मिलता है । स्वयंवर की परिभाषा धर्मशास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है —रजस्वला हो जाने के तीन वर्ष पश्चात् तक यदि कन्या का पिता उसके लिए उपयुक्त वर के अन्वेषण में असमर्थ रहता है, तो कन्या को स्वयंवरा होने का अधिकार है ।[२] गौतमधर्मसूत्र (१८।२०) रजस्वला होने के तीन माह पश्चात् ही कन्या को यह अधिकार दे देता । याज्ञवल्क्य (१।६४) का कथन है कि कन्या संरक्षकों के अभाव में भी स्वयंवरा हो सकती है । धर्मशास्त्रों के विवरण से ज्ञात होता है कि स्वयंवर का उक्त प्रकार जाति विशेष या वर्ग विशेष के लिए न होकर सर्वसाधारण के लिए था । स्वयंवर के इसी - स्वरूप के आधार पर ही वीरमित्रोदय टीका उसे गान्धर्व विवाह का पर्याय मानती है ।

परन्तु राजवर्ग में इस स्वयंवर पद्धति ने विशिष्ट स्वरूपों को अपना लिया । स्वयंवर नाम होते हुए भी इस विधि में कन्या की इच्छा अप्रधान हो गयी । कि पिता वर की योग्यता को आंकने के लिए कोई प्रतिज्ञा या लक्ष्य आगन्तुक राजपुत्रों के समक्ष रखता था । जैसे द्रौपदी स्वयंवर में ऊपर नाचती हुई मछली के प्रतिबिम्ब को तेल में देखकर बेधने के प्रसंग एवं सीता स्वयंवर में धनुषभंग । अत: यह स्वरूप गान्धर्व से भिन्न है और विवाह के किसी प्रकार के अन्तर्गत नहीं आता ।

स्वयंवर के दूसरे रूप में गान्धर्व और राक्षस विवाहों के संयोग मिलते हैं । गान्धर्व और राक्षस विवाह राजाओं अर्थात् क्षत्रियों के लिए प्रशंसनीय माना जाता था ।[३] असुर से सु-समन्वित स्वयंवर भी राजाओं के लिए प्रशस्य माना

---

१. त्वं मे पतिस्त्वं मे भार्येत्येवं कन्यावरयो: परस्परनियमबन्धात् पित्रादिकर्तृकदाननिरपेक्षायो विवाह: स गान्धर्व इत्यर्थ: .... एवं च स्वयंवरोऽपि गान्धर्व विवाह एव । —याज्ञ १।६१ पर वीर मित्रोदय टीका ।

२. वशिष्ठ धर्मसूत्र १७।६७-८, मनु० ९।९०, बौधायन धर्मसूत्र ४।१।१३

३. गान्धर्वेण विवाहेन बह्वयो राजर्षिकन्यका: ।--॥ शाकुन्तलम् ३।२०, [illegible] [illegible] प्रशस्यते [illegible] ॥ आदि—महा० आदि पर्व २११।२१

गया ।[१] भीष्म काशी नरेश की तीन पुत्रियों को स्वयंवर में जीत कर लाये थे उनमें से दो (अम्बिका और अम्बालिका) का विवाह विचित्रवीर्य के साथ कर दिया था । यह स्वयंवर आसुर विवाह से भिन्न नहीं है । महाभारत में वर्णित प्रसिद्ध रुक्मिणी हरण रुक्मिणी की कृष्ण में अनुरक्ति के कारण बलपूर्वक हुआ था । अत: वहाँ गान्धर्व और आसुर का संयोग कहा जायगा । इसी प्रकार जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता ने पिता के शत्रु पृथ्वीराज चौहान को वरण कर लिया था और भीषण युद्ध के पश्चात् ही पृथ्वीराज उसे ले जा सका । अत: यह भी गान्धर्व और आसुर से मिश्रित स्वयंवर विवाह कहा जायगा । स्वयंवर के उक्त दोनों प्रकारों में शक्ति की प्रधानता होने से युद्धप्रिय जाति में ही इसका महत्व बढ़ा । केवल राजाओं में ही स्वयंवर का प्रचुर प्रचलन का कारण उनकी समृद्धि थी ।

तीसरे प्रकार में कन्या की इच्छा प्रधान होती थी । महाभारत का दमयन्ती स्वयंवर (वनपर्व ५४ अध्याय) इसका उदाहरण है । रघुवंश (सर्ग ६) का इन्दुमती स्वयंवर और विक्रमांकदेवचरित का चन्द्रलेखा स्वयंवर भी इसी कोटि के हैं । बिल्हण ने चन्द्रलेखा स्वयंवर का वर्णन इस प्रकार किया है । "तूर्य से युक्त दुन्दुभी नाद हो रहा था और आगन्तुक नरेश अपना स्थान ग्रहण कर रहे थे । विक्रम भी अपने लिए निर्धारित सुवर्ण सिंहासन पर आसीन हुआ । वह मण्डप रत्न और मुक्त जटित वितान से आच्छादित था और रत्नमण्डित भूमि पर राजाओं के प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे । सभामण्डप में विक्रम सर्वातिशायी तेजस्वी थे । इसी बीच शृंगार किये हुए, गजगति से मुख में कपूरी पान की वीटिका दबाये और श्वेतक्षौम वस्त्र का उत्तरीय ओढ़े हुई पुष्पों की स्वयंवर माला से युक्त स्वयंवरा चन्द्रलेखा सभामण्डप में अवतीर्ण हुई । वह विलासपद्म लिये हुए थी और साथ में प्रतिहाररक्षी थी, जो प्रत्येक राजा का परिचय दे

---

१. स्वयंवरं तु राजन्या: प्रशंसन्त्युपयान्ति च ।
प्रमथ्य तु हृतामाहुर्ज्यायसीं धर्मवादिन: ।। महा०भा० आदि पर्व, १०२।१६
महाभारत में स्वयंवर के प्रसंगों का बाहुल्य है — महाभारत में नारी — डा० भवलकर, पृ० १५०-५, सागर, विक्र०, २०२१

रही थी । अन्त में चन्द्रलेखा ने स्वयंवर माला विक्रम के कण्ठ में अर्पित कर दी । तदुपरान्त विक्रम वधू के साथ परिणय लीला मण्डप या विवाह मण्डप में आया, जहाँ दोनों का विवाह सम्पन्न हुआ ।'[1] वस्तुत: स्वयंवर विवाह के इस प्रकार की पृष्ठभूमि में शक्ति का ही हाथ रहता था, क्योंकि शक्तिशाली नरेश ही स्वयंवर में सफल होता था । यदि अल्प शक्ति वाले को वरण कर लिया जाय, तो अन्य नरेश युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाया करते थे ।[2]

विक्रमांकदेवचरित में वर्णित विवाह प्रसंगों से केवल इतना प्रतीत होता है कि ब्राह्म और स्वयंवर दोनों विवाहों में विवाह प्रक्रिया वर के कन्यागृह में पहुँच जाने के पश्चात् प्रारम्भ होती थी । स्वयंवर में कन्या द्वारा वर के मनोनीत कर लिए जाने पर वर-वधू विवाह मण्डप में विवाह विधि के सम्पादनार्थ जाते थे । विवाह प्रक्रिया के सम्बन्ध में विल्हण मौन हैं । सोमेश्वर[3] द्वारा वर्णित विधि से हम विक्रमांकदेव के विवाह प्रक्रिया की सहज कल्पना कर सकते हैं । मानसोल्लास के अनुसार सर्वप्रथम कन्यागृह में बने हुए मण्डप और वेदी में नन्दीमुख (कुलदेवों का पूजन) के पश्चात् वर को मधुपर्क से सम्मानित किया जाता था, फिर कन्यादान विवाह होम-पाणिग्रहण तथा भ्रमण क्रियाएं सम्पन्न की जाती थीं । भ्रमण के सम्बन्ध में उनका कथन है कि कन्या का पाणिग्रहण हो जाने के पश्चात् कन्या तथा वरको एक तन्तु द्वारा लपेट दिया जाता है और परस्पर पांच बार सूत्र की प्रदक्षिणा करते हैं जो धर्मशास्त्रों की सप्तपदी प्रक्रिया से भिन्न है । तत्पश्चात् वह सूत्र सावधानी से उनके पैरों के नीचे से निकाल लिया जाता है । सोमेश्वर इन उत्सवों को उत्साह, राग, रंग, वाद्य गीत, नृत्य आदि के साथ मनाने का निर्देश करते हैं । इसके अतिरिक्त जहाँ स्मृतियों में अनुलोम विवाह में उच्चवर्ण निम्नवर्ण की कन्या से विवाह कर सकता था, सोमेश्वर केवल सजातियों में ही विवाह सम्बन्ध को उत्तम समझते हैं ।[4]

---

१. विक्रमां० ६।४२-९५१ और १०।१

२. रघु० ६। विक्रमां० १०/१।३

३. मानसोल्लास- एक अध्ययन, डा० शिवशेखर मिश्र, पृ० ३६-४४

४. वही ३।१२।१३०६ में कन्या के लक्षणों के विवरण में ' समजाति निरूपिता:' पद यही व्यक्त करता है ।

बहुपत्नीक प्रथा —

विक्रमांकदेवचरित में विक्रम के दो विवाहों के उल्लेख हैं ।[१] चोल कन्या और चन्दलदेवी के अतिरिक्त अभिलेखों में केतलदेवी, लक्ष्मीमहादेवी, मैणाल महादेवी या मलय महादेवी, माणलदेवी, पद्मलदेवी, भागलमहादेवी, सावंलदेवी आदि विक्रम की महिषियों के विवरण उपलब्ध हैं ।[२] चेदि नरेश गांगेय देव विक्रमादित्य के लिए कहा गया है कि शत गृहिणियों के साथ प्रयागस्थ वटमूल में प्रवेश कर मुक्ति प्राप्त की ।[३] देवल के अनुसार शूद्र एक वैश्य, दो, क्षत्रिय तीन और ब्राह्मण चार भार्या रख सकते हैं, परन्तु राजा यथेच्छ पत्नियां रख सकते हैं ।[४] मार्कोपोलो ने पाण्ड्यराज्य के अधीनस्थ मैवर नरेश की ५०० और कैल नरेश की ३०० पत्नियों का उल्लेख किया है । बहु पत्नीक प्रथा के उल्लेख हमें वैदिक काल से ही उपलब्ध होते हैं ।[५] बिल्हण के विवरण में बहुपत्नीक प्रथा के संकेत सामान्य जनता में नहीं उपलब्ध होते, न सोमेश्वर ही इसका उल्लेख करते हैं । अत: यह प्रतीत होता है कि जनता में इस प्रथा का प्रचलन अत्यल्प था ।

विवाह आयु —

बिल्हण के अनुसार विक्रमांकदेव के दोनों विवाह युवती कन्याओं के साथ हुए थे । क्षेमेन्द्रकृत देशोपदेश (७) में वर्णित घटना से प्रकट होता है कि विवाह वयस्क आयु में होते थे पर पति की आयु में असमानता भी रहती थी । क्षेमेन्द्र ने उक्त संकेत में युवती के वृद्ध के साथ हुए विवाह पर कटाक्ष किया है ।

---

१. विक्रमां, सर्ग ६ व ९

२. अ०हि०ड०, १, पृ० ३६८-९

३. प्राप्ते प्रयागवटमूलनिवेशबन्धौ सार्धं शतेनगृहिणीभिरमुत्र मुक्तिम्
(११२२ ई० का यश:कर्णदेव का ताम्रपट्ट) -एपी०इं०, जि० २, पृ०४

४. एका शूद्रस्य वैश्यस्य द्वे तिस्र: क्षत्रियस्य च । चतस्रो ब्राह्मणस्य स्युर्भार्या राज्ञो यथेच्छत: ।। देवल । -गृहस्थरत्नाकर, पृ० ८५ पर उद्धृत ।

५. काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, २, खण्ड १, पृ० ५५०-२

आश्रम—

प्राचीनतम धर्मसूत्रों में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,वानप्रस्थ और सन्यास (मानव जीवन के सोपानों) चार आश्रमों की व्यवस्था की गयी है। 'आश्राम्यान्ति अस्मिन् इति आश्रमः' इस व्याख्या से आश्रम का गुरु-आश्रम का भाव व्यक्त होता है। 'श्रम' धातु से निष्पन्न होने के कारण आश्रम का अर्थ जीवन के क्रमों का विविध क्रियाओं के क्रमों में विभाजन होता। विविध धर्मशास्त्र और स्मृतियों में आश्रमों का क्रम भिन्न भिन्न है, परन्तु आश्रमों के नाम संख्या और कर्तव्य में उनमें मतैक्य है। मनु के अनुसार मानव आयु सौ वर्ष है, जिसके चार विभाजन, २५,१२५ वर्षों के क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास हैं।[१]

इन आश्रमों में गृहस्थ आश्रम प्राचीनकाल से ही सामाजिक जीवन का श्रेष्ठतम सोपान माना जाता रहा है। विल्हण के काल में भी इसी धारणा के दर्शन होते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।६।२१।१) में गृहस्थ की प्रथम गणना की गई है।

विक्रमांकदेवचरित में उल्लिखित है कि आहवमल्ल को पुत्रहीन होने का दुःख था। लोक और परलोक दोनों में साथ देने वाले पुत्र के अभाव में अश्वमेध आदि क्रियाओं से क्या लाभ? गृहस्थों का कल्याण पितृऋण से मुक्ति प्राप्त किये बिना नहीं होता।[२] सेनापति कालिदास की प्रशस्ति में नागइ अभिलेख में वर्णित है 'उसका गृहस्थजीवन जगत् में पवित्रतम है। वह निरंतर ब्राह्मणों को दान देने, यज्ञ करने, देवपूजा पूर्वजों को तृप्त करने, अतिथि सत्कार, धर्मशास्त्रों में वर्णित दैनिक एवं पर्वों पर विहित आचारों में रत रहता था।[३] विक्रम ने ब्राह्मणों को दान दिया, ब्रह्मपुरियों को बसाया, कमलाविलासी का मन्दिर और तडाग का निर्माण करवाया था।[४] कश्मीर नरेशों ने मन्दिर, मठ, ब्राह्मणों के लिए अग्रहार भण्डागार आदि का निर्माण किया था तथा दान दिये थे।[५]

---

१. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जि० २, खण्ड १, पृ० ४१६-१७

२. किमश्वमेधप्रभृतिक्रियाक्रमैः सुतोऽस्ति येन्नोभयलोकबान्धवः।
ऋणं पितृणामपनेतुमक्षमाः कथं लभन्ते गृहमेधिनः शुभम्॥ विक्रमां०२।३४

३. हैदराबाद आर्केलाजिकल सीरीज़, ८, पृ० ११-१२

४. विक्रमां०, सर्ग १७

५. वही १८।१-४६

बिल्हण के पूर्वज ब्राह्मणोचित गृहस्थ धर्म का पालन करते थे । वे पवित्र चरित्र वाले और निरन्तर अग्निहोत्रों में संलग्न रहते थे । वे दान पुण्य तथा सार्वजनिक कल्याण के कार्य किया करते थे । राजकलश ने अनेक यज्ञों का अनुष्ठान किया था । उन्होंने सार्वजनिक कल्याण के हेतु द्राक्षा उद्यान , निर्मल जल वाले कूप , पोखरे और शास्त्र व्याख्यार्थ समभाभवन का निर्माण कराया था । बिल्हण की मां नागादेवी इष्टापूर्त कर्मों, अतिथिसत्कार, सेवकों को संतुष्ट रखने तथा अन्य उचित क्रियाओं में दक्ष थीं । इसके अतिरिक्त दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के उपकरणों को प्राप्त करने में समर्थ तथा कल्याण समूह का पात्र थी ।[१] वापी कूप, देवालय, उद्यान आदि का निर्माण, इष्ट और यज्ञादि कर्म पूर्त कहलाते थे ।[२] विज्ञानेश्वर[३] का कथन है कि बलिकर्म या भूतयज्ञ , स्वधा या पितृयज्ञ, होम या देवयज्ञ , स्वाध्याय या ब्रह्मयज्ञ, अतिथि सत्क्रिया या मनुष्य यज्ञ इन पंच महायज्ञों को नित्य करना चाहिए, जिनके संकेत बिल्हण के उक्त विवरणों में उपलब्ध हैं । गृहस्थ धर्मों के विस्तृत विवरण धर्मशास्त्रों में मिलते हैं ।

मृतक संस्कार—

दूत के द्वारा आहवमल्ल के निधन का समाचार पाकर विक्रम ने कृष्णा नदी के तट पर दिवंगत पिता का मृतक संस्कार किया ।[४] डा० राजबली पाण्डेजी ने इस संस्कार का विस्तृत विवेचन किया है । उनका कथन है कि इस धारणा की पृष्ठभूमि में कई विश्वास थे । मनुष्य को मृत्युभय होना स्वाभाविक था, अत: वह मृत्यु और मृत्योत्तर जीवन को सरल बनाने का समुचित प्रबन्ध करता था ।

---

१. विक्रमा० १८।७३-८०

२. अमरकोश, माहेश्वर टीका, २।७।२८ पर , पृ० १७२, झलकीकर संपादित, १८९० बाम्बे, कठोपनिषद्, प्रथमवल्लीःशांकरभाष्य, गीता प्रेस संस्करण०

३. याज्ञ० १।१०२ पर मिताक्षरा, पृ० ३५

४. संस्थितस्य पितु: क्रियाम् ।। – विक्रमा० ४।८८

उनका विश्वास था कि आत्मा अमर है । अत: उसके जीवित सम्बन्धियों में मृतक के लिए भय और स्नेह मिश्रित भाव रहते थे । इससे प्रेरित होकर प्रारम्भ में मृतक की दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएं मृतक के साथ जला दी जाती थीं और आज इन वस्तुओं को ब्राह्मणों को देकर समझ लिया जाता है कि वे मृतक को परलोक में उपलब्ध हो गयीं ।[१] बिल्हण के विवरण से प्रतीत होता है कि वे केवल `पिण्डदान` का उल्लेख कर रहे हैं जो अशौच की अवधि के अन्त में की जाती थीं ।[२] इस समय तक मृतक जीवित समझा जाता है । दशवें दिन मृतक के जीवित सम्बन्धियों के केश श्मश्रु और नख काटे जाते हैं और मृतक की प्रेत-दशा के निवारणार्थ मृतक और मृत्युदेवता यम को पिण्डदान दिया जाता है । संभवत: विक्रम कृष्णा तट पर अशौच दशा का निवारण करने के पश्चात् कल्याणी लौटे थे । प्रमुख तीर्थों पर तिल-मिश्रित जल का अर्घ्य देकर पितृजनों का तर्पण किया जाता था । बिल्हण ने मानसरोवर में सप्तर्षि मण्डल द्वारा दिये गये इस तर्पण का उल्लेख किया है ।[३]

नारी की स्थिति -

वैवाहिक जीवन— पत्नी का धर्मशास्त्रों के अनुसार, पति के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था । आहवमल्ल की धार्मिक क्रियाओं में उनकी महिषी का पूर्ण सहयोग था ।[४] पतिव्रता होना पत्नी के लिए आवश्यक था । मान-सरोवर में पार्वती के स्नान करने के कारण, अनन्त की बधुएं उसकी तरंग को सौभाग्य लोभ से मस्तक पर धारण करती थीं ।[५] नताङ्गी चन्द्रलेखा ने अपने गुणों से शनै: शनै: प्रियतम के मन को ऐसा आकृष्ट कर लिया कि विक्रम को

---

१. हिन्दू संस्कार, पृ० २६७-६८

२. पाराशर गृह्यसूत्र ३।१०।२७-२८ (गदाधर कृत क्रिया पद्धति) , चौखम्बा, १६२६ ई०

३. विक्रमा०, १८।३८, कल्याण(तीर्थाङ्क) , पृ० ६१६

४. वही, सर्ग २

अन्य सुन्दरियां नहीं लुभा सकीं ।[१] इस प्रकार पतिभक्ति नारियों का प्रधान कर्त्तव्य था, जिससे उन्हें वैभव और अमरत्व प्राप्त होता था । विपरीत आचरण करने पर वे कुष्टरोग, कमलरोग, प्लीहा और क्षय रोगों से नष्ट हो जाती हैं ऐसा उल्लेख है ।[२] बहुपत्नियों के कारण रानियों का जीवन ईर्ष्यापूर्ण बना रहता था , क्योंकि प्रत्येक पत्नी राजा का कृपा पात्र बनने का प्रयत्न करती थी । नारी विलासिता का आवश्यक अंग बन गयी थी । विक्रमांकदेवचरित अधिकांशत: रानियों और वेश्याओं के साथ विक्रम की क्रीडाओं से भरा हुआ है । राजतरंगिणी में (सप्तम तरंग) कलश, हर्षदेव आदि के विलासों का विस्तृत वर्णन है । चन्द्रलेखा के अलंकरण और प्रसाधन से शृंगार सधवा नारियों के लिए आवश्यक प्रतीत होता है, परन्तु शत्रुनारियों के शृंगार, ताम्बूल तथा हास्य रहित होने के विवरण से व्यक्त होता है, कि विधवाएं शृंगार नहीं करती थीं ।[३]

राजनीतिक जीवन— इस युग में राज परिवार की नारियां राजकार्य में भी सक्रिय थीं । विक्रमांकदेव चरित में अनन्तदेव को सुभटा महिषी के वशीभूत कहा गया है ।[४] वह राज्यलक्ष्मी को कायस्थ, विट, चारणों आदि में व्यर्थ नष्ट नहीं करती थी, अपितु उसे ब्राह्मणों , गुरुजनों और देवालयों में व्यय करती थी ।[५] कल्हण ने सुभटा को दूसरा नाम सूर्यमती कहा है । वह कुशल शासिका थी । उसने अर्थाभाव से त्रस्त कश्मीर नरेश अनन्तदेव का उद्धार किया और क्षेम केशव हलधर आदि योग्य मन्त्रियों की नियुक्ति करके शासन को सुचारु ढंग से संचालित किया । इस प्रकार अनन्त को शासन भार से मुक्त कर दिया ।

---

१. विक्रमां, १८।२६ अन्यत्र मानो रति पातिव्रतात्व व्रत को प्रकट करती हुई विक्रम से दूर हो गयी ६।१०

२. वही १०।५

फ्लीट (इंजि०, रिलेटिंग टू दि रट चीफटेन आफ सौनदत्ति) ज०ब्रा०,बा० रा०ए०सो०, १०, पृ० २२६

३. विक्रमां१।५६,१०६

४. वही १८।४३

५. वही १८।४२

यही नहीं उसका प्रभाव इतना बढ़ गया था कि उसने अनन्त को अपने पुत्र कलश को राज्याभिषिक्त करके विजयेश्वर क्षेत्र में वैरागी सा होकर रहने के लिए विवश किया ।[१८] राजतरंगिणी (तरंग-६) में कुशल शासिका रानी दिद्दा का वर्णन है । कर्णाट प्रदेश में भी इसके उदाहरण हैं । जयसिंह की बहिन अक्का-देवी कुशल शासिका और वीर थी। एक दुर्ग पर अधिकार कर लेने से उसने `रणभैरवी` उपाधि धारण की थी ।[१] इस युग में हमें समस्त भारत में नारियाँ प्रान्तपति ,सामन्त, सेनापति के रूप में शासन करती हुई दिखाई देती है ।[२]

शिक्षा —

शासन में नारियों की सफलता से सहज ही अनुमान होता है कि इस युग में राजवर्ग की स्त्रियां अवश्य ही शासन सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त करती थीं । चन्दलदेवी चातुर्य के गर्व से अपने ही हाथ से कपोलों पर चित्रांकन करती, ताड़-पत्रों का भूषण पहनती, कन्दुक और चौपड़ आदि क्रीडा करती थीं । वह लास्य नृत्य का अभ्यास करती थी और गान्धर्व कला (संगीत) में दक्ष थी ।[३] अन्य रानी पिरिय केतला देवी चतुर और संगीत में दक्ष थी । वह अनेक भाषाओं में निपुण थी और संभवत: इसीलिए अभिनव सरस्वती कही गयी है ।[४] इससे व्यक्त होता है कि कर्णाट प्रदेश की उच्चवर्ग की नारियों को शासन, युद्ध की शिक्षा के साथ ललित कलाओं और आवश्यक भाषाओं—सम्भवत: संस्कृत , कन्नड, तमिल और तेलगु का अभ्यास कराया जाता था ।

---

१८. राज. तरंग ७

१. इंडि० एन्टी०, जि० १८, पृ० २,५

२. सोसियो-इकोनामिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, पृ० १३६ , अ०हि०ड०, १, पृ० ४२२- ३

३. विक्रमा० ८।८२-७,१०।२६

४. रिपोर्ट आफ सा०इं०एपी०, १६२३ , सं० —बी०, ६७२, अनेक भाषाओं में संस्कृत कन्नड़, तमिल और तेलगु रही होगी, क्योंकि सेनापति के गुणों के वर्णन में सोमेश्वर ने चार भाषाओं के ज्ञान पर बल दिया है (मानसो०, पृ० ३७, श्लोक ६०) —दी महामण्डलेश्वरज़ , पृ० ३७६

बिल्हण की जन्मभूमि कश्मीर इस समय विद्या का केन्द्र था । वहाँ शिक्षा का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि प्रवरपुर की नारियाँ जन्मभाषा की भाँति संस्कृत और प्राकृत भाषाएँ बोलती थीं ।[१] राजतरंगिणी के अनुसार रानी दिद्दा और सुभटा सफल शासिका थीं, अत: उन्हें शासन सम्बन्धी शिक्षा अवश्य ही दी गयी होगी । नवमी शताब्दी में रचित कुट्टनीमतम् (१२२-१२५) से ज्ञात होता है नारियों को वात्स्यायन कृत कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र, संगीत आदि ललित कलाओं, पाकशास्त्र आदि की शिक्षा दी जाती रही होगी । बिल्हण ने नाट्य अभिनय में एवं नृत्य में दक्ष कश्मीरी अंगनाओं का उल्लेख किया है ।[२]

स्वतंत्रता-

सुभटा आदि रानियों द्वारा किये गये दान, पुण्य, निर्माण कार्यों तथा शासन में सक्रियता से अनुमान होता है कि नारियों को पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त थी । प्रवरपुर में नारियाँ वितस्ता तट पर स्नान करती थीं और उद्यानों तथा मठों में जाया करती थीं ।[३] हमारे पास अनेक प्रमाण हैं जिनसे ज्ञात होता है कि कश्मीर में तथा कर्णाट में परदा प्रथा बिल्कुल न थी ।[४] बिल्हण भी इसका उल्लेख नहीं करते ।

पतित जीवन-

नारियों के उच्च स्तरीय जीवन के विपरीत समाज में उनका एक ऐसा वर्ग था, जो गर्हित जीवन व्यतीत कर रहा था । इसके कई कारण थे । देश की विशृंखलित राजनीतिक दशा के कारण अनेक रजवाड़े हो गये थे जिनका जीवन भोग-विलासों से पूर्ण था । इसका प्रमुख साधन नारियाँ ही थीं । ऐसी नारियों के तीन रूप थे वेश्या, देवदासी और कुलटा । विक्रमांकदेव चरित में इस वर्ग के

---

१. यत्र स्त्रीणामपि किमपरं जन्मभाषावदेव
   प्रत्यावासं विलसति वच: संस्कृतं प्राकृतं च । विक्रमा०, १८।६

२. वही १८।२३,२६

३. वही १८।१०,२०,११

४. सोसियो इको० हिस्ट्री आफ ना०इं०, पृ० १४१, दी महामण्डलेश्वरर्ज़, पृ० ४१२

तीनों स्वरूप उपलब्ध होते हैं । वेश्याएं अपनी जीविका के लिए समाज का मनोरंजन करती थीं । विक्रम की क्रीडाओं में उनका अनेकश: उल्लेख है ।

दूसरा रूप देवदासियों का है जो ललित कलाओं—संगीत, नृत्य और अभिनय में निपुण होती थीं । विल्हण ने इस प्रकार की अंगनाओं का उल्लेख किया है । प्रवरपुर में स्थित विद्यामठ में कामिनियों की मेखला की कलकल ध्वनि होती थी, क्षेम गौरीश्वर के मन्दिर के गुणानिकामण्डप में अंगनाओं का अभिनय कौशल योगियों को भी रोमांचित करता था ।[१] मन्दिरों में नियुक्त ये नर्तकियाँ देवदासी कही जाती थीं । कश्मीर में देवदासियों के उल्लेख प्राचीन काल से ही मिलते हैं ।[२] राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि देवदासियां राजाओं के व्यक्तिगत उपभोग में भी आती थीं । दुर्लभक प्रतापादित्य द्वितीय उत्कर्ष की प्रेमिकाएं नरेन्द्रप्रभा और सह्जा देवदासियां ही थीं ।[३]

विक्रमपुर के निकट विक्रमांकदेव द्वारा निर्मित कमलाविलासी के मन्दिर के प्रांगण में भी नर्तकियों के नृत्य होते थे । ये भी देवदासियां ही रही होंगी[४]।अत: बिल्हण को दक्षिण भारत में भी इस प्रथा के प्रचलन का ज्ञान था ।

अरब यात्री अबु जईद अल् हसन (८६७ ई०)[५] का कथन है कि भारतीयों में देवदासियों की एक प्रथा थी । इस प्रथा में वचनबद्ध नारी को अपनी सुन्दरी कन्या को शैशवावस्था में ही ले जाकर पुजारी को अर्पित कर देना पड़ता था । जब वह कन्या युवती हो जाती थी , तब एक स्थान पर पर्दा डाल कर वह नवागन्तुकों की प्रतीक्षा करती थी । वह एक निश्चितमूल्य पर वृत्ति करती थी और अर्जित धन मन्दिर की व्यवस्था के हेतु पुजारी को दे देतीथी

---

१. विक्रमा० १८।२१-२३

२. राज० १।१५१ तथा अनेक उदाहरण, ४।३६,२६९

३. वही ४।३६, ७।८५७-८

४. विक्रमा० १७।२०-२१

५. एन्शेन्ट अकाउन्टस आफ इंडिया एण्ड चाइना (१८७३) पृ.- २२.

'अलबेरुनी[१] के अनुसार इस अर्जित धन को राजा सैन्य व्यवस्था के हेतु ग्रहण कर लेता था। डा० भक्तप्रसाद मजूमदार का कथन है —" यद्यपि कौटिल्य (२।२३) ने देवदासी प्रथा का उल्लेख किया है, तथापि ग्यारहवीं शताब्दी से समस्त मन्दिरों की देवदासियाँ एक स्थान पर एकत्र होकर प्रत्येक धार्मिक उत्सव में आकर्षण की वृद्धि करती थीं। इस प्रक्रिया ने धार्मिक उत्सवों को अधिक पतित नहीं, तो राग रंग का स्वरूप अवश्य दे दिया।[२] यही नहीं देवदासियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि भी होने लगी। उदाहरणार्थ गुजरात के चार सहस्त्र मंदिरों में बीस सहस्त्र देवदासियाँ थीं।

तीसरा वर्ग कुलटा का था। एक स्त्री कहती है —कुमारी होती हुई भी मैं अकेली नहीं सोई, जार (पर पुरुष) को छोड़कर कभी पति का दर्शन नहीं किया।[३] इस प्रकार की कुलटाएं समाज में सदा रही हैं। क्षेमेन्द्र ने भी वृद्ध के साथ विवाह हो जाने पर युवती को व्यभिचाररत होते प्रदर्शित किया है।[४]

खाद्य और पेय —

बिल्हण ने अक्षत और शालि का उल्लेख किया है।[५] चावल कश्मीर तथा कर्णाट दोनों स्थानों का प्रमुख खाद्यान्न था। कश्मीरी लेखकों और मार्को-पोलो के विवरणों से स्पष्ट है कि चावल कश्मीर की प्रधान उपज थी।[६] मानसो-ल्लास के अनुसार राजा के भोजन में आठ प्रकार के चावल होते थे। ये प्रकार चावल के आकार, रंग और उत्पत्ति समय के आधार पर कहे गये हैं।[७]

---

१. सचउ, २, पृ० १५७

२. सोसियो इकोनामिक हिस्ट्री आफ नादर्न इंडिया, पृ० ३७३ —३७६, स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० ४६५-६६ (यू०एन० घोषाल)

३. मया कुमार्यापि न सुप्तमेकया
न जारमुत्सृज्य पुमान्विलोकित: ।। ---- विक्रमां०, १३।८४

४. देशोपदे॰, सप्तम उपदेश, (क्षेमेन्द्र लघु काव्य संग्रह)।

५. विक्रमां० १।८, १४।२६, १३।६४,८८

६. देशोपदेश, उपदेश ८, राज० १।२४६, २।१८,५।११६-ट्रैवेल्स आफ मार्कोपोलो, जि० १,पृ० १६६

७. मानसो० ३।१३४६,१३५८

मधुर व्यंजन के हेतु शर्करा[1] और मधु[2] का प्रयोग होता था। अस्त होता हुआ चन्द्रमा क्षौद्र (मधु) मिश्रित पिशंगवर्ण भैंस के दही के सदृश लग रहा था।[3] बिल्हण के इस विवरण में मधुपर्क के प्रकार का उल्लेख है जो, मधु और दही के मिश्रण से बनाया जाता था। कौशिक सूत्र में कई प्रकार के मधुपर्कों का उल्लेख है --ब्राह्म मधु और दधि से, ऐन्द्र पायस से, सौम्य दधि और घृत से मांसल सुरा और घृत, वरुण जल और घृत, श्रावण तैल और घृत, परि-ब्राजक तैल और उसकी खली से बनते थे।[4] मधुपर्क का प्रयोग ऋत्विक्, आचार्य, राजा, स्नातक, प्रिय मित्र, वर अतिथि आदि के सत्कारार्थ किया जाता था।[5]

पेय पदार्थ में द्राक्षा रस और सुरा के प्रयोग के उल्लेख विक्रमांकदेव-चरित में उपलब्ध हैं। प्रवरपुर में ज्येष्ठ और आषाढ़ के महीनों में द्राक्षारस का पान किया जाता था, क्योंकि वहाँ द्राक्षा की उपज बहुल मात्रा में उत्पन्न होती थी।[6] विक्रम की क्रीडाओं में सुरापान के उल्लेख अनेकशः हुए हैं। चौरपंचाशिका में (६) मधुपानरक्तम् अर्थात् मधुपान से रक्तिम मुख का उल्लेख रतिक्रीडा में सुरा का प्रयोग इंगित करता है।

<u>वस्त्राभूषण और प्रसाधन--</u>

प्रवरपुर की जलवायु शीतल थी। अतः वहाँ तरह तरह के कम्बलों का प्रयोग होता था। बिल्हण ने राङ्०कवकम्बल (१६।४८), जो कस्तूरी की सुगन्धि से सुवासित थे (१८।३१), तथा रक्तकम्बलों (११।३४) का उल्लेख किया है। शिशिर ऋतु में कम्बल के अतिरिक्त रूई निर्मित वेष्टन(रजाई आदि) भी प्रयुक्त होते थे (१६।५०)। नारियों के कंचुक चुस्त रहते थे, जिनमें कुचों का उभार परिलक्षित होता था (१।१५)। वे दुकूल आ ओढ़नी धारण करती थीं (३।३३)। कांची लुट जाने पर वहाँ की अंगनाओं के पास लंगोटी ही

---

१. विक्रमा०, १८।६५
२. वही ११।६४
३. वही ११।६४
४. कौशिक सूत्र ६२
५. मानसोल्लास- एक अध्ययन, पृ० ४०-१
६. विक्रमा०, १८।२,१८,७२

शेष रह गयी थी (३।७६) गुह्यांग ढकने के लिए वस्त्र का टुकड़ा मात्र जैसा साधु लोग प्रयोग में लाते हैं) । स्वयंवर बेला में चन्द्रलेखा क्षौम वस्त्र का उत्तरीय ओढ़े हुई थी (६।६४) स्त्रियाँ उत्तरीय और अधोवस्त्र पहनती थी (१२।२३) सैनिक कवच पहनते थे ।

नारियों के अनेक आभूषणों के उल्लेख मिलते हैं । कर्णाभूषण कर्पूर ताडंक, दन्त ताडंक, कुण्डल आदि थे, जो कपोलों पर झूलते रहते थे ।[१] वे वंशमुक्ता को सूत्र में पिरोकर एकावली कण्ठ में पहनती थीं (१।३०), परन्तु वनेचरों की नारियां गुंजाफल का हार धारण करती थीं (२५) । सोने के कड़ों के भीतर लाख भरी होती थी (८।२६) । मेखला और नूपुर सिंजन करते थे क्योंकि उनमें छोटे छोटे घुंघरू लगे रहते थे (२।७० , ३।२६, १२।११) । वे अंगुलियों में मुद्रिका (८।६०), धारण करती थीं । आभूषण स्वर्ण, मोती और रत्न निर्मित होते थे । ताड़ पत्र के आभूषण भी पहने जाते थे (८।८२) । नारियां कर्पूर, चन्दन , आदि पदार्थों का प्रयोग करती थीं सुगन्धि और शीतलता के हेतु तथा घुसृण (केसर) का प्रयोग शरीर को उष्ण रखने के लिए किया करती थीं ।[२] भाल पर चन्दन तिलक (८।८०) ,नेत्रों में कज्जल (१२।७४) चरणों मे आरक्तक (१०।७५।६) और कपोलों (८।८२), कुचों पर कस्तूरी से पत्र रचना या चित्रकारी करती थीं । जलसे स्वच्छ कर लेने के पश्चात् केशों को कृष्ण अगरु धूप से सुवासित और शुष्क बनातीं (१।१४, १२।७२) और उन्हें मल्लिका आदि पुष्पों से मण्डित करती थीं (६।६२) (१२।७२) । केशों को वेणी या जूड़े में बांधा जाता था । कालिदास के काल में प्रोषितपतिकाएं ही वेणी बांधती थीं और पति मिलन पर उसे खोलती थीं [३] परन्तु चन्दलदेवी स्वयंवर मण्डप में पुष्पमण्डित वेणी बांधे हुए

---

१. विक्रमां० १।१०२,१०३,२।४, ४।२१

२. वही १।८०, २।२, २।६४, १२।७१ , १८।३१ आदि

३. वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवावभासे ।

—रघु० १४।१२

अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ।

—मेघदूत६६

प्रविष्ट हुई थीं,[१] जो स्पष्ट ही बिल्हण के काल में शृंगार का अंग थीं। वेणी संभवत: वर्तमान शैली की गूंथी हुई चोटी की भांति ही पीठ पर रहती होगी, जिन पर पुष्प मण्डन रहता था। बिल्हण ने अंधकार के लिए उत्प्रेक्षा की है कि अंधकार मानों केशबन्ध के समान पिण्डीभूत हो गया है।[२] इस उत्प्रेक्षा से व्यक्त होता है कि केशों को एकत्रित कर आजकल के जूड़े की भांति गोल करके बांध दिया जाता था। केरल की नारियां रति क्रीडा में ताम्बूल भक्षण करती थीं (७।७५३ और ६।६६)।

पुरुष भी अलंकार धारण करते थे। चालुक्यों का मूल पुरुष प्रकोष्ठ पृष्ठ पर इन्द्रनीलमणि का कंकण (१।४७) केयूर (१।४६) (भुजबन्ध) और किरीट धारण किये हुए था। विक्रम तथा स्वयंवर में उपस्थित अन्य नरेश भी रत्नजटित वलय (१५।१३), कंकण (६।८१) चूडामणि से युक्त मुकुट (६।७८) सुवर्णसूत्र (सोने की जंजीर) और मुक्तामाला (६।७७) कुण्डल (६।८०) आदि अलंकार धारण किये हुए कहे गये हैं। पुरुष भी कर्पूर (५।७७) और चन्दन का शरीर में लेप करते थे (१५।१४)। विक्रम के स्कन्धों पर तिलक चन्दन के चित्रक और स्थापक (हस्त चिह्न) थे और मस्तक पर शिव के सदृश चन्दन का लेप (त्रिपुण्ड) लगा था।[३] शरीर के स्वेद विन्दुओं को कर्पूर चूर्ण से सुखाया जाता था। (६।८०) पुरुष भी पान खाते थे और कपूरदान एवं पनडब्बा उनके साथ-साथ चलता था।[४] सोमेश्वर ने ताम्बूल को उत्तम उपभोग की वस्तु कहा है। ताम्बूल के अतिशय प्रयोग के कारण ही राजपरिवारों में ताम्बूलाधिकारी होते थे।[४] सोमेश्वर ने भूषोपभोग प्रकरण में अलंकारों की तीन प्रकार की सूची

---

१. वेणी स्फुरत्पुष्पकरोत्सुकरनि-+ --मै- शिली मुखाढ्यां ..... ।। विक्रमा०,६।६२

२. वही ११।१८

३. वही, १२।४१-४४

४. वही, ६।८२,२।८,६।८१,८२

४. मानसो ३।४०।६५६-६०, राजतरंगिणी ७।१९० - ३ से ज्ञात होता है कि कश्मीर नरेश अनन्त पद्मराज नामक एक परदेशी से पान मंगवाया करता था।

प्रस्तुत की है —स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान अलंकार, स्त्री और पुरुष के पृथगालंकार ।

प्रसाधन के उपकरणों में रजत दर्पण (११।३७) अंजनशलाका (दृशो : सुधावर्ति —२।७७) का उल्लेख हुआ है ।

आमोद-प्रमोद—

विक्रमांकदेव चरित के सात से तेरहवें तथा सोलहवें सर्गों में विक्रमांकदेव के आमोद एवं प्रमोदों के विस्तृत वर्णन हैं । राजागण आमोद प्रमोद की समस्त व्यवस्था राजप्रासादों में ही कर लेते थे । बिल्हण ने केलिवन , क्रीडागृह, लीलासर, क्रीडाशैल और लीला स्फटिक स्थली (क्रीडांगन) के उल्लेख किये हैं, जो प्रासादों में ही थे । विविध ऋतुओं में राजा तदनुरूप गृहों में निवास करता था । वसंत में वह अधिक समय क्रीडावन में व्यतीत करता था ।[2] ग्रीष्म ऋतु में वह मध्याह्न वेला में फव्वारों से युक्त कदलीदलों से आच्छादित और केतकी पुष्प से मण्डित शीतल धारागृहों में निवास करता था ।[3] मानसोल्लास गृहोपभोग प्रकरण में सोमेश्वर ने भी विविध ऋतुओं में उपयोग में आने वाले गृहों के वर्णन किये हैं । ग्रीष्मऋतु में मध्याह्न काल के हेतु मनोहर मण्डप निर्मित होता था, जिसकी भूमि सुगन्धित जलों से सिंचित रहती थी । रानियों के साथ राजा वहां मध्याह्नवास करताथा ।[4] ये मण्डप बिल्हण के धारागृहों से मेल खाते हैं ।

~~१. विक्रमा०६०।७२~~

२. विक्रमा०, सर्ग ७,८,६,१०

३. वही १२।५०-४

४. हरिद्रादलसंच्छन्ने बालुमूलकनिचिके ।
मरुकैर्दमनैर्बद्धे सिकतामयभूतले ।।
सेचिते गन्धतोयैश्च मंडपे सुमनोहरे ।
कान्ताभिर्वीज्यमानस्तु ग्रीष्मे मध्यं दिनं नयेत् ।। मानसो । ३।१।६१४

प्रासाद की छत पर प्रेयसियों के साथ ज्योत्सना का सुख लूटता था । इसके अतिरिक्त सोमेश्वर ने वर्षा, हेमन्त और शिशिर ऋतुओं के योग्य गृहों के उल्लेख भी किये हैं ।[१]

नारियां कन्दुक क्रीडाकरती थीं । चन्द्रलेखा स्थूल नितम्बों के कारण दौड़ दौड़ कर कन्दुक नहीं ला पाती थी, उसकी सखियां उसे कन्दुक उठा कर देती थीं ।[२] इसके अतिरिक्त अपना मनोरंजन भित्ति चित्र के निर्माण और सारियों (गोटों) से खेले जाने वाली क्रीडाओं के द्वारा करती थीं ।[३] सोमेश्वर के अनुसार बीस अंगुल लम्बा और चार दीर्घ चौड़ा दारु लकड़ी का फलक होता था, जिसमें ४×६ के चौबीस घर होते थे तथा दो पदकों से युक्त और एक अंगुल के अन्तर से दो वृत्ताकार पंक्तियां होती थीं । इसे ढाई अंगुल विस्तार के हस्तिदन्त निर्मित पन्द्रह श्वेत तथा पन्द्रह चित्रित पासों (गोत या सारि) से खेला जाता था । इन पाशों को चतुस्सारीक और पंचसारीक विधियों से रखा जाता था तथा उन्हें खेलने की अनेक चालें थीं ।[४]

बिल्हण ने विविध ऋतुओं के अनुकूल परिवर्तित होने वाली क्रीडाओं का उल्लेख किया है । वसन्त ऋतु में स्त्री पुरुष दोला, जल ,उपवन और पान केलि में मस्त रहते थे विक्रम चन्द्रलेखा को लेकर चैत्रमास में पुष्पमण्डित उपवन में प्रविष्ट हुआ । वहां चन्द्रलेखा को झुलाने में उसका गव्यूति (दो कोस) का भ्रमण हो गया ।[५] मानोपभोग प्रकरण में सोमेश्वर ने नौ प्रकार के यानों में दोला का वर्णन किया है । दोला सुवर्ण शृंखला की भांति पट्टों और शय्या की तरह तकिया मण्डित दिव्य पट्ट-सा होता था, एक दण्डक वाले जिस यान पर

---

१. मानसोल्लास-एक अध्ययन, डा० शिवशेखर मिश्र, पृ० २४२-४ मानसो गृहोपभोग प्रकरण ।

२. विक्रमा० ८।२२

३. मानसोल्लास एक अध्ययन, पृ० ४६३, ६६, मानसो ५।१३।७०१-७७३

~~४. वही~~

५. विक्रमा० १०।१८-३६

दो व्यक्ति झूल सकते थे ।[१] सोमेश्वर इस क्रीडा को 'आन्दोलन' नाम देते हैं। उनके अनुसार भी यह क्रीडा मनोहर वसंत ऋतु में ही खेली जाती थी । राजा प्रेयसियों के साथ पौर्णमासी की रात्रि में शृंगार सहित झूलता था । वह प्रेयसियों के मध्य पटरे पर बैठ कर शृंगारिक गानों के साथ तरह तरह के आनन्द लूटता था ।[२] दोला क्रीडा प्राचीन भारत की बहुप्रचलित क्रीडा थी इसके वर्णन अनेक काव्यों में उपलब्ध हैं । आज भी ग्रामीण ललनाएं वर्षा की रिमझिम में मधुर गानों का स्वर मिला उत्साह से झूला झूलती हैं । दोला विलास के पश्चात् पुष्पावचय क्रीडा प्रारम्भ हुई । अंगनाएं बकुल वृक्ष पर चढ़ीं । चन्द्रलेखा के नेत्रों में पुष्पपराग पड़ जाने पर दूसरी ने विक्रम का आलिंगन प्राप्त किया । किसी स्थूल शरीर वाली अंगना को सहारा देकर वृक्ष पर चढ़ाया गया , पर वह वृक्ष की जड़ पर आ गिरी ।[३] इस प्रकार भांति भांति की ठिठोलियों के साथ यह क्रीडा समाप्त हुई । फिर विक्रम ने कमलमण्डित अंगनाओं के साथ क्रीडासर में प्रवेश किया और परस्पर जल से मारने और हुड़दंग से कमल टूटने लगे ।[४]

बसंत की अन्य प्रमुख क्रीडा मधुपान थी । विक्रम की प्रेयसियों ने कामवर्धक पानक्रीडा उद्यान में प्रारम्भ की । हेमपात्र में पाटलवर्ण मधुधारा पौधे के थाले की भांति शोभित होने लगी । रत्नकेलिचषकों में उड़ेली हुई कामवर्धक ताजी मदिरा कंपन कर रही थी । वशीकरण चूर्ण की भांति कर्पूरचूर्ण उसमें मिश्रित किया गया । भ्रमर मण्डित हेमकलशियों से नेत्र नचाती हुई अंगनाएं मदिरा पान करने लगीं । उनके कपोल पाटलित होने लगे , लड़खड़ाती बोली कामोद्दीपक हो गयी । इस प्रकार मतवाली चन्द्रलेखा को शयन कक्ष में ले जाकर विक्रम ने रति

---

१. मानसो ३।१६।१६४
२. वही ५।३।१७५-१६६
३. विक्रमा० १०।३७-६२
४. वही १०।६३-७०
~~५. वही ११।४५-७२~~

क्रीडा की ।`[१] मधुपान के अवसर पर बीच बीच में मूलक (मूली) का चर्वण किया जाता था ।[२] सोमेश्वर के अनुसार राजा अटवी, शाद्वल (घास के मैदान), नदी तट, बालुकास्थल, फलपुष्प मण्डित उद्यान में अंगनाओं के द्वारा इस क्रीडा को करवाता था ।[३] वे गुड़, गन्ने के रस, द्राक्षा तथा ताल (ताड़ी) से अनेक प्रकार की मदिराओं के निर्माण का उल्लेख करते हैं ।[४] बिल्हण की भांति उन्होंने भी मूली से युक्त अनेक प्रकार के व्यंजनों का उल्लेख किया है, जिन्हें मधुपान के बीच खाया जाता था ।[५] आज भी शराब पीने वाले खट्टी, चटपटी, नमकीन वस्तुओं का प्रयोग करते हैं ।

ग्रीष्म ऋतु में विक्रम जलक्रीडा में आनन्द लेता था । मध्याह्न काल में वह `शीतल जल बिन्दुओं को छिटकाने से मानों तुषार वृष्टि करने वाले शीतल स्फटिक भूमि से निर्मित , सहस्र घण्टियों के सदृश प्रतीत होने वाले केतक पुष्पों तथा कदली पत्रों से आच्छादित होने से निरुद्ध सूर्य किरणों वाले, कामवाणों की भांति गवाक्ष रन्ध्रों से नि:सृत जलधाराओं से युक्त शीतल धारागृहों में अंगनाओं के साथ निवास करने लगा ।[६] अंगनाओं ने चन्दन लेप किया और निर्मल जल से युक्त कमलमण्डित, लीला वनदीर्घिका में कामिनियों के साथ विक्रम ने जल क्रीडा की । कामिनियों के द्वारा कर यन्त्र (पिचकारी) से छोड़े हुए जल को वह हाथ में स्थित नील-कमल पात्रों से रोक रहा था । चतुर्दिक होने वाले इस जल प्रवाह से वह` धारा-पिंजर` में स्थित सा प्रतीत हो रहा था । विक्रम ने भी जलप्रहार किया, जिसे कोई अंगना गर्दन घुमा कर बचा गई । अंगों में लगे कस्तूरी से जल मटमैला हो गया । चन्दन,कुंकुम, कज्जल धुल गये । फिर विक्रम

---

१. विक्रमा० ११।४५—७२

२. वही ६।८६

३. अटव्यां शाद्वले देशे नद्या वा बालुकास्थले ।
उद्याने फलपुष्पाढ्ये गृहे वा सुविचित्रिते ।
मधुपानोद्भवां क्रीडां स्त्रीजनै: कारयेन्नृप: ।। मानसो० ।५।१०।४४१

४. वही ५।१०।४४२-४६४

५. वही ५।१०।४६४-४७६

६. विक्रमा० १२।५०-५४

ने प्रिया के केश सँवार कर बाँधे।[१] सोमेश्वर भी प्रचंड मार्तण्ड की तीव्र विदाघ बेला में राजाओं की क्रीडावापी में सलिल क्रीडा का वर्णन किया है। उनके अनुसार जलक्रीडा नदी, पुष्करणी अथवा कण्ठजलों वाले जलाशय में की जाती थी। वह स्थान प्राकार से आवृत, चूने से स्वच्छ तथा पुष्प और कर्पूर खण्डों से युक्त रहता था। फिर राजा शुभ्रवासता और कुंकुम लेप से युक्त तरुणियों के साथ विविध प्रकार की क्रीडाएं करता जल में राजा द्वारा फेंके हुए सुवर्ण रत्न आदि को तरुणियां डुबकी लगाकर निकालती थीं। बीच बीच में राजा उन पर पुष्पों तथा जलकणों को बिखेरता और गुप्त ढंग से आलिंगनादि करता था। फिर कुछ दिन रहते क्रीडा समाप्त कर वह विविध शृंगार कर आँगन में प्रियाओं के साथ सुखपूर्वक बैठता था।[२] वात्स्यायन के अनुसार भी ग्रीष्म में ही जलक्रीडा होती थी।[३]

प्रवरपुर में भी केलिवृक्षों से युक्त अनेकों उद्यान थे। उपवनों में केलि-वापी, वापी में सुन्दरियां जलक्रीडाएं स्नान क्रीडा काल में कामनियों के स्तन केशर छूट गया था और वितस्ता लहरें उनका केश कर्षण कर रही थीं।[४] वहां धारागृहों की आवश्यकता न थी क्योंकि भीषण ग्रीष्म के संताप को दूर करने वाली शीतल शिलाएं सर्वसाधारण को उपलब्ध थीं।[५] अत: कश्मीर में भी जल व उपवन क्रीडाएं प्रचलित थीं।

हेमन्त ऋतु में विक्रम ने मृगया के लिए शुभ्र अश्व पर प्रस्थान किया। वह कृष्णावर्ण का कवच, आभूषण और नीलछत्र से युक्त था। उसके साथ में अन्त:पुर और वाराङ्गनाएं थीं। हरिणशावकों के लिए यमदूत के सदृश चित्रवर्ण

---

१. विक्रमां० १२।५६–७८

२. मानसो –५।५।२४१-२८४

३. कामसूत्र, सूत्र ४१

४. विक्रमां०, १८।१८,१६,१०

५. वही १८।१०

श्वान् आगे आगे चल रहे थे । फिर वह पर्वतीय सघन निचुल वेंत के वन में प्रविष्ट हुआ । क्रमश: शूकर झुण्ड दृष्टिगत हुआ । कुछ बढ़ कर विक्रम ने सबसे पीछे आने वाले शूकर के बाहुमूल में शर का प्रहार किया । कुछ वन्य शूकर के बाण लगते ही धराशायी हुए और कुछ कुछ पग चल कर गिरे, शूकर , केसरि, रंकुमृगों का आखेट कर वे वापस लौटे ।[१] सोमेश्वर ने इकतीस प्रकार की मृगया का उल्लेख किया है । उन्होंने मृगया के लिए उपयुक्त अनुपयुक्त वनों का भी उल्लेख किया है ।[२] विक्रम ने शुभ्र-अश्व पर मृगया के लिए प्रस्थान किया था अत: सोमेश्वर के अनुसार यह ` अश्वजा ` मृगया कही जायगी ।[३] कालिदास का कथन है कि राजाओं के लिए मृगया से श्रेष्ठ विनोद कौन है ?[४] अजन्ता की १७ वीं गुहा में घोड़े पर आरूढ़ दौड़ता हुआ चित्रित है । अन्य लोग छत्र लिए उसके पीछे खड़े हैं । अश्वारूढ स्त्रियां भी साथ हैं और कुत्ते आगे दौड़ते हुए अंकित हैं । मृगया विहार का यह दृश्य विक्रमांकदेवचरित, के सर्वथा अनुकूल है । संस्कृत साहित्य[५] तथा अभिलेखों[६] में मृगया के विस्तृत विवरण मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट है कि मृगया राजाओं और सामन्तों का प्रिय विनोद था ।

शिशिर ऋतु में भीषण ठंड में राजा रतिक्रीडा में मग्न रहता था ।[७] सोमेश्वर ने इसकी भी गणना क्रीडाओं में की है । उन्होंने शुद्धान्तपुर स्त्रियों साथ की गई क्रीडा को प्रेमक्रीडा और उन्मत्त वेश्याओं के साथ किये हुए रति-विलास को रतिक्रीडा कहा है ।[८] इसी ऋतु में प्रवरपुर के वितस्ता जल मध्य में स्थित नौकाओं पर निर्मित स्नानावास स्वर्ग सुख प्रदान करते थे ।[९] यह

---

१. विक्रमां०, १६।१७-४६

२. मानसो० ४।१५।१४४६- १६८८

३. वही ४।१५। १६७३-७४

४. शाकुन्तलम् २।५

५. रघुवंश ६।४६-५० श्रीमद्भागवत् ४।२६।४,१०,८६ आदि

६. फ्लीट, इंस्क्रि० रिलेटिंग टु रट्ट चीफटेन्स ज०वा०ब्रा०ए०सो०, जि० १०, २३४

७. विक्रमां १६।४६-५४

८. मानसो० एक अध्ययन, डा० मिश्र, पृ० ५१३-२७

९. विक्रमां० १८।३१

प्रवर पुर का विशिष्ट विनोद था ।

बिल्हण ने क्रीडाशैल का भी उल्लेख किया है ।[१] सोमेश्वर[२] के अनुसार राजा के प्रासाद में विविध वृक्षों से युक्त वन बनाया जाता था उसके मध्य में उत्तुंग शिखरों का क्रीडा पर्वत रहता था । क्रीडा पर्वत के निकट ही कुंकुम मिश्रित जल से पूर्ण कुल्या और शुभ्र बालुका से युक्त सरोवर का निर्माण किया जाता था । इस प्रकार क्रीड़ा पर्वत पर राजा शृंगार करके श्रेष्ठ वाहनों पर चढ़े विटों, प्रेयसियों तथा पंडितों से आवृत्त श्रेष्ठ गज पर आरूढ़ चामर से सुशोभित होकर आता था । फिर कंदमूल फल का भक्षण कर परिजनों को वस्त्राभूषण देकर भूधर क्रीडा का विसर्जन करता था । इस क्रीडा के मध्य तरुणियां मनोरम गीत और नृत्य से राजा को आनन्दित करती थीं । क्रीडा पर्वत के प्रसंग , संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं ।[३] सांची के तोरण पर वन्य वृक्ष की छाया में कृत्रिम क्रीडा पर्वत अंकित हैं, जिनके निकट भवन दीर्घिकाएं हैं जिनमें प्रेमी-प्रेमिकाएं क्रीडारत हैं । इस क्रीडा का स्वरूप आधुनिक 'पिकनिक' जैसा ही है ।

गीत वाद्य, नृत्य और अभिनय भी मनोरंजन के प्रमुख साधन थे । बिल्हण ने कर्णाट और प्रवरपुर दोनों प्रदेशों में उनके प्रयोग का उल्लेख किया है । पुत्रोत्पत्ति विवाह आदि उत्सवों पर इनका प्रयोग प्राचीनकाल से वर्तमान समय तक होता आ रहा है । संगीत वन विहार आदि में भी मनोरंजनार्थ प्रयुक्त होता था ।[४] राजाओं के यहां चारण, गायक , वैतालिक वेश्या आदि इसी हेतु रहते थे ।[५] नृत्य कमला विलासी तथा सोमगौरीश्वर के मन्दिरों में होते थे

---

१. विक्रमां० ७।६७

२. मानसोल्लास एक अध्ययन, पृ० ४४७-४५२

३. रघु० १६।३७, मेघ, उत्तरमेघ-१४, पंडित पुस्तकालय, काशी २०११ विक्रमाब्द

४. विक्रमां०, ८।८७

५. वही २।६०, १८।४२

तथा नगरों में नाट्यशालाओं द्वारा जनरंजन होता था। इन नाट्यशालाओं में अभिनय और संगीत का पुट रहता था।[१] यही नहीं कर्णाट के एक ग्राम में नाट्यशाला का उल्लेख[२] संगीत और अभिनय का प्रचुर प्रचलन द्योतित करता है। मानसोल्लास में भी इन क्रीडाओं के विस्तृत विवरण उपलब्ध हैं।[३] राजतरंगिणी (७।१४०-१) कुट्टनीमतम् (७५-१२३) से कश्मीर में भी इन विनोदों का प्रचलन व्यक्त होता है।

बिल्हण ने कवि और विद्वद्गोष्ठियों का उल्लेख किया है, जो प्राचीन काल से ही मनो-विनोद का साधन रही है — " काव्यशास्त्रविनोदेन कालो-गच्छतिधीमताम् "। बिल्हण के अनुसार सुख गोष्ठियों में कवित्व और वाग्मिता (वाक्चातुर्य) दोनों योग्यता रहनी चाहिए।[४] राजशेखर ने भी कवितापाठ के महत्व का वर्णन किया है।[६] विक्रमांकदेव, मुंज(६।१४४), भोज और क्षितिपति को बिल्हण ने कवि बान्धव (१८।४७,५०) कहा है। क्षितिपति उभय पार्श्वो " में बैठी हुई पण्डित मण्डलियों के द्वारा अपनी सभा का अलंकरण करता था (१८।५०)। स्वयं बिल्हण ने डाहल नरेश कर्ण की सभा में गंगाधर को परास्त किया था और विक्रम से विद्यापति उपाधि प्राप्त की थी (१८।९५,१०१)। इसके अतिरिक्त उसने अनेक विद्वद्गोष्ठियों में विजयश्री अर्जित की थी (१८।८६,८७,१०३)। गोष्ठियां कई प्रकार की होती थीं। पद गोष्ठी, वीणागोष्ठी आदि के उल्लेख मिलते हैं।[७] बाण के अनुसार विद्या-

---

१. विक्रमा० १८।२३,२६,२७, २०,२१

२. सा०इ०ए० रिपोर्ट, १९२५-६, नं० सी० ४५६

३. मानसोल्लास एक अध्ययन, पृ० ४१४-४४७

४. विक्रमा० ४।९०-१

६. काव्यमीमांसा, अध्याय ७, पृ० ८०-४, पटना, १९५४ ई०

७. महापुराण, जिनसेन कृत (९वीं शताब्दी) १४।१९०-२)

गोष्ठियों में समस्यापूर्ति, शास्त्र, नाटक, काव्य, पुराण, शिल्प, छन्द , सर्व-देशभाषा आदि पर विवाद होता था ।[१] सोमेश्वर ने भी शास्त्र-विनोद का वर्णन किया है । उसके अनुसार राज्य-कार्य, भोजनादि से निवृत्त हुआ राजा शृंगार करके सभा मण्डप में आता था और प्रसिद्ध कवि, गायक, वादी, वाग्मी, पण्डित तथा शास्त्रज्ञों को बुलाकर अपने चतुर्दिक आसनों पर बैठाता था । तत्पश्चात् उन्हें कविता पाठ करने का आदेश देता था, जिससे उनकी कविता के गुण और दोषों का निरूपण किया जा सके ।[२] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में 'गोष्ठियां प्राचीन भारत में अर्वाचीन क्लब की भांति थीं । इनके द्वारा नागरिक अनेक प्रकार से अपना मनोविनोद करते थे । गोष्ठियों में विदग्धों अर्थात् बुद्धि-चतुर और बातचीत में मंजे हुए लोगों का जमावड़ा होता था । शंकर ने गोष्ठी का लक्षण यों किया है — विद्याधन, शील, बुद्धि और आयु में मिलते जुलते लोग जहां अनुरूप बातचीत के द्वारा एक जगह आसन जमावें वह गोष्ठी है ।'[३] वात्स्यायन का कथन है कि कलायुक्त व्यक्ति गोष्ठी में अधिक सम्मान पाता है भले ही उसमें शास्त्र ज्ञान का अभाव हो, परन्तु शास्त्रज्ञ भी कलाविहीन होने पर समुचित आदर नहीं प्राप्त करता है ।[४]

सामान्य विश्वास —

जलसमाधि— इस युग में राजाओं द्वारा जल समाधि लेना एक विशेषता थी । यद्यपि मनु तथा अन्य धर्मशास्त्रों ने आत्महत्या की बहुत भर्त्सना की है ।[५]

---

१. कादम्बरी, कथामुख, अनुच्छेद, ७५

२. मानसो० ४।२१९८-२०४, डा० शिवशेखर मिश्र, पृ० ३३६-३४०

३. हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १२, पटना, और 'समानविद्याबुद्धि-शीलवित्तवयसां सह वेश्याभिरनुरूपैरालापैरासनबन्धो गोष्ठी ।'
— कामसूत्र, पृ० ५१, सूत्र ३४-३५

४. कामसूत्र, पृ० १८२, सूत्र ५०-५१ और पृ० ५८, सूत्र ५०

५. मनु ५।८९, पाराशर ४।१-२

तथापि महाभारत में पृथूदक, हिमालय,प्रयाग आदि तीर्थ स्थानों में आत्मघात को धर्मोचित कहा गया है ।[१] जैन धर्म की अनेक रीतियों में बिना भोजन के प्राणोत्सर्ग करना भी एक है, जिसे 'सल्लेखन' कहते थे । सामन्तभद्र कृत 'रत्न करण्डक' के अनुसार आपत्ति , दुर्भिक्ष, वृद्धावस्था, असाध्य रोग से आक्रान्त शरीर को मुक्त करना सल्लेखन कहलाता है । पहले ठोस भोजन का परित्याग कर केवल द्रव पदार्थ का सेवन करे, फिर शनैः शनैः उसे भी छोड़ कर उष्ण जल ग्रहण करे । अन्त में जल का भी परित्याग करके निराहार और निर्जल प्राण परित्याग के हेतु दत्तचित्त हो जाना चाहिए ।[२] बिल्हण के काल में जैन धर्म का पतन हो रहा था , अतः अभिलेखों में सल्लेखन प्रथा के अपेक्षाकृत स्वल्प उल्लेख मिलते हैं । सल्लेखन के लिए समाधि और सन्यासन् शब्द के प्रयोग[३] से यह प्रतीत होता है कि यह प्रथा मूलतः जैन भिक्षु भिक्षुणियों में ही प्रचलित थी । यह उत्सव अक्सर दक्षिण भारत स्थित प्रसिद्ध जैन तीर्थ श्रवण बेलगोला में मनाया जाता था । इस व्रत के कई उल्लेख तात्कालिक अभिलेखों में उपलब्ध हैं[४]।

इस जैन प्रथा का प्रभाव इस काल में सर्वव्यापी हो गया था और आत्मघात की शैली विविध थीं । बिल्हण ने केवल जलसमाधि का उल्लेख किया है — कृष्णा तट पर पड़ाव डाले हुए विक्रम से दूत कहता है " असमय में चाण्डाल दाहज्वर ने आहवमल्ल को पीड़ित कर दिया । चन्दन लेप किया गया पर उसे शान्ति न मिल सकी । ज्वर को असाध्य समझ कर उन्होंने मन्त्रियों से कहा कि मैंने अपने कर्तव्यों का पूर्णतः पालन कर लिया है अब जीने की अभिलाषा शेष नहीं । गिरिजानाथ की नगरी कैलाश जाना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है । अतः मैं तुंगभद्रा की गोद में शिव का चिन्तन करते हुए प्राणत्याग करना चाहता

---

१. हि०आफ धर्मशास्त्र, काणे, जि० २, खण्ड २, पृ० ६२५, और दृष्टव्य श्री जतीन्द्रशचन्द्र चट्टोपाध्याय का निबन्ध 'रेलीजस स्युसाइड एट प्रयाग' (ज० आफ यू०पी० हिस्टारिकल सोसायटी, जि० १०, पृ० ६५)

२. एपी०क०, २ , भूमिका, पृ० ६६ एम० नरसिंहाचार्य द्वारा उद्धृत ।

३. वही, पृ० ६६

४. वही — सं० १५६, वही, ७, शिकारपुर २१६, एपी०इं०, ५, पृ० १८०

हूं । मन्त्रियों द्वारा इस उचित कृत्य की अनुमति पाकर वह दक्षिणापथ जाह्नवी `तुंगभद्रा` तट पर गया और स्नान कर तुंगभद्रा में प्रविष्ट हुए उसने सुवर्ण दान करके कैलाश नगरी को प्रस्थान किया ।`[1] एक अभिलेख में भी कहा गया है कि अपना यशोवर्धन करते हुए उसने `कुरुवन्ति` में `परमयोग` का अनुष्ठान करके जगत्पति आह्वमल्ल ने स्वर्गारोहण किया ।[2] इसीप्रकार ११६० ई० में वीरशैव सिद्धरामनेस्वनिर्मित सरोवर में कूद कर जलसमाधि ले ली थी ।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि जैनों के `सल्लेखन` की भांति `जलसमाधि` का प्रचलन सभी लोगों में था ।

अन्य आस्थाएं –

प्राचीनकाल से चली आती हुई आस्थाएं इस युग में भी प्रचलित थीं । बिल्हण ने दैनिक जीवन को शुभ-अशुभ शकुन और मुहूर्तों से आबद्ध चित्रित किया है । धर्मशास्त्र सम्मत अच्छे कर्मों को करने से मनुष्य शुभ परिणाम का भोग करता है । कर्म जन्म जन्मान्तर में भी संचित रहते हैं । आह्वमल्ल पुत्र लाभ न होना भी अशुभ कर्मों का फल मानता है । अत: अश्वमेध आदि यज्ञ, शास्त्र श्रवण आदि धर्म कृत्यों के साथ ही उसने सपत्नीक शिव की उपासना का अनुष्ठान किया । फलत: आकाशवाणी द्वारा उसे तीन पुत्र प्राप्त करने का वरदान मिला । शुभ मुहूर्त में सोमदेव का जन्म हुआ । राजा ने हेमवृष्टि की और मनोतियां पूर्ण कीं ।[4] विक्रम के जन्म के पूर्व प्रधान दैवज्ञों द्वारा निर्दिष्ट शुभ दिन पर, वैद्यों द्वारा स्थापित समस्त औषधियों से युक्त, रक्षार्थ विकीर्ण मन्त्राक्षत तथा मण्डल या यंत्रों से शोभित , कुलांगनाओं द्वारा सुख प्रसवार्थ की गई विधियों से युक्त सहस्रों शुभ-शकुनों के साथ रानी ने सूतिकागृह में प्रवेश किया । प्रसव वेदना को कम करने के लिए मन्त्रों का जप किया जाने लगा । प्रसूति के रक्षार्थ सूतिकागृह की ड्योढ़ी के नीचे औषधियां गाड़ी गई और मान्त्रिक `आटन विधि से हुंकार

---

१. विक्रमा०, ४।४६-६८

२. एपी०क०, जि० ७,१३६

३. मैसूर एण्ड कुर्ग (फ्राम इंस्क्रिप्शन्स), बी० लेविस राइस, १६०६(लंदन) ,पृ०१८५०

४. विक्रमा०, २।३८-६१

का शव्द कर रहे थे । इसी बीच शुभ लग्न में विक्रम का जन्म हुआ । मंगल वाद्य बजने लगा । चारण , वैतालिक स्तवन करने लगे, सन्नद्ध गीत (सोहर) होने लगा पुरोहित ने जातकर्म आदि संस्कार किये ।[१] विक्रम के राजयोग थे और सोमदेव के पापग्रह अनिष्ट होकर उसके पास साम्राज्य रहने के प्रतिबन्धक थे ।[२] वालविक्रम व्याघ्रनख पहने था ।[३] बच्चों को रक्षामणि बांधा जाता था, जिससे उनका अनिष्ट न हो ।[४] छींक आना अशुभ माना जाता था । नारियां प्रात: उठने में आलस्य का अनुभव कर क्षुतादि अपशकुन का बहाना कर पुन: शय्या पर सो जाती थीं ।[५]

मार्को पोलो ने समाज में ज्योतिषियों की प्रधानता का चित्रण किया है । उनका कथन है कि मबर निवासियों में दर्शनमात्र से मनुष्य के चरित्र और क्षमताओं को जानने वाले व्यक्ति थे । वे शुभ और अशुभ पक्षियों के दर्शन के परिणामों की व्याख्या कर सकते थे । लोग नवजात शिशु की जन्मतिथि और समय का विवरण रखते थे, जादू टोनों के ज्ञाता के निर्देशानुसार कृत्यों का सम्पादन करते थे । ब्रैमन और लार प्रदेशों के व्यापारी सामग्री तभी खरीदते थे, जब उनकी परछाहीं निर्दिष्ट लम्बाई की होती थी ।[६]

(ख) आर्थिक जीवन

उपज—अन्न, फल,पुष्प,अन्य वृक्ष, धातु, रत्न, पशु और पक्षी—

बिल्हण ने कश्मीर से लेकर सेतुबन्ध रामेश्वरम् तक यात्रा की थी ।

---

१. विक्रमां० २।८०-९१

२. वही ३।४४,३। ४९

३. वही ३।१३

४. वही ३।५४

५. वही १३।९३

६. जि० २, पृ० ३४३-४४

अत: वह विविध धान्य, फल,पुष्प, अन्य वृक्ष, पशु और पक्षियों से परिचित था। अति प्राचीन काल से कृषि भारतीयों की प्रमुख जीविका रही है। बिल्हण ने अक्षत और शालि का उल्लेख किया है।[१] चावल कश्मीर और कर्णाट दोनों स्थानों का प्रमुख अन्न था। कश्मीरी लेखकों और मार्कोपोलो के विवरणों से स्पष्ट है कि चावल कश्मीर में बहुत मात्रा में उत्पन्न होता था।[२] मानसोल्लास से ज्ञात होता है कि राजा के भोजन में आठ प्रकार के चावल होते थे, जो आकार, रंग और उत्पत्ति—समय के आधार पर पहचाने जाते थे।[३]

कुंकुम या केशर, जिसे कश्मीरज भी कहते थे, कश्मीर की प्रमुख उपजों में एक था।[४] दूसरी प्रसिद्ध उपज द्राक्षा थी। ज्येष्ठ और आषाढ़ में प्रवरपुर निवासी द्राक्षा रस का पान करते थे।[५] अत: यही द्राक्षा का उद्भवकाल था। प्रवरपुर में तथा खोनमुष में द्राक्षा के अनेक उद्यानथे।[६] कल्हण स्वर्ग में भी दुर्लभ कुंकुम और द्राक्षा, कश्मीर की दो उपज पर गर्व करते हैं।[७] बिल्हण के अनुसार कुंकुम शरद् ऋतु में विकसित होता था, पर हेमन्त में समाप्त हो जाता था।[८]

दक्षिण भारत भी अपनी विशिष्ट उपजों के लिए प्रसिद्ध था। विक्रमांकदेवचरित में वनवास मण्डल की प्रकृति-श्री का भव्य वर्णन है — 'वहां के क्रमुक कानन (सुपाड़ीवन) श्यामवर्ण के तथा अत्यधिक सघन थे। वहां केतक (केवड़ा) पुष्प पके केले, और नारिकेल फल का बाहुल्य था तथा मादक समीर बहता था[९]।'

---

१. विक्रमा० १।८,१४।२६,१३।६४,८८

२. ट्रैवेल्स आफ मार्को पालो, जि० १, पृ० १६६, देशोपदेश, उपदेश, ८, राज० १।२४६, २।१८,५।११६-७

३. मानसो ३।१३४६-८,१३५८

४. विक्रमा० १।२१,१८।१६

५. वही १८।२

६. वही १८।१८,७२, व्यूलर रिपोर्ट, पृ० ५

७. राज० १।४२

८. विक्रमा० १४।४०, १६।१

९. वही, ५।१९-२३

एक अभिलेख में उल्लिखित है कि वनवास नाड में स्थान स्थान पर गन्ने और पान के खेत थे , और सुपाड़ी पुन्नाग, नाग, वकुल, चम्पक, चमेली, कर्णवीर , शुभ्र पाटल पुष्प और नारिकेल, कदली, आम्र, गुलाबी सेव, आदि वृक्षों से युक्त उद्यान तथा पान के सघन वंवर से युक्त उपवन थे ।[१] सुपाड़ी पश्चिमी घाट पर भी उत्पन्न होती थी ।[२] केरल और पाण्ड्य में चन्दन वृक्ष का बाहुल्य था ।[३] लंका से केरल तक कर्पूर का उत्पादन होता था[४]। इसके अतिरिक्त विक्रमांकदेवचरित में मुक्ता (नागर मोथा – १६।३४) , लवंग (लौंग) (७।२१) तालद्रुम या कर्णताल (७।७१,५।६५), तिलक वृक्ष (४।२७) , चूत द्रुम (७।४६), जातुषी (लाक्षा- ४।१०४,८।२६), प्रियाल वृक्ष (५।७२), ताम्बूल (१।६४,१०६) सप्तच्छद (१।८४) अशोक, पलाश (७।४७) , ग्रन्थपर्णी (१।१७) आदि के भी उल्लेख हैं । मुसलमान लेखक इद्रीसी का कथन है कि सन्दान (रत्नगिरि जिले में स्थित सिन्धुदुर्ग) में खजूर और नारियल तथा दक्षिण कन्नड़ में नारियल उत्पन्न होता था ।[५] याकूत के अनुसार कपूर क्यूलान और मदुरा के मध्य पहाड़ी ढाल पर होता था ।[६] इद्रीसी के अनुसार इलायची मालावार प्रदेश में उपजती थी ।[७] मलय पर्वत की प्रमुख उपज चन्दन थी । यही कारण है कि यह संस्कृत साहित्य में मलयज के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

वे आमलक (आँवला) (१४।४३), निचुल (वैंत- १६।३३), दूर्वाङ्कुर (२।२३) , शैवाल (५।३३), विम्बफल (१।३५) , विद्रुम (मूँगा ४।१७) , शरकाण्ड (सरकंडा १।७१), मूलक (मूली) और पुण्ड्रक (गन्ने) से भी परिचित थे । वे सरयू तटोद्भव पुण्ड्रक खण्डों से विशेष प्रभावित जान पड़ते हैं क्योंकि उ

---

१. ए०क०,जि० ८, सोराब १३८, दी महामण्डलेश्वरज़, पृ० ३८५

२. विक्रमां १८।६८

३. वही ४।२-१८, ५।२४, ६।११६-१२१ और कर्पूर मंजरी १।१५

४. वही ७।७५

५. अरब ज्यागरफर्स नौलेज़ आफ सदर्न इंडिया, नैनर, अ० १

६. वही, अ०, पृ० ३८६

७. वही ।

उन्होंने कश्मीरी द्राक्षा की तुलना उसके साथ की है।[१]

पुष्पों में उन्होंने पुण्डरीक, नीलोत्पल (१।२), पारिजात (१।३६), मल्लिका (२।६५), कुमुद्वती या कैरव (३। २०, १४।३१), कैतक (केवड़ा--५।२१), किंशुक (६।१२), वासन्तिका (माधवीलता -७।३४) , चम्पक (७।४५), बन्धूक (कुन्द-८।६८) आदि का उल्लेख किया है।

वे वंशमुक्ता (१।७४), गजमुक्ता (१।७६) शक्तिमुक्ता (१।१०८) और शंख (६।६४) के साथ साथ सूर्योपल (१।८१), चिन्तामणि (१।६८), चन्द्रकान्त शिला (८।१७), वैदूर्य (८।२५) इन्द्रनील (२।६) और शोणाश्म (१।१०६) मूल्यवान् पाषाणों का भी उल्लेख करते हैं। धातु (गेरू) , स्वर्ण, रजत लौह और रत्नों द्वारा निर्मितआभूषण तथा अन्य उपयोग की वस्तुओं के उल्लेख हैं।

वे कुरंग, सारंग, एण, रोहित, वातमृग, रंकुमृग और गन्धपर्णी का प्रेमी गन्धमृग-हरिणों के भेदों से परिचित थे[२]। अश्व गज और क्रमेलक (ऊंट) का सेना में उपयोग होने से प्रचुर उल्लेख है। महिषी (भैंस) (१।१८०), शिवा (१।८३), वानर (३।६२) व्याघ्र (१६।३१), मुस्ताभक्षी शूकर (१६।३४,३६) चितकबरे श्वान् (कुत्ते १६।३१) पशु भी विक्रमांकदेवचरित में उल्लिखित हैं। पताकाओं के चिह्नों के प्रसंग में मत्स्य और पन्नग (सर्प ६।७२ , ७।५) भी वर्णित हैं।

विक्रमांकदेवचरित में उल्लिखित पक्षी निम्नलिखित हैं -गरुड (ध्वज-चिह्न १।३), पुंस्कोकिल (१।१०) शुक (१।२२), चक्रवाक (१।३४), राजहंस (१।६३), दात्यूह पपीहा (२।१५), मयूर (६।५२), पारावत (कबूतर ८।८६, ताम्रचूड या कुक्कुट (११।७६,८३) और बलाका (११।३१) ।

वर्षाकाल में इन्द्रगोप (वीरवधूटी १३।३७) भूमि पर रेंगती थीं। चंचरीक (भौंरे १।२) और मशक (मच्छर -१।६६) के भी उल्लेख हैं।

---

१. विक्रमां १८।७२

२. वही १।४१-२, ३।१४, ५।७१, १६।४५-६, १।१७

व्यवसाय —

कृषि प्रमुख व्यवसाय था । परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य व्यवसाय भी थे । गन्ने से शर्करा (१८।६५) बनाई जाती थी ।

स्वर्णकार (१।२५) कसौटी पर स्वर्ण परीक्षण करके स्वर्णाभूषण किरीट, रौप्यकर्पूरकरण्ड (चांदी की कपूर की डिब्बी) (२।८) सिंहासन पात्र आदि का निर्माण करके जीविका चलाते थे । इन पर स्वर्णकार रत्नों को भी जड़ा करते थे ।[१] वैराटिक (जौहरी) मणि आदि रत्नों का परीक्षण करते थे ।[२] अयस्कार (लोहार) लोहे की वस्तुएं तीक्ष्ण शस्त्र, पिंजर घटीयन्त्र (रहट), कलशी, चषक पात्र आदि वर्तन बनाता था ।[३] हाथी दांत के बने कर्णाभूषण का उल्लेख हाथी दांत के उद्योग का संकेत देता है ।[४] भाण्ड (१५।७०) के निर्माता कुम्भकार थे । शिशिर ऋतु में रांकव कम्बल, हसन्तिका (अंगीठी (१६।४८ , १८।३७) रूई के ओढ़ने (रजाई १६।४६) ऊनी और कपास के उद्योग का संकेत देते हैं । क्षेमेन्द्र कृत नर्ममाला (१।११-१२४) समय मातृका (२।७६) तथा राजतरंगिणी (४।३४६) में अनेक प्रकार के कम्बल उल्लिखित हैं —लोहित कम्बल मुद्गकम्बल, स्थूल कम्बल, कुथा और प्रावार । पत्तन (पाटन) भेड़ों और ऊनी कपड़ों की मंडी था ।

इसके अतिरिक्त भिषग् (वैद्य) (२।८१) ,ज्योतिषी (२।८१) पुरोधसा (२।६१), चारण, गाथक (गायक), नर्तक (२।६०), धात्री (३।७), वारनारी (वेश्या) (३।१४), रजक (धोबी) ११।२४) और धीवर (मल्लाह-१३।४५) के उल्लेख भी हैं ।

उपकरण—

घटीयन्त्र (रहट ८।३३) सिंचाई के हेतु प्रयुक्त होता था । कषपट्टिका

---

१. विक्रमा० १।३१,६।१८,१८,८३,१८,~~१६।४५-६, १।१७~~

२. वही १।१६, ३।५८, मानसो० ३।११४६-७, १६८५-६, १६६१, २।४०३ में भी उल्लेख हैं ।

३. वही १३।३६, ३।१५, ८।३३, ११।४२

४. वही १।१०३

से स्वर्ण (कसौटी १।३।१४) परीक्षण किया जाता था। मौक्तिक में छिद्र शलाका या सुई से किया जाता था (१।१६) और टंकिक (छैनी १।१६) से धातु काटना आदि मोटा कार्य लिया जाता था।

भारतीय राज्यों के परस्पर सांस्कृतिक सम्बन्ध —

इस युग में राजाओं द्वारा अग्रहार और ब्रह्मपुरियों के निर्माण के अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं। ये ब्राह्मण सुदूर प्रदेशों से लाकर बसाये जाते थे। गोपादित्य ने मध्यदेशी ब्राह्मणों को खोनमुष में बसाया था।[3] इसके अतिरिक्त विविध प्रदेशों में स्थित तीर्थों और शिक्षा केन्द्रों में भी दूर दूर से तीर्थयात्री और छात्र आया करते थे। बिल्हण ने कौरवक्षेत्र, मथुरा, वृन्दावन, कान्यकुब्ज, प्रयाग, वाराणसी, अयोध्या, सौराष्ट्र, सेतुबन्ध रामेश्वरम् आदि तीर्थों की यात्रा की थी। तीर्थ यात्राएं बहुत प्रचलित थीं, जिससे भारत के दूरस्थ प्रदेशों में परस्पर जीवित सम्पर्क बना रहता था।[4] अल्-बे-रूनी के अनुसार इस समय कश्मीर वाराणसी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे।[5] क्षेमेन्द्र देशोपदेश (षष्ठ - उपदेश) में गौड छात्रों के धृष्ट व्यवहार और अनुचित आचरणों का उल्लेख करते हैं।[6] दैशिकों के हेतु सुम्टा ने मठ का निर्माण किया था।[7] रानी दिद्दा ने मध्यदेश, लाट, सौराष्ट्र के निवासियों के आश्रय के हेतु मठ बनवाया था।[8] 'कुट्टनीमतम्' में देशाटन के शैक्षिक एवं सांस्कृतिकमूल्यों का वर्णन है।[9] भू दान फलकों से ज्ञात होता है कि मध्यदेशी ब्राह्मण कुटुम्ब बंगाल, मालवा, दक्षिणाकोशल, उड़ीसा आदि स्थानों पर बसे और गौड ब्राह्मण तो दक्षिण में पाण्ड्य देश

---

३. विक्रमां० १८।७३, अनन्त, हलधर सुभटा ने अनेक अग्रहार बसाये थे (१८ वां सर्ग) और विक्रम ने ब्रह्मपुरियों से आवृत्त नगर बसाया था (१७।२६)

४. इंडियन आर्कैलाजी, १९५७-८, पृ० ५५

५. अलबैरूनीज़ इंडिया, सचउ, १, पृ० २२

६. क्षेमेन्द्र लघुकाव्य संग्रह, पृ० २९०

७. विक्रमां०, १८।४४

८. राज० ६।३००

९. वही, श्लोक २११

तक पहुँच गये थे ।[1] आश्रय की खोज में कविगण दूर दूर देशों में पहुँच जाते थे । उदाहरणार्थ कश्मीर निवासी बिल्हण कर्णाट सभा का प्रधान पण्डित बना । शंकर दिग्विजय में शंकराचार्य की दिग्विजय यात्रा से ज्ञात होता है कि धार्मिक नेतागण अपने मत के प्रसारार्थ यात्राएं करते थे । विद्वानों की रचनाएं अल्प-काल में ही एक छोर से दूसरे छोर तक प्रसरित हो जाया करती थीं । क्षेमेन्द्र कृत औचित्यविचार चर्चा (अन्तिमश्लोक से अनन्त के काल में रची गई थी) में 'परिमल' पद्मगुप्त के श्लोक उद्धृत हैं ।[2] परिमल परमार नरेश सिन्धुराज और मुंज का राजकवि था और क्षेमेन्द्र से कुछ ही वर्ष पूर्व हुआ था ।

राजा लोग तीर्थ स्थानों पर कुण्ड आदि का निर्माण कराया करते थे । राजतरंगिणी (७।१९४-९) से ज्ञात होता है कि सम्राट भोज ने पद्मराज की संरक्षता में कपटेश्वरतीर्थ में एक कुण्ड बनवाया था और पद्मराज काँच की कलशी में उस पापसूदन तीर्थ के जल को भोज के मुख प्रक्षालनार्थ भेजा करता था ।

इसके अतिरिक्त देश छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था । उनमें परस्पर युद्ध हुआ करते थे । ये युद्ध भी नये नये मार्गों को जन्म देते थे । जंगलों से होकर जाने वाली सेनाएं, जंगल साफ करती हुई आगे बढ़ा करतीं थीं ।[3]

अत: स्पष्ट है कि दूरस्थ प्रदेशों के निवासी भी एक दूसरे के बहुत समीप आ गये थे । कुंकुम कश्मीर की और दक्षिणी भारत की चन्दन उपज होकर भी समस्त भारत में धार्मिककृत्य और प्रसाधन के उपयोग में आता था । इसका कारण यही था कि भारतवर्ष के समस्त प्रदेश जल व स्थल मार्गों से जुड़े हुए थे । अत: देश का आन्तरिक व्यापार उन्नति पर था और परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान होते रहते थे । राजतरंगिणी (२१-६) के अनुसार सम्राट् हर्षदेव ने कश्मीर में कर्णाट वस्त्र, आभूषण और सिक्कों का प्रचार किया था ।

---

१. इंडियन एन्टी० १८९३, पृ० ७४

२. क्षेमेन्द्रलघुकाव्यसंग्रह, पृ० १३,२४,३५,३९

३. विक्रमां०, सर्ग ६।२५

मार्ग-

बिल्हण के विवरण से प्रतीत होता है कि प्रवरपुर से उत्तर में शारदा-तीर्थ जाने के लिए तथा बालुकाम्बुधि होकर स्त्रीराज्य (तिब्बत) के लिए मार्ग था ।[१] पश्चिम में पीरपन्त्साल पर्वतमाला तोषमैदान दर्रे से होकर लोहर दुर्ग जाने वाला दूसरा मार्ग था ।[२] दक्षिण में बान्हाल दर्रे से होकर कौरव-क्षेत्र, मथुरा, वृन्दावन, कान्यकुब्ज, प्रयाग,वाराणसी, अयोध्या, डाहल , धारा,सौराष्ट्र, कोंकण होकर सेतुबन्ध तक और वहां से कल्याणपुर तक मार्ग था ,जिससे बिल्हण गया था ।[३] विक्रम के दिग्विजय, अभियान से प्रतीत होता है कि कल्याण से वेंगि , चक्रकोट और गोंड तथा कामरूप जाने के मार्ग थे ।[४] विक्रम वनवास से चोलराजपुत्र को सिंहासन पर बिठाने के लिए कांची होता हुआ गांगैकोण्डपुर गया था वहां से वन मार्ग से तुंगभद्रा होकर लौटा था[५] पोत के कूपक (मस्तूल) का उल्लेख सामुद्रिक मार्ग के प्रचलन का संकेत देता है ।[६]

विदेशी व्यापार- आयात —

विक्रमांकदेव चरित से ज्ञात होता है कि फारस तोखारिस्तान और चीन के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध थे । विक्रमांकदेवचरित में " पारसीकतैलम् " का उल्लेख है कामदेव ने इसके लिए शरों में हिमजल से दूर न हो सकने वाले चन्दन, जल की वापी के लिए भी असाध्य पारसीक तैल का प्रयोग किया ।[६] यह तैल जल में भी जलता रहता है, अत: इसे पेट्रोल जैसा कोई द्रव होना चाहिए । डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का कथन है कि यह पारसी खानों में उपलब्ध

---

१. विक्रमां० १८।५७,१६।५१-२

२. वही १८।३८

३. वही १८।६३, ८७-१०१

४. वही, ३।७४

५. वही ६।१६--२५

६. वही २।२१

पैट्रोलियम रहा होगा , पर डा० लल्लन जी गोपाल इसे यन्त्रों के अंगों को चिकना करने के लिए प्रयुक्त गाढा तैल मानते हैं ।[१] फारस से कृमराग और पारसीक अश्वों का आयात होता ही था[१८] । अत: बहुत सम्भव है पारसीकतैल का भी आयात होता रहा हो ।

बिल्हण ने दो बार तुक्खार[२] के ~~कौ-बार~~ अश्वों के पराक्रम का उल्लेख किया है । इससे स्पष्ट है कि गुजरात और डाहल मण्डल में सेना में तुक्खार अश्व थे जैसा कि नाम से ही व्यक्त होता है, ये अश्व तोखारिस्तान से आते थे । कौटिल्य[३] ने श्रेष्ठ अश्वों में तुक्खार अश्वों का परिगणन नहीं किया है । परन्तु बिल्हण के समय तक इन अश्वों का महत्त्व और आयात बढ़ गया था । मानसोल्लास,[४] में भी इन्हें श्रेष्ठ अश्वों में परिगणित किया गया है । अन्य अश्वों का उल्लेख नहीं हुआ है , पर उन्हें यह अवश्य ज्ञात था कि उत्तर दिशा के अश्व उत्तम होते हैं ।[५] विक्रमांकदेव में चालुक्यों की सेना के अश्वों के विशद वर्णन हैं, परन्तु कर्णाट में श्रेष्ठ जाति के अश्व नहीं होते । अत: निश्चित है कि ये अश्व बाहर से ही खरीदे जाते थे । सोमेश्वर के अनुसार उत्तम अश्व कम्बोज, यवन, तेजी, वाह्लीक, आतला, तोख्खारक, सकैकाण हैं,[६] जो उत्तरस्थ प्रदेशों के ही अश्व थे ।

भारत और चीन के प्राचीन काल से ही व्यापारिक सम्बन्ध हैं । चीन से आने वाले रेशमी वस्त्र की माँग भारतीय राजाओं में बहुत थी । चीनांशुक के उल्लेख काव्यों में अनेकश: हुए हैं ।[७] बिल्हण ने हाथियों के मस्तक पर लगाये

---

१. दी इकोनामिक लाइफ आफ नादर्न इंडिया, पृ० १५२, टि० १५, डा० अग्रवाल का मत, इं०हि०क्वा०, जि० १३, पृ० २२६ के आधार पर उद्धृत किया गया है, पर उक्त संदर्भ पर यह उपलब्ध नहीं है ।

१८. वही- पृ- १५२; स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ- ५२३

२. विक्रमा०, ६।११६, १८।६३

३. अर्थशास्त्र २।३०।३२

४. मानसो० ३।४।६६६; द्रष्टव्य- हरिहरचतुरङ्ग ३/१४४-६; अश्वशास्त्र पृ- ६८, श्लो. ४७-८

५. उत्पत्तिभूमौ तुरगोत्तमानां दिशि प्रतस्थे रविरुत्तरस्याम् ।। -विक्रमा०, ७।६

६. मानसो० ३।४।६६६

७. नैषध २२।२, कुट्टनीमत ६६, और ३४४

जाने वाले चीनपिष्ट (सिन्दूर) का उल्लेख किया है ।[१] उसके नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्दूर चीन से आता रहा होगा ।

आर्थिक जीवन --

देश के समस्त प्रदेशों की आर्थिक स्थिति एक जैसी नहीं थी । जलवायु, उपज, और राजनीतिक विभिन्नताओं के कारण विविध भागों के आर्थिक जीवन में अन्तर आ जाता है । इसी प्रकार सभी कालों में आर्थिक जीवन का स्वरूप एक सा नहीं रहा । यद्यपि आर्थिक जीवन की इन कालगत और प्रान्तीय विभिन्नताओं के अध्ययन के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं हैं, तथापि स्फुट रूप से इनके संकेत साहित्य और अभिलेखों में प्राप्त होते हैं । बिल्हण ने विक्रमांकदेवचरित में कर्णाट और प्रवरपुर दो भिन्न प्रदेशों का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत किया है ।

आर्थिक जीवन के आधार पर समाज के अनेक स्तर हो सकते हैं, परन्तु विक्रमांकदेवचरित में उपलब्ध तथ्यों के अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम उसे दो वर्ग-राजवर्ग और प्रजावर्ग --में विभक्त कर सकते हैं ।

राजवर्ग (विशेष सुविधा प्राप्त)

विक्रमांकदेवचरित मुख्यत: राज जीवन से सम्बद्ध है, अत: इसमें राजाओं के आर्थिक स्तर का पर्याप्त चित्रण है । राजवर्ग के अन्तर्गत स्वयं नरेश, उसके सामन्त और अधिकारीगण मन्त्री , सेनापति, कवि आदि तथा धनी लोग परिगणित होंगे, जिन्हें अधिक वैभव प्राप्त था । बिल्हण ने राजाओं के विविध ऋतुओं में भिन्न भिन्न विनोदों का वर्णन किया है ।[२] राजधानी समृद्धि और वैभव का भाण्डार थी । विक्रमांकदेवचरित में कल्याणपुर,[३] विक्रमपुर और प्रवरपुर

---

१. विक्रमां०, १८।६८

२. वही, सर्ग ७, से १६ तक

३. वही २।१-२५

४. वही १७।१-४२.

५. वही १८।१-३२

तीन राजधानियों के विस्तृत वर्णन हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि राजधानी उत्तुंग प्रासाद, नाट्यशाला, उपवन, तडाग, देवालय, ब्रह्मपुरियां, अग्रहार आदि से युक्त तथा विलासिता के समग्र उपकरणों से समन्वित होती थी, क्योंकि राजधानी सम्राट के वैभव की अभिव्यक्ति का साधन होती थी। अत: राजा का आर्थिक जीवन अत्युच्च था।

सामन्त नरेशों को भी ये समस्त सुविधाएं प्राप्त थीं, केवल वह स्वतंत्र नरेश नहीं कहा जाता था।[१] अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सामन्त नरेश के पास भी अपनी वैभवपूर्ण आमोद-प्रमोद के साधनों से युक्त, राजधानी होती थी।[२] सम्राट की भांति ही सामन्तों का पट्टबन्ध होता था, उसकी भी अपनी राजधानी व दरबार थे।[३]

राजकवि का जीवन भी वैभव और विलासितापूर्ण था। विल्हण को छत्र धारण करने का और हाथियों को रखने का अधिकार प्राप्त था।[४] राजशेखर ने काव्यमीमांसा[५] में कवि के लिए आदर्शवातावरण का चित्र इस प्रकार अंकित किया है – " शारीरिक पवित्रता के लिए कवि के नख कटे हों, मुख में पान हो, सुगन्धित लेप लगा हो, स्वच्छ और मूल्यवान् वस्त्र हों और शिर पर पुष्प का मण्डन हो," उसका आवास स्वच्छ लिपा,पुता षट् ऋतु के अनुकूल विविध आसनों और वाटिका से युक्त हो। गृहवाटिका में क्रीडापर्वत, दीर्घिका, पुष्करिणी, कृत्रिम नदी, समुद्र, नहरें, विविध पक्षी, छायादार स्थान भूमितल, धारगृहयन्त्र, लतामण्डप, दोला आदि हों। उसके घर में संस्कृत और प्राकृत में बोलने में पटु स्त्रियां, प्राकृत बोलने वाली परिचारिका और परिचारक भी रहें।

---

१. विक्रम की सिंहदेव विद्रोही के प्रति उक्ति –

नार्पितानि कति मण्डलानि ते दन्तिनो मदमुखास्तवाधिका: ।।
राजशव्दमपहाय का तव न्यूनता भजसि दुर्नयं यत: ।। विक्रमां।। १४।२०

२. फ्लीट, इन्स्क्रि० रिलेटिंग टु दी रट्ट चीफ्टेन् आफ सौनदत्ति एण्ड बैलगाम, ज०ब०ब्रा०रा०ए०सो०, जि० १०, पृ० २५२-३, २७४-५ दी महामण्डलेश्वरज़, पृ० ३२३

३. ~~एवरज, पृ० ३२४~~

४. आ०हि०द० १, पृ० ३८३-०४

४. विक्रमां.-१२।१०१; राज.-७।८३६

५. काव्यमीमांसा अ.१० पृ.-१२१-२ पटना.

इस वर्ग में स्वर्ण और रजत पात्रों, सोने व रत्नों के विविध आभूषणों के प्रयोग होते थे। राज सिंहासन भी स्वर्ण निर्मित होता था।[१] काव्य मीमांसा में भी विविध अंगों के हेतु विविधालंकारों के प्रयोग का उल्लेख है।[२] तत्कालीन कलाकृतियां भी इसका समर्थन करती हैं।[३]

विविध ऋतुओं में अपने सुख के लिए लोग अनेक उपकरण जुटाते थे। वसन्त में विक्रम चन्दनद्रव से शीतल वापी में जलविहार और पुष्पमण्डित उपवन में दोला पुष्पावचय आदि भांति भांति की क्रीडाएं कीं। हैम पात्रों में सुरापान किया।[४] ग्रीष्म में उन्होंने धारागृह, दीर्घिका में जलविहार किया। हेमन्त में वह अन्तः-पुर, वेश्याओं आदि के साथ मृगया के लिए गया और शिशिर में कस्तूरी लेप, कृष्णाधूप से युक्त अंगीठी, रूई की रजाई आदि से ठंड का वेग कम कर रति-क्रीडा की।[५]

प्रजावर्ग—

बिल्हण के विवरण में हमें कहीं भी निम्न रहन-सहन के दर्शन नहीं होते। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि वे सदा राजपरिवारों से सम्बद्ध रहे। विक्रमांकदेवचरित में उल्लिखित है कि कर्णाटराज्य में दुर्भिक्ष आदि संकटों का प्रायः अभाव था, अतः उपज अच्छी थी एवं सुख शान्ति थी।[६] यद्यपि रजवाड़ों और सामन्तों के द्वारा मानव जीवन और सम्पत्ति की हानि होती थी, परन्तु विक्रमांकदेव के शासन काल में सुशासन के कारण स्थिति नियंत्रित थी।[७]

---

१. विक्रमां०, १।३,१६,१६,२४,८३,२।८ आदि

२. काव्यमीमांसा, अ० ६, पृ० २७

३. स्टैला क्रामरीश, जर्नल आफ दी इंडियन सोसाइटी आफ ओरियन्टल आर्ट जि० १५, पृ० १७८ और आगे।

४. विक्रमां०, ७ से ११ सर्ग तक

५. विक्रमां०, सर्ग १२,१६

६. वही १७।१-८

७. अ०हि०इ०, जि० १, पृ० ४१६-७

इसके अतिरिक्तपरवर्ती चालुक्यों के काल में (लगभग २०० वर्षों में) हमें दुर्भिक्ष के संकेत तक नहीं मिलते । सोमेश्वर द्वितीय और सिंहदेव के शासन के विवरण से ज्ञात होता है कि युद्धों के समय सैन्य संग्रहार्थ प्रजा से धन अर्जित किया जाता था जिससे प्रजावर्ग में असंतोष रहता था । दूसरे युद्ध के समय लूट मार करने और आग लगाने में प्रजा त्रस्त होती थी । विक्रम का दीर्घकालीन शासन, सिंहदेव के विद्रोह को छोड़ कर , सामान्यत: सुखशान्ति से पूर्ण था । अत: निम्नस्तर के लोग भी सहज ही जीवन यापन कर लेते थे । डा० लल्लन जी गोपाल ने 'इब्नबतूता के आधार पर लिखा है कि इस काल में रहन-सहन का निचला स्तर दयनीय नहीं था , क्योंकि वस्तुएं बहुत सस्ती थीं[१क] । अभिलेखों के उल्लेखों से भी स्पष्ट है कि कर्णाट प्रदेश समृद्धि पूर्ण था ।[१] अत: वहाँ का आर्थिक जीवन सुखमय था ।

प्रवरपुर में आर्थिक जीवन –

'प्रवरपुर में अनेक मनोरम उद्यानों में लोग विहार करते थे और प्रत्येक उपवन में केलिवापी थीं, जिनमें कामिनियां और साथ ही उनके प्रेमी युवकजन भी रहते थे । वितस्ता के दोनों तटों पर उत्तुंग प्रासाद थे जिनमें चतुर वनिताएं थीं । वहां, नारियां सुखद केशर से उष्ण स्तन वाली थीं , कस्तूरी से सुवासित रांक्व कम्बल प्रयोग में आते थे । शिशिर ऋतु में स्वर्गिक सुख प्रदान करने वाले स्नानावास थे ।' यह विवरण प्रवरपुर के जीवन के उच्च स्तर को द्योतित करता है । वस्तुत: निम्नजीवन स्तर अवश्य ही कष्टमय रहा होगा । यद्यपि केन्द्र में स्थित होने से कश्मीर की व्यापारिक स्थिति लाभप्रद थी, तथापि सिंचाई की कमी और बाढ़ों के कारण पड़े दुर्भिक्ष से काश्मीरी जनता को बार बार त्रस्त होना पड़ता था । जिससे वस्तुओं के भाव बढ़ जाते थे ।[3] विक्रमांकदेवचरित और राजतरंगिणी के वर्णनों से स्पष्ट है कि कश्मीर में राजपरिवार तथा राज्य के अधिकारियों में बहुत अशान्ति रहती थी और अक्सर कश्मीर नरेश युद्धों में व्यस्त

१क. दी इको. लाइफ आफ नार्दर्न इंडिया पृ. २२७

१. दी महामण्डलेश्वरज़ , पृ० ३८४-३९६

२. विक्रमा० १८।१-३१

३. राज० ५।७०-१,११६,२७१, ७।१२१६-१२२०

रहते थे । अत: अव्यवस्था और अधिक व्यय का बोझ जनता के आर्थिक जीवन पर ही पड़ता था । सामान्य जनता को भी ग्रीष्म के संताप के निवारणार्थ हिमवत् शीतल शिलाएं उपलब्ध थीं ।[१] इस उल्लेख से बिल्हण ने सामान्य जनता के जीवन पर कोई प्रकाश नहीं डाला है ।

(ग) प्रशासनिक जीवन

राजतंत्र-

बिल्हण ने विक्रमांकदेवचरित में कल्याणी के चालुक्यों[२] और कश्मीर की राजवंश[३] परम्परा (लोहर राजवंश) के विवरण प्रस्तुत किए हैं । दोनों ही विवरण राजतन्त्र व्यवस्था का समर्थन करते हैं । सम्राट् शासन का प्रधानतम व्यक्ति होता था । उत्तराधिकार वंशानुक्रम से प्राप्त होता था । तैलप से लेकर विक्रमांकदेव तक की परम्परा और अनन्तदेव के पश्चात् उसके पुत्र कलश का शासक होना इसी का समर्थन करता है । चोलराज (वीरराजेन्द्र) की मृत्यु के पश्चात् विक्रमांकदेव ने उसके पुत्र (अधिराजेन्द्र) का ही चोल राजधानी गांग-कुण्डपुर में राज्याभिषेक किया था ।[४] प्राचीन परम्परा के अनुकूल ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता था । आहवमल्ल विक्रमांकदेव की सैनिक क्षमताओं से प्रभावित होकर उसे युवराज बनाना चाहता था, परन्तु बिल्हण ने नायक विक्रम से इस पद को इसी आधार पर अस्वीकृत करा दिया ।[५] इड्डि-बेदंग के पुत्र न होने पर ही विक्रमादित्य पंचम और उसके भाई को राज्याधिकार

---

१. विक्रमां०, १८।३२

२. वही, सर्ग १

३. वही, सर्ग १८

४. वही ६।२४

५. ज्येष्ठे तनूजे सति सोमदेवे न यौवराज्येऽस्ति ममाधिकार: ।। ३।३५

उपलब्ध हो सका था । स्वयं विक्रमांकदेव ने न्यायत: कहीं भी अपने को पिता का उत्तराधिकारी नहीं कहा, न बिल्हण ही इस तथ्य की उपेक्षा कर सके । विक्रमांकदेव के पुत्र सोमेश्वर ने आहवमल्ल का उत्तराधिकारी और युवराज विक्रमांकदेव को ही अंकित किया है, जो यथार्थ तथ्य का स्पष्ट ही अपह्नव है ।

राज्यांग—

बिल्हण ने उपमा अलंकार के द्वारा राज्यांग का उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट है कि राजा को राज्यांगों को स्वस्थ रखना चाहिए —।[१] विज्ञानेश्वर के अनुसार ये सप्तांग स्वामी (राजा), अमात्य (मन्त्रि पुरोहित आदि), जन (ब्राह्मणादि प्रजा) दुर्ग, कोश, दण्ड (चतुरंगिणी सेना) और मित्र हैं ।[२] सोमेश्वर[३] `जन` के स्थान पर राष्ट्र और कौटिल्य[४] `जनपद` का उल्लेख करते हैं । राज्य के सातों अंगों का अपना महत्त्व है, वे परस्पर आश्रित तीन दण्डों के समान अन्योन्याश्रित रहते हैं ।[५] शुक्र के अनुसार राज्यरूप मनुष्य के नृप सिर, अमात्य नेत्र, सुहृत्, कर्ण, कोश मुख, सेना मन और दुर्ग तथा राष्ट्र हाथ पैर हैं ।[६]

स्वामी — सभी आचार्यों ने स्वामी को सप्तांग का प्रथम अंग कहा है । स्वामी अर्थात् राजा ही अमात्य, पुरोहित आदि भृत्यवर्ग की नियुक्ति करता है ।

---

१. कुर्वन्नङ्गेषु वैक्लव्यमाविष्कृतमदज्वर: ।
स निनाय श्रियं राजा राजयक्ष्मेव संक्षयम् ।। —४।१०० विक्रमा० ।

२. याज्ञवल्क्यस्मृति, १।१३।३५३ और मिताक्षरा टीका

३. स्वाम्यमात्य-सुहृद्-कोश-राष्ट्र-दुर्गबलानि च ।।
—मानसो० अनुक्रमणिका श्लोक २० ।

४. स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्रव्यसनानां पूर्वं पूर्वं गरीय इत्याचार्या: ।।
—कौटिल्यअर्थशास्त्र, ८।१।५.

५. सप्तांगस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किंचिदतिरिच्यते ।।
तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदंगं विशिष्यते ।
येनयत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिञ्श्रेष्ठमुच्यते ।। —मनु० ९।२९६-७

६. सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं तत्र मूर्धा नृप: स्मृत: । .... हस्तौपादौ दुर्गराष्ट्रौ
—शुक्रनीति सार १।६१।६२

अत: संक्षेप में राजा ही राज्य होता है ।[१] बिल्हण व सोमेश्वर का कथन है कि राजा की आज्ञारूपिणी शक्ति सभी के सिर पर स्थित रहती है ।[२] परन्तु राजा की यह महत्ता उसके गुणों के कारण ही स्थिर रहती है अन्यथा वह नष्ट हो जाता है । विक्रमांकदेवचरित के लेख-काल में भी यही धारणा सुरक्षित थी ।[३]

राज्याभिषेक — विक्रमांकदेवचरित से ज्ञात होता है कि शुभ लग्न पर कुल-नदियों (गंगादि पवित्र नदियों) के जल से नरेश का अभिषेक किया जाता था । उक्त अवसर पर चारों ओर आनन्दोत्सव मनाया जाता था । सेना के हाथी चिघ्घाड़ते थे, अश्व हिनहिनाते थे और भेरी नाद होता रहता था[४] । सैन्न बिल्हण ने विक्रमांकदेव के राज्याभिषेक स्थान का उल्लेख नहीं किया है, पर अभिषेक सदा परम्परागत स्थान पर ही किया जाता था । कल्याणी के चालुक्यों का पैतृक स्थान किसुवोलल १०७० ई० के अभिलेख में ' महा-वीर-सिंहासन ' कहा गया है । आज भी इसका 'पट्टकल्ल' (अभिषेक शिला) कहा जाना इसी परम्परा को इंगित करता है ।[५]

राजा की शिक्षा — इस सम्बन्ध में स्वल्प विवरण विक्रमांकदेवचरित में मिलता है, आहवमल्ल अपनी पटरानी से कहता है — मैंने (गुरुमुख से) सर्व शास्त्र श्रवण करके वेदों का अध्ययन किया है । इतिहासमार्गों में भी अत्यधिक परिश्रम किया है । मेरा मन गुरुजनों के अपमान से सदा विमुख रहा है । अत: मेरे लिए इस (पुत्र-प्राप्ति) का उपाय दुर्लभ नहीं है[६]।

---

१. अर्थशास्त्र, कौटिल्य कृत, ८।१-२

२. विक्रमांक० ११।६५

आज्ञारूपेण या शक्ति: सर्वेषां मूर्धनिस्थिता । —मानसो० २।८।६६६

३. सर्ग ४

४. विक्रमां० ६।६४-६८ (विक्रमांकदेव का राज्याभिषेक)

५. अ०हि०द०, जि० १, पृ० ३८२

६. अधीत[illegible] कृत: श्रुतागम: श्रमो स्ति भूतया[illegible]षु — गुरुव्यवज्ञा-विमुखसंपदा मनस्तदभ्युपायो त्र मया न दुर्लभ: ।। —२।३८

बिल्हण के काल में देश अनेक राज्यों में विभक्त था और उनमें निरन्तर युद्ध होते रहते थे । अत: सैनिक शिक्षा उन राजाओं के लिए नितान्त आवश्यक थी । क्रीडारत उस (विक्रम) बालक ने लोहपंजर में स्थित सिंह शावकों को छेड़ते हुए मानों भावी शत्रु रूपी गजेन्द्रों के युद्धों में उपयोगी उनके शौर्य को ग्रहण कर लिया ।[१] अभ्यासार्थ समस्त दिशाओं में बाण चलाया करता था और पार्थ-वत् कुशल हो गया ।[२] बचपन से ही राजकुमारों को भीषण युद्धों में विश्वास-पात्र दण्डनायकों की संरक्षकता में भेजा जाता था । आहवमल्ल द्वारा विक्रम को निरन्तर युद्धों में भेजा जाना यही सिद्ध करता है ।[३] इसके अतिरिक्त राज-कुमार को आवश्यक लिपियों संस्कृत, कन्नड़, तमिल,तेलगु तथा काव्य की शिक्षा दी जाती थी । विक्रमांक देव क्रम से लिपियों में दक्ष हो गया और कवित्व तथा वक्तृत्व शक्ति उत्पन्न करने वाली सरस्वती ने उसका मुख कमल चूम लिया ।[४] बिल्हण के समकालीन अपरार्क और विज्ञानेश्वर इस सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं देते । याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार राजा को अन्वीक्षिकी (दर्शन), त्रयी (ऋक्, युजुस् सामवेद) दण्डनीति और वार्ता (कृषि,वाणिज्य पशुपालन रूप) में प्रवीण होना चाहिए ।[५] सोमेश्वर ने राजपुत्र के लिए प्रधानत: शस्त्र शिक्षा का ही उल्लेख किया है । उसके अनुसार समावर्तन संस्कार के चौथे दिन विक्रम को धनुर्वेद , चक्रविद्या , कौक्षेयकशिक्षा, असि (क्षुरिका) सम्बन्धी तीनों चमत्कारों, शस्त्रिका चलाने, कुन्तविद्या, गदा आदि आयुधों में तथा मल्लयुद्ध के विविध बन्धों (दांव) का ज्ञान प्राप्त करने के हेतु विविधविद्याचार्यों के पास भेजा गया ।[६] तत्पश्चात् क्षुरिकाबन्धन उत्सव मनाया गया ।[७]

---

१. विक्रमा० ३।१५

२. वही ३।१८

३. विक्रमा० सर्ग ३ और ४, विक्रमांकाभ्युदय, पृ० ~~३७६~~ ५४-५

४. विक्रमा० ३।१७,१६ दी महामण्डलेश्वरज़, पृ ३७६

५. स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च ।
विनीतस्त्वथ वार्तायां त्रय्यां चैव नराधिप: ।। याज्ञ० १।१३।३११

६. अथ चतुर्थेऽहनि निर्वर्तितसमावर्तनविधिं कुमारकं विद्याभ्यसनाय धनुर्वेदपरिज्ञानाय चक्र विद्याचमत्काराय कौक्षेयकवैचक्षण्याय असिधेनुगतत्रयचमत्कारचातुर्याय,शस्त्रिका

(क्रमश: जारी)

युवराज के रूप में शासन की शिक्षा — राजा अपने पुत्र को समझदार होने पर युवराज नियुक्त करता था । परम्परया युवराज राजा का ज्येष्ठ पुत्र होता था और वही राज्य का उत्तराधिकारी भी होता था ।[१] यह परम्परा प्राचीनकाल से ही प्रचलित थी । रघुवंश में रघु के युवराज बनाये जाने का उल्लेख है । विक्रमांकाभ्युदय के अनुसार विक्रम सोलह वर्ष की आयु में युवराज पद पर अभिषिक्त हुए थे ।[२] कर्णाट साम्राज्य में बेल्वोल ३०० और पुरिगेहे ३०० में युवराज की नियुक्ति होती थी ।[३] युवराज को कण्ठिका से विभूषित करने का चलन था, जो संभवत: राष्ट्रकूटों से परम्परया प्राप्त हुआ था ।[४] उपर्युक्त आयु के राजकुमारों के अभाव में युवराजपद अस्थाई रूप से किसी विश्वस्त महामण्डलेश्वर को दे दिया जाता था । उदाहरणार्थ महामण्डलेश्वर शोभनरस सोमेश्वर द्वितीय के पूर्व बेल्वोल-पुहिगेहे में युवराज था ।[५] पुत्र के अभाव में राजा का अनुज भी युवराज बनाया जाता था । विक्रम के शासन काल में उसका अनुज जयसिंह वानवासी में युवराज नियुक्त हुआ था ।[६] ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट अपने उत्तराधिकारी को राजतंत्र के रहस्यों से अवगत कराने के लिए, जिससे सम्राट की मृत्यु के पश्चात् भी उसका साम्राज्य सुदृढ़ रह सके और अपना भार हल्का करने के लिए युवराज की नियुक्ति करता था । `जिस राज्यलक्ष्मी के हेतु (अन्य) राजाओं के पुत्र क्या क्या अनीति नहीं करते ?`[७] इस उल्लेख से प्रतीत

---

६. पिछले पृष्ठ का अवशेष — संचारपाटवप्रकटनाय असिधेनुमतत्रवक्रमत्कारचातुर्याय कुन्तविद्यानितान्तकौशलाय, गदायुध मण्डलविधिवैदग्ध्याय, मल्लयुद्धविविध बन्धुविज्ञानाय, किं बहुना सकलकलाकलाणाभ्यासाय समस्तविद्याचार्येषु समर्पयामास । — विक्रमांकाभ्युदय, पृ० ५३

७. वही, पृ० ५४

---

१. विक्रमां०३।२६—५६

२. विक्रमांकाभ्युदय, पृ० ५४

३. एपी०इं० १६, पृ० ५३ मम और आगे,बा०क०इंस्क्रिप्शन्स, १,१,८४ और ९०

४. अ०हि०डे० जि० १, पृ० ३८३

५. एपी०क०जि० ७ , शिकारपुर, ३२३

६. पाठक, हि०ए०इं०, पृ० ७३

७. यस्या: कृते भूमिभृतां कुमारा: केषां न पात्रं नयविप्लवानाम् ।। —३।४६ विक्रमां०

होता है कि युवराज नियुक्त करके सम्राट अपने साम्राज्य में सम्भावित भावी उत्तराधिकार के संघर्ष की सम्भावना न्यूनतम कर देता था ।

कर्णाट नरेशों के विरुद - बिल्हण ने तैलप को चालुक्यचन्द्र (१।६६) सत्याश्रय को चालुक्यवंशामलमौक्तिकश्री (१।७४) जयसिंह को चालुक्यसिंहासन-मण्डनत्वम् (१।७६) कहा है। सोमेश्वर प्रथम के आहवमल्ल और त्रैलोक्यमल्ल (१।८७), चालुक्यगोत्रोद्भवत्सल (१।१०१), चालुक्य विभूषण (२।२) चालुक्य-भूपाल धुरन्धर (२।६) कुन्तल पार्थिव (३।१२), कुन्तलेन्द्र (३।४१) आदि और सोमेश्वर द्वितीय के लिए भुवनैकमल्ल (६।५३) और सोमदेव (६।२७,३६-४०) विरुद प्रयुक्त हुए हैं। विक्रमादित्य षष्ठ के विक्रमांकदेव, विक्रमलाञ्छन, चालुक्य विद्याधर, चुलुक्य राजपुत्र, कर्णाटपृथ्वीपति, चालुक्यान्वयचक्रवर्ती आदि विरुद मिलते हैं।[१] बिल्हण ने सोमेश्वर प्रथम और विक्रमादित्य षष्ठ को सदा उनके विरुदों के द्वारा ही सम्बोधित किया है।

राजधर्म --

निषिद्धाकरण-- राजा के दुर्गुण विक्रमांकदेवचरित में सोमदेव के पतन के प्रसंग में वर्णित है। सोमेश्वर राजलक्ष्मी के मद में पापरत हो गया, जिससे उसकी कीर्ति नष्ट हो गई। वह महात्माओं के उपदेश पर ध्यान नहीं देता था[२]। उसकी स्थिति राजयक्ष्मा के रोगी के सदृश हो गई और उसने राज्य के अंगों (मन्त्री आदि) को क्षुब्ध कर दिया।[३] फलतः राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न होने लगी। विलास में लिप्त रहने के कारण, उसमें क्षात्र तेज समाप्त हो गया। प्रजा का उत्पीड़न करके धन संचय करने लगा।[४] अन्यत्र सिंहदेव को भी अनुचित ढंग से प्रजा के धन का शोषण करने वाला कहा गया है[५]। विक्रमांकदेव के पुत्र सोमेश्वर ने

---

१. विक्रमा० ३।१,३।२७, ४।५३,११६, ५।३०,४०,४७,८५,८६,८६,६।१८,६८ १६।१७ आदि

२. वही ४।६७-६६

३. कुर्वन्नङ्गेषु वैक्लव्यमाविष्कृतमदज्वरः ।
स बिनाय श्रियं राजा राजयक्ष्मेव संक्षयम् ।। ४।१०० ।।

४. वही ४।१०१-११४

५. वही सर्ग १८

निषिद्धाचरण के अन्तर्गत असत्यवर्जन, परद्रोहवर्जन, अगम्यावर्जन, अभक्ष्यवर्जन असूयावर्जन, पतितसंगवर्जन, क्रोधवर्जन, स्वात्मस्तुतिवर्जन, का परिगणन किया है ।[१] उक्त निषिद्धाचरण में लिप्त नरेश का अन्त हो जाता है — 'तब वह दुष्ट प्रकृति और आत्म संपत् (आंतरिक गुणों) से हीन चारों समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का शासक नरेश राज्य के आन्तरिक अंग अमात्य आदि के द्वारा मार डाला जाता है अथवा शत्रु के अधीन हो जाता है ।'[२] आत्मसंपत् या आत्मिक गुण वाग्मी, प्रगल्भ स्मृति ,मति बलवान्, उन्नततात्मा, जितेन्द्रिय, दानी, काम, क्रोधादि से रहित आदि कहे गये हैं ।[३] बिल्हण ने नरेश के पतन के मूल कारण मन्त्री आदि कहे गये राज्यांगों के लुब्ध होने तथा प्रजापीडन माने हैं जो सब कालों और परिस्थितियों में राज्य में अव्यवस्था के मूल कारण होते हैं । याज्ञवल्क्य का भी यही अभिमत है — 'जो नरेश राष्ट्र से अन्यायपूर्वक अपने कोश की वृद्धि करता है, वह शीघ्र ही विगत वैभव होकर कुटुम्बियों सहित नष्ट हो जाता है ।'[४]

विहित कर्म --

बिल्हण के मत में आदर्श नरेश में जितने गुण होने चाहिए, उन्होंने उन गुणों को विक्रमांकदेव में अंकित किया है । विक्रमांकदेव कुशाग्रबुद्धि हैं । उसने अल्पवय में ही शास्त्र में दक्षता प्राप्त कर ली थी ।[५] वह धर्मभीरु नरेश था , इसीलिए आज्ञाकारी होकर भी उसने युवराज पद को अस्वीकृत कर दिया था ।[६] गौड, कामरूप आदि विजयों को करने पर भी कहीं वह आत्मप्रशंसा नहीं करता,

---

१. मानसोल्लास—एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौखम्बा, १६६६ ई० (माला ६६) पृ० ५१-७४

२. ततः स दुष्टप्रकृतिश्चतुरन्तोऽप्यनात्मवान् ।
हन्यते वा प्रकृतिभिर्याति वा द्विषतां वशम् ।। —मानसोल्लास १।२०।३०८
और कौटिल्य ६।१।१७ भी ।

३. कौटिल्य ६।१।६

४. अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्स्वकोशं योऽभिवर्धयेत् ।
सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः ।। १।१३।३४०

५. विक्रमां०, ३।१५-१६

६. वही ३।२५

वरन् द्रविड़राज के दूत से द्रविडराज पर किये गये अपने आक्रमण पर लज्जा व्यक्त करता है ।[१] मालवराज जयसिंह ,जयकेशि आलुपेन्द्र, द्रविडनरेश, लंकाधीश आदि शरणागत राजाओं का संवर्धन करके अपनी क्षमाशीलता का परिचय दिया ।[२] राजिग और सोमेश्वर दोनों के साथ आक्रमण करने पर भी विक्रम में अपूर्व धैर्य और गम्भीरता थी ।[३]वह महापराक्रमी था ।[४ क]

प्राचीन भारतीय राजतंत्र में राजा सर्वोच्च सत्ता थी, पर वह अपनी उच्चता, स्वगुणों के कारण ही प्राप्त करता था । ऋग्वेद में राजा को मानवों में वृषभ कहा गया है ।[४ क]

रामायण के अनुसार भी बलवान्, उच्चकुलोद्भव, दयालु, जितेन्द्रिय,कृतज्ञ और सत्यवादी राजा जगत् में यशस्वी होता है ।[५] इन गुणों के अभाव में राजा नष्ट हो जाता है । सोमेश्वर के राज्यच्युत होने का भी यही कारण था । मनु-स्मृति में वेन, नहुष, सुदास, यवन, सुमुख, निमि राजाओं की ऐसी ही गति होने का उल्लेख है ।[६] बिल्हण ने भी सोमेश्वर का अन्त उक्त परिस्थिति में ही कराया है ।

मानसोल्लास[७] में वर्णित लगभग सभी विहित कर्म दान,प्रिय वचन,इष्टा-पूर्त ,अशेषदेवताभक्ति, गो विप्रतर्पणादि के दर्शन बिल्हण के विवरण में भी उपलब्ध होते हैं । विक्रमांकदेवचरित में सुशासन का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है — 'शत्रुओं से निवृत्त होकर विक्रम दानकृत्यों में रत हो गया । उसने प्रजा की मनुष्य-दत्त पीड़ा के साथ ही दैवी आपदाओं का भी निराकरण कर दिया । फलत:

---

१. विक्रमा० ~~३।२५।२६~~ , वही ५।५०/८६ २— वही- सर्ग -८, और ६।६२

३. वही ६।६८,

४. वही ५।७,२५, सर्ग ३,४

४ क ऋग्वेद १।१७७।१

५. सत्वाभिसम्पन्न: सानुक्रोशो जितेन्द्रिय: ।
कृतज्ञ: सत्यवादी च राजा लोके महीयते ।। —रामा०किष्कि० ३४।७
याज्ञवल्क्य १३।३०६,३११ (समिताक्षरा) नि०सा०प्रे०, १६४६

६. मनुस्मृति ७।४७

७. मानसोल्लास-एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७४—६६

७. वही, ~~पृ० ७४-६६~~

चालुक्य राजवंश-परम्परा का शिरोमणि बन गया । मेघ मानो उसके वश में होकर अभीप्सित जलवृष्टि करते थे, अर्थात् कुन्तल साम्राज्य में न अतिवृष्टि से अकाल पड़ता था और न अनावृष्टि के कारण ही । राज्य में कहीं अकाल मृत्यु नहीं होती थी । इस प्रकार रामराज्य की भाँति सर्वत्र सुख और शान्ति का साम्राज्य था । सूर्य अधिक तपता न था । वायु मन्द गति से प्रवाहित होती थी । वृक्षों पर फल प्रचुर मात्रा में फलते थे । नगरों में निरन्तर उत्सव होते थे। चोरी न होने से प्रजा निश्चिन्त थी।[१८]

अन्य साक्ष्यों पर विचार करने पर बिल्हण के विवरण यथार्थ प्रतीत होते हैं । १०७६ ई० में राज्यारोहण के बाद से लेकर जयसिंह के विद्रोह के दमन को छोड़ कर विक्रम के शासन काल में युद्ध के स्वल्प उदाहरण मिलते हैं । जो युद्ध हुए भी, उनका कोई दुष्प्रभाव प्रजा पर नहीं पड़ा, क्योंकि ये युद्ध राज्य की सीमा पर ही होते रहे । अत: प्रजा का जीवन आक्रमणों से सुरक्षित रहता था । यद्यपि रजवाड़ों और सामन्तों के द्वारा मानवजीवन और जायदाद की हानि होती थी, परन्तु विक्रमांकदेव के राजकर्तृत्व काल में, जब साम्राज्य सुदृढ था, स्थिति नियंत्रित थी । इसके अतिरिक्त तलारि के अधीन प्रत्येक गाँव में सुरक्षा पुलिस और स्थानीय शासकों के अधीन सुरक्षा सेना रहा करती थी ।[१] प्रकृति के प्रकोप पर मनुष्य का वश नहीं रहता, पर सौभाग्य से परवर्ती चालुक्यों के शासनकाल में, लगभग २०० वर्षों के अन्दर हमें कोई भी भीषण दुर्भिक्ष के संकेत नहीं मिलते । राजा प्रजा की सुविधा के लिए उपज कम होने पर, कर की दरें घटा देता था । कनकवीडु , बेल्लारी जिले में, से प्राप्त एक लेख में कहा गया है कि शासन ने गाँव और वहां के निवासियों के लिए एक `कौल` की स्वीकृति दी थी । इसके पूर्व कर का ६० वराह ग्राम की जर्जरित अवस्था के कारण छोड़ दिया गया था ।[२] मानसोल्लास में उल्लेख है कि राजा को शरणागत की रक्षा करनी चाहिए। ~~शरणागत~~ व्याघ्र, सिंह, गज, चोर, शत्रु से भयभीत शरणागत व्यक्ति को कहते हैं ।[३] प्रजा को अभय दान देना राजा का परम कर्तव्य होता है ।[४]

---

१८. - विक्रमा. १८।१-८.

१. अ०हि०द०(शास्त्री) जि० १, पृ० ४१६-७

२. रिपोर्ट, सा०इ०ए०पी०, १६१६, सं० `बी` , ५४८

३. व्याघ्रसिंहगजैश्चौरै: शत्रुभिश्चापि विद्रुत: ।
भयाच्छरणमायात: शरणागत उच्यते ।। —मानसो० १।२०।३०५

४. याज्ञवल्क्य (१।१३।३२३) —प्रजाभ्यश्चाभयं सदा ।

याज्ञवल्क्य के अनुसार प्रजा का विधिवत् पालन करना चाहिए, क्योंकि समस्त दानों से इसका अधिक फल है।[१] इस प्रकार राजा का प्रमुख कर्तव्य(प्रजा-रंजन) करता हुआ विक्रमदान कृत्य में भी अद्वितीय था - निर्लोभ विक्रम सुवर्ण को तृणवत् समझता था, अत: मानों स्व दु:ख कथन हेतु उसने याचकों के कानों में अपना निवास बना लिया। यही नहीं देशान्तर में आये याचकगण भी सुवर्ण के अतिशय दान से कर्णाभूषण पहनने लगे। इस प्रकार दरिद्रता ने याचकों के साथ का परित्याग कर दिया। अपने शिखर पर देवता निवास होने से कांचन भूधर, विक्रम के स्वर्णदान की क्रिया को सुनकर भी, उसके धर्मभीरु होने से निर्भय रहा।[२] आहवमल्ल ने अश्वमेध आदि यज्ञ किये थे।[४] विक्रम ने कमलाविलासी विष्णु का मन्दिर विक्रमपुर के निकट बनवाया तथा विक्रमपुरी के चारों ओर ब्रह्मपुरियों का निर्माण किया था।[५] राजा कवियों को प्रचुर सम्मान व धन से मंडित कर देता था। विक्रम द्वारा विद्यापति की उपाधिऔर प्रभूत ऐश्वर्य प्राप्त करने का उल्लेख बिल्हण ने किया है।[६] जिसका समर्थन राजतरंगिणी से भी होता है।[७] १०८७ ई० के नीलगुण्ड ताम्रपट्ट में उल्लिखित है कि कल्याणी निवासी सम्राट ने नीलगुण्ड ग्राम ५००विद्वान् द्रविड ब्राह्मणों को दान में दिया था।[८] विक्रम षोडश महादान किया करता था। द्विज के लिए कल्पवृक्ष विक्रम से हेमतुलादान को लेने अगस्त्यमुनि पुन: आयेंगे, इस आशा से मानों विन्ध्य पर्वत को खड़े होने की इच्छा होने लगी।[९]

---

१. याज्ञवल्क्य १।१३।३३४-३३६

२. विक्रमां० १७।९-१४

~~३. वही १७।९।१४~~

४. वही २।३४

५. वही १७।२६

६. वही १८।१०१

७. राज ७।९३६

८. एपि० इंडि०जि० १२, पृ० १५४

९. विक्रम० १७।३६-४२

मन्त्रगति (षाड्गुण्य रूप)-राजा को षाड्गुण्य रूप मन्त्र का उचित रीति से पालन करना चाहिए। गुप्तचर विक्रम से कहता है ` केवल वात्सल्य का आश्रय लेकर नीतिमार्ग का उल्लंघन क्यों करते हैं ? जहाँ षाड्गुण्यरूप मन्त्र विपरीतता को प्राप्त होता है, वहाँ महाविष से विशिष्ट नहीं रहता अर्थात् महाविष के सदृश ही रहता है।`[१] कौटिल्य के अनुसार सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय द्वैधीभाव षाड्गुण्य कहलाते हैं।[२]

देश और काल आदि की अपेक्षा से जो अन्य राजा को द्वारा विजित नहीं हो सकता है, नीतिज्ञ उसके साथ सन्धि (मित्रता) कर लेता है।[३] कौटिल्य के अनुसार पणाबन्ध:सन्धि:[४] अर्थात् सन्धि मैत्री की कुछ शर्तों पर होती है। सोमेश्वर[५] के अनुसार सन्धि चार प्रकार की होती है मैत्र सन्धि गुणों से आकृष्ट होकर की जाती है। सम्बन्धज सन्धि विवाह सम्बन्ध द्वारा सन्धि को कहते हैं विक्रम की चोलराज से सन्धि इसी कोटि में परिगणित होगी।[६] परस्परोपकाराख्य अर्थात् परस्पर उपकार करने के भाव से की गई सन्धि , जिसमें राजिग चोल और सोमेश्वर द्वितीय के बीच हुई सन्धि आती है।[७] अन्तिम उपहार सन्धि, जिसमें गज, अश्व, सुवर्ण, भूमि आदि दिया जाता है, जयकेशि के साथ हुई विक्रम की तथा द्रविड राज के साथ जयसिंह की सन्धियाँ परिगणित होंगी। चन्द्रलेखा के शरीर में युवावस्था के प्रवेश के समय दोनों नेत्रों का दोनों कानों के साथ अनवरत (सीमा-विवाद होने लगा। कामदेव दोनों स्तनों से संरुद्ध हृदय पर बलपूर्वक स्थित है।

---

१. विक्रमां० १४।३

२. अर्थशास्त्र ७।१।१२, मनु० ७।१६०, याज्ञ० १।३४६ आदि में भी इनका वर्णन है।

३. नाक्रान्तिसाध्यो य: कश्चिद् देशकालव्यपेक्षया।
   तेन सार्धं प्रकुर्वीत संधिं नीतिविचक्षणा: ।।
   --मानसो० २।१२।७२५

४. अर्थशास्त्र ७।१।६

५. मानसो०, २।११।७२६- ३२

६. विक्रमां०, सर्ग ५

७ वही -६।२७

शव्द करती हुई रसना को नितम्ब दूर फेंक रहा है। इस प्रकार तन्वगी के शरीर में यौवन का प्रवेश हो रहा है।[१] इस विवरण से सीमा विवाद की व्यंजना है। सीमान्त प्रदेश में दूसरों का प्रवेश न होने देना तथा दूसरों के क्रन्दन की उपेक्षा कर विजय करना विजयेच्छु के लिए स्वाभाविक है।

यत्नों, सहायकों और बल के अनुसार मन्त्रहीन नरेश के साथ विग्रह करे, जो आठ प्रकार के होते हैं।[२] विग्रह अपकार को कहते हैं।[३] सोमेश्वर का विक्रम के साथ और जयसिंह का विक्रम के साथ विग्रह[४] सोमेश्वर के अनुसार मदोत्थित विग्रह के अन्तर्गत आता है, जो सुरा, विद्या धन यौवन आदि के भावों से किया जाता है।

यान विजय यात्रा को कहते हैं। इसका कारण बलातिशय होता है।[५] विजगीषु नृप यान का आश्रय लेता है।[६] विक्रमांकदेव की दिग्विजय यात्रा 'यान' ही कही जाएगी।[८] सोमेश्वर ने आठ प्रकार के यानों का उल्लेख किया है।[९]

शत्रु की उपेक्षा करके निश्चिन्त होकर युद्ध से विरत रहना आसन कहलाता है।[१०] सोमेश्वर के अनुसार ये दस प्रकार के हैं।[११]

' स्वयं हीन शक्ति नरेश जब विजय का मार्ग नहीं देखता या शक्तिशाली व्यक्ति से पीड़ित किया जाता है और वह क्षेम स्थान (सुरक्षित स्थान) का आश्रय लेता है।[१२] आश्रय तीन प्रकार का होता है।[१३] शक्तिशाली शत्रु से

---

१. विक्रमा०, ८।८५

२. मानसो० २।१२।७३३-४२

३. अर्थशास्त्र ७।१।७

४. विक्रमा० सर्ग ६ और १४

५. अर्थ० ७।१।६, कामन्दक नीतिसार ११।१

६. जिगीषोः शत्रुविषये यानं विधीयते। - विष्णुधर्मोत्तर २।१५।३-५

७. विक्रमा०, सर्ग ३ और ४

८. वही

९. मानसो २।१३।७४६

१०. अर्थ ७।४।४६

११. वही २।१४।६३०-६४८

१२. वही २।१५।६४६

१३. वही २।१५।६५०-५५, अर्थ० ७।२।८, १४,२१

पीडित हो या गुणों से प्रभावित हो उसी शत्रु के आश्रित हो जाना सत्संश्रय कहा जाता है, आलुपेन्द्र, जयकेशि आदि नरेशों का विक्रम की शरण आना इसी के अन्तर्गत आता है ।[१] मालवेन्द्र का बलवान शत्रुओं के भयसे विक्रम की शरण में आना[२] 'अन्य संश्रय' होगा । आत्मरक्षा के लिए दुर्ग का आश्रय लेना दुर्गसंश्रय है ।

सन्धि और विग्रह दोनों के साथ प्रयोग को कौटिल्य द्वैधीभाव कहते हैं[३] - अर्थात् ऊपर से सन्धि करके प्रच्छन्न शत्रुता रखने को द्वैधीभाव (दो भिन्न भाव) कहेंगे । सोमेश्वर ने द्वैधीभाव के पांच प्रकार बताये हैं ।[४]

उपायचतुष्टय- विक्रमांकदेवचरित में दूत विक्रम से कहता है कि सिंहदेव अनेक उपायों से भेद (नीति) के द्वारा आपकी सेना को जर्जरित करना चाहता है ।[५] भेद उत्पन्न करने के छह उपायों का उल्लेख सोमेश्वर ने किया है -प्राणहा (मृत्यु. भय उत्पन्न करके) मानभंग(मानभंग की शंका), धनहानि, बन्धक (बन्दी बना लेगा), दाराभिलाषक (सुन्दरी भार्या पर कुदृष्टि है), अंगभंग (अपने कुल का होने से कुलज व्यक्ति कहीं विद्रोह न करे, इस शंका से राजा द्वारा अंगभंग कराये जाने की आशंका उत्पन्न करना) हैं ।

विक्रम ने सिंहदेव को वनवास मण्डल का अधिपति बना कर[६] दान का विद्रोह से विरत करने के लिए समझा बुझा कर[७] साम का और न मानने पर उसका दमन करके[८] दण्ड नीति का पालन किया था । इस प्रकार उपायचतुष्टय[९] के दर्शन भी विक्रमांकदेवचरित में होते हैं ।

---

१. विक्रमां०, ५।२५,२६
२. वही ३।६७
३. अर्थ ७।१।११
४. मानसो० २।१६६५८-६६
५. विक्रमां० १४।१२
६. वही १४।४
७. वही १४।१६-२२
८. वही, सर्ग १५
९. याज्ञ० (मिताक्षरा सहित) १।१३।३४६

राजा और भृत्यवर्ग -

बिल्हण की दृष्टि में राजा को विशाल हृदय होना चाहिए । अपने अधीन भृत्यों (अमात्य से लेकर क्षुद्र सेवकों तक सभी) के लिए वह अगम्य न रहे, उनके साथ आत्मीय व्यवहार रखे । राजदूत विक्रम से आहवमल्ल की समाधि के पूर्व की धारणा के सम्बन्ध में कह रहा है" मतवाले द्वारपालों के द्वारा गर्दन पकड़ कर सेवकों को हटवा देने वाले अज्ञानी नरेश अपने को दैव से भी अगम्य समझते हैं ।"[१] बिल्हण अनेक राजदरबारों से परिचित थे । अत: इस प्रकार के नरेशों के साथ अवश्य ही उनका सम्पर्क हुआ होगा ।

सामन्त-

भारत में सामन्तवाद का मूल मित्र राजाओं की स्थिति और अधिकारियों को पुरस्कार रूप में भूमिदान के चलन में है । मौर्ययुग में केन्द्रीय शासन के व्यवस्थित और सुदृढ़ होने के कारण सामन्तवाद पनप नहीं सका, परन्तु गुप्त काल में दूरवर्ती छोटे छोटे राज्यों को साम्राज्य में सम्मिलित न करने की समुद्रगुप्त की नीति और विगत वैभव राजवंशों की पुनर्प्रतिष्ठा के कारण सामन्तों की संख्या बढ़ने लगी होगी । इस काल में सैनिक पद की वंशानुक्रम से निश्चित होना भी एक कारण बना । शनै: शनै: सामन्त नरेशों की संख्या बढ़ने लगी और १०३० से ११९४ ई० के मध्य इन नरेशों ने इतना शक्ति-वर्धन कर लिया कि उनके सम्राट के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे सामन्तों की गतिविधियों पर सतर्क दृष्टि रखें । डा० भक्तप्रसाद मजूमदार ने[२] इस अवधि में सामन्तों की संख्या और महत्व बढ़ने के निम्नलिखित कारण दिये हैं -(१) मध्यकालीन भारतीय नरेश के अष्ट लक्ष्यों में विजित राजा को करद सामन्त नरेश बनाना भी एक विहित कृत्य था । यद्यपि विशिष्ट परिस्थितियों में विजित राज्य का शासन वहां के राजवंशी को न देकर विश्वस्त अधिकारी को सुपुर्द कर दिया जाता था । इसके अतिरिक्त दामाद अर्थात् सम्बन्धियों (रिश्तेदारों) की पारस्परिक शत्रुता के निवारणार्थ राजा अपने भाइयों और सम्बन्धियों को किसी प्रान्त का अधिपति बना देता था ।

---

१. आत्मानमुन्मदद्वा:स्थ-गलहस्तितसेवका: ।
अगम्यमपिदैवस्य विदन्ति हतपार्थिवा: ।। ४।५६

२. सोसिओ -इको०हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया,पृ० १३-१७,कल० १९६०

(३) राजा अपने अधिकारियों को उनकी महत्वपूर्ण सेवाओं से प्रसन्न होकर उन्हें सामन्त बना देता था ।

यह युग युद्ध प्रधान था । अत: इस काल के सम्राट् और सामन्त सभी अपनी शक्ति वृद्धि में लगे हुए थे । अल्पशक्ति अधिपति के केन्द्र में होने पर या उत्तराधिकार के लिए होने वाले संघर्षों में वे अपनी अपनी शक्ति बढ़ा लेते थे, क्योंकि ऐसे ही अवसरों पर उन्हें विशेष पुरस्कार प्राप्त करने की आशा रहती थी ।[१] सामन्त लोग अपने पुत्रों को वचपन से ही निपुण शिक्षकों को सौंप देते थे , फलत: वे शस्त्रों के संचालन तथा गजारोहण और अश्वारोहण में निपुण हो जाते थे । राजनीतिशास्त्र उनका प्रमुख विषय होता था ।[२] सम्राट को सामन्तों से विद्रोह की आशंका बनी रहती थी । इस प्रकार के विद्रोह दमन के उदाहरण विक्रमांकदेवचरित में भी मिलते हैं ।[३]

विक्रमांकदेवचरित से ज्ञात होता है कि विक्रम के अधीन महामण्डलेश्वर को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी । जयसिंह के विद्रोह का समाचार पाकर विक्रम इस प्रकार कहते हैं — ` तुम्हें ( जयसिंह) कितने ही मण्डलों ( का अधिकार) को नहीं दिया ? तुम्हारे पास मतवाले हाथी अधिक हैं । `राज` शब्द को छोड़कर तुम्हें क्या न्यूनता है, जो दुर्नीति का आश्रय ले रहे हो ।`[४] इसके अतिरिक्त जयसिंह के सैन्य वर्णन[५] से स्पष्ट है कि उसके पास अपनी स्वतन्त्र सेना थी । इसी प्रकार जयकेशि और आलुपेन्द्र (५।२५-२६) विक्रम के अधीन होते हुए भी अपनी

---

१. जयकेशि और आलुपेन्द्र तथा जयसिंह ने विक्रम को सोमेश्वर के विरुद्ध सहायता पहुँचाई थी (विक्रमा० ५।२५-६,५।१), विक्रम ने प्रसन्न होकर जयसिंह को (महती संपत्ति)वनवास मण्डल का अधिपति बनाया (विक्रमा० ६।६६, १४।४)

२. फ्लीट, ज०बा०ब्रा०रा०ए०सो०, जि० १०, पृ० २५२, इंडि०एन्टी०, जि० २, पृ० ३०२, और दी महामण्डलेश्वरज् , पृ० ४७१, बम्बई, १६५१

३. विक्रमा० १।१०५, १४ और १५ वां सर्ग ।

४. वही १४।२०

५. वही १४।६० -६२

आन्तरिक व्यवस्था में स्वतन्त्र थे। याज्ञवल्क्य और उसकी मिताक्षरा टीका के अनुसार न्यायत: अपने राष्ट्र के परिपालन में राजा का जो धर्म है, वही अधीन बनाये गये राष्ट्रों के लिए भी है। जिस देश में (स्वाधीनीकृत राज्य में) जो आचार, व्यवहार और कुल की स्थिति है, अपने अधीन कर लेने के पश्चात् राजा को उसी रूप में उसका पालन करना चाहिए।[१]

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि चालुक्यों के साम्राज्य में इसी नियम का पालन होता था। अधीनस्थ नरेश अपने राज्य को पूर्ववत् सुरक्षित रखने में स्वतंत्र थे, केवल उन्हें अपनी प्रशस्तियों में पहले अपने सम्राट् के विरुदों और शासन का उल्लेख करना अनिवार्य होता था। इन नरेशों का शासन भी सम्राट् की शैली पर वर्णित है। सम्राट की भाँति उनका पट्टबन्ध या राज्याभिषेक राजधानी, दरबार आदि सभी कुछ पृथक थे।[२] इसके अतिरिक्त अधीनस्थ राजाओं को युद्ध के समय अपने सम्राट् के पास ससैन्य उपस्थित होना पड़ता था।[३] विक्रमांकदेव-चरित से ज्ञात होता है कि सम्राट को अपने अनुकूल रखने के लिए ये सामन्त उसे कन्या या उपहार प्रदान करते थे।[४] अधीनस्थ नरेशों के द्वारा सभा में उपस्थित होकर सम्राट आहवमल्ल को प्रणाम करने का उल्लेख हुआ है।[५]

साम्राज्य शासन का स्वरूप -

इस प्रकार शासन का संचालन केन्द्र से होता था। साम्राज्य मण्डलों में विभक्त था जो अपने केन्द्र के द्वारा शासित होते थे। महामण्डलेश्वर और युवराज कुछ मण्डलों पर और वे सब सम्राट् में केन्द्रित थे। सम्राट सर्वेसर्वा था, परन्तु यह उसके अपने नैतिक आचरण और गुणों पर ही आधारित था, जैसा कि हम राजा के कर्त्तव्यों के प्रसंग में विचार कर चुके हैं। सभा के तीन अंगों - अमात्य

~~१. वही १४।६०-६८~~

१. य एव नृपतेर्धर्म: स्वराष्ट्रपरिपालने। तमेव कृत्स्नमाप्नोति परराष्ट्रं वशनयन्।।
यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहार: कुलस्थिति:।
तथैव परिपाल्यो सौ यदा वशमुपागत: ।। याज्ञ० १।१३।३४२,३ ।।

२. अ०हि०इ०, जि० १, पृ० ३८३-४, दृष्टव्य- दी महामण्डलेश्वराज़ (दिनकर देसाई), बम्बई, १९५१

३. विक्रमाङ्काभ्युदय, पृ.-५५

४. जयकेशि ने विक्रम को उपहार दिये थे। विक्रमा० ५।२५) और करहाटपति ने दी थी। और भी- दृष्टव्य, अ.हि.इ.१, पृ३८९ ~~(क्रमश: जारी)~~ ५.- विक्रमा.-४।११

कवि दूत और गुप्तचर का उल्लेख बिल्हण ने किया है ।

अमात्य[१] के लिए कुलीन, श्रुतसंपन्न, पवित्र, अनुरागी वीर, धीर, नीरोग, नीतिज्ञ, प्रगल्भ, वाग्मी, प्राज्ञ, राग-द्वेष हीन, सत्य सन्ध, महात्मा, दृढ़चित्त वाला, निरामय, प्रजा को प्रिय तथा दक्ष होना आवश्यक कहा गया है ।[२] सुशासन का मूल सुयोग्य मन्त्री की उचित मन्त्रणा होती है । कौटिल्य इसके निदर्शन है ।

बिल्हण ने राजसभा के प्रधान अंगों में कवियों को परिगणित किया है । उसके अनुसार जिस राजा के पास कवि नहीं है, उन्हें यश कहां प्राप्त हो सकता है ?[३] चालुक्य राजसभा में कवियों को पर्याप्त सम्मान उपलब्ध था । स्वयं बिल्हण को नील छत्रधारण करने और मतवाले हाथियों का पात्र विद्यापतित्व प्राप्त हुआ था ।[४] बिल्हण के वर्णन से स्पष्ट है कि दूत प्रकट रूप से समाचार ले जाता था पर गुप्तचर गुप्त समाचारों को राजा के पास पहुंचाता था । दूतनीतिशास्त्र में दक्ष होता था ।[५] आप्तपुरुष या गुप्तचर वृद्ध और सत्यबोलने में निर्भीक होता था ।[६]

सेना--

सम्राट् स्वयं परम शक्तिशाली योद्धा समझा जाता था । अपने साहस और वीरता के कारण ही सेना का उस पर विश्वास रहता था । वह बचपन से ही युद्ध कला का अभ्यास किया करता था । मानसोल्लास के अनुसार सेनापति कुलीन, गुणी, साहसी और चार भाषाओं का ज्ञाता होना चाहिए ।[७] दिनकरदेसाई

---

१. साम्राज्यमंत्री (विक्रमा० ७।६३) का उल्लेखमात्र है ।

२. मानसो० २।२।५२-५६, याज्ञ० १।१३।३१२

३. विक्रमा० १।२५,२६,२७,२८

४. वही, १८।१०१, राज० ७।६३६

५. विक्रमा० ५।२६

६. वही १४।६२

७. मानसो० (श्रीगोंदेकर), पृ० ३७, श्लोक ६०

का अनुमान है कि ये चार भाषाएं संस्कृत, कन्नड़, तमिल और तेलगु रही होंगी[१]। बिल्हण ने भी विक्रम को समस्त लिपियों में दक्षता प्राप्त करने वाला कहा है,[२] जो संभवत: दक्षिण की उक्त भाषाओं की लिपियां ही रही होंगी। सेना में विविध भाषाओं वाले सैनिकों के होने से उन भाषाओं का ज्ञान आवश्यक समझा गया होगा। सेनापति गज, अश्वारोहण, शस्त्र संचालन, श्रुतज्ञ, मुहूर्तज्ञ, युद्ध गाड़ियों के निर्माण शस्त्रों की पहचान में प्रवीण हो।[३] इसके अतिरिक्त उसे उदार, मधुरभाषी, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान् दृढ़ निश्चयी, वीर और विविध सेवकों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकार होना चाहिए। राजा के पास उक्त गुणों से समन्वित सेनापति अवश्य रहना चाहिए।[४] लगभग ये समस्त गुण हमें विक्रमांकदेव, जो आहवमल्ल का सेनानायक था,[५] में उपलब्ध होते हैं।

शुक्र के अनुसार शस्त्र और अस्त्रों से सज्जित मनुष्य आदि के समूह को सेना कहते हैं।[६] सेना के लिए विक्रमांकदेवचरित में हरिवाहिनी, गजवाहिनी (क्रमश: ध्वजा, अश्व और हाथी से युक्त) विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।[७] विक्रम के दिग्विजय, सोमेश्वर और विक्रम युद्ध, विक्रम और जयसिंह युद्ध तथा विक्रम और चोल युद्ध प्रसंगों में[८] सेना का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। इन प्रसंगों में प्रधानत: गज, अश्व और पदाति सेना के ही वर्णन हैं, परन्तु एक प्रसंग में विक्रम की सेना के क्रमेलकों (ऊंटों) के लिए तुंगभद्रा के जल की ओर ध्यान न देकर कंटीले वृक्षों में ही रहने का उल्लेख है।[९] इसके अतिरिक्त एक स्थल पर

---

१. दी महामण्डलेश्वरज़, पृ० ३७६
२. विक्रमा०, (सर्वासु लिपिषु) ३।१७
३. मानसो०, पृ० ३७ श्लोक ६०
४. वही ६१-६२
५. विक्रमा० ३।६०
६. सेना शस्त्रास्त्रसंयुक्ता मनुष्यादिगणात्मिका। --शुक्रनीति ४।८६४
७. विक्रमा० १।८२, ३।६२,६३
८. वही, सर्ग ३ और ४, ६।५१-६० सर्ग १४ व १५ तथा १७।४३-६७
९. लब्धतीरतरुकण्टकै: पुनर्नेक्षितापि तटिनी क्रमेलकै: ।। ६।१५

'विक्रम की सेना की अंगनाओं ने मलयवायु की जन्मभूमि मलयाचल को सखीवत् प्रेमपूर्वक देखा'[१] यह उल्लेख सेना में अंगनाओं की स्थिति सिद्ध करता है।

प्राचीन भारतीय सेना के परम्परागत चार विभाग थे —पदाति, अश्वारोही, गजारोही और रथारोही। सोमेश्वर भी इन्हीं विभागों का उल्लेख करता है।[२] इस प्रसिद्ध चतुरंग बल के अतिरिक्त अंगों के भी उल्लेख मिलते हैं। शुक्र[३] ने सेना में ऊंटों का होना भी आवश्यक कहा है। वे भारवहन के लिए बैल और खच्चर का भी उल्लेख करते हैं। महाभारत में विष्टि, सेवक, चर और उपदेशक को मिला कर अष्टांग सेना कही गयी है।[४] युक्तिकल्पतरु, राजनीति रत्नाकर और शुक्रनीति सार में रथ को सेना का अंग कहा गया है, यद्यपि मुसलमान लेखक और अभिलेखों में रथ के उल्लेख नहीं मिलते। डा० अल्तेकर, दीक्षितर, चक्रवर्ती और डाटे के मत हैं कि रथ का प्रयोग अष्टम शती के बाद से भारतीय युद्धकला में उपलब्ध नहीं होता।[६] रामपालचरित में वर्मन् नरेश द्वारा भीम के विरुद्ध रामपाल को अपने रथों को प्रदान करने का उल्लेख है,[७] परन्तु अन्य प्रमाणों के अभाव में निश्चयरूप से नहीं कहा जा सकता कि मध्यकाल में रथ का प्रयोग सेना में होता था। जहां तक कर्णाट का सम्बन्ध है, हमें विक्रमांक-

---

१. सखीव निखिलैस्तस्य सेनासीमन्तिनीजनैः।
प्रीत्या मलयवायूनां जन्मभूमिरदृश्यत॥ विक्रमां० ४।७॥

२. इत्थं चतुर्बलं विद्वान् युद्धायविजितश्रमः। मानसो० २।६।६८४
करि तुरगरथ पदाति मौलभृत (भट) श्रेण्याटविक मित्रबलपरिवर्धितां
—विक्रमांक०, पृ० ५४-५५

३. शुक्रनीति ४।८८४

४. रथा नागाह्याश्चैव पादाताश्चैव पाण्डव।
विष्टिनाविश्चराश्चैव दैशिका इति चाष्टमम्॥ ५६।४१॥

५. युक्तिकल्पतरु, पृ० ७, श्लोक ४५, राजनीति रत्नाकर, पृ० ४०, शुक्रनीति सार ४।७।२० (कल०संस्क०)।

६. राष्ट्रकूट एण्ड दैयर टाइम्स, पृ० २४८, वार इन एन्शेन्ट इंडिया, पृ० १६६ (दीक्षितर) आर्ट आफ वार इन एन्शेन्ट इंडिया चक्रवर्ती, पृ०२६, डाटे, ४६

७. रामचरित, ३।४४

देवचरित तथा अभिलेखों में पदाति, गज, अश्व के विस्तृत विवरण उपलब्ध हैं पर रथ के सम्बन्ध में कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। सोमेश्वर ने पदाति अश्व और गजों के पश्चात् रथों का वर्णन इस प्रकार किया है। विजयेच्छु राजा को आयुधों आदि से युक्त चार अश्वों वाले रथों को चतुरंगिणी सेना में रखना चाहिए।, जिन पर दृढ़ चित्त वाले सारथि और महारथीगण विराजमान हों।[१] इससे प्रतीत होता है कि इस काल में भी सेना में रथ का अन्तिम स्थान था। सोमेश्वर का रथ सम्बन्धी विवरण परम्परागत प्रतीत होता है। अभिलेखों आदि में रथों के उल्लेखों का अभाव होने से ऐसा प्रतीत होता है कि या तो रथों का प्रयोग बिल्कुल बन्द हो गया था अथवा इतना स्वल्प होता रहा कि प्रशस्तिकारों ने उसे उल्लेख्य ही नहीं समझा।

विक्रमांकदेवचरित से प्रतीत होता है कि ऊँट, सेना के युद्धपरक अंग नहीं थे, क्योंकि बिल्हण सेना के वर्णन में ऊँट का कहीं भी उल्लेख नहीं करते। उन्होंने तुंगभद्रा तट पर सेना के पड़ाव डालने पर तट पर चरते हुए ऊँटों का उल्लेख किया है।[२] अत: ये ऊँट भारवाही रहे होंगे। इसका समर्थन शुक्रनीति से भी होता है।[३]

गज—

विज्ञानेश्वर और सोमेश्वर के अनुसार हस्तिसेना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग था।[४] तत्कालीन अभिलेखों में भी इसका समर्थन मिलता है।[५] विक्रमांकदेवचरित में चालुक्य जयसिंह को गजाह्व में यश प्राप्त था।[६] और समस्त युद्धों

---

१. मानसो० २।६।६७६-६८०

२. विक्रमा० ६।१५

३. शुक्रनीतिसार ४।८८४

४. याज्ञ० १।१३।३५३ पर टीक, विक्रमांका०, पृ० ५४

५. एपी०इण्डि०, १६, पृ० ५०, रि०सा०इंडि०एपी०बी० २८७, १६१६ ई०.

६. विक्रमा० १।७६

में सैना वर्णन के प्रसंग में बिल्हण पहले हाथियों का भव्य चित्रण करते हैं ।[१] विक्रमांकदेव को गौड नरेश और चक्रकोट नरेश के हाथियों का अपहरणकर्ता कहा गया है ।[२] युद्ध में सिन्द नरेश परमाडि द्वारा होयसल नरेश के हाथी छीने जाने का उल्लेख है ।[३] राजेन्द्र चोल के साथ कर्णाट -आक्रमण के समय एक सहस्र हाथी थे ।[४] इससे युद्ध में हाथियों का प्रचुर प्रयोग लक्षित होता है । सोमेश्वर 'एको विजयते दन्ती' कह कर गज का महत्व सूचित करते हैं ।[५] परन्तु विजय भलीभांति शिक्षण प्राप्त हाथियों से ही संभव है, अन्यथा वे अपने स्वामी के लिए ही प्राणघातक सिद्ध होते हैं ।[६] गजों का प्रशिक्षण बहुत कठिन होता था, इस शिक्षण विधियों का उल्लेख कौटिल्य, मैगस्थनीज़, सोमेश्वर आदि के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है ।[७]

<u>गजयुद्ध</u>- विक्रमांकदेवचरित से ज्ञात होता है कि विक्रम ने अजेय हाथी पर बैठ कर ही युद्धों में प्रस्थान किया था ।[८] और गजारूढ़ होकर वाण वर्षा से शत्रु सैन्य को विचलित कर दिया था ।[९] चौदहवीं शताब्दी के ग्रन्थ हरिहरचतुरंग में उल्लिखित है कि युद्ध में गज के टक्कर का वाहन नहीं है, धनुर्धर से युक्त होने पर यह अत्यधिक जयनशील हो जाता है ।[१०] विक्रमांकचरित में वर्णित समस्त

---

१. विक्रमां० ६।४०-४५ ,गुप्तचर द्वारा सिंहदेव व हाथी वर्णन विक्रम और सिंहदेव के गजों का वर्णन सर्ग १४,१५

२. वही ३।७४, ४।३०

३. फ्लीट,ज०बा०ब्रा०रा०ए०सो०, जि० ११, पृ० २७०

४. मैसूर आर्कि०डिपा० रि० १९२८, पृ० ७४ इसके अतिरिक्त विक्रमां० ६।१२२-८ चोलराज को हस्तियुद्ध में पराक्रम वर्णित है

५. मानसो० २।६।६२१, हरिहरचतुरंग(१।२६) में जल, स्थल,दुर्ग, जंगलों में गज की अबाध गति कही गयी है ।

६. न विनीता राजा येषां तेषां ते नृप केवलम् ।
क्लेशायापि विनाशाय रणे आत्मबधस्य च ।।

सोमदेवसूरि कृत यशस्तिलकचम्पू, आश्वास -३, पृ० ३३०,श्लोक २८६ महा०जैन ग्रन्थावली,२२१, पुष्प, वाराणसी ।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

युद्धों में गजयुद्ध ही प्रधान है ।

शिशुपालवध में गजारूढ़ धनुर्धारी योद्धाओं द्वारा बाण वर्षा के उल्लेख हैं ।[१] अभिलेखों से भी धनुष ही गजरोहियों का प्रमुख शस्त्र सिद्ध होता है ।[२] गज सेना का आक्रमण विकराल होता था । सिंहदेव के हाथियों को रौंदने से विक्रम की विशाल सेना तितर वितर होने लगी थी[३] । गजारूढ विक्रम असि, विशिख और तोमर का संचालन करता हुआ, अपने हाथी शत्रुसैन्य पर दौड़ाने लगा । वह असिधेनु से स्कन्ध को भेद रहा था ।[४क]

आधोरण या पीलवान अंकुश से हाथी पर नियंत्रण रखता था ।[४ख] ~~माघ आधोरण या पीलवान अंकुश से हाथी हाथी को वस में करने का उल्लेख है~~। इसमें काष्ठनिर्मित मूठ में लोहे का तीक्ष्ण और मुड़ा हुआ कांटा लगा रहता है ।[४] योद्धागण पर मणिसन्नाह (कवच) पहने हुए हौदें (सारिपंजर) से युक्त गजों पर आरूढ़ थे ।[५] प्रस्थान काल में तूर्य की मंगल ध्वनि के साथ हाथी की पूजा करके गण्डस्थल पर सिन्दूर (चीनपिष्ट) लगाया जाता था ।[६]

---

६. पिछले पृष्ठ का शेष — और अशिक्षिता हस्तिन: केवलमर्थप्राणहरा: ।।
—नीतिवाक्यामृत २२।५,पृ० २०८

७. दी आर्ट आफ वार इन एन्शे० इण्डि०, (पी०सी० चक्रवर्ती), पृ० ५५-७

८. विक्रमा०, ६।६८, १५।१६-१८,५८

९. वही १५।७१ और चोल युद्ध , १७।६५ भी

१०. हरिहरचतुरंग १।१४, इसमें ८१३ श्लोकों में गजसम्बन्धी विवरण है ।

---

१. शिशुपाल वध, १८।६,२४,३६

२. चक्रवर्ती,पी०सी०, पृ० ५२-५३

३. विक्रमा० १५।५६

४क वही १५।५८-६६ ४ख, वही ३।३६

४. श्रीविद्याधर जोहरापुरकर, यशस्तिलक में मूर्तिकला, परिशिष्ट ८, पृ० -१२१

५. विक्रमा० १५।५

६. वही १४।६७-८,१६

अश्वसेना— चालुक्य सेना में वर्णन क्रम से दूसरा स्थान अश्वारोहियों को प्राप्त था। अश्वों के खुराग्र में लौह बन्धन के कारण वे शरों से कंटककीर्ण भूमि पर सुगमतासे चलते थे।[१] आज भी घोड़ों के खुरों में नाल लगाने की प्रथा है, इससे उनके खुर चुटैले नहीं होने पाते। अश्व तीव्रगति होते थे, जिनपर सुवर्ण-निर्मित वर्म या कवच पहने योद्धागण सुशोभित थे।[२] घोड़ों को कविका (लगाम) के द्वारा नियंत्रित किया जाता था।[३] बिल्हण के युद्ध वर्णनों में अश्वों का स्थान गज और पदाति से कम महत्व रखता है।

अन्य ग्रन्थों में अश्वों को भी सेना में श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। नकुल ने सर्वलक्षणों से युक्त अश्वों में सम्पत्ति का निवास कहा है।[४] हरिहर चतुरंग में वर्णित है कि एक सहस्र अश्वों से सम्राट ने समग्र वसुन्धरा जीत ली थी जो गजों और पदाति भटों द्वारा संभव नहीं। इसके अतिरिक्त अश्व गज और पदातियों से अधिक शीघ्र गति वाला कोई है —जो मृगया, शीघ्रयान और संग्राम कार्य में उपयोगी होता है। तथा राजा के विजय का श्रेष्ठतम साधन होता है[५]। सोमेश्वर का कथन है कि शिक्षित अश्वों से ही उत्तम सेना का निर्माण होता है।[६] कौटिल्य कम्बोज, आरट्ट, सैन्धव और वनायुज अश्वों को सेना में रखने का आदेश देते हैं।[७] परन्तु सोमेश्वर के अनुसार उत्तमोत्तम सात अश्व, काम्बोज यवन, तैली वाह्लीक, आतला, तोरक्खारक, सकैकारण है।[८] बिल्हण ने चोल, चालुक्य आदि दक्षिण भारत के नरेशों की सेना के अश्वों का नामोल्लेख नहीं किया है, परन्तु वे गुजरात नरेश और कलचुरी कर्ण की विजयवाहिनी में

---

१. विक्रमा० ६।४६

२. वही ६।४७ - ५०, १४।६१-६६ ३. वही १५।३१

४. अश्वशास्त्रम्, तंजौर सरस्वती महल सी०, ५६, पृ० १।११

५. हरिहरचतुरंग, ३।११-१५

६. मानसो०, २।६।५७३ ७. अर्थ० २।३०।३२

८. काम्बोजयवनास्तैजी वाह्लीकाश्चातलास्तथा।
तोरक्खारका सकैकाणा एते सप्तोत्तमोत्तमाः॥
—मानसो —३।४।६६६

तुक्खार अश्वों के पराक्रम का वर्णन करते हैं।[१] नकुल के अश्वशास्त्र के अनुसार तुषारक अश्व आकर्षक, चतुर, तेज, वेग और बल से युक्त तथा विशाल आकार के होते हैं। इसके अतिरिक्त वे भार तथा मार्ग का क्लेश सहन करने में समर्थ स्वच्छन्द, मांसल स्कन्ध वाले, दृढ़बुद्धि, सुशील मनस्वी और चितकबरे होते हैं।[२] बिल्हण के उल्लेख से प्रतीत होता है कि तुक्खार अश्वों का सेना में महत्व-पूर्ण स्थान चेदिमण्डल और गुजरात तक था, पर दक्षिण में अब भी गजों की ही प्रधानता थी।

अश्वारोही सदा हल्के आयुध रखते थे। तीर, खड्ग, भाले उनके प्रमुख शस्त्र थे।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि दूर के युद्धों में वे धनुष-बाण का प्रयोग करते थे और निकट युद्धों में खड्ग और भालों का। निकट युद्धों में इनका महत्व-पूर्ण स्थान था और ये पदातियों का भीषण संहार करते थे।[४]

पदाति— विक्रमांकदेवचरित के युद्ध वर्णनों से प्रतीत होता है कि निकट युद्ध में पदातियों का मुख्य स्थान रहता था। हरिहर चतुरंग से ज्ञात होता है कि दुर्गयुद्ध, और रात्रियुद्ध में पदाति श्रेष्ठ होते हैं। वे वन और पर्वत के आक्रमण में सफल रहते हैं। आतप में हाथियों के असमर्थ होने पर ये ही प्रयाण करते हैं।

---

१. निशम्य तुक्खार-खुरक्षतायाः विक्रमा: ६।११६ और
   तुक्खाराणां खुरपुटरवैः क्ष्मापशून्या चकार। ..... विक्रमा० १८।६३

२. प्रियदर्शना मनोज्ञास्तेजोजवसत्त्वसंयुक्ताः।
   एवं तुषारकाश्वा जवसत्त्वबलान्विता महाकायाः ।। ४७ ।।
   भाराध्वक्लेशसहाः स्वेच्छाचाराः पृथूदरोरस्काः।
   दृढमेधसः सुशीला बलवन्तस्ते मनस्विनश्चित्राः ।।४८।।
   अश्वशास्त्रम् (कुललक्षणाध्याय), तं०सर०म०सीरीज-५६, पृ० ७७
   और हरिहरचतुरंग ३।१४४-१४७ में भी इसी के अनुरूप तुखार अश्वों का वर्णन है।

३. महा०कर्णपर्व, ६४-६७

४. दी आर्ट आफ वार, डाटे, कृत, पृ० ४५

वर्षाकाल में अश्वों और रथों के असमर्थ रहने पर ये ही युद्ध करते हैं। गजादि से भिन्न, ये अधिक नियंत्रित रहते हैं।[१] सेना में पदातियों की संख्या सर्वाधिक रहती थी।[२] बिल्हण के अनुसार पदातिगण हृदय पर रत्नभूषण धारण किये हुए थे तथा चन्दन लेप किये हुए थे।[३] हरिहरचतुरंग भी योद्धा को शरीर पर चन्दन लेप करने ललाट पर पट्ट बांधने और मस्तक पर कुंकुम लगाने का उल्लेख करता है।[४]

सोमेश्वर[५] के अनुसार पदातिबल छः प्रकार का होता है। मौल — वंशानुक्रम के सैनिक भृत्य-धन से क्रीत, मित्र, श्रेणी—संस्थाओं के सैनिक, आटविक पर्वतीय निषाद म्लेच्छादिकों से युक्त, और अमित्र —जो शत्रु सेना से भाग कर दस्यु बन जाते हैं। सिंहदेव की सेना में अटवी धनुर्धरों को सम्मिलित कहा गया है।[६] ये सैनिक प्रशिक्षित न होने के कारण अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध होते। संभवत: इसीलिए कौटिल्य आटविक सैन्य को अधम कोटि की मानते हैं।[७] अत: ये ही सैनिक सिंहदेव की पराजय के कारण रहे होंगे।

<u>अस्त्र-शस्त्र</u>— सुरक्षा-शस्त्र- अस्त्रों से अभेद्य कवच और शिरस्त्राण को सैनिक पहनते थे। श्यामवर्ण के खेटक से शर की मार से आत्मरक्षा करते थे।[८] सोमेश्वर ने भुजत्राण, चर्मण (ढाल) शिरस्त्राण, अंगत्राण का उल्लेख किया

---

१. हरिहरचतुरंग, ४।३
२. प्राचीन भारत की साङ्ग्रामिकता, पृ० ५३
३. विक्रमा० १५।३७-३८
४. हरिहरचतुरंग ७।५८
५. मानसो २।६।५५६-५६० और विक्रमांकाभ्युदय, पृ० ५४-५ यह विभाग कौटिल्य अर्थ६।२।१ के अनुरूप है।
६. विक्रमा० १४।११, विक्रम ने अटवी धनुर्धरों को मार्ग में परास्त किया था ६।२५
७. अर्थ ६।२।१,३५ सोमेश्वर को भी यही अभिप्रेत था —मानसोल्लास- एक अध्ययन, लेखक, डा० शिवशेखर मिश्र, पृ० १६३, चौखम्भा, १९६६
८. विक्रमा० १।५१,१५।१४, और १५।७७ १२।६२ खेटक ढाल को कहते हैं।

है ।[१]

प्रहारकास्त्र- सोमेश्वर ने अस्त्रों के चार प्रकार बताये हैं :-

(१) यन्त्रमुत्र, (२) अमुक्त, (३) मुक्तामुक्त और (४) मुक्तायुध[२]। यहां प्रथम दो प्रकारों का ही उल्लेख है ।

(१) यन्त्रमुक्त अर्थात् यन्त्र के द्वारा प्रक्षिप्त अस्त्रों में विक्रमांकदेवचरित में धनुष के द्वारा फेंके जाने वाले शर का उल्लेख किया है ।[३] ये राजनामांकित होते थे । शरों को कंकपत्र भी कहा गया है, जिससे स्पष्ट है कि शरों के पृष्ठ भाग में पंख लगा कर अग्रभाग पर लगे लोहे के फल के समकक्ष किया जाता था ।[४] शर पीठ पर बंधे तूणीर या निषंग (तरकश) में रखे जाते थे ।[५]

(२) अमुक्त अर्थात् जिन्हें हाथ में लिए हुए आक्रमण किया जाता था । बिल्हण ने कृपाण, निस्त्रिंश, खंग, कौक्षेयक (मण्डलाग्र होता है) करवाल और असि खड्ग के लिए प्रयुक्त किया है ।[६] सोमेश्वर ने खड्ग, के असि कृपाण आदि भेदों का उल्लेख किया है ।[७] अन्य आयुधों में मयूरपंख से सज्जित कुन्तमाला या तोमर या भल्ल (भाला) का उल्लेख आया है ।[८] सोमेश्वर के अनुसार भूमि से सात अरत्रि कुन्त पदाति , छह अश्वारोही और नौ गजारोही के लिए होना

---

१. मानसो० २।६।५६३

२. मानसो० २।६।६८३ में "मुक्तायुध करास्तथा" के स्थान पर डा० मिश्र ने ठीक ही "मुक्तामुक्त करास्तथा" पाठ संगत माना है -मानसो०एक अध्ययन, पृ० १६६

३. विक्रमां० १।७६,१०६,६।८६,१६।४५,७।५३,९५,७५,६४, १७।६६ बाण, कंकपत्र, नाराच , शर, और विशिख पर्यायों का प्रयोग हुआ है ।

४. श्री विष्णुधर्मोत्तर में मूर्तिकला, परिशिष्ट-दे, पृ० १२०

५. विक्रम० ७।५४,८।५६,७१

६. विक्रमां० १।५४,१।७२,७४,६०,५।३०,१५।३

७. मानसो० ४।१।५८-७२

८. विक्रमां० ६।५२

चाहिए ।[१] कुन्त शुद्ध पके बांस का होना चाहिए और उसमें २० अंगुल का कर्तरी युक्त (धारवाला) फल लगा हो, जो विभिन्न सवारों और पदाति के लिए भिन्न भिन्न आकार का हो ।[२] तोमर भी इसी विभाग के अन्तर्गत है ।[३] यह शस्त्र मंथदण्ड (मथानी) की आकृति का होता है, जिसे गुरगूंज भी कहते हैं ।[४]

परशु शस्त्री और असिधेनु[५] भी इसी के अन्तर्गत परिगणित होंगे क्योंकि शस्त्री आदि निकट युद्ध में पकड़ कर प्रयोग में लाये जाते रहे होंगे । महेश्वर शस्त्री, असिपुत्री, छुरिका और असिधेनु चार प्रकार का उल्लेख करते हैं ।[६] यद्यपि बिल्हण ने (वज्र) कुलिश के साथ बाण की समता की है,[७] परन्तु कहीं भी इसके प्रयोग का उल्लेख नहीं है । वज्र इन्द्र का आयुध कहा जाता है । इसका निर्माण दो समान भागों में होता है । प्रत्येक में पक्षियों के पंखों के समान तीन नोक होती हैं ।[८] शस्त्र अभ्यास के हेतु निर्मित स्थान होते थे , जिन्हें बिल्हण ने अस्त्रखुरली कहा है ।[९]

<u>युद्धवाद्य</u>— वाद्य से उत्तेजना प्राप्त होती है । इसीलिए रणक्षेत्र में युद्धोत्साह की वृद्धि के हेतु डिण्डिम , दुन्दुभि , तूर्य शंख, नाद किया जाता था ।[१०] कल्हण काहला, कांस्यताल, तूर्ण आदि रणवाद्यों का उल्लेख करते हैं ।[११]

---

१. मानसो० ४।१।१७५

२. वही ४।१।१७८-१७६

३. विक्रमा० १५।६४

४. अमरकोश २।६३ पर महेश्वर कृत अमरविवेक टीका

५. विक्रमा० ११।७८, ६।६६, ८।८३

६. शस्त्री असिपुत्री छुरिका असिधेनुका च त्वारि छुरिकायाः —अमरकोश २।६२ पर अमरविवेक टीका

७. विक्रमा०, ६।६८

८. श्रीविष्णुधर्मोत्तर में मूर्तिकला, परिशिष्ट, द, पृ० १२१-२

६. विक्रमा० ११।४५ अस्त्रप्रयोगखुरली कलहे गणानां —मालविका २।३४ भी

१०. विक्रमा० १५।१,३,१६,६।६७

११. राज० ८।२५६३

महाभारत में झर्झर , गोमुख, भेरी, मृदंग, आडम्बर, क्षुद्र पटह, दुन्दुभि, कोणाघात(भेरी नाद), पैश्य, क्ष्वेड, क्रकच, मुरज प्रभृति रणवाद्य उल्लिखित हैं।[1] गीता (अ० १) से ज्ञात है कि युद्धारम्भ के पूर्व शंखनाद किया जाता था फिर रणभेरी के बजने पर सशस्त्र योद्धागण अपनी अपनी पताका के नीचे सन्नद्ध हो जाते थे।

रण में सेना और विश्वास-

विक्रमांकदेवचरित में सेना के लिए ध्वजिनी, गजवाहिनी, जैत्रवाजिपृतनाशब्द प्रयुक्त हुए हैं।[2] 'ध्वजिनी ' नाम ध्वजा युक्त सेना के लिए प्रयोग में आता है। महाभारत काल से ही सेना में ध्वजा का विशेष महत्व रहा है। विभिन्न सेना-की भिन्न भिन्न ध्वजाओं से उन्हें पहचानने में सुविधा होती थी। आज भी ध्वजाओं का वही महत्व है। श्री रामदीन पाण्डेय के अनुसार तालवृक्ष की ध्वजद्रुम संज्ञा और उसकी आकृति से ही भारत में ध्वजा का प्रचलन हुआ है।[3] कल्हण के अनुसार ध्वजा युद्ध क्षेत्र, शिविर और रणयात्रा तथा प्रासादों पर लगाये जाते थे।[4] धार्मिक सम्प्रदाय इष्टदेवों के वाहनों,जैसे विष्णु का गरुड, शिव का वृषभ , शक्ति का सिंह, से युक्त होते थे।

बिल्हण ने गरुडध्वज, सिंहध्वज, मत्स्यध्वज और कृष्णवर्ण के ध्वजों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार सेना के अग्र भाग तथा बीच बीच में पताकाएं रखी जाती थीं। विक्रम की सेना का गरुडध्वज था, जो सर्परूप काली चोल ध्वजा को ग्रस्त कर रहा था। योद्धा धराशायी हो रहे थे तो उनकी मत्स्य चिह्न वाली पताकाएं भूलुण्ठित हो रही थीं। हाथी पर स्थित सिंहध्वज-भूमि पर आ पड़ा था। भीषण युद्ध प्रारम्भ हो गया। जिनके अस्त्र समाप्त हो

---

१. प्राचीन भारत में संग्रामिकता, पृ० १५०

२. विक्रमां०, १।८२, ३।६२-३, ५।७०

३. प्राचीन भारत की सांग्रामिकता, पृ० २

४. राज० ३।७७

गये, वे दूसरों से छीन कर युद्धरत हो गये। मरणासन्न भी योद्धा ने विपक्षी के मस्तक पर पाद प्रहार किया। कोई मल्ल युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गया। विजय होती न देख विक्रम ने अपने हाथी को आगे बढ़ाया और करवाल तथा शरों से सैन्य मर्दन किया। पिशाचियाँ रक्त पान करने लगीं।[1]

प्राचीन भारत में सेना को व्यूह बद्ध करने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। व्यूहों के सूची, गरुड, पद्म वज्र, मकर आदि उल्लेख मनुस्मृति, महाभारत में मिलते हैं।[2] विक्रमांकदेव चरित में वर्णित युद्ध या तो सामने से या आगे पीछे दोनों ओर से हुए थे। अत: इन विविध परिस्थितियों में उसके सैन्य संचालन की शैली भी भिन्न भिन्न रही होगी। आगे और पीछे दोनों ओर से आक्रमण की आशंका होने पर गरुड व्यूह की रचना करनी चाहिए। वराह-व्यूह की भाँति गरुड व्यूह भी मध्य भाग में चौड़ा रहता है, पर वराह व्यूह से अधिक।[3] अत:- संभव है, अग्रभाग में राजिग चोल और पृष्ठभाग पर सोमेश्वर के आक्रमण[4] के समय विक्रम ने इसी गरुड व्यूह में ही अपनी सेना को व्यवस्थित किया हो। सिंहदेव और चोल युद्ध के वर्णन से सेनाओं की स्थिति आमने सामने प्रतीत होती है।[5] इस स्थिति में सूची व्यूह में कूच करना चाहिए। सूची व्यूह बहुत पतला रहता है, इसमें चीटियों की भाँति सैनिक एक के पीछे एक चलते हैं।[6] युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व उभय पक्ष की सेनाएं आमने सामने उपस्थित होती थीं। विक्रम के युद्ध वर्णन में गजों की प्रधानता से प्रतीत होता है कि सेना के मुख-भाग में गजसेना रहती थी। अग्रभाग में गज और पृष्ठ भाग में समस्त सैन्य रखने की स्थिति को हरिहरचतुरंग में 'अद्भुतगव्यूह' कहा गया है।[7]

---

१. विक्रमां० ६।६८-८६ और भी १५।१-७८, १७।४५-६६

२. प्राचीन भारत की सांग्रामिकता, पृ० १३२-१३६.

३. वही, पृ० १३२

४. विक्रमां०, ६।३६-७०

५. वही १५।१७८, १७।४५-६६

६. प्राचीनभारत की सांग्रामिकता, पृ० १३६

७. हरिहर चतुरंग, ७।१३६-१३७

वीरों में युद्धोत्साह बढ़ाने के लिए युद्ध वाद्य बजाये जाते थे। विल्हण का कथन है कि 'वीरों की भुजा के पराक्रम रूपी हाथी के डिण्डिमनाद सी, युद्धोत्साह रूपी मयूर के लिए मेघ-गर्जन सी कुन्तलेन्द्र विक्रम के आक्रमण (विजययोद्योग) की सूचक दुन्दुभि बजने लगी। पति की विजय चाहने वाली योद्धाओं की पत्नियों ने मंगलमय चतुष्कोण (चौक) की रचना की और योद्धागण विक्रम की प्रतीक्षा करने लगे। रणदुन्दुभि के नाद से उत्साहित होकर योद्धाओं ने असि खींच ली। हाथियों के हौदों पर स्थित उद्धत योद्धाओं से युक्त मणिजटित सन्नाह धारण किये हुए गज बाहर आ गये। योद्धागण अपनी स्त्रियों द्वारा दी गई पान की वीटिका का चर्वण करते हुए उमंग में भरे शत्रु गजघटा को विदीर्ण करना तृणवत् समझने लगे। इस प्रकार गज योद्धा और नाल जटित खुरों वाले अश्वों के युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाने पर युद्ध शिविर (चतुष्कवेष्म) से निकल कर उत्साहयुक्त विक्रम, जिसने मंगलमय मौक्तिक और अक्षतों को धारण कर लिया था, मतवाले गज की गति से मंगलतूर्य (तुरही) के नाद के साथ, पूजित हस्ती पर, उदयाचल पर सूर्य के समान, आरूढ़ हुआ।'[१] हरिहरचतुरंग शस्त्रों का भक्ति भाव के साथ पूजन करने और शरीर पर मणि, यन्त्र और मन्त्रौषधि धारण करने का उल्लेख करता है।[२] इसकी पृष्ठभूमि में निहित धारणा यही है कि ये शस्त्र युद्ध में साथ देकर विजय का भागी बनायें। ये शस्त्र भी देववत् आचरण करते हैं - 'इस स्वच्छन्द कलियुग में भी शस्त्रदेवताओं का यह दृढव्रत है, कि ये आज भी प्रबल अनीतिगामियों को भी युद्धों में धोखा देती हैं।'[३]

इस काल में आक्रामक आग लगाता, धन लूटता और लोगों को बन्दी बनाता था।[४] इस प्रकार के उदाहरण चोल, चालुक्य अभिलेखों में भरे पड़े हैं।

---

१. विक्रमा० १५।१-१६

२. हरिहरचतुरंग ७।५७-५६

३. व्रतमिदमिह शस्त्रदेवतानां दृढमधुनापि कलौ निरंकुशेऽपि।
अविनयपथवर्तिनं यदेताः प्रबलमपि प्रधनेषु वंचयन्ति ।। - विक्रमा० ६।३०

४. विक्रमा० १४।५४

विक्रम ने कांची को लूटा, चक्रकोट और गौड नरेश से हाथी छीने थे ।[१]

यह युग युद्ध प्रधान था । योद्धाओं के कानों में उस युग में भी कृष्ण का उपदेश गूंज रहा था, 'हतोवाप्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'[२] अर्थात् युद्ध में दिवंगत होने पर स्वर्ग प्राप्त होगा और जीतने पर राज्य का भोग करोगे । हरिहर चतुरंग में इस धारणा का विवरण निम्नलिखित है 'इस भूतल पर राजा के लिए युद्ध के अतिरिक्त अन्य गति नहीं है क्योंकि शत्रुओं को पराजित कर लेने पर राज्य प्राप्त होता है और दिवंगत होने पर अक्षय स्वर्ग । विजय होने पर लक्ष्मी प्राप्त होती है और मृत्यु के पश्चात् सुरांगना । क्षणभंगुर इस शरीर की रणक्षेत्र में मरण की क्या चिन्ता ?' फिर क्षत्रिय युद्ध में दिवंगत होने पर अश्वमेध फल प्राप्त करता है ।'[३] बिल्हण का वर्णन इस प्रकार है — 'दूसरे भट ने मानों सूर्यमण्डल में सुगमता से प्रवेश करने के ध्येय से अपने अस्थि पंजर शरीर को शत्रु के बार बार किये गये शस्त्र प्रहारों से नष्ट हुई समग्र सन्धियों वाला बना दिया ।'[४] दिवंगत होकर सूर्यमण्डल में प्रविष्ट हो जाने का उल्लेख हरिहरचतुरंग में भी उपलब्ध है 'संसार में योगमुक्त परिव्राट और रण में सम्मुख हत (वीरगतिप्राप्त) योद्धा —ये दो ही सूर्यमण्डल का भेदन करने वाले होते हैं ।[५] इसके अतिरिक्त स्वर्गप्राप्ति के विश्वास के साथ ही स्वर्ग में उपलब्ध अप्सराओं के द्वारा वीरगति प्राप्त योद्धाओं को वरण करने का विस्तृत वर्णन विक्रमांकदेवचरित में मिलता है । चोल-विक्रम युद्ध काल में मेनका दिवंगत वीरों का वरण करके उन्हें विमान पर लेकर स्वर्ग यात्रा करती है ।[६] इस प्रकार की

---

१. विक्रमा०, ३।७६, ३।७४, ४।३०

२. श्रीमद्भगवद्गीता, अ० २।३७, गीताप्रेस, गोरखपुर

३. हरिहरचतुरंग, ७।३,४,२४

४. विक्रमा० १७।५१

५. द्वावेतौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिन:
   परिव्राट् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हत: ।। —हरिहर चतुरंग, ७।२७
   यह धारणा शुक्रनीति ४।३१७-८ से मेल खाती है ।

६. विक्रमा० १७।५७-६५

धारणा के विवरण हरिहरचतुरंग आदि ग्रन्थों और अभिलेखों में भी उपलब्ध हैं।[१] हरिहरचतुरंग का कथन है कि योद्धा स्वामी के लिए रणक्षेत्र में दिवंगत होने पर दीर्घकालीन स्वर्गवास करता है पर पराङ्मुख हो पलायित हो जाने पर ब्रह्महत्या और रौरव नरक को प्राप्त होता है।[२]

उक्त आस्थाओं के कारण ही भारतीय योद्धा प्राण हथेली पर रख कर वीरता के साथ युद्ध करते थे। एरियन (सिकन्दर का इतिहासकार) का कथन है कि आकृति एवं पराक्रम में समस्त एशियाइयों में भारतीय (योद्धा) श्रेष्ठतम हैं।[३]

युद्धकाल— बिल्हण के विवरण से स्पष्ट है कि वर्षा के पश्चात् शरद् ऋतु ही युद्ध के लिए उपयुक्त ऋतु होती थी।[३] हरिहरचतुरंग से ज्ञात होता है कि जहाँ रथ और पराक्रमी अश्व नहीं प्रवृत्त होते ऐसे वर्षाकाल में भी पदाति युद्धरत होते हैं।[५] इससे स्पष्ट है कि रथ और अश्व के असमर्थ हो जाने से वर्षाकाल में प्राय: युद्ध नहीं होते थे। प्राचीन भारत में अगहन, चैत तथा फाल्गुन माह संग्राम के लिए अधिक उपयुक्त माने गये हैं क्योंकि इन महीनों में हाथी घोड़े आदि के लिए प्रचुर खाद्य सामग्री उपलब्ध रहती है। पर संकटापन्न शत्रु पर किसी भी मास में आक्रमण कर देना नीति है।[६]

---

१. वराप्सरस्सहस्राणि शूरमायोधने हतम्।
अभिद्रवन्ति कामार्ता मम भर्ताभविष्यति ।। —हरिहर चतुरंग ७।२६
और 'सम्मूर्छित: सुरवधूवरयन्ममेति '
तत्पाणिपंकजसुखस्पर्शाद्विबुद्ध: । —का०इ०इ०जि०३, (अपसद शिलालेख) सं० ४२, पंक्ति ६ (फ्लीट)

२. हरिहर चतुरंग ७।८८-६२

३. आफ आल दी एशियाटिक्स दी इण्डियन्स वेयर सुपीरियर इन स्ट्रेन्थ एण्ड स्ट्रैचर—एरियन इन अलेक्जेंडर, मैक्रिन्डल, पृ० ८५

४. 'जिगीषव: प्रावृषिमुक्तकार्मुका:' आदि विक्रम०१३।२८ सर्ग १४,१५

५. नचलन्ति रथा यत्र वाजिनो वातिविक्रमा:।
तत्र वर्षास्वपि रणे युद्ध्यन्ति हि पदातय: ।। हरिहर चतुरंग ४।६

६. मनु० ७।१८१-१८३, प्राचीन भारत की साँग्रामिकता, पृ० १३१-२

दुर्ग – राज्य की सुरक्षा का प्रधान अंग होने से दुर्ग को राज्य के सप्तांगों में प्रधान स्थान दिया गया है । मनु पुर अथवा दुर्ग को राष्ट्र के पूर्व रखते हैं ।[१] संक्षेप में कामन्दक के अनुसार दुर्ग की ~~राष्ट्र~~ परिभाषा निम्नलिखित है 'जो युद्ध को शान्त रखता है (दुर्गस्थ सेना वाह्यस्थ शत्रुसैन्य से निश्चिन्त रहती है और युद्ध-काल बढ़ जाता है) तथा मनुष्य की रक्षा, मित्र और शत्रु को नियंत्रित रखता है , सीमान्त नरेशों और आटविकों के आक्रमणों का निरोध करता है दुर्ग कहलाता है ।[२] कौटिल्य , मनु, पुराण आदि क्रमश: दुर्ग के चार और छह प्रकारों का उल्लेख करते हैं । सोमेश्वर ने जलदुर्ग , गिरि-दुर्ग, दारु तथा नरदुर्ग नौ प्रकार के दुर्गों का वर्णन किया है परन्तु इनका अन्तर्भाव मनु के धनुदुर्ग (मरुभूमि पर) महीदुर्ग (भूतल पर) , जलदुर्ग (अगाध जल से आवेष्टित), वृक्षदुर्ग (वन में स्थित), गिरिदुर्ग (पर्वतस्थ) और नृदुर्ग (सेना से आवेष्टित शिविर आदि) आदि छह भेदों में हो जाता है ।

बिल्हण ने प्रवरपुर, अयोध्या, कान्यकुब्ज , प्रयाग,वाराणसी आदि को नदियों के तट पर स्थित बताया है अत: ये जलदुर्ग के अन्तर्गत परिगणित होंगे । बालुकाम्बुधिकेनिकटस्थ स्त्रीराज्य धनुदुर्ग में वन मण्डित गौड, चक्रकोट, वनवास, गांगेकोण्डपुर वृक्ष दुर्ग में पर्वतस्थ लोहर , कालंजर और गोपाचल गिरि दुर्ग के अन्तर्गत आते हैं । अन्तिम नृ दुर्ग सैन्य शिविर को कहते थे । कौटिल्य ने शिविरों के आकार वृत्त, आयत या चतुर्भुज बताये हैं ।[५] सिंहदेव के साथ संघर्ष के अवसर पर विक्रम 'चतुष्कवेष्मन्' अर्थात् चतुर्भुजाकार शिविर से निकल कर गजारूढ़ हुआ था ।[६] यह शिविर सैन्य से आवेष्टित होने से नृदुर्ग कहा जायेगा । अत: स्पष्ट है कि नगर निर्माण में सुरक्षा का ध्यान रखा जाता था ।

---

१. मनु० ६।२६४

२. तूष्णीं युद्धं जनत्राणं मित्रामित्रपरिग्रह:
सामन्ताटविकावाधानिरोधो दुर्गमुच्यते (या दुर्गसंश्रयात्) –नीतिसार१४।२६

३. कौटिल्य २।३।२, मनु० ७।७०, विष्णु धर्मोत्तर २।२६।६-८

४. मानसोल्लास २।५।५४१-२ से ५४६

५. अर्थ० ६।१

महाभारत में वर्णित राजधानी की स्थिति से स्पष्ट है कि राजधानियों के निर्माण भी सुरक्षा की दृष्टि से दुर्गों की भांति ही किये जाते थे। महाभारत के अनुसार "राजधानी के चतुर्दिक् खाइयां और प्राकार रहते थे। वहां चतुरंगिणी और नौसेनाएं रहती थीं। राजधानी में उभय और स्थित दूकानों से युक्त राजमार्ग और वीथियां थीं। वहां योद्धा, ज्योतिषी, चिकित्सक, विद्वान्, वैज्ञानिक और व्यवसायी थे। वहां आश्रम, सर्वार्थ त्यागी और बहुश्रुत लोगों को भोजन् वस्त्रादि दिया जाता था। चरों के द्वारा प्रजाओं की गतिविधियों पर दृष्टि रखी जाती थी। सीमान्त जंगलों और राजाओं के नगरों में सैन्य-शिविर रखा जाता था।"[2] कौशाम्बी आदि स्थानों के उत्खनन भी राजधानी के उक्त स्वरूप का समर्थन करते हैं।

प्रवरपुर,[3] कल्याणपुर,[4] और विक्रमपुर[5] राजधानियों के विस्तृत विवरण से यह स्पष्ट है कि राजधानियां वैभवपूर्ण और मनोरंजन तथा विलास के साधनों से युक्त रहा करती थीं। वे ऊंचे ऊंचे भवन और देवमन्दिर, शिक्षा संस्थान (मठ आदि) उपवन, तालाब आदि से मण्डित रहा करती थीं।

---

१. विक्रमा० १५।१५-१६

२. महा० शान्तिपर्व, अ० ८६

३. विक्रमा०, १८।१-३२

४. वही २।१-२५

५. वही १७।२२--३४

अध्याय-८

बौद्धिक एवं कलात्मक जीवन

(क) शिक्षा-

शिक्षण संस्थाएं- विक्रमांकदेवचरित (१८।४-८,२१,४४) से कश्मीर की बौद्धिक समृद्धि का ज्ञान होता है। अलबेरूनी का कथन है हमारे द्वारा विजित प्रदेशों से हिन्दू विज्ञान कश्मीर, बनारस तथा अन्य स्थानों पर, जहां हमारे हाथ अभी तक नहीं पहुंच सके थे, पलायित हो गये थे।[१] कन्नड़ प्रदेश से केवल विक्रमांकदेव के शासन काल के ही लगभग तीन सौ अभिलेख उपलब्ध हैं। गांव गांव में उनकी उपलब्धि से अधिकांश जनता के साक्षर होने का सहज ही अनुमान होता है। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में उपलब्ध अनेक अभिलेख, मुख्यत: 'वीर-गल्स' सरल और प्रचलित कन्नड़ में लिखे गये हैं।[२] इस प्रकार कश्मीर और कर्णाट दोनों प्रदेशों में शिक्षा का व्यापक प्रसार परिलक्षित होता है।

शिक्षा के इस व्यापक प्रसार में राजाओं और उनके अधिकारियों का प्रमुख सहयोग था। राजा लोग स्वयं विद्वान् होते थे तथा विद्वानों का सम्मान भी करते थे। क्षितिपति भोज के सदृश कविवान्धव था। वह तर्क मार्ग में दक्ष था तथा विद्वानों को दान देता था। वह रसज्ञ था तथा दोनों पार्श्वों में विद्वानों को स्थान देकर सभा मण्डप को अलंकृत करता था।[३] राजा कलश और हर्ष भी विद्वान् तथा कवि थे[४]। विक्रमांकदेव भी विद्वानों का आदर करता था।

---

१. सचउ, जि० १, पृ० २२

२. एपी०क०जि०७, में प्रकाशित, दी महामण्डलेश्वरज़, पृ० ४४७

३. विक्रमां०, १८।४७-४६

४. वही १८।५६-६८

और बिल्हण जैसे कवि उसके आश्रय में रहते थे ।[१] फलत: नरेशों ने अनेक अग्रहार, मठ, ब्रह्मपुरी के निर्माण किये, जिससे विद्या की प्रभूत उन्नति हुई । विक्रम ने ब्रह्मपुरियों से आवृत्त एक पुर का निर्माण किया (१७।२६) । सुभटा मठ विद्या-रसिक छात्रों का आश्रय था । उसने ब्राह्मणों को यथेच्छ भूमि दान में दी और विद्वानों के उपभोग हेतु भाण्डागारों के निर्माण कराये ।[२] हलधर, अनन्त, सुभटा, गोपादित्य आदि नरेशों ने ब्राह्मणों को अनेक अग्रहार प्रवरपुर के विविधभागों में बसाये ।[३] इस प्रकार विक्रमांकदेवचरित में हमें तीन प्रकार की शैक्षणिक संस्थाओं के दर्शन होते हैं — अग्रहार, मठ और ब्रह्मपुरी ।

अग्रहार— शिक्षा के प्रधानतम केन्द्र अग्रहार थे । बिल्हण के विवरण से स्पष्ट है कि अक्सर अग्रहार और मठ पास पास होते थे । वितस्ता और सिन्धु नदियों के संगम पर हलधर द्वारा निर्मित अग्रहार, मठ और मन्दिर थे ।[४] अनन्त ने संग्राम-राज के मठ के समीप अग्रहारों की स्थापना की थी ।[५] यशस्कार द्वारा निर्मित अग्रहार प्रवरपुर में स्थित काष्ठील नामक स्थान पर थे ।[६] अनन्तदेव ने भी मठ का निर्माण कर उसके चारों ओर ब्राह्मणों के अग्रहार बसाये ।[७] कभी कभी ये अग्रहार प्रसिद्ध तीर्थों के निकट स्थापित किये जाते थे । गोपादित्य ने बिल्हण के पूर्वजों को तक्षक कुण्ड के निकट खोनमुष ग्राम में बसाया था ।[८] विद्वान् ब्राह्मणों के अभाव में देश के सुदूर स्थानों से सुयोग्य ब्राह्मणों को लेकर बसाया जाता था । बिल्हण के पूर्वज मध्यदेशी ब्राह्मण थे । इन अग्रहारों में निरन्तर धर्म कृत्य अग्निहोत्र आदि होते रहते थे । ज्येष्ठकलश का प्रांगण छात्रों से भरा रहता था अर्थात् छात्रगुरु गृह

---

१. विक्रमां०, १८।१०१

२. वही १८।४४,४५

३. वही १८।१६,२४,७३

४. वही, १८।१६,राज० ७।२१४

५. वही १८।२४

६. वही १८।२५, स्टायन जि० २, राज० ८।११६६ पर टिप्पणी

७. वही १८।३६

८. वही १८।७०,७३

में अभ्यास करते थे ।[१]

कर्णाटक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अग्रहार विद्वान् ब्राह्मणों की बस्ती को कहते थे, जिसका खर्च दाताओं के दानों से चलता था ।[२] इनकी आय के स्रोतों और आन्तरिक शासन से व्यक्त होता है कि ये स्वशासित थे । ग्रामों की महाजन समितियों द्वारा इनकी व्यवस्था की जाती थी । इनमें विविध सम्प्रदायों के छात्र दूर दूर से अध्ययनार्थ आया करते थे ।[३] अभिलेखों के अनुसार तालगुण्ड अग्रहार को कदम्ब नरेश मयूरवर्मन् ने अठारह अश्वमेध यज्ञों को करने के पश्चात् दक्षिणा स्वरूप १४४ ग्राम दान किये थे । इस अग्रहार में ३२००० ब्राह्मण रहते थे, जिनमें १२००० अग्निहोत्री थे ।[४]

ब्रह्मपुरी- विक्रम ने ब्रह्मपुरियों से आवृत्त एक नगर बसाया था जो ब्रह्मलोक और सुरलोक दो भागों से विभूषित था ।[५] इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि ब्रह्मपुरी नगर का एक भाग था, जहाँ ब्राह्मण रहते थे । अभिलेखों से ज्ञात होता है कि बल्लिगावे (बैलामि) में सात ब्रह्मपुरी, तीन पुर और पाँच मठ थे ।[६] ब्रह्मपुरी की यह विशेषता थी कि उनमें प्रमुख विषयों पर वाद-विवाद होते थे । बैलामि की ब्रह्मपुरी कवियों व्याख्याताओं और विद्वानों का आश्रय थी और ज्ञान का प्रकाशदीप थी । वे ब्राह्मण भाषाशास्त्र और साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे तथा यम, नियम, ध्यान, धर्म मौनानुष्ठान जप, समाधि तर्क के छह मार्गों में प्रवीण थे ।[७] ब्रह्मपुरियों की कार्यप्रणाली पर अभिलेखों से कोई प्रकाश नहीं पड़ता । इसका कारण सम्भवत: यही रहा होगा कि ये संस्थाएं केवल विशाल

---

१. विक्रमा०, १८।७४-५,७६

२. एपी०क०, ७, शिकारपुर १००,१७६

३. वही, १७६

४. एपी०क०, जि० ७,१७७,१७८,१८५

५. विक्रमा०, १७।२६

६. एपी०क० ७, शिकारपुर १०६,१०८,११६,१२३ और जि० ८-८६,२७६

७. वही, शिकारपुर, १२३

नगरों में होती थीं जिनकी संख्या अल्प ही थी ।[१] प्राप्त विवरणों के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि अग्रहार और ब्रह्मपुरी दोनों ही विद्वान् ब्राह्मणों की बस्तियां थीं । उनमें कोई अन्तर भी था इस विषय में कुछ भी कह सकना कठिन है ।

मठ— यह भी इस युग की प्रधान शिक्षण संस्था थी । विक्रमांकदेवचरित में कश्मीर के प्रसिद्ध मठों का उल्लेख है ये मठ बौद्धेतर सम्प्रदाय के लोगों द्वारा स्थापित किये गये थे । प्रवरपुर में श्रीभट्टारकमठ , विद्यामठ, संग्रामराज और अनन्त द्वारा निर्मित मठ, और सुभटा मठ थे ।[२] विद्यामठ और सुभटा मठों के विवरण से प्रतीत होता है कि इन मठों में नृत्य की शिक्षा भी दी जाती थी । विद्यामठ प्रवरपुर का अलंकार, विश्व का एक मात्र बन्धु (विद्या प्रचार के कारण) और अनुपम कीर्ति का स्थान था, जहां कलकल शब्द करती हुई कामिनियों की मेखलाएं कामदेव का पीछा करते हुए शंकर को भयभीत करती थीं । इसी प्रकार सुभटा मठ में नृत्य की शोभा नेत्रों के लिए अमृतशलाका का काम करती थी ।[३] अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कर्णाटि प्रदेश में भी कुछ प्रसिद्ध अग्रहार और मठों में संगीत की शिक्षा दी जाती थी ।[४]

ये मठ `विद्यारसिक मन वाले दैशिकों (छात्रों) के आश्रयभूत थे ।[५] क्षेमेन्द्र (देशोपदेश षष्ठ उपदेश) ने भी गौड़ छात्रों के कश्मीरस्थ मठ में रहने का उल्लेख किया है । रानी दिद्दा ने मध्यप्रदेश , लाट और सौराष्ट्र के निवासियों के हेतु मठ बनवाया था ।[६] अनन्त द्वारा निर्मित मठ के निकट विजयक्षेत्र

---

१. दी महामण्डलेश्वरज़, देसाई , पृ० ४५६

२. विक्रमां०, १८।११,२१,२४,३६,४४

३. वही १८।२१,४४

४. राइस मैसूर इंस्क्रिप्शन्स , सं० ४६ और देसाई – दी महामण्डलेश्वरज़, पृ० ५१४

५. विक्रमां० १८।४४ `यस्मिन्विद्यारसिकमनसामास्पदे दैशिकानां ।`

६. राज० ६।३००

के भट्ट ब्राह्मणों के अग्रहार थे ।[१] अध्यापकों तथा शिष्यों के आश्रय के हेतु इन मठों एवं अग्रहारों में व्यवस्था रहती थी । उनके लिए सुभटा ने भाण्डागार बनवाये थे, जहाँ उन्हें भोजन की सामग्री प्रदान की जाती थी ।[२]

इन मठों और अध्यापकों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी । रानी सुभटा ने विद्वानों के हेतु भाण्डागार स्थापित किये थे तथा ब्राह्मणों को यथेच्छ भूमि ग्रहण कर लेने की अनुमति दी थी ।[३] राजतरंगिणी (तरंग ७,८) में रानियों, राजपुत्रियों, मन्त्रियों तथा राज्याधिकारियों द्वारा शिक्षा हेतु दान करने के अनेक उल्लेख है । पर्याप्त धन होने से ही बिल्हण के पितामह राजकलश सार्वजनिक कल्याण के हेतु द्राक्षा उपवन , व्याख्या भवन, कूप और प्रपा का प्रबन्ध कर सके थे ।[४] समकालीन विवरणों से ज्ञात होता है कि गुरुजनों को राजपरिवार और सामन्तों के द्वारा बहुधा पुरस्कार प्राप्त होते रहते थे । रानी सुभटा का धन देवागार, द्विज और गुरुजनों के गृहों में जाता था ।[५] मानसोल्लास के अनुसार राजपुत्र की शिक्षा समाप्त होने पर उपाध्याय को वस्त्र, वर्ण, भूमि और ग्राम से पुरस्कृत किया जाता था ।[६] विद्वानों और उनके शिष्यों के भरण पोषण के लिए सौराष्ट्र नरेश गोविन्दराज ने भूमि के दान दिये थे ।[७]

शिक्षा का स्वरूप--

मानव जीवन में शिक्षा का प्रमुख स्थान होने से हिन्दू धर्मशास्त्रों में कुछ शैक्षिक संस्कारों की भी व्यवस्था की गई है । उपनयन संस्कार के पश्चात् शिक्षा का प्रारम्भ होता था और समावर्तन संस्कार से उस अवधि का अन्त

---

१. विक्रमा०, १८।३६
२. वही १८।४५
३. वही
४. विक्रमा० १८।७८
५. वही १८।४२
६. मानसो० २, पृ० १२ विंशति ३।१३०४, गायकवाड ओरि०सी०, जि० ८४
७. एपी०इं०, जि० २, पृ० २२७

होता था । मनु के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन आठ वर्ष की आयु में, क्षत्रिय का ग्यारह वर्ष और वैश्य का बारह वर्ष में होता था ।[१] परन्तु समावर्तन संस्कार के सम्बन्ध में कोई निश्चित आयु नहीं प्रतीत होती । धर्मशास्त्रों में ४८,३५,२४,१८ वर्ष की ब्रह्मचर्य की विविध आयु कही गयी है । डा० राजबली पाण्डेय जी का कथन है कि मध्यकालीन लेखक अन्तिम आयु (१८ वर्ष) को अधिक मान्यता देते हैं । इसका कारण यह था कि विवाह अल्पवय में ही होने लगे थे ।[२] इस दृष्टि से क्षत्रिय का अध्ययन काल ११ से १८ वर्ष की आयु तक रहा होगा । तत्पश्चात् वे शासन कार्य में लग जाते थे ।[३] ब्राह्मण की अध्ययन आयु आजीवन रहती थी —यावज्जीवमधीते विप्रः । शिक्षा के स्वरूप को समझने के लिए समाज के विविध वर्गों में शिक्षा प्रसार की योजना पर दृष्टिपात करना - होगा ।

ब्राह्मण—ब्राह्मण की शिक्षा आठ वर्ष की आयु में प्रारम्भ हो जाती थी ।[४] प्रारम्भ से ही वेद पाठ का अभ्यास कराया जाता था । बिल्हण ने मौंजीबन्धन के दिन से ही वेद पाठ प्रारम्भ कर दिया था ।[५] वेद ब्राह्मणों का प्रमुख अध्येतव्य विषय था । अल् बेरूनी की धारणा है कि ब्राह्मण वेदोच्चार तो करते हैं, पर उसका अर्थ विरले ही समझ पाते हैं । कश्मीर निवासी आदित्यदर्शन ने लिखा है कि पुजारी अर्थ समझे बिना ही वेदाध्ययन करते थे ।[७] इसका कारण यह था कि वर्तमान युग की भाँति उस समय भी धार्मिक कृत्यों और तीर्थों में सस्वर वेदपाठ किया जाता था ।[८] बिल्हण ने वेद, वेदांग पातंजलमहाभाष्य , साहित्य-

---

१. मनु० २।६, मानसोल्लास ३।१२।८३, विक्रमांकाभ्युदय, पृ० ५३

२. हिन्दू संस्कार (अंग्रेजी संस्करण), पृ० २५४

३. विक्रमा०, २।२६ ३ व ४

४. मनु २।३६

५. विक्रमा०, १८।८१

६. सोसिओ इकोनामिक हिस्ट्री आफ नादर्न इंडिया, मजूमदार, पृ० १५०

७. लौगाक्षि गृह्यसूत्र पाकयज्ञविवृति, पृ० ८, कश्मीर संस्कृत सीरीज़

८. सोसियो इकोनामिक हिस्ट्री, पृ० १५०

शास्त्र का अध्ययन तथा अध्यापन किया था ।[१] आह्वमल्ल ने वेद, इतिहास मार्गत तथा समस्तशास्त्रों का अध्ययन किया था और क्षितिपति तर्क शास्त्र का ज्ञाता था[२]। इन विषयों के ज्ञाता भी ब्राह्मण होते थे, जो इनका अध्यापन करते थे । बिल्हण तथा धर्मशास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण आजीवन अध्ययन अध्यापन करते और धर्मकृत्यों में व्यस्त रहते थे क्योंकि उनका यही प्रमुख व्यवसाय था । वे लोग व्याख्या भवनों में तथा शास्त्रगोष्ठियों एवं वाद विवाद में रुचि लेते थे ।[३]

राजपुत्र की शिक्षा – विक्रमांकदेवचरित से ज्ञात होता है कि राजपुत्रों को भी वेद इतिहासपुराण आदि विषयों की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी । आह्वमल्ल उक्त विषयों का अध्ययन करने का दम्भ भरता है ।[४] क्षितिपति , कलश हर्षदेव उत्कर्ष आदि कश्मीर नरेश तर्कशास्त्र में निपुण , कवि कई भाषाओं के ज्ञाता कहे गये हैं ।[५] याज्ञवल्क्य ने भी राजा के लिए अन्वीक्षिकी, वेदत्रयी, दण्डनीति कृषि आदि वार्ता के ज्ञान को आवश्यक कहा है ।[५] देश के छोटे छोटे राज्यों में विभक्त होने के कारण निरन्तर युद्ध होते रहते थे । अत: राजपुत्रों को प्रधानत: सैनिक शिक्षा दी जाती थी । विक्रमांकदेव बचपन में शौर्य की शिक्षा के हेतु लौह पिंजरस्थ सिंह शावक के साथ खेलता था और धनुर्विधा का अभ्यास करता था । जब वह बालक ही था युद्धों में भेजा जाने लगा था ।[६] सोमेश्वर के अनुसार समावर्तन संस्कार के चौथे दिन विक्रम को धनुर्वेद , चक्रविधा, कौक्षेयक , शिक्षा असि, छुरिका सम्बन्धी चमत्कारों, शस्त्रिका चलाने, कुन्त गदा आदि के प्रयोगतथा मल्ल युद्ध के विविध बन्धों की शिक्षा के लिए विविध विधाचार्यों के पास भेजा गया था ।[७] यही नहीं छुरिका बन्ध संस्कार भी सैनिक प्रधानता के कारण ही

---

१. विक्रमा०, १८।८२
२. वहीं, २।३६,१८।४८
३. वही, १८।४,२५
४. वही २।३६
५. वही १८।४७-६८
५क. याज्ञ० १।१३।३११ समिताक्षरा टीका
६. विक्रमा०। सर्ग ३, और ४, विक्रमांकाभ्युदय पृ० ५४-५
७. विक्रमांकाभ्युदय, पृ० ५३

होता था[१] । विक्रमांकदेव की आरम्भिक शिक्षा में आवश्यक लिपियों—संभवत: संस्कृत , कन्नड़, तमिल, तेलगु —का ज्ञान तथा साहित्य की शिक्षा दी गयी थी ।[२]

नारी-शिक्षा— नारियों को पुरुषों की अपेक्षा.शिक्षा कम ही दी जाती थी । संस्कृत नाटकों में नारी पात्र प्राकृत में बोलते हैं । परन्तु बिल्हण प्रवरपुर में शिक्षा के प्रसार के वर्णन में गर्व के साथ कहते हैं कि जिस प्रवरपुर में नारियां भी मातृभाषा के सदृश संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाएं बोलती थीं ।[३] इससे व्यक्त होता है कि प्रवरपुर की स्त्रियां संस्कृत, प्राकृत और कश्मीरी (मातृभाषा) भाषाएं सीखती थीं । राजतरंगिणी (तरंग ६, व ७) के अनुसार रानी दिद्दा और सुभटा सफल शासिका थीं, अत: उन्हें शासन-सम्बन्धी शिक्षा अवश्य दी गयी होगी । कुट्टनीमतम् से ज्ञात होता है कि नारियों को वात्स्यायन कृत कामशास्त्र , नाट्यशास्त्र, संगीत आदि ललित कलाओं , पाकशास्त्र आदि की शिक्षा दी जाती रही होगी ।[४] बिल्हण ने नाट्य अभिनय में एवं नृत्य में दक्ष कश्मीरी ललनाओं का उल्लेख किया है ।[५] चन्दलदेवी अपने हाथों से कपोलों पर चित्रांकन करती, ताड़पत्रों का भूषण पहनती, कन्दुक और चौपड़ खेलती थी । वह लास्य नृत्य का अभ्यास करती थी और गान्धर्व कला (संगीत) में दक्ष थी ।[६] विक्रम की अन्य रानी केतलादेवी चतुर और संगीत में प्रवीण थी । वह अनेक भाषाओं में निपुण होने से अभिनव सरस्वती कही गई है ।[७] ये भाषाएं संस्कृत, कन्नड़, तमिल, तेलगु रही होंगी, क्योंकि सोमेश्वर ने उक्त भाषाओं का ज्ञान सेनापति के लिए अनिवार्य कहा है ।[८]

---

१. विक्रमा०, पृ० ५४
२. विक्रमा० ३।१७,१६ , दी महामण्डलेश्वरज़, पृ० ३७६
३. वही १८।६
४. कुट्टनीमतम् (दामोदरगुप्त कृत श्लोक १२२-१२५) संपा० तन्सुखराम मन्सुखराम त्रिपाठी,१६२४ ,बम्बई ।
५. विक्रमा०, १८।२३।२६
६. वही ८।८२-७,१०।२६
७. रिपोर्ट आफ सा०इ०एपीग्रेफी, १६२३, सं०बी० ६७२
८. मानसो , पृ० ३७,श्लोक ६०, १६२५ बड़ौदा, दी महामण्डलेश्वरज़, पृ० ३७६

(ख) साहित्य

विल्हण और काव्य के प्रयोजन—

विक्रमांकदेवचरित से ज्ञात होता है उसकी रचना से कई प्रयोजन सिद्ध होते हैं, जो निम्नलिखित हैं —सहृदय मनोरंजन (१।१३,२१) यशःप्राप्ति (१।२४), राज-सम्मान तथा धन-प्राप्ति (१।२६,२७,२८,१८।१०१) एवं विक्रमांकदेव का धीरोदात्त चरित्र सर्वथा अनुकरणीय होने से मधुर शैली में सत्कर्म में प्रवृत्त होने का उपदेश है। यही कारण है कि उन्होंने राजतरंगिणी (तरंग-७) में वर्णित अनन्त, कलश हर्षदेव, आदि कश्मीर नरेशों के चरित्र के अग्राह्य अंश का चित्रण नहीं किया है। उन्होंने समाज के आदर्श व्यवहारों को भी अंकित किया है। आहवमल्ल और चोल-राज के दूतों का विक्रम से संदेश कथन , चोलराज की दामाद विक्रम के प्रति विन-म्रता, विक्रम का अग्रज सोमेश्वर और पिता के प्रति आदर भाव इसके उदाहरण हैं।

विक्रमांकदेव में अभिव्यक्त उक्त प्रयोजनों को मम्मट के शब्दों में इस प्रकार समाहित किया जा सकता है —काव्य यश, अर्थ, व्यवहारबोध, अनिष्टनिवारण, परम आनन्द और कान्ता सम्मित उपदेशार्थ होता है।[१]

विल्हण व काव्य के हेतु —

संस्कृत के सभी काव्यशास्त्री एक मत हैं कि प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास उत्तम काव्य रचना के प्रमुख हेतु हैं। उनके बिना काव्य रचना में प्रागल्भ्य नहीं प्राप्त किया जा सकता।

मम्मट के अनुसार कवित्ववीजरूप संस्कार विशेष प्रतिभा शक्ति होती है, जिसके बिना काव्य रचना नहीं हो सकती, यदि हो भी जाती है तो उपहसनीय होती है।[२] नूतन उद्भावनाओं की जनक प्रज्ञा को प्रतिभा कहा जाता है।[३]

---

१. का०प्र०कारिका, -२

२. वही,का०३, पर वृत्ति

३. भट्टतौत प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

—औचित्यविचार चर्चा में प्रतिभौचित्य के प्रसंग में उद्धृत।

बिल्हण की धारणा है कि प्रतिभा महाकवियों में ही होती है । वे कहते हैं अथवा काव्यार्थ चोर सब कुछ चुरा लें तथापि कवीश्वरों की कोई क्षति नहीं होती । देवताओं के द्वारा अनेक रत्नों के निकाल लेने पर भी आज भी समुद्र को रत्नाकर ही कहा जाता है अर्थात् मौलिक उद्भावनाओं वाले कवियों के पास अक्षय काव्य-भंडार होता है (१।१२) यह कविता विलास शारदा की कृपा के बिना असम्भव है (१।२१) अत: प्रतिभा दैवी शक्ति होती है ।

दूसरा प्रमुख हेतु व्युत्पत्ति होता है । संक्षेप में स्थावरजंगमात्मक लोक-वृत्त, छन्द, व्याकरण , अभिधानकोश-कला, चतुर्वर्ग, गज, तुरग,खंग आदि लक्षण ग्रन्थ , महाकवियों के काव्य, इतिहास आदि के विमर्श से व्युत्पत्ति उत्पन्न होती है ।[१] क्षेमेन्द्र तर्क, व्याकरण,भरत,चाणक्य, वात्स्यायन, भारत, रामायण, मोक्षोपाय, आत्मज्ञान,धातुवाद,रत्नपरीक्षण, वैद्यक ज्योतिष धनुर्वेद, गज, तुरग, पुरुष लक्षण, द्यूतेन्द्रजाल आदि प्रकीर्ण विषयों को कवि साम्राज्य का व्यंजन कहते हैं ।[२] प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने इसका विस्तृत विवेचन किया है । भामह ने यहाँ तक कह दिया है कि शब्द, वाच्य, न्याय, कला जो काव्यांगभूत नहीं हैं वे निस्सार हैं ।[३] विक्रमांकदेवचरित से ज्ञात होता है कि बिल्हण भी उक्त ज्ञान परिधि के बाहर न थे । वे विद्वान् कुल में उत्पन्न हुए थे अत: सांगवेद,पतंजलि महाभाष्य, श्रवणसुभगा साहित्य विद्या का सम्यक परिशीलन किया था[४]। उन्होंने महाभारतादि इतिहास ग्रन्थों (२।३६,५।४२), बाणकृत कादम्बरी (१८।५३), सम्राट हर्षवर्धन (१८।६४) का उल्लेख किया है । वे काव्य भेदों आख्यायिका, अद्भुत कथाओं (संभवत: वृहत्कथा आदि),

---

१. काव्यप्रकाश, १।३ पर वृत्ति

२. क्षेमेन्द्रलघुकाव्य संग्रह, पृ० ७७ में संगृहीत कविकण्ठाभरण पंचम सन्धि ।

३. न स शब्द: , न तद्वाच्यं, न स न्याय:, न सा कला, जायते, यन्न काव्यांगम् -काव्यालंकार ५।४

४. विक्रम० १८।८२ , शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये षट् वेदांग थे और ऋग्वेद आदि चतुर्वेदों का अध्ययन किया था ।

सर्गबन्ध दशरूपकों (१।८८) से पूर्णतः परिचित थे। वे पग पग पर, जहां भी अवसर मिला है रामायण, महाभारत और पुराणों के प्रसंगों का संकेत देने में चूके नहीं हैं। सैन्य वर्णन में वे अपने शस्त्र और गजादि सैनांगों को प्रकट करते हैं। वे ज्योतिष के विशिष्ट शब्द गुरुपुष्ययोग (५।८०) और वैद्यक के दाह-ज्वर(४।४६), राजयक्ष्मा (४।१००) आदि रोगों से पूर्ण परिचित थे। विक्रमांकदेव की विविध क्रीडाओं के वर्णन में उनका कामशास्त्र का ज्ञान परिलक्षित होता है। विक्रमांकदेवचरित के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कवि किसी शास्त्र से सम्बद्ध वर्णन को पूर्णता के साथ तभी प्रस्तुत कर सकता है, जब उस शास्त्र में वह पूर्ण पारंगत हो। वे कहते हैं कि कामभाव को व्यक्त करने वाले ललना के विलासों का वर्णन कवित्व शक्ति प्राप्त कामदेव ही सफलतापूर्वक कर सकता है।[1]

बिल्हण ने साहित्यविद्या के अध्ययन को कवित्व प्राप्ति में प्रमुख स्थान दिया है। साहित्य विद्या को स्थूलतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है — शास्त्र पक्ष और काव्यपक्ष। विक्रमांकदेवचरित में रस, ध्वनि, छन्द, अलंकार गुण और रीति के प्रयोग तथा पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों के सम्यक् निर्वाह से स्पष्ट है कि उन्होंने काव्यशास्त्र का परिशीलन किया था। वे साहित्यविद्या के अध्ययन और मनन पर बल देते हैं कि 'हे कवीन्द्रो! साहित्य सागर के मन्थन से उत्पन्न कणों को सुख काव्य रूपी अमृत की रक्षा करो।' (१।११) कर्णसुन्दरी की प्रस्तावना (श्लोक १०) में विल्हण को 'साहित्योपनिषन्निषण्णहृदयः' (साहित्य के रहस्य में आक्षिप्त हृदय वाला) कहा गया है।[2] इस साहित्य मार्ग के पथिक बिल्हण कर्ण-

---

१. सौन्दर्यमिन्दीवरलोचनानां दोलासु लोलासु यदुल्ललास।
यदि प्रसादाल्लभते कवित्वं जानाति तद्वर्णयितुं मनोभूः ।। विक्रमां०७।२०।।
श्रीमुरारीलाल नागर 'प्रसादात्' के स्थान पर 'प्रमादात्' पाठ स्वीकार करते हैं, परन्तु अर्थ की दृष्टि से प्रथम (व्यूलर का) पाठ ही समीचीन है। श्री भारद्वाजजी को भी उक्त पाठ ही अभिमत है। त्रिपुरारहस्यमाहात्म्य के अनुसार त्रिपुरा के प्रसाद से लक्ष्मी को कामदेव पुत्र रूप में प्राप्त हुए थे। वे कवि थे और उनकी 'त्रिपुरानवकम्' प्रसिद्ध है, जिसके अनुष्ठाम से पंडितों को कवित्व प्राप्ति होने की प्रसिद्धि है — भारद्वाज, खण्ड १, पृ० ४२४, टि० -२

२. जो काव्य रचना की इच्छा होने पर ही रचना करता है उसे 'निषण्ण कवि' कहते हैं — काव्यमीमांसा, पृ० १२६, पटना।

सुन्दरी में अपने आदर्श पूर्ववर्ती आचार्यों का निस्संकोच उल्लेख करते हैं 'जिस (काव्य कल्पद्रुम) के मूल करुणानिधि भगवान् वाल्मीकि मुनि थे, अद्वितीय कवि पाराशर व्यास ने जिसे प्रतिष्ठा प्रदान की,वर्तमान काल में जिसके (काव्य के) कालिदास के काव्यमार्ग के पथिक श्री बिल्हण हैं, आज वही (काव्य) कल्पद्रुम पुष्पाभूषण से युक्त होकर निर्व्याज फलित हो रहा है ।[1] इससे स्पष्ट है कि बिल्हण ने कालिदास के काव्यों को अपना आदर्श माना था और उनके काव्यों का सम्यक् अध्ययन किया था । कालिदास परवर्ती कवियों के लिए आदर्श रूप थे । क्षेमेन्द्र ने भी कृच्छ्रसाध्य काव्य के हेतु कालिदास के समस्त काव्यों को पढ़ने की राय दी है ।[2]

इस प्रकार महाकवियों की रचनाओं का अध्ययन काव्य में व्युत्पत्ति अर्जित करने के लिए आवश्यक था । अत: पठित काव्यों के रमणीय पद,भाव और श्लोकों का संस्कार पाठक के हृदय पर अंकित हो जाना स्वाभाविक था । इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्र में वर्णित महाकाव्य के लक्षणों-ऋतुवर्णन, क्रीडा वर्णन, सूर्योदय, सूर्यास्त, नगरी, पुत्र जन्म विवाहादि के वर्णन की अनिवार्यता के कारण समस्त महाकाव्यों में अनेक वर्णनों में पर्याप्त साम्य आ जाता था । यही कारण है कि राजशेखर को शब्द-हरण और अर्थहरण के प्रकरण पर विस्तार पूर्वक विचार करना पड़ा ।[3] समस्त काव्य साहित्य में परस्पर (शब्द अर्थ में) साम्य रखने वाले श्लोक अवश्य मिल जायेंगे । अत: राजशेखर कहते हैं कविजन चोर न हों और वणिग्जन चोर न हों ऐसा (संभव) नहीं । प्रशंसनीय वह है जो उसे (चोरी को) अव्यक्त रूप से छिपा सके अर्थात् कवि और वणिक् चोरी अवश्य

---

१. यन्मूलं करुणानिधि: सभगवान्वल्मीकजन्मा मुनि-
यस्यैके कवय: पराशरसुतप्राया प्रतिष्ठां दधु: ।
सद्यो य: पथि कालिदासवचसां श्री बिल्हण: सोऽधुना
निर्व्याजं फलित: सहैव कुसुमोत्तंसेन कल्पद्रुम: ।।
—कर्णसुन्दरी, (उपसंहार), पृ० ५६,श्लोक २

२. पठेत् समस्तान् किलकालिदासदासकृतप्रबन्धानितिहासदर्शी ।
....
।। कविकण्ठाभरण, १६।।

३ काव्यमीमांसा, अध्याय ११,१२,१३

करते हैं उसी की प्रशंसा होती है जिसकी चोरी अव्यक्त रहती है।"[१] बिल्हण का कथन है कि श्रेष्ठ कवियों को साहित्य-समुद्र के मन्थन से प्राप्त कणामृत काव्य की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि काव्यार्थ चोर बहुत बढ़ गये हैं।[२] इससे व्यक्त है कि वे काव्यार्थ चोरी से घृणा करते हैं और आगे कहते हैं कि भले ही वे सब कुछ चुरा लें, परन्तु उससे महाकवियों की महत्ता नहीं घटती।[३] भाव यह है कि मौलिकता का अभाव होने से ऐसे काव्य अनुकरण मात्र रह जाते हैं। अत: अनुकार्य कवि का महत्त्व पूर्ववत् ही रहता है। वाक्पतिराज व आनन्दवर्धन का मत है कि सृष्टि के आदि से ही कवियों द्वारा सार ग्रहण किये जाते रहने पर, भी वाणी का स्रोत अविच्छिन्न है।[४]

साहित्य-समुद्र के मन्थन से बिल्हण के हृदय पर जो संस्कार पड़ा था उसका प्रभाव उनके काव्यों पर परिलक्षित होता है। उन्होंने कालिदास के काव्यों का विशेष परिशीलन किया था अत: रघुवंश की विक्रमांकदेवचरित पर स्पष्ट छाप अंकित है। प्रथम सर्ग में दोनों ही ग्रन्थों में देवस्तुति के पश्चात् कवि रघुवंश और चालुक्य वंश के वर्णन में असमर्थता व्यक्त करते हैं फिर उक्त वंशों की प्रशंसा करते हैं। पुत्र प्राप्ति के लिए दोनों काव्यों में सपत्नीक तपस्या का वर्णन है। रघुदिग्विजय (चौथा सर्ग) का विक्रम दिग्विजय (सर्ग ३,४) पर और इन्दुमती स्वयंवर पर (सर्ग ६) का चन्द्रलेखा स्वयंवर (सर्ग ८) के साथ पर्याप्त साम्य है। इसी प्रकार रघुवंश का मृगया वर्णन (सर्ग ८) विक्रमांकदेवचरित के आखेट (सर्ग १६) और दोनों काव्यों के क्रमश: सप्तम और द्वादश सर्गों में वर्णित स्त्रियों के हाव भाव मिलते जुलते हैं। यही नहीं अनेक श्लोकों के शब्दों और भावों में पर्याप्त साम्य है। दोनों काव्यों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि बिल्हण ने कहीं भी अंधानुकरण नहीं किया है। विषय की प्रस्तुती उनकी अपनी मौलिक है। उन्होंने शब्द, भाव आदि जो

---

१. नास्त्यचौर: कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जन: ।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ।। —काव्यमी०,पृ०१५१,पटना)

२. विक्रमा०, १।११

३. वही १।१२

४. गउडवहो, श्लोक ८७, ध्वन्यालोक ४।१०

कुछ भी कालिदास से ग्रहण किया है, वह बिल्कुल उनका निजत्व लिए हुए है। न तो वह प्रसंग में खटकता है न बलात् आरोपित ही है। यही नहीं कहीं कहीं बिल्हण ने कालिदास के भावों को अपनी उद्भावनाओं से अधिक आकर्षित बना दिया है।

जहां कालिदास ने निम्नलिखित श्लोक में 'पुत्राभाव' को सीधे सादे ढंग से प्रस्तुत किया है -

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ।।

- रघु० १।६६)

वहां बिल्हण ने उक्त भाव में अधिक चमत्कार ला दिया है -

किमश्वमेधप्रभृतिक्रियाक्रमैः सुतोऽस्ति चेन्नोभयलोकबान्धवः ।
ऋणं पितृणामपनेतुमक्षमाः कथं लभन्ते गृहमेधिनः शुभम् ।।

- विक्रमां० २।३४ ।।

आखेट के प्रसंग में वर्णित एक ही भाव को बिल्हण ने अधिक कौशल के साथ उपस्थित किया है।

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकृष्ट कर्णमपिकामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार ।। रघु० ।। ६।५७।।

अर्थात् 'लक्ष्यगत (पति) हरिण को शरीर को अपने शरीर से ढक कर खड़ी हुई (उसकी सहचरी) हरिणी को देखकर इन्द्रवत् प्रतापी उस (दशरथ) धन्वी ने प्रेम के कारण दयार्द्र होकर, कान तक खींचे गये भी बाण को उतार लिया।'

रुद्धं विलोक्य हरिणं हरिणी गतापि
व्यावृत्य बाणविषये नृपतेश्चकार ।
प्रायेण देहविरहादपि दुःसहोऽयं
सर्वांगसज्वर करः प्रियविप्रयोगः ।। - विक्रमां०, १६।४१

अर्थात् हरिणी हरिण को लक्ष्यगत हुआ देखकर, गई हुई भी (स्वयं

बाण के लक्ष्य से दूर हट गई थी) लौटकर राजा के बाण के लक्ष्य के सम्मुख आ गयी। प्राय: सम्पूर्ण अंगों में ज्वर उत्पन्न कर देने वाला यह प्रिय वियोग शरीर त्याग से भी अधिक दु:सह है।

यहाँ पर बिल्हण ने आजीवन प्रिय विरह की अतिशयता इस प्रकार व्यक्त की है जो हृदय को स्पर्श कर रही है। इसी प्रकार अधोलिखित सूक्तियाँ भी तुलनीय हैं -

कालिदास-प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता (कुमारसम्भवम् ५।१)
बिल्हण-स्त्रीणां हि सौभाग्यमदप्रसूति: प्रियप्रसादो मदिरासहस्रम् ।।
-(विक्रमां० १०।५२)

विक्रमांकदेवचरित (१३।६६) में मेघ का दूत रूप कालिदास के "मेघदूत" का फल प्रतीत होता है।

बिल्हण ने किरातार्जुनीय की प्रसिद्ध सूक्तियों को भी अपने ढंग से प्रस्तुत किया है -

(१) भीम का ओजपूर्ण कथन हैं -
प्रकृति: खलु सा महीयस: सहते नान्य समुन्नतिं यथा ।।
विक्रम के शौर्ययुक्त स्वभाव का वर्णन है- -(किरात-२।२१
तेजस्विनामुन्नतिमुन्नतात्मा सेहे न बालोऽपि नरेन्द्रसूनु:
-(विक्रमां० ३।२३)

(२) युधिष्ठिरशंकालु होकर कहते हैं -
सहसा विदधीत न क्रियामविवेक: परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धा: स्वयमेव सम्पद: ।।
-(किरात २/३०)

गुप्तचर के द्वारा जयसिंह विद्रोह की सूचना पाकर भी विक्रम विचलित न हुए
इत्युदीर्यविरते विशारदे तत्र शारदमृगाङ्क निर्मल: ।
नान्यथा सहसा क्रियमसो न त्वरां दधसि धीरशेखर: ।। -विक्रमां०१४।१४

उन्होंने माघ कृत शिशुपालवध को भी पढ़ा होगा और कल्याणी नगरी (२।१-२५) के वर्णन में उसके द्वारकावर्णन (शिशु३।३३-६८) से प्रेरणा ली होगी। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हम उनकी चरित काव्यों (हर्षचरित, गौडवहो, नवसाहसांक चरित) के साथ समानता प्रदर्शित कर चुके हैं। वे बाणकृत कादम्बरी

(१८।५३) और श्री हर्षदेव या हर्षवर्धन के काव्यों से परिचित थे। कर्णसुन्दरी पर रत्नावली की स्पष्ट प्रतिच्छाया इसका समर्थन करती है।

राजशेखर की विवेचना के अनुसार जो विशिष्ट प्रबन्ध की रचना में प्रवीण हो और शब्द, अर्थ तथा उक्तियों में मौलिक और अलौकिक उद्भावनाओं का उन्मेष कर सके वह महाकवि है।[१] पठित काव्यों के अंशों को मौलिकता के साथ ग्रहण करने तथा विक्रमांकदेवचरित में अनेक हृदयस्पर्शी ध्वनियुक्त स्थलों के अवलोकन से बिल्हण निश्चितरूप से महाकवि सिद्ध होते हैं। योग्य कवि के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि खेल खेल में ही समस्त शास्त्र-समूह को अभ्यास किये हुए साहित्य सागर मन्थन रूप क्रीडा में पण्डित, शृंगारिणी वाणी का प्रियतम, एक एक दिन करके महाकाव्यादि की रचना में अव्यवहित प्रागल्भ्य की स्थिति में विश्रुत स्थिरमति और विदग्ध होना कवि के गुण हैं।[३]

काव्य का तीसरा हेतु अभ्यास है। काव्य की रचना और विवेचन करने में प्रवीणों विद्वानों के उपदेश के अनुसार काव्य रचना का अभ्यास करना चाहिए। उक्त तीनों समष्टि रूप से काव्य रचना के हेतु होते हैं।[४]

बिल्हण और काव्य-सम्प्रदाय-

कवि मार्ग के पथिक बिल्हण अपने पूर्ववर्ती कवि सम्प्रदायों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। अत: उन्होंने प्राचीन काव्यशास्त्रों का अवलोकन अवश्य किया था और उनसे प्रभावित हुए थे। विक्रमांकदेवचरित के प्रारम्भ में उनकी उक्ति है 'प्रौढ़ि प्रकर्ष' (ध्वनि अलंकार गुण आदि) से पुराण रीति (प्राचीन परम्पराओं) का परित्याग प्रशंसनीय है। (जैसे) अत्यन्त उभरे हुए होने से चोली को विदीर्ण कर देने वाले कान्ता-कुच-मण्डल स्तुत्य होते हैं।[५] यहाँ 'पुराणरीति-व्यतिक्रम:'

---

१. योन्यतरप्रबन्धे प्रवीण: स महाकवि: ,
   और 'शब्दार्थोक्तिषु य: पश्येदिह किंचन नूतनम् ।
   उल्लिखेत्किंचन प्राच्यं मन्यतां स महाकवि: ।। का०मी०,पृ०४८,१५१,पटना
३. कर्णसुन्दरी, अंक ४।२४
४. काव्यप्रकाश, का० ३, पर वृत्ति ।
५. प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीति-व्यतिक्रम:श्लाघ्यतम: पदानाम् ।
   अत्युन्नतिस्फोटितकंचुकानि वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि ।। -विक्रमां० १।१५

अंश से उन्होंने प्राचीन काव्य सम्प्रदायों की ओर संकेत किया है । बिल्हण ग्यारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए थे । उनके पूर्व भरत का रस संप्रदाय, भामह का अलंकार संप्रदाय, दण्डी का रीति संप्रदाय, आनन्दवर्धन का ध्वनिसम्प्रदाय, कुन्तक का वक्रोक्ति संप्रदाय और क्षेमेन्द्र का औचित्य सम्प्रदाय प्रचलित हो चुका था । रस, अलंकार और रीति सम्प्रदाय बिल्हण के समय तक पुराने पड़ गये थे । अत: ये ही उसके द्वारा उल्लिखित पुराणरीतियाँ थीं, जिनका उसने व्यतिक्रम किया था ।

बिल्हण के काव्यों में रसध्वनि , वक्रोक्ति और औचित्य पदों का उल्लेख हुआ है, जो उस युग में प्रचलित विविध सम्प्रदायों का द्योतन करते हैं । उनका कथन है 'रसध्वनि के मार्ग पर चलने वाले, और वक्रोक्ति के रहस्य-वेत्ता (सहृदय) ही मेरे प्रबन्ध को हृदयंगम करें, शेष शुकवत् पाठ मात्र करें[१]।' यहाँ पर वक्रोक्ति का अर्थ चमत्कारपूर्ण कथन है, क्योंकि अन्यत्र वे कहते हैं – 'सरस्वती, कोकिल के नाद के सदृश (मधुर चमत्कारपूर्ण (काव्य) उक्तियों से विभूषित जिनके मुखों में नित्य वीणावादन करती है, वे (कवीश्वर) धन्य हैं[२]।' इस प्रकार बिल्हण ने वक्रोक्ति और रसध्वनि आदि दोनों में अभेद कहा है । कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहा है । भामह, दण्डी आदि से भिन्न उन्होंने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया है । उनकी वक्रता एक विचित्र या असाधारण उक्ति में सीमित न रह कर वर्ण, विन्यास से लेकर प्रबन्ध-रचना तक विस्तीर्ण क्षेत्र को व्याप्त करती है ।[३] 'कुन्तक द्वारा वक्रोक्ति-रेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते' में प्रयुक्त भंगीभणिति' उक्ति वैचित्र्य के अन्तर्गत

---

१. रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति संक्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्रा ।
तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु कुर्वन्तु शेषा: शुकवाक्यपाठम् ।। विक्रमां० ।।१।२२

२. जयन्ति ते पंचम-नाद-मित्र-चित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु ।
सरस्वती यद्वदनेषु नित्यमाभाति वीणामिव वादयन्ती ।। वही १।१०।।

३. वक्रोक्तिजीवितम्, पृ० ६४-६३, आचार्य विश्वेश्वर, १९५५ ई० दिल्ली ।

मन, बुद्धि और चित्त तीनों को रमा देने की अपूर्व क्षमता है, जिसमें वाग्वैचित्र्य के साथ साथ रस-वैचित्र्य भी अन्तर्हित है। वैदग्ध्य स्वाभाविक कवि-प्रतिभा-जन्य होता है, इसीलिए वक्रोक्ति का प्रयोग भी कवि प्रतिभा द्वारा ही संभव होगा। इस प्रकार कुन्तक की वक्रोक्ति रस और ध्वनि का समन्वयात्मक रूप है। वक्रोक्ति सिद्धान्त के परिशीलन से स्पष्ट है कि बिल्हण ने वक्रोक्ति का प्रयोग कुन्तक के अर्थों में किया है, पर कुन्तक की तरह उसकी सत्ता ध्वनि सिद्धान्त से पृथक नहीं मानी है। यह उदाहरण काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों में बिल्हण की पैनी दृष्टि द्योतित करता है। वस्तुत: उक्त दोनों सम्प्रदायों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय[1] द्वारा की गयी कुन्तक की बहुविधा वक्रता और ध्वनि के भेदों की तुलना और वक्रोक्ति के सभी भेदों का ध्वनि में अन्तर्भाव. यह सिद्ध करता है कि कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त को ठीक वैसा ही सुव्यवस्थित और सुनियमित विधान प्रस्तुत किया है जैसा कि ध्वनिकार पहले ही ध्वनि सिद्धान्त का कर चुके थे। यद्यपि वे ध्वनिसिद्धान्त के समानान्तर अपना नया प्रस्थान चलाना चाहते थे किन्तु ध्वनि का जादू उनके सिर पर चढ़ कर बोल रहा है।

बिल्हण ने रसौचित्य को काव्य की आत्मा कहा है। उनका कथन है — इस पद में औचित्य है, इससे रस पराकाष्ठा को (चरम उत्कर्ष को) प्राप्त हुआ है, व्युत्पत्ति का यह पात्र है और काव्य की आत्मा है। इस प्रकार कवि का जो श्रम है उसको पुस्तकों से पढ़ता हुआ सहृदय सूक्तियों (से उत्पन्न) के रोमांच को निविड बाष्पों के द्वारा मार्जित करता है।'[2] अन्यत्र वे कहते हैं 'जो दुष्ट व्यक्ति के असत्य द्वेषग्रह के उच्छेदन के उपाय से युक्त नहीं वह सौ-

---

१. ध्वनि सम्प्रदाय और उसकी आलोचनाएं (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, १९६४, इलाहाबाद विश्व०, डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय, कृत, पृ० ३७१-७४

२. औचित्यावहमेतदत्र रस: काष्ठामनेनार्हति
व्युत्पत्तेरिदमास्पदं पदमिदं काव्यस्य जीवातवे।
एवं य: कवितु: श्रम: सहृदयस्तं पुस्तकेभ्य: पठ-
न्सूक्तीरुत्पुलक: प्रमार्ष्टि निविडैरानन्दबाष्पोद्गमै:। कर्णसुन्दरी, अंक १।११

चित्य गुण से रमणीय होता हुआ भी काव्य संज्ञा प्राप्त करने योग्य नहीं होता ।[१] लोहरवंशी राजा अनन्त और कलश के आश्रित कवि क्षेमेन्द्र (१०२८-८८ ई०) ने औचित्य को काव्य की आत्मा कहा है । उनका मत है 'अलंकार अलंकार (शोभाधायक आभूषण की भांति है) हैं एवं गुण ही हैं । शृंगारादि रसों के द्वारा सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन-औचित्य है ।' जो पदार्थ जिसके अनुकूल रहता है उसे प्राचीन आचार्यों ने उचित कहा है । उचित के भाव को औचित्य कहते हैं ।[२] उन्होंने उसका सम्बन्ध पद, वाक्यादि २७ विषयों के साथ कहा है । इस औचित्य सम्प्रदाय का मूल भी ध्वन्यालोक था । आनन्द-वर्धन ने काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में कहा है --

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यःकाव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।।१।२।।

काव्यस्य हि ललितोचित सन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा सार-रूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यः योऽर्थः , तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति दो भेदौ ।।

यहां उचित का अर्थ अभिनवगुप्त ने 'रसविषयक औचित्य' किया है । यह रसविषयक औचित्य रसध्वनि को काव्यात्मा के रूप में सूचित करता है । उसके अभाव (रसध्वनिके) में किस तत्व को दृष्टिगत रखते हुए इस औचित्य की सर्वत्र घोषणा की जाती है ।[३] अन्यत्र आनन्दवर्धन का कथन है 'अनौचित्य

---

१ असौ रसौचित्यगुणोज्ज्वलाऽपि गुम्फो न काव्यव्यपदेशयोग्यः ।
धत्ते ब्रुवलस्यापि न दुर्विषघ्न्यद्वेष गृहोत्सारणमन्त्रतां यः ।।
—बिल्हण के नाम से उद्धृत) सूक्ति मुक्तावली, पृ० ३८, श्लोक ११

२ अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।। ५।।
उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।।१७।। — औचित्यविचार चर्चा ।

३ उचित शब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन्
रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति ।। तदभावे हि किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्रो द्घोष्यति इति भावः ।। — लोचन, पृ० ४५

के अतिरिक्त रसभंग का अन्य कारण नहीं है । प्रसिद्ध औचित्य का निर्वाह रस सिद्धि का रहस्य है ।[१] इस प्रकार स्पष्ट है कि रस के औचित्य का महत्व आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त भी स्वीकार करते हैं, परन्तु वे क्षेमेन्द्र की तरह औचित्य को काव्य जीवन नहीं कहते । क्षेमेन्द्र द्वारा औचित्य को आत्मा रूप में सिद्ध करने का आधार तर्कसंगत न होने के कारण ही यह सम्प्रदाय क्षेमेन्द्र तक ही सीमित रहा और इसका कोई समर्थक नहीं हुआ । बिल्हण ने रसौचित्य को काव्य का जीवन कहा है और अभिनवगुप्त रसौचित्य के कारण ही रसरूप व्यंग्य अर्थ को काव्यात्मा कहते हैं । स्वयं बिल्हण भी ' रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति '[२] आदि श्लोक में ध्वनि मार्ग के पथिक सहृदय के द्वारा अपने काव्य के आस्वादित होने का उल्लेख करते हैं । अतः स्पष्ट है कि बिल्हण रस-ध्वनि सम्प्रदाय के ही अनुयायी थे । वस्तु अलंकार ध्वनियों का पर्यवसान रस में होने से, रसध्वनि ही काव्यात्मा कहा गया है ।[३] अतः बिल्हण रसध्वनि मार्ग का उल्लेख करते हैं ।

सहृदय- माधुर्यगुण युक्त अपने काव्य के पाठक के सम्बन्ध में बिल्हण की धारणा है कि सचेतस (सहृदय) लोग, जो काव्य वैचित्र्य(चमत्कार) के लोभी हैं, मेरे काव्य से प्रेम करेंगे ।[४] कवि का गुण साहित्यविद्या (का अभ्यास) में श्रम न करने वाले और नीरस व्यक्तियों में कुण्ठित हो जाता है । नारियों के शुष्क केशों में कृष्णागरु धूप की सुगन्धि क्या करेगी ?'[५] भाव यह है कि जिस प्रकार केशों को सुवासित

---

१. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धुस्तु रसस्योपनिषत्परा ।। —ध्वन्यालोक, पृ० ३३० पर वृत्ति में उद्धृत ।

२. विक्रमां० १।२२

३. तेन रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलंकारध्वनि तु सर्वथा रसं पर्यवस्यैते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम् ।
—ध्वन्यालोक सलोचन , पृ० १५८ (कुप्पू स्वामी शास्त्री द्वारा संपादित), कुप्पू स्वामी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मद्रास, १९४४ ई०

४. विक्रमां०, १।१३

५. वही १।१४

करने के लिए , उसे कुछ आर्द्र रखा जाता है , वैसे ही अच्छी कविता का रसास्वाद लेने के लिए सहृदय को भी कुछ अर्हताएं अर्जित करनी चाहिए । जो काव्य कौशल पण्डितों को रंजित करता है वह मूर्खों को आनन्दित नहीं करता. ।[१] 'जो लोग कवियों की रचनाओं का आस्वादन कर चुके हैं उन्हें क्षुद्र रचनाएं आनन्दित नहीं करतीं । (जैसे) ग्रन्थपर्णि के प्रेमी कस्तूरिकागन्धमृग घास पात नहीं खाते ।' अत:' मेरे सूक्ति रत्न विचार रूपी कसौटी के पत्थर पर परीक्षण करने में कुशल जौहरी के सदृश सहृदयों के अतिथि बने ।'[२] बिल्हण के अनुसार उनके काव्य के परीक्षक रसध्वनि के मार्ग पर चलने वाले और विचित्र उक्तियों के रहस्य के ज्ञाता हों, अन्य लोग बिना समझे ही उसका शुकवत् पाठ मात्र करें ।[३] बिल्हण की सहृदय विषय धारणा लोचनकार के ही अनुरूप है — 'काव्य के अनुशीलन के अभ्यास के कारण निर्मल हुए, जिनके दर्पण - तुल्य मन में काव्य वर्णित (नायकादि विभावादिकों) के साथ तादात्म्यापत्ति (तन्मय होने) की सामर्थ्य होती है ऐसे अपने हृदय का कवि-हृदय के साथ संवाद रखने वाले सहृदय कहे जाते हैं ।'[४]

काव्य रचना का काल-

बिल्हण के अनुसार काव्य रचना के लिए उपयुक्त समय प्रात:काल होता है इस समय अनुपम अर्थ का स्फुरण होता है । अकवि की वाणी भी अकस्मात् परिपक्वता का परिचय देने लगती है । हे सुकवितिलक यह सरस्वती का विशिष्ट समय है क्षण भर ध्यान मग्न होकर काव्य रचना में प्रवृत्त हो ।'[५]

---

१. विक्रमा०, १।१६

२. वही १।१७-१८

३. वही १।२२, कर्णसुन्दरी १।११ भी दृष्टव्य ।

४. येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी भवन योग्यता ते स्वहृदयसंवादभाज: सहृदया: । —लोचन, पृ० ३६

५. स्फुरित निरुपमोऽर्थस्तन्वते पाकमुद्रा-
परिचयमकवीनामप्यकाण्डे वचांसि ।
सुकवितिलक वेला कापि सारस्वतीयं
क्षणमवहितचित्त: काव्यचिन्तां विधेहि ।।११।८१ ।।

राजशेखर का विचार भी बिल्हण के सदृश है । उनका कथन है- रात्रि का चतुर्थ प्रहर सारस्वत मुहूर्त है ।' और' इस समय मन निर्मल रहता है तथा वह गूढ विषयों को भी प्रत्यक्ष करा देता है ।[१]

बिल्हण की भाषा और शैली —

भाषा— विक्रमांकदेवचरित बिल्हण की प्रौढतम और सफल रचना है । कालिदास की भाँति उनकी भाषा स्वाभाविक एवं प्रवाहयुक्त है । उनकी भाषा साधारण, सरल, सरस , मनोरम तथा स्पष्ट है । वे शब्दों के चमत्कार पर बहुत बल नहीं देते । उनके द्वारा प्रयुक्त श्लेष भी रोचक तथा सरल हैं । उन्होंने लम्बे समासों का प्रयोग सर्वथा नहीं किया है । यदि समास का प्रयोग किया भी गया है, तो स्वल्प ही है । उन्होंने कहीं पाण्डित्य प्रदर्शन का प्रयास नहीं किया है । उनका ज्ञान, उनके ऊपर हावी नहीं है । शास्त्रीय पारिभाषिक पदों का चारुत्व के लिए प्रयोग किया गया है । अतएव उनके काव्य में क्लिष्ट-रचना क्लिष्ट कल्पना, एवं दुरूह प्रयोगों का अभाव है । भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है । अत: उनकी भाषा परिष्कृत और सुसंस्कृत है । यही नहीं भावाभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ है । शब्दों का प्रयोग उन्होंने प्रसंग के अनुकूल किया है । विक्रमांकदेवचरित में हेवाकिन् और हेवाक कश्मीर के स्थानीय शब्दों का प्रयोग मिलता है । [२] बिल्हण ने इसको उत्कट इच्छा के अर्थ में प्रयुक्त किया है ।

---

१. काव्यमीमांसा, पृ० १२६, और १२८, पटना ।

२. विक्रमां० ७।६३, १८।१०१

यह शब्द कश्मीरी कवि और शास्त्रकारों के ग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त मिलता है —

जायन्ते महतामहो निरुपमप्रस्थानहेवाकिनां...... ।। राज०

अभिनवगुप्त ने' गौडीय वैदर्भीपांचालदेशहेवाकप्राचुर्यदृशा' में उक्त शब्द का प्रयोग किया है । बालप्रियाकार ने उसका अर्थ स्वभावत: स्वाच्छन्द्यं वा' किया है —ध्वन्यालोक, काशी ,सीरीज़- १३५, पृ० २०,१६४०ई

मुक्तिकलश ने भी' असामान्योल्लेखं विरसहतहेवाकिनमलं ' लिखा है ।

—सुभाषितावलि:,वल्लभदेव कृत(पीटर्सन), श्लोक १५७२

१८८६ ई०

श्री आप्टे का अनुमान है कि यह शब्द अरबी या फारसी उत्पत्ति का है।[१]

गुण— उनकी भाषा में शृंगारादि रसों के प्रयोग, युद्ध वर्णन, ऋतुवर्णन, नगरी वर्णन आदि सर्वत्र प्रसाद गुण विद्यमान है, क्योंकि विक्रमांकदेव चरित का प्रत्येक श्लोक पढ़ते ही भाव एवं अर्थबोध करा देता है। कन्या के परिणय के पश्चात् द्रविडराज की विक्रम से उक्ति है —

> अंगानि चन्दनरसादपि शीतलानि
> चन्द्रातपं बाहुरयं यशोभिः।
> चालुक्यगोत्रतिलक क्व वसत्यसौ ते
> दुर्वृत्तभूपपरितापगुरुः प्रतापः॥[२]

मम्मट के अनुसार भी यह गुण सभी रसों में चारुत्ववर्धक होता है।[३]

बिल्हण माधुर्य गुण को काव्य की शोभा का आवश्यक गुण मानते हैं और कहते हैं कविता माधुर्य गुण के अभाव में शोभित नहीं होती।[४] यहाँ पर सम्भवतः बिल्हण ने वामन कृत 'उक्ति वैचित्र्यं माधुर्यं' लक्षण का अनुसरण किया है, क्योंकि अन्यत्र वे (चित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु (१।१०) और वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः (१।१३)' श्रेष्ठ काव्य का गुण कहते हैं। मम्मट के मत में प्रसाद गुण सभी रसों का उत्कर्षकारक होता है, जबकि माधुर्य सामान्यतः सम्भोग-शृंगार और करुण, विप्रलम्भ तथा शान्त रसों का उपस्कारक होता है।[५] उनके अनुसार ट,ठ,ड,ढ वर्णों को छोड़ कर 'क' से 'म' तक अन्त (शिर) में

---

१. संस्कृत - अंग्रेजी कोश, आप्टे, पृ० - ६४३, १९६५ ई०

२. विक्रमां०, ५।८६

३. काव्य प्रकाश, सूत्र १०१, उल्लास ८

४. ~~काव्य प्रकाश, सूत्र-१०१, उल्लास ८~~

> प्रत्यक्ता मधुनेव काननमही मौर्वीविचापोजिता
> शुक्तिर्मौक्तिकवर्जितेव कविता माधुर्यहीनेव च।
> तेनैकेन निराकृता न शुशुभे चालुक्यराज्यस्थितिः
> सामर्थ्यं शुभजन्मना कथयितुं कस्यास्ति वाग्विस्तरः॥ विक्रमां०,४।१२०

५. काव्य प्रकाश, उल्लास, सूत्र ९०-९१ सवृत्ति

अपने अन्तिम वर्ण से युक्त, ह्रस्व से व्यवहित रेफ व लकार वर्ण तथा समासाभाव या अल्प समास और सन्धि युक्त मधुर रचना माधुर्य व्यंजक होती है [१]। संभोग शृंगार के प्रसंग में वर्णित निम्नलिखित श्लोक में प्रसाद गुण युक्त माधुर्य का रसानुकूल प्रयोग दृष्टव्य है —

लास्यं त्वयि प्रेक्षितुमागतायां लतापुरन्ध्र्यः कुसुमैःपतद्भिः
मृगाक्षि लीलावनरंगपीठे पुष्पांजलिक्षेपनिवोद्वहन्ति ।।[२]

विक्रमांकदेवचरित मूलतः वीर रस का महाकाव्य है । अतः युद्धों के प्रसंग भरे पड़े हैं । युद्ध वर्णन , सैन्य वर्णन में बिल्हण ने ओजमयी भाषा का प्रयोग किया है । मम्मट का कथन है कि वीर रस में चित्त विस्तारूप दीप्ति को ओज कहते हैं, जो वीररस का होते हुए भी वीभत्स और रौद्र में विशेष चमत्कारी होता है । वर्ग के प्रथम तृतीय के साथ द्वितीय चतुर्थ वर्ण, रेफ के साथ संयोग तुल्य वर्णों का योग, टवर्ग और श, ष का प्रयोग दीर्घ समास और विकट रचना इस गुण के व्यंजक होते हैं ।[3] सोमेश्वर और विक्रम युद्ध वर्णन में इस गुणका उदाहरण निम्नांकित है —

प्रतिनिवहमूर्छितोऽधिरोहैः स्वकरटिकर्णपुटानिलैःप्रबुध्य ।
अपरसुभटपातिते प्रहर्तृंननुशयमापदलब्धवैरशुद्धिः ।।[4]

बिल्हण अपने को वैदर्भी रीति का उपासक और कालिदास का पथवर्ती कहते हैं ।[५] उनके अनुसार वैदर्भी रीति की विशेषताएं निम्नांकित हैं —

" कर्णों के लिए अमृत की अनभ्र (बिना बादल) वृष्टि करने वाली वाणी-विलास की जन्मभूमि और पदों की सौन्दर्यवृद्धि की जामिन (प्रतिभू) वैदर्भ-

---

१. वही, सत्र, ६६ सवृत्ति ।

२. विक्रमां०, १०।२३

३. काव्यप्रकाश उल्लास ८, सूत्र ६३,१०० सवृत्ति ।

४. विक्रमां०, ६।७४

५. कर्णसुन्दरी, उपसंहार, श्लोक २

रीति कृती (भाग्यवान् या निपुण) व्यक्ति में ही आविर्भूत होती है ।'[१] भाव यह है कि वैदर्भरीति कर्णसुखद,माधुर्य गुण युक्त और रमणीय होती है । वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा है और वैदर्भी, गौडी और पांचाली तीन रीतियां बताई हैं । उनके अनुसार वैदर्भी समस्त गुणों से युक्त, दोष की मात्रा से रहित, वीणा के समान मनोहारिणी होती है ।[२] विश्वनाथ का कथन है --

माधुर्यव्यंजकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते ।।[३]

अर्थात् ललित पद विन्यास और माधुर्य व्यंजक वर्णों से युक्त समास रहित या स्वल्प समास वाली रचना वैदर्भी रीति कही जाती है । उक्त परिभाषाओं के अनुसार बिल्हण की शैली विशुद्ध वैदर्भी है --क्योंकि वह प्रसाद, माधुर्य, ओज गुणों से पूर्ण सरल सरस और रमणीय है । दण्डी माधुर्ययुक्त वैदर्भवर्त्म को कालिदास द्वारा प्रतिष्ठित कहते हैं ।[४] यही कारण है बिल्हण अपने को कालिदास के मार्ग का पथिक कहते हैं --सद्यो य: पथि कालिदासवचसां श्रीबिल्हण:सोऽधुना

निर्व्याजं फलित: सहैव कुसुमोत्सेन कल्पद्रुम: ।।[५]

रस-   विक्रमांकदेवचरित में वीर रस अंगी है और करुण शृंगार आदि रस

---

१. अनभ्रवृष्टि: श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्म-भूमि: ।
वैदर्भरीति: कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभू: पदानाम् ।। -- विक्रमा० १।६

२. समग्रगुणावैदर्भी । काव्यालंकार सूत्र १।२।११
समग्रै: --ओज प्रसादप्रमुखैर्गुणैरुपेता वैदर्भी नाम रीति: ।
अत्र श्लोकौ--अस्पृष्टा दोषमात्राभि:, समग्रगुणगुम्फिता ।
विपंची स्वर सौभाग्या, वैदर्भी रीतिरिष्यते ।।

३. साहित्य दर्पण ६।३, (पृ० ५५१), शकाब्द १८७५, कलकत्ता, सं० ५

४. लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विवशा गिर: ।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् , चन्द्रशेखर पाण्डेय, पृ० ४३ पर उद्धृत

५. कर्णसुन्दरी, उपसंहार, श्लोक २

उसके अंग हैं। ग्रन्थ के मंगलाचरण से इस काव्य का वीररसत्व व्यंग्य है -

भुजप्रभादण्ड इवोर्ध्वगामी स पातु व: कंसरिपो:कृपाण: ।

यह काव्य आद्योपान्त वीररस के स्थायी भाव उत्साह से ओतप्रोत है। इसमें वीररस के चारों प्रकार की अभिव्यक्ति मिली है। नायक विक्रम निर्भय होकर सहज ही शत्रु सैन्य का संहार करता हुआ अंकित है। प्रस्तुत महाकाव्य ऐतिहासिक है। इस युग में अनेक राज्यों में विभक्त होने से परस्पर युद्ध हुआ करते थे। अत: अनेक युद्धों के विस्तृत वर्णनों के कारण विक्रम के युद्धवीर स्वरूप की ही प्रधानता है। उसका दानवीर रूप भी पूर्णत: अभिव्यक्त हुआ है। उसके दान-कृत्य दानी भोज और मुंज से भी उन्नत थे (३।७१,६।१४४) । वह षोडश महादानों हैमतुलादान आदि के करने में अद्वितीय था। (१७।३६-४२) । वह धर्मवीर भी था। उसने पिता की आज्ञा के विरुद्ध युवराज पद को अस्वीकृत किया। अपना अपकार करने वाले अग्रज सोमेश्वर पर भी कुपित नहीं होता और निरन्तर कर्तव्य पालन में रत रहता है। उसने कमला विलासी का मन्दिर और तड़ाग का निर्माण कराया। मालवनरेश को पुन: राज्य दिलाना, आलुपेन्द्र और कोंकणेश जयकेशिन का संरक्षण, अनुज जयसिंह को वनवास मण्डल का अधिपति बनाना और विद्रोह करने पर भी उसे क्षमा करने के लिए तत्पर रहना विक्रम के दयावीर स्वरूप को प्रकट करता है। अष्टम से त्रयोदश सर्गों तक शृंगार के दोनों रूपों - विप्रलम्भ और संभोग का और चतुर्थ सर्ग में आहवमल्ल के निधन पर करुण रस का सफल प्रयोग हुआ है।

छन्द- क्षेमेन्द्र ने गुण-दोष प्रकरण में लिखा है "षट् और सप्ताक्षर वृत्त में सरस्वती आश्रय नहीं लेती, जिस प्रकार पुष्प कली में भृंगी प्रवेश नहीं कर पाती। लघुवृत्तों में समास के द्वारा और बड़े वृत्तों असमस्त पदों द्वारा चारुत्व आता है।"[१] इस दृष्टि से बिल्हण का छन्द प्रयोग समीचीन है। उन्होंने षट् और सप्ताक्षर वृत्तों का सर्वथा परित्याग कर दिया है और लघु वृत्त में समस्त पदावली का और बड़े वृत्तों में असमस्त पदों का प्रयोग किया है, जिसके उदाहरण क्रमश: इस प्रकार है :—

---

१. सुवृत्ततिलक द्वितीय विन्यास, श्लोक २,३

तथान्ति पदसंघट्ट-त्रुटन्मौक्तिकशुक्तिकः ।
चक्रे ऽम्बुधिर्भयोद्भ्रान्त-हृदयस्फुटनभ्रमम् ।।४।१५ ।।
शून्याः श्रीखण्डवातैरभिलषति भुवश्चन्दनाद्रेः परस्ता-
ल्लीलोद्याने सखीनां सृजति कलकलं कोकिलोत्सारणाय ।

आदि (७।६६) । परन्तु कहीं कहीं उन्होंने दीर्घ वृत्तों में बड़े बड़े समस्त पदों का भी प्रयोग किया है ।[1] उन्होंने आवश्यकतानुसार सीधे सादे प्रसिद्ध वृत्तों का ही प्रयोग किया है । प्रधानतः उपेन्द्रवज्रा (सर्ग१,६) इन्द्रवज्रा (सर्ग-३,७,१०), वंशस्थ (सर्ग -२,१३) अनुष्टुभ् (सर्ग ४,८,१६),रथोद्धता (सर्ग—५,१४), पुष्पिताग्रा (सर्ग ६), स्वागता (सर्ग-१०), उपजाति (इन्द्रवज्रा—उपेन्द्रवज्रा तथा वंशस्थ-इन्द्रवज्रा के संकर)—सर्ग ११,१७) वियोगिनी (सर्ग १५) और मन्दाक्रान्ता (सर्ग १८) प्रयुक्त हुए हैं और परिवर्तन के हेतु सर्गान्त में शार्दूलविक्रीडित, मालिनी, हरिणी, वसंततिलका, स्रग्धरा, पुष्पिताग्रा,मन्दाक्रान्ता, पृथ्वी, अनुष्टुभ, औपच्छन्दसिक, वृत्तों के सफल प्रयोग हैं । बिल्हण ने सर्ग १० और १६ में वर्ण्य विषयों की विविधता के कारण कई छन्दों की शरण ली है । वर्ण्य विषयों के अनुसार छन्दों का क्षेमेन्द्र सम्मत प्रयोग नहीं मिलता ।[2] बिल्हण ने छन्दों का अपनी रुचि के अनुकूल चयन किया है ।[3] और उसमें सफल हैं ।

अलंकार— विक्रमांकदेवचरित में प्रायः सभी प्रसिद्ध अलंकारों का प्रयोग हुआ है । वे उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, उपमा, समासोक्ति, व्यतिरेक आदि अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग करते हैं । श्लेष में उनका विशेष आग्रह नहीं है । उनके अलंकार सौन्दर्यवर्धक हैं । उनका न तो बलात् आरोप ही हुआ है और न उन्हें क्लिष्ट कल्पना में उलझा कर अर्थावबोध का बाधक ही बनने दिया गया है । व्यूलर[4] और कीथ[5] का कथन है कि निम्नलिखित श्लोक में अलंकार

---

१. वही ७।७५

२. सुवृत्ततिलक, तृतीयविन्यास, वृत्तविनियोग ।

३. क्षेमेन्द्र ने मनोनुकूल वृत्तों के प्रयोग की छूट भी दी है —वही, ३।२७

४. विक्रमा०, भूमिका, पृ० ४

५. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, कीथ, पृ० १५६, १६५३ ई०

के कारण ऐतिहासिक तथ्य संदिग्ध हो गया है —

विशीर्णकर्णा कलहेन यस्य पृथ्वीभुजंगस्य निरर्गलेन ।

संगच्छतेऽद्यापि न डाहलश्री:कर्पूरताडङ्कनिर्भयशोभि: ।।१।१०२

परन्तु उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि ऐतिहासिक दृष्टि से उक्त श्लोक के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं है । मालोपमा और अर्थान्तरन्यास के संकर का सहज प्रयोग दृष्टव्य है —

प्रत्यक्ता मधुनेव काननमही मौर्वीव चापोज्झिता

शुक्तिर्मौक्तिकवर्जितेव कविता माधुर्यहीनेव च ।

तेनैकेन निराकृता न शुशुभे चालुक्यराज्यस्थिति:

सामर्थ्यं शुभजन्मना कथयितुं कस्यास्ति वाग्विस्तर: ।। ~~१।१०८ में~~ ४।१२०

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा और अपह्नुति का संकर १।१०८ में आकर्षक बन पड़ा है ।

ध्वनि — वस्तुत: बिल्हण ध्वनिवादी कवि हैं,[1] अत: उनके काव्य में व्यंजना की ही प्रधानता है । उनकी दृष्टि में अलंकार अप्रधान है । सहृदय-मन-ह्लादक काव्य ही श्रेष्ठ है । इसी काव्य को आचार्यों ने श्रेष्ठ काव्य कहा है ।[2] इस काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारयुक्त होता है । निम्नलिखित उदाहरण में उत्प्रेक्षा , रूपक और श्लेष अलंकारों के संकर से शरद् ऋतु वृत्तान्त की प्रतीति होने से वस्तुध्वनि है —

उवाह धौतां क्षितिपालवल्लभा सुधाप्रवाहैरिव देहकन्दलीम् ।

विषादपंकक्षयत: क्षमापतेर्निरन्तरं तु प्रससादमानसम् ।।२।६२

इसी प्रकार अलंकार ध्वनि के उदाहरण भी प्रचुर है —

दृशं प्रपापालिकया प्रकाशिते न्यवेशयत्कुम्भधियाकुचद्वये ।

विवेद पान्थ:कलशात्परिच्युतां न वारिधारांमुखसंगिनीमपि ।। १३।६ ।।

यहां कुम्भ-सादृश्य की व्यंजना से उपमा अलंकार ध्वनि है ।

पपु: प्रपापालिकया समर्पितं चिरेण पान्था: कथमप्यनादरात् ।

तदीयबिम्बाधरपानलम्पटा:सपाटलामोदमपिप्रपाजलम् ।।१३।१०

उक्त श्लोक में सुरभित जल की अपेक्षा प्रपापालिका के अधर रस की उत्कृष्टता की

---

१ · विक्रमा० -१।२२

२ · काव्यप्रकाश,उल्लास १, सूत्र २

व्यंजना से व्यतिरेक अलंकार ध्वनित होता है। वस्तु और अलंकार ध्वनियों का पर्यवसान रस में होने से रसध्वनि ही प्रधान है। अत: इसके उदाहरण अनेक उपलब्ध होते हैं। निम्नलिखित श्लोक में वीररस (स्थायी भाव उत्साह) व्यंग्य है -

महतिसमरसङ्कटे भटोन्य: प्रतिभटनिर्दलनात्समाप्तशस्त्र: ।
अगणितभरण: प्रविश्य वेगादरिकरत: करवालमाचकर्ष ।। ६।७

बिल्हण ने शक्ति और व्युत्पत्ति का समुचित उपयोग किया है। वे कहीं भी अपनी बहुज्ञता का परिचय देने का प्रयास नहीं करते। शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों का स्वाभाविक प्रयोग करते हैं, अत: वह भावाभिव्यक्ति में बाधक नहीं हुआ है श्लोक ५।६८ में गुरुपुष्पयोग उपमान के प्रयोग से विक्रम और चोलराज के मिलन के शुभत्व का अतिशय व्यक्त हो गया है। वस्तुत: उनका ज्ञान उनके काव्य का उपस्कारक है, नीरस और भावाभिव्यक्ति का बाधक नहीं है। वे रामायण, महाभारत और पुराणों की अतिप्रसिद्ध कथाओं का ही संकेत देते हैं, जो शीघ्र ही हृदयंगम हो जाती हैं।

उनकी वर्णना शक्ति अपूर्व है। वे वर्ण्यविषय का मनोरम और सजीव चित्र अंकित करते हैं। प्रथम सर्ग (४७-५५) में चालुक्य भट की उत्पत्ति का वर्णन इसका उदाहरण है। ऋतुवर्णन में वे ऋतु की विशेषताओं का आभास सहज ही करा देते हैं, क्योंकि वर्णन में किंचित् भी आडम्बर नहीं रहता। सोलहवें सर्ग का हेमन्त ऋतु वर्णन दृष्टव्य है। इसी प्रकार मृगया का वर्णन भी अनूठा है। उन्होंने शिकारी कुत्ते का कितना सजीव चित्र खींचा है -

श्वा निर्गत: कनकशृंखलया सहैव
कोपान्निरीक्ष्य विशतो गहने वराहान् ।
रुद्धस्तया विटपिकण्टककीलकेषु
साक्रन्दकण्ठकुहरो मुहुरुत्पपात ।।१६।१६

चतुर्थ सर्ग में आहवमल्ल के निधन का दृश्य हृदयस्पर्शी है, जिसमें करुण भाव रस और आहवमल्ल के आदर्श चरित्र तथा धैर्य का चित्रण सरल एवं सरस शैली में वर्णित है। दूसरी ओर वे युद्ध का लोमहर्षण चित्र उपस्थित करने में भी सिद्धहस्त हैं। एक योद्धा का वर्णन है -

नयनगतमरातिवीरचूडा - मणिदलनप्रभवं परागमेक:)
करिदशनविदारितात्मवक्ष-स्थल रुधिरांजुलिभिर्निराचकार । ६।७५

उनके वर्णन सीधे सादे हैं। वे सदा इसका ध्यान , रखते हैं कि कहीं भाव अस्पष्ट न रह जायं। इसी लिए सदा उपमा उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में लोकविश्रुत या लोक-जीवन की वस्तुओं को उपमान रूप में रखते हैं। उनका काव्य मानव जीवन के बिल्कुल निकट है। वे कहते हैं आहवमल्ल ने पुत्र के एक ही हाथ से किये गये प्रणाम को ही महत्त्व दिया (वात्सल्य के कारण) (३।११) बिना अलंकार के ही वे कितना रमणीय और भव्य वर्णन करते हैं :—

बूमस्तस्य प्रथमवसतेरद्भुतानां कथानां
किं श्रीकण्ठश्वशुरशिखरिक्रीडलीलाललाम्नः।
एको भागः प्रकृतिसुभगं कुंकुमं यस्य सूते
द्राक्षामन्यः सरससरयूपुण्ड्रकच्छेदपाण्डुः ।।१८।७२

कालिदास की भांति बिल्हण की सूक्तियां भी सरल, हृदयग्राही, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा अनुभव सिद्ध होती हैं। उदाहरणतः :-

कन्यापितृणां पदमुत्सवस्य न श्लाघ्यजामातृसमं समस्ति ।।६।४०।।
अकौशलं पत्युरिदं चिरेण विश्वासमायाति नवा वधूर्यत् ।।१०।७
लज्जा कुतः स्वार्थपरायणानाम् ।। १०।६२
प्रकृतिमहतां दुर्वृत्तेष्वप्यहो चटुला : कुधः ।।१५।८५ ।।

इस प्रकार अपने काव्य की व्यंजकता , सरलता, सरसता आदि गुणों के कारण ही बिल्हण की कविताएं बहुश्रुत हो गयी थीं।[1] इसीलिए सोमेश्वर ने भी उनकी प्रशस्ति की है -

बिल्हणस्य कवेः प्राप्तप्रसादेव सरस्वती।
नीयते जातु कालुष्यं दुर्जनैर्न घनैरपि ।।[2]

मङ्खक प्राचीन कवियों के परिचय के समय कहते हैं —

तथोपचस्कारे येन निज वाङ्मयदर्पणः
बिल्हणप्रौढिसंक्रान्तौ यथा योग्यत्वमगृहीत् ।।[3]

---

१. विक्रमां०, १८।८६, काव्यमीमांसा, पृ० १२६, पटना

२. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० ३४१, १९६० ई०

३. श्रीकण्ठचरितम् २५।७६ नि०सा० प्रे०, बम्बई, काव्यमाला,३

(ग) धर्म और तीर्थ —

धार्मिक जीवन— उपलब्ध साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि बिल्हण के काल में अनेक धर्म जीवित थे, जिनमें परस्पर सहिष्णुता की भावना थी। विक्रमांकदेव चरित के आरम्भ में विष्णु, लक्ष्मी, शिव, पार्वती, गणेश, सरस्वती देवताओं की स्तुति है। प्रस्तुत काव्य में हिन्दुओं के पौराणिक देवताओं के संकेत आये हैं। बिल्हण ने कर्णसुन्दरी में प्रारम्भ में जिन , विष्णु, लक्ष्मी , शिव पार्वती स्वामिकार्तिकेय की स्तुति की है।[1] बिल्हण को सम्प्रदाय विशेष से कोई घृणा न थी , अपितु वे समस्त हिन्दू धर्म पर श्रद्धा रखते थे। इसीलिए उन्होंने वैष्णव, शैव तीर्थों की यात्राएं की थीं। इस युग में वैष्णव और शैव दो प्रधान धर्म सम्प्रदाय प्रचलित थे। राजागण सम्प्रदाय विशेष के होने पर भी अन्य धर्मों को भी पर्याप्त सम्मान देते थे। कभी कभी तो वे विविध सम्प्रदायों को समान रूप से अंगीकृत कर लेते थे।

कल्याणी के चालुक्य नरेश एक ओर वैष्णव प्रतीक चक्र,शंख, वराह, गरुड आदि का प्रयोग करते हैं, उनके सभा कवि काव्य और अभिलेखों में विष्णु सम्बन्धी स्तुति करते हैं, तथा वे लोग वीरनारायण, चालुक्य नारायण आदि विरुद धारण करते हैं, जिससे अनेक विद्वान्[2] चालुक्यों को वैष्णव समझते थे हैं और दूसरी ओर बिल्हण ने बालमृगांकशेखर शिव को आहवमल्ल का कुलप्रभु कहा है।[3] चालुक्य नरेशों के श्रीशैल पर स्थित मल्लिकार्जुन ज्योतिर्लिंग के दर्शनार्थ जाने के अनेक उल्लेख हैं।[4] विक्रमांकाभ्युदय में भी विक्रमांकदेवचरित की भांति ही शिव की उपासना से आहवमल्ल को तीन पुत्र प्राप्त होने का वृत्त वर्णित है। उक्त उल्लेखों के आधार पर यह निर्णय करना कठिन है कि चालुक्य नरेश किस

---

१. कर्णसुन्दरी १-३

२. व्यूलर भूमिका, पृ० ३२, टि० ४, महामण्डलेश्वरज़,देसाई, पृ० ४३०

३. विक्रमा० २।४०

४. अ०हि०ड०,पृ० ४४१

५. विक्रमांकाभ्युदय, पृ० २४-४३

विशेष धर्म के अनुयायी थे ? वस्तुत: हिन्दू धर्म के प्रधान सम्प्रदाय शैव और वैष्णव धर्मों पर उनकी अटूट आस्था थी । पुत्र प्राप्ति विषयक मनौतियां पूर्ण करने के कारण ही शिव को विख्यात आहवमल्ल का कुल प्रभु कहते हैं । आज भी पुत्रेच्छा से लोग प्रदोष व्रत में शिव की उपासना करते हैं । कभी कभी मन्दिर विशेष की अधिक प्रसिद्धि भी विविध धर्मावलम्बियों को आकर्षित करती है । यही कारण प्रतीत होता है कि अभीष्ट सिद्धि के लिए वैष्णव चालुक्य मल्लिकार्जुन महादेव की शरण में जाया करते थे । `गोरव` नामक शैव साधुओं को वैष्णव आदि सभी हिन्दू पवित्र मानते थे । १०८२ ई० के एक वैष्णव अभिलेख , जो विष्णु मन्दिर को दिये गये दानफलक पर अंकित है, में कहा गया है कि जो इस दान को अपहृत या नष्ट करेगाउसे स्वस्थ मन से किया गया ब्राह्मणों, गोरवों गायों और नारियों की हत्या का पातक लगेगा ।[१] इस युग में हरिहर पूजा का उद्भव शैव और वैष्णव धर्मों को एकीकृत करने के प्रयास के फलस्वरूप हुआ था । कुछ अभिलेखों में हरि और हर का संयुक्त नाम शंकर नारायण उल्लिखित है । १०७१ ई० का एक पाण्ड्य अभिलेख हरिहर की स्तुति से प्रारम्भ होता है और स्वयम्भू शंकरनारायण के मन्दिर को दिये गये दान का विवरण देता है ।[२] इससे स्पष्ट है कि लोग शिव और विष्णु का समान महत्व समझने लगे थे और अपनी उक्त धारणा के प्रचारार्थ हरिहर का निर्माण करने लगे थे । इस धारणा के जन्म की पृष्ठभूमि का चित्रण एक अभिलेख में इस प्रकार किया गया है — `कुछ कहते हैं कि इस पृथ्वी पर हरि के अतिरिक्त अन्य कोई देवता नहीं है, कुछ कहते हैं कि इस धरती पर हर के अतिरिक्त कोई देवता नहीं है, अत: मानव समाज के संदेह के निवारणार्थ कूडलूर में एक संयुक्त रूप हरिहर की कल्पना कर ली गई । वे परस्पर सद्भाव सहित हमारी रक्षा करें । पवित्र शिव विष्णु रूप में परिणत हुए और विष्णु ने प्रसिद्ध और श्रेष्ठ शिव रूप को अंगीकार कर लिया है` वेद के इस कथन की पूर्ण प्रतिष्ठा हो, कूडल में यह जगत्वन्द्य संयुक्त स्वरूप

---

१. एपी०इंडि०, जि० १८, पृ० १७८

२. एपी० क०,११, दावणगेरे, ३२

'हरिहर' स्थापित हैं —वे पृथ्वी की रक्षा करें।'[१] १०६७ ई० के हूल्लि से उपलब्ध एक अभिलेख में अंबवर नाकिमय्य द्वारा उक्त स्थान पर स्थित हरिहर की वन्दना की गयी है।[२] बृहन्नारदीय वैष्णवपुराण में दोनों देवों को अभिन्न कहा गया है।[३]

तीसरे प्रधान ब्राह्मण देवता ब्रह्मा थे। उन्हें त्रिमूर्ति का देवता माना जाता था और ब्रह्मा, विष्णु, महेश क्रमशः स्रष्टा, पालक और संहारक समझे जाते थे। बादामी तालुका से प्राप्त एक अभिलेख हरिहर और ब्रह्मा के मन्दिर का उल्लेख करता है।[४] प्राप्त साक्ष्यों से स्पष्ट है कि ब्रह्मा को भले ही त्रिमूर्ति में स्थान मिल गया था, परन्तु शिव और विष्णु पूजा की तुलना में उनका अत्यल्प प्रचार था।

अन्य ब्राह्मण देवताओं में बिल्हण ने इन्द्र, लक्ष्मी, सरस्वती, शस्त्र देवता, सान्ध्यदेवता, भास्वत् (सूर्य), यमराज या कृतान्त, पार्वती, कुमार, गणेश, कुबेर, शुक्र, चन्द्र रोहिणी कुबेर, मकरध्वज, देवगुरु वाचस्पति आदि का उल्लेख किया है, जिनका पौराणिक स्वरूप है। सरस्वती कवियों की आराध्या थीं। अतः बिल्हण आदि सभी कविगण उसकी स्तुति करना नहीं भूलते। उन्होंने बौद्धसिद्धान्त का संकेत दिया है, पर बौद्धों से उन्हें घृणा नहीं है। कर्णसुन्दरी का प्रारम्भ 'जिन' की स्तुति से है। इस युग में अनेक देवताओं और धर्माचार्यों की एकत्र स्थिति से स्पष्ट है कि धार्मिक सहिष्णुता चरम सीमा पर थी, जिसका श्रेय पौराणिक धर्म को भी था। पुराणों ने बुद्ध तक की गणना अवतारों में कर ली थी। बल्लिगावे में स्थित ब्रह्मा के एक मन्दिर के सम्बन्ध में उल्लिखित है कि

---

१. एपी०क०, ११, दावणगेरे २५

२. एपी०इंडि०, १८, पृ० १८३

३. शिव एव हरिः साक्षाद् हरिरेव शिवः स्वयम्।
द्वयोरन्तरदृग् याति नरकान् कोटिशः खलः।। 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, जि० १, पृ० ४६६ पर डा० बलदेव उपाध्याय द्वारा उद्धृत।

४. एनु०रि०सा०ई०एपीग्रेफी १६२७-८, सं०ई० २३७

हरिहर , कमलासन, वीतराग और बुद्ध संसार के लिए पंच बाण हैं जो पंच मठों के सदृश नगर को आभासित करते हैं ।[१] देश में बौद्ध धर्म अपनी अन्तिम सांस ले रहा था । क्योंकि ब्राह्मण धर्म का प्रचार बहुत बढ़ गया था । इस समय भी कश्मीर में कई नागतीर्थों का उल्लेख बिल्हण ने किया है तथा वे कश्मीर के प्रधान देवता , शिव, शारदा और तक्षक को कह कर वहां नागपूजा का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं । अबुल फजल ने अकबर के शासन काल (१५५६-१६०५ई०) में कश्मीर में ४५ शैव, ६४ विष्णु, ३ ब्रह्मा और २२ दुर्गा और ७०० नाग स्थलों का उल्लेख किया है ।[२]

विक्रमांकदेवचरित में ब्रह्मा और इन्द्र के सम्बन्ध में विवरण उपलब्ध हैं । ब्रह्मा चतुर्मुख हैं । उनका मुख सरस्वती का विलास स्थान है जिससे चारों वेद का जन्म हुआ है । उनका आसन कमल है । उनकी चरणधूलि के प्रभाव से इन्द्र की महिमा है । इन्द्र उनसे अपना दु:ख कहते हैं ।[३] उन्हें विरंचि (१।४६), पंकरुहासन (१।५६), पद्मयोनि (१०।६६) कहा गया है और हंस उनका विमान उल्लिखित है (४।६६,१०।६६) वे जगत्स्रष्टा हैं (५।८८) । इन्द्र समरदेवता प्रतीत होते हैं और उनके द्वारा पुष्पवृष्टि और उन्हें मालार्पण करने के अनेक प्रसंग आये हैं ।[४] वे पारिजात पुष्प मस्तक पर धारण करते हैं (१।४०) । उन्हें सहस्रनेत्र नीलछत्रधारी और कस्तूरी तिलक से युक्त कहा गया है । (१।४१) । शत यज्ञों के सम्पादन से ऐन्द्रपद प्राप्त होता है (१।७०) । अन्य देवों के सम्बन्ध में भी किंचित् संकेत हैं । गुह का वाहन मयूर है (८।८१) । कामदेव की पत्नी रति है (६।१०) काम को शिव ने भस्म कर दिया था (२।१६ आदि) । चन्द्र की अनेक स्त्रियां हैं, जिनमें रोहिणी उन्हें अधिक प्रिय है ।[५] राहु द्वारा वे ग्रस्त

---

१. ए०पी०क०७,शिकारपुर १००। २-अ

२. आयन् - ए- अकबरी, जि० २, (जीरेट) द्वितीय संस्करण , पृ० ३५६

३. विक्रमां० १।३१,३२,५३,३३,३६,४३,४४

४. वही १।७०,८६ आदि ।

५. वही ६।५०,२।८

होते हैं (२।१७) ।

बिल्हण पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के संचय पर विश्वास करते हैं। उनका कथन है कि अत्यधिक कुकृत्य करने वालों का संचित पुण्य भी नष्ट हो जाता है (६।६४), परन्तु भगवत्कृपा और शुभकर्मों से पुराकृत प्रतिबन्धक कर्मों का भी क्षय होता है (२।३८) । अत: दूसरों को पीड़ित करने वाले चिर काल तक उन्नति नहीं करते (१३।२) । पूर्वकृत कर्मों को विधाता ललाट पर अंकित कर देता है, जिनका भोग करना पड़ता है (१।११६) ।उनकी भाग्यवाद पर पूर्ण आस्था थी — भाग्येषु नास्ति प्रतिषेध मार्ग: (१०।४१) उक्त कर्म और भाग्यवाद पर आस्था उक्त युग की विशेषता थी तथा हिन्दू धर्म में उनका स्थान सदैव बना रहा है ।

वैष्णव धर्म —

विक्रमांकदेवचरित के प्रारम्भ में ही विष्णु की प्रशस्ति है ।[1] इससे प्रतीत होता है कि विक्रम वैष्णव था । जैन धर्म के पोषक चालुक्य वर्ण की प्रणय गाथा लिखते समय बिल्हण 'जिन' की स्तुति करते हैं ।[2] अत: बिल्हण की मंगलाचरण लेखन की शैली यह थी कि वे मंगलाचरण का आरम्भ नायक के आराध्यदेव से प्रारम्भ करते थे । विक्रमांकाभ्युदय में सोमेश्वर भी विष्णु की वन्दना करते हैं ।[3] आगे चालुक्य वंश के नरेश विष्णुवर्धन को विष्णु के प्रसाद से शंख चक्र और वराह लाञ्छनों से युक्त कहा गया है ।[4] विक्रमांकदेव के अभिलेखों में भी मंगलाचरण विष्णु से सम्बद्ध है ।[5] विक्रम ने कमलाविलासिन् विष्णु का मन्दिर बनवाया था ।[6] बिल्हण का कथन है कि विष्णु की प्रतिष्ठा जान

---

१. विक्रमां०, १।१-३

२. क०सुन्दरी १।१

३. यद्यपि प्रारम्भ के पांच श्लोक अप्राप्य हैं, तथापि ६-६ तक उपलब्ध यत्र तत्र खण्डित श्लोकों से स्पष्ट है कि मंगलाचरण में नारायण या उनके अवतारों की स्तुति की है ।

४. विक्रमांकाभ्युदय, पृ० १७

५. एपी०इ०१२, पृ० १४२

६. विक्रमां० १७।१५

कर चालुक्यों ने लंका पर आक्रमण नहीं किया।[१] इससे भी चालुक्यों की वैष्णव धर्म में आस्था व्यक्त होती है। डा० पाई[२] का कथन है कि चालुक्यों का प्रमुख प्रतीक वाराह विष्णु के अवतार का सूचक है उनके वीरनारायण, चालुक्य नारायण, राजनारायण विरुद उस युग के प्रधान धर्म की घोषणा करते हैं। उनकी परम्परा के अनुसार साक्षात् विष्णु से प्राप्त वाराह प्रतीक और उनके समस्त अभिलेखों में उपलब्ध वाराह और विष्णु की उपस्थिति से यह स्पष्ट है कि चालुक्यों के इष्ट देवता विष्णु थे।

बिल्हण ने विष्णु के अनेक अवतारों का उल्लेख किया है — वामन (२।६८), कृष्णावतार (१८।८७), नृसिंहावतार (१७।१७) कूर्मावतार (१।८५, ३।५६) आदि विभीषण के राज्य लंका पर विष्णु की प्रतिष्ठा के कारण आक्रमण न करने के उल्लेख से (१।६६) और क्षीरसागर में स्थित श्यामवर्ण मुकुन्द से उन्होंने राम और विष्णु को एकीकृत कर दिया है। कश्मीर में इस समय विष्णु के अवतारों में वाराह, कृष्ण और नरसिंह सर्वाधिक प्रचलित थे। ललितादित्य ने महावाराह का मन्दिर बनवाया था।[३] इसके अतिरिक्त मार्तण्ड मन्दिर (आठवीं शती) और अवन्तिपुर (नवमी शती) के खण्डहरों से प्राप्त वराह और नरसिंह की मूर्तियां भी उल्लेख्य हैं।[४] कश्मीरी अवतारवाद का पूर्ण रूप क्षेमेन्द्रकृत दशावतारचरित में मिलता है। उन्होंने मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण बुद्ध और कल्कि दश अवतारों का वर्णन किया है, जो वराहपुराणके अनुरूप है।[५]

---

१. विक्रमा०, १७।१५ व १।६६

२. दी महामण्डलेश्वरज़्, पृ० - ४३० पर उद्धृत डा० पाई का मत (हिस्ट्री आफ चालुक्याज़् आफ कल्याणी, पृ० ४४६,-६ अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, बम्बई अ

३. राज० ४।१८७

४. अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ कश्मीर, सु०न्व०रे०, पृ० १५७

५. मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धःकल्कीति दश॥
— वाराह० ४।२॥

विक्रमांकदेवचरित के अनुसार विष्णु के आयुधों में नन्दक कृपाण (१।३) पांचजन्य शंख (१।१,१२।४८) थे। विष्णु का वर्ण श्याम कहा गया है और वे दुग्धोदधि में निवास करते हैं। (१।२) अन्यत्र वर्णित है कि समुद्र में शेष शय्या पर कौस्तुभमणि से युक्त लक्ष्मीपति विष्णु शयन करते हैं (११।११) । वे जगत् के उद्गम स्थान है और गरुड उनका ध्वज चिह्न है (१।३) उनके चरणों से गंगा की उत्पत्ति हुई है (१।५७,१७।२३) और नाभि से कमल का जन्म हुआ है, जिससे कमलासन ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं (१।७०,१७।१८,१।३२) । लक्ष्मी विष्णु की पत्नी हैं (४।११,१८।४०), जिन्हें उन्होंने दैत्यों को परास्त कर प्राप्त किया था (१०।४) । विष्णु के अन्य रूप कृष्ण सम्बन्धी वृत्त भी उपलब्ध हैं। लक्ष्मी के प्रतिबिम्ब से युक्त नन्दक कृपाण यमुनाजल में क्रीडा करने वाली राधा को मुरारी का स्मरण कराता है (१।५) । राधा और कृष्ण का क्रीडास्थल वृन्दावन प्रसिद्ध था (१८।८७) । समकालीन धार्मिक इतिहास के देखने से ज्ञात होता है कि इस युग में वैष्णव धर्म में कृष्ण की चरवाहे के रूप में गोपियों के साथ क्रीडा के प्रसंग का प्रवेश हो गया। यद्यपि इस प्रसंग के संकेत पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं, तथापि कंस के बन्दीगृह में कृष्ण का जन्म , उनका गुप्त रूप से नन्द-गृह गमन, यशोदा द्वारा पालन, ग्वालों के बीच बालक्रीडा, आश्चर्य-जनक लीलाएं,(गोवर्द्धन धारण, पूतना बध, कालीदह आदि) गोपियों और राधा के साथ रास लीला, आदि रूप में कृष्णावतार की कथाओं का विस्तार हुआ। जिसके विस्तृत विवरण श्रीमद्भागवत (६वीं १० वीं शती) में मिलते हैं। बिल्हण ने यद्यपि राधा-कृष्ण लीला सम्बन्धी (१८।८७) और कंसरिपु (१।१) आदि स्फुट उल्लेख मात्र किये हैं, परन्तु उनसे व्यक्त होता है कि वे अपने समय की उक्त प्रवृत्ति से प्रभावित अवश्य हुए थे।

इस युग में वैष्णव धर्म का प्रभूत प्रचार बढ़ा। यही नहीं विविध आचार्यों ने इसे अनेक रूपों में पल्लवित किया। ये प्रचारक श्री वैष्णव यामुनाचार्य, रामानुज, निंबार्क, माध्व और उनके अनुयायी थे।[१]

गडग मन्दिर (१०३७ ई०) में त्रैपुरुष और द्वादशनारायण का उल्लेख है।[२] बेल्लरि में स्थित मैलर से प्राप्त १०४६ ई० के अभिलेख में एक शिवालय

---

१ स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० ४३५-४४२, दृष्टव्य है।
२ सा०इ०इ०,जि० ११(१)७२

को २०० वैष्णव महाजनों की संरक्षता में सौंपे जाने का उल्लेख है ।[२] नागवावि में स्थित मधुसूदन मन्दिर एक विशाल वैष्णव केन्द्र था । वहां से प्राप्त एक दान फलक में वर्णित है कि इसके दो पुजारी आजीवन ब्रह्मचारी थे, जो नक्त भोजन मात्र करते थे और अध: शयन करते थे ।[३] अत: चालुक्य साम्राज्य में वैष्णवधर्म का प्रचुर प्रचार था ।

बिल्हण ने लिखा है कि लोहराधिप क्षितिपति वैष्णवी कथा को ही अपना कर्णाभूषण समझता था ।[४] राजतरंगिणी (तरंग ७।२५४-७) में उल्लिखित है कि क्षितिराज के पुत्र भुवनराज ने पिता के पूज्य भागवतों का अपमान किया, जिससे कलश-पुत्र उत्कर्ष को लोहर राज्य अर्पित कर क्षितिराज तीर्थयात्रा के लिए चला गया । वह परम वैष्णव अनेक वर्षों तक शान्ति और सुख का भोग कर चक्रायुध भगवान् विष्णु के सायुज्य को प्राप्त हो गया ।[५] कल्हण ने कश्मीर के अनेक प्राचीन नरेशों को वैष्णवचित्रित किया है और वहां अनेक विष्णु मन्दिरों के निर्माण के विवरण प्रस्तुत किये हैं । रणादित्य ने विष्णु रणस्वामी का निर्माण कराया था ।[६] श्रीकण्ठचरित (मङ्खक कृत) (३।६८) में उल्लिखित इसी देवता को टीकाकार 'श्रीप्रवरपुरप्रधानदेवता' कहता है । इसके अतिरिक्त आठवीं और नवमीं शती की अनेक विष्णु मूर्तियां विजब्रोर, मार्तण्ड मन्दिर, अन्दरकोठ और अवन्तिपुर के खण्डहर से उपलब्ध हुई हैं, जिनमें विष्णु सिर, त्रिमुख विष्णु, विष्णु चतुर्भुज मूर्तियां बहुल संख्या में हैं ।[७] अत: बिल्हण की जन्मभूमि में भी वैष्णवधर्म का प्रचुर प्रचार था ।

---

२. साइ०इ० जि० ११ (१) १०२, दो ३१-२, अ०हि०ह०, पृ० ४४३
३. हैदराबाद आर्केलाजिकल सीरीज़, जि० ८, ३४,दो ३२१-२
४. मानी मैने अवसि च कथां वैष्णवी भूषणं य: ।। १८।५०
५. राज० ७।२५८
६. वही ३।१४४- १५८
७. ऐनु० रि० आर्के०सर्वे आफ इंडिया, १६१५-६, पृ० ६२ , रामचन्द्र काक, एंशियन्ट मानूमेन्ट्स (लंदन १६३२), पृ० १६२ और हैण्डबुक आफ आर्केलाजिकल, एण्ड न्यूमिस्मैटिक सैक्शन्स आफ दी श्री प्रताप सिंह म्यूजियम, श्रीनगर । (१६२३ लंदन), पृ० ४८,५२,६१-६३)

शैव धर्म —

दक्षिण भारत और कश्मीर में शैव धर्म का प्रभूत प्रचार था । विक्रमांक-देवचरित में यद्यपि अर्धनारीश्वर शिव का वर्णन मंगलाचरण में विष्णु के पश्चात् है, तथापि कवि शिव की अवतारणा अनेकश: करता है । शिव की उपासना से आहवमल्ल को तीन पुत्र प्राप्ति का वरदान मिला (सर्ग २), आहवमल्ल ने तुंग-भद्रा में शिव का ध्यान करते हुए जलसमाधि ली (४।५५,५८-६०) क्रमश: स्वप्न और आकाशवाणी द्वारा शिव के आदेश से विक्रम अग्रज के विरुद्ध युद्ध के लिए तत्पर हुआ और (सोमेश्वर को जीतने के पश्चात्) चालुक्यराज्य स्वीकार किया (सर्ग ६/६२-६३) करहाट राजपुत्री ने शिव के आदेश से स्वयंवर —महोत्सव रचाया (८।३) बिल्हण ने बालमृगांकशेखर शिव को आहवमल्ल का 'कुलप्रभु' कहा है ।[१]

चालुक्य नरेश अक्सर श्रीशैल की यात्रा किया करते थे ।[२] सोमेश्वर कृत विक्रमांकाभ्युदय[३] में पुत्र की कामना से आहवमल्ल के श्री शैलस्थ मल्लिकार्जुन महादेव के दर्शन का विस्तृत वर्णन है । शिवपुराण (१।१४-३३,४।१-१८,२१-२४) में वर्णित द्वादश ज्योतिर्लिंगों में मल्लिकार्जुन लिंग की भी गणना है । इस प्रकार यह एक प्रमुख शैव तीर्थ है । चालुक्य नरेशों के नाम पर अनेक शिव मन्दिर भी पाये गये हैं —जगदेकमल्लेश्वर ,मल्लिकामोदेश्वर, अक्केश्वर, सोमेश्वर आदि ।[४] कल्याणी के चालुक्यों के अधीनस्थ कई प्रभावशाली महामण्डलेश्वर शिव के उपा-सक थे ।[५] इस प्रकार चालुक्य साम्राज्य में शिव का प्रभूत महत्व स्पष्ट है ।

बिल्हण के प्रवरपुर के वर्णन से वहां शिव मन्दिरों की विशेष प्रतिष्ठा व्यक्त होती है । वहां सोमगुप्त द्वारा निर्मित प्रवरगिरिजावल्लभ का प्रसिद्ध

---

१. विक्रमा० २।४०

२. सा०इं०,जि० ६, (१), ११६,१२१,१३४, अ०हि०ड०, पृ० ४४१

३. विक्रमांकाभ्युदय, पृ० ३४-४३

४. दिनकर देसाई, कृत दी महामण्डलेश्वरज़, पृ० ४२७

५. वही, पृ० ४२५-७

मन्दिर है ।[१] अनन्त की महिषी सुभटा ने शंकरागार (शंकर मन्दिर) और वितस्ता तट पर कामाराति शिव के दो मन्दिर प्रवरपुर में निर्मित किये थे ।[२] कल्हण ने भी रानी सूर्यमती के गौरीश्वर और सदाशिव मन्दिरों का उल्लेख किया है ।[३] यही नहीं उसने त्रिशूल , बाणालिंग और अन्य धार्मिक प्रतीकों की प्रतिष्ठा भी की थी ।[४] उसका पति अनन्त शिव भक्ति में मुनियों से आगे बढ़ गया था और पुत्र कलश ने शिव विजयेश मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था तथा शिव के दो मन्दिर बनवाये थे ।[५] इस प्रकार बिल्हण के काल में शैव धर्म को कश्मीर में राजाश्रय प्राप्त हुआ था । स्वयं बिल्हण भी शैव थे । [६]

विक्रमांकदेवचरित में बिल्हण ने शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप की स्तुति इस प्रकार की है" प्रियतम शिव के अर्धशरीर की स्थिति को धारण करने वाली जिस (पार्वती) का ऊपर उठा हुआ (वामांगका) एक स्तन (जाति सौहार्द के कारण) दूसरे (दक्षिणांग में दबे हुए) स्तन का हाल पूछने के लिए मानो (पार्वती के) मुख के पास पहुंचा है, वह पार्वती तुम्हारी रक्षा करे ।"[७] फिर उक्त प्रसंग में शिव पार्वती का दाम्पत्य रूप का वर्णन है" निकटस्थ पार्वती के क्रोध के आविर्भाव से भयभीत शिव के "हे माता ! तुम्हें नमस्कार है" ऐसा कह कर संध्या देवी को किये गये प्रणाम श्रेष्ठ हैं ।"[८] शिव का दूसरा स्वरूप कामाराति का है ।[९] उन्होंने त्र्यम्बक शिव का उल्लेख अनेकशः किया है ।

---

१. बिक्रमां० १८।२३,२८-२६, कल्हण ने भी इनका उल्लेख किया है · राज० ६।१३७,१७३

२. विक्रमां०, १८।२६,४६

३. राज० ७।१८०,१८१

४. वही ७।१८५

५. वही ७।२०१, ५२५-५२७

६. विक्रमां० ६।३३,१८।१०७-८ , कर्णसुन्दरी (उपसंहार) श्लोक १, शारंगधर-पद्धति , पृ० ३१, श्लोक १४४ सदूक्तिकर्णामृत श्लोक सं० २३ ।

७. विक्रमां० १।४

८. वही १।६

९. वही १८।४६

साथ ही उनके लल्लाट के नेत्र के द्वारा कामदहन के प्रसंग की आवृत्ति भी अनेक बार की है।[१] त्र्यम्बक स्वरूप का उल्लेख बिल्हण ने संभवत: नासिक से सत्रह मील पर अवस्थित त्र्यम्बकेश्वर प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग को ध्यान में रख कर किया है। ध्यान से देखने पर वहां पर एक अर्घा में तीन छोटे छोटे लिंग दीख पड़ते हैं जो त्रिदेवों के प्रतीक माने जाते हैं, किन्तु पूजा काल में सोने या चांदी के निर्मित पंचमुख का मुखौटा (चेहरा) लगा रहता है।[२] अन्य रूप नीलकण्ठ का अंकित है, जिन्होंने समुद्रमन्थन से उद्भूत कालकूट विष का पान किया था।[३] उन्होंने नीलकण्ठ की विलासभूमि कालंजरगिरि को कहा है।[४] मानिकपुर-झांसी मार्ग पर करबी से २० मील पर बदौसा स्टेशन है, जहां से १८ मील पर कालिंजर ग्राम है। वहीं पर कालिंजर पर्वत पर प्राचीन दुर्ग है। उसी के पास नीलकण्ठशिव का मन्दिर है, जहां अनेक शैव और वैष्णव देवताओं की प्रतिमाएं हैं।[५] उनका अन्य प्रसिद्ध स्वरूप 'चन्द्रशेखर' उल्लिखित है।[६]

शिव से सम्बद्ध अनेक पौराणिक कथाओं के संकेत हैं। उन्हें पुर-सूदन (१०।२६ और कर्णसुन्दरी १।२) कहा गया है तथा काम दहन (२।१८, १८ आदि) किरातार्जुनीय [illegible], युद्ध (१८।१०१-१०२), कालकूट पान (४।१६) हैं और रावण की शिवाराधना (१।६२) के उल्लेख हैं उनकी पत्नी पार्वती हैं।[७]

---

१. विक्रमा० २।१४,१६,६।२३, ७।५७,५८,१०।२६,११।६४

२. कल्याण(तीर्थांक), पृ० २४७

३. विक्रमा०, ४।१६,४।६०

४. श्री नीलकण्ठस्यविलासधाम्न: । ..... ६।१०६

५. कल्याण (तीर्थांक), पृ० १२४

६. चन्द्रशिखामणि, बालमृगांक शेखर, इन्दुशेखर आदि — विक्रमा० १।६२, २।४०, ४६, ३।३१, ५०, ५१, ५६, १८।१ कर्णसुन्दरी (उपसंहार) श्लोक १

७. पार्वती के लिए गिरिजा, गौरी, अद्रिकन्या अनेक पर्याय प्रयुक्त हुए हैं — विक्रमा०, १।४,३।४४।४५,१६।५१, २।४६, १८।१४

उनका निवास कैलाश पर्वत पर है ।[१] वे सर्प हार से सुशोभित हैं (१६।५१) । उनके दो पुत्र इभानन(गणेश) और गुह (स्वामिकार्तिकेय) हैं ।[२] उनका वाहन वृष है । कश्मीर से शिव त्रिमूर्ति, अर्धनारीश्वर, कार्तिकेय गणेश की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं ।[३]

बिल्हण ने गणेश को 'अशेषविघ्नप्रतिषेधदक्ष' कह कर मंगलाचरण में स्तुति की है ।[४] ~~इसीलिए~~ वे आज भी शुभ कार्यों के आरम्भ में स्मृत होते हैं । पुराणों में गणेश विषयक आख्यान भरे पड़े हैं ।

आहवमल्ल और शिवोपासना–

पुत्रहीनता के दु:ख से सन्तप्त आहवमल्ल का कथन है कि मैं सम्पूर्ण प्रतिबन्धक कर्मों के नाश के हेतु उपाय करूंगा । कुल प्रभु शिव की कृपा से मुझे सर्व-सुख प्राप्त है । मैं भक्ति भाव से इन्द्रियों को वश में करके जगत्प्रभु के प्रसन्न होने तक तप करूंगा । तत्पश्चात् अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ । वह अपने हाथों पुष्पचयन करता, भूशयन करता था । इस प्रकार कठोर तप में रानी भी सहयोग देती थी । वह मन्दिर के प्रांगण को अपने हाथ से लीपती थी । राजा उपासना के हेतु उत्तम वस्तुओं को प्रयोग में लाता था । इस प्रकार शिवपूजा रत आहवमल्ल को आकाशवाणी द्वारा तीन पुत्र प्राप्ति का वरदान मिला ।[५] पुत्रों के समर्थ हो जाने पर दाहज्वर से पीड़ित आहवमल्ल ने शिवसायुज्य की इच्छा व्यक्त की 'माहेश्वर शिरोमणि गिरिजानाथ के नगर में जाना मेरा उत्सव है । मैंने शास्त्र-श्रवण किया है पार्वतीजीवितेश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य देव में मुझे आस्था नहीं है । मैं शिव का स्मरण करता हुआ पुन: देहगृह विडम्बना (पुनर्जन्म) से

---

१. १८।१४

२. १।८, ८।८१, कर्णसुन्दरी १।२

३. एनु०रि०आर्के०स०इं०जि० २, (१९१३-४) फलक १७,१८

४. विक्रमां०, १।८

५. वही, सर्ग २।३८-५९

मुक्त होने के लिए तुंगभद्रा के उत्संग की कामना करता हूं । श्रीकण्ठ की सेवा से मेरा उपकार हुआ है । इस शरीर का तीर्थ स्थान में त्याग ही उचित है ।' ऐसा कह कर स्नान किये हुए वह चण्डीश चरणों में मग्न हो गया । फिर स्वर्णदान करके, आकण्ठ तुंगभद्रा के जल में खड़े होकर आहवमल्ल चन्द्रचूडामणि की नगरी को चला गया ।[१]

बौद्ध धर्म-

बिल्हण बौद्ध धर्म और दर्शन से भिज्ञ थे । उनका कथन है 'खेद है कि राजा गण प्रतिहारों के द्वारा रोके जाने के कारण समस्त विश्व को शून्य समझते हैं, क्योंकि स्वभाव से मूर्ख वे नरेश क्षण भर भी परलोक की चिन्ता नहीं करते' अर्थात् वे नरेश संसार को सर्वशून्य मान कर पुनर्जन्म में आस्था नहीं रखते ।[२] अन्यत्र वर्णन है 'कामदेव ने सौगत (बौद्ध) दर्शन से प्राप्त रहस्य को इस चन्दलदेवी से अवश्य कहा होगा, क्योंकि तुम्हारे अभाव में भग्नमनोरथ वह (चन्दलदेवी) आत्मा की उपेक्षा करने लगी है ।'[३] इसका कारण यह है कि बौद्ध लोग अनात्मवादी होते हैं ।

बुद्ध के मतानुसार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान (पंच स्कन्धों) से भिन्न आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है । जिस प्रकार रस्सी, लगाम, चाबुक दण्ड आदि अवयवों के पुंज या संघात से पृथक् 'रथ' नामक पदार्थ असिद्ध है उसी प्रकार पंचस्कन्धों से व्यतिरिक्त आत्मा नामक द्रव्य भी असिद्ध है ।[४] आचार्य

---

१. विक्रमा०, सर्ग ४।५५-६८

२. सकलमपि विदन्ति हन्त शून्यं क्षितिपतयः प्रतिहारवारणाभिः ।
क्षणमपि परलोकचिन्तनायप्रकृतिजडा यदमी न संरभन्ते ।।६।३२

३. वही ६।३१

४. दृष्टव्य मिलिन्दप्रश्न (हिन्दी अनुवाद), पृ० ३०-३३ और दीघनिकाय पोट्ठपादसुत्त , पृ० ७३ (महाबोधि सोसायटी, सारनाथ द्वारा प्रकाशित उभय ग्रन्थ) ।

नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित शून्यवाद माध्यमिक सम्प्रदाय का प्राण है। नागार्जुन कश्मीरी थे। बिल्हण उनके सिद्धान्त से परिचित प्रतीत होते हैं। प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप निर्णय में चार कोटियाँ ही हो सकतीं हैं — है, नहीं है, है और नहीं है। परन्तु परमतत्व इन कोटि के द्वारा निर्णीत नहीं हो सकता।[1] मनोवाणी से अगोचर होने से अनिर्वचनीय उसी परमतत्व को शून्य से अभिहित किया जाता है।

इस युग में शैव और वैष्णव धर्मों के अभ्युत्थान के कारण देश में बौद्धधर्म की स्थिति दयनीय थी। कश्मीर में करकोट, उत्पल राजवंशी नरेश शैव और वैष्णव थे। अवन्तिवर्मन् (८५५-८८३ ई०)के नगर अवन्तिपुर के खण्डहर में ब्राह्मण देव मूर्तियाँ ही उपलब्ध हुई हैं पर, एक भी बौद्धमूर्ति नहीं प्राप्त हो सकी। क्षेमगुप्त (९५०-९५८ ई०) और हर्षदेव (१०८९-११०१ ई०) को छोड़कर बौद्ध धर्म विरोधी अन्य उदाहरण भी नहीं मिलते। इसके विपरीत रानी दिद्दा के काल की बोधिसत्त्वपद्मपाणि की मूर्ति प्रतापसिंह संग्रहालय में सुरक्षित है। क्षेमेन्द्र ने दशावतारचरित में बुद्ध को अवतारों में परिगणित किया है और अवदानकल्पलता (श्लोक १६) से ज्ञात होता है कि कश्मीर में बौद्ध जयन्ती मनायी जाती थी।

कर्णाट साम्राज्य में भी बौद्धधर्म के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार किया जाता था। विक्रम षष्ठ के काल के धर्मवोल्लु (धारवाड़ जिले में स्थित दम्बल) से प्राप्त एक अभिलेख में सोलह सेट्ठियों द्वारा निर्मित विहार तथा आर्य तारादेवी के विहार को दिये गये दान के उल्लेख हैं।[2] १०९५ ई० में दण्डनायक रूपभट्टय्या तथा अनेक अधिकारियों ने जयन्ति बुद्ध विहार का निर्माण किया था और ताराभगवती केशव लोकेश्वर बुद्ध तथा अन्य देवों की सहायतार्थ दान दिये।

---

१. न सन् नासन् सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि-विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः ।।
(लेनिनग्राड) माध्यमिक कारिका १।७

२. इंडि०,एण्टी जि० १०, पृ० १८५

इस दान को सम्राट का समर्थन (परमेश्वर दत्ति) प्राप्त था ।[१] डा० देसाई के अनुसार इस दुरवस्था के दिनों में भी बौद्ध धर्म चालुक्यों के कुछ महामण्डलेश्वरों के द्वारा समर्थित था ।[२]

नागपूजा—

काश्मीर के अपने तथा वाह्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि नागपूजा अन्य देवपूजा की अपेक्षा प्राचीनतम है । वहाँ की प्राचीन परम्पराओं में नागों की प्रधानता दृष्टिगत होती है । नीलमत कश्मीर को जल से बाहर निकाल कर नागों का निवास बनाया गया , मानता है । और कश्यप पुत्र नील को उसका अधिपति बनाया गया । प्राचीन पुराण के अनुसार लोग केवल छह माह (ग्रीष्म में) ही वहाँ रह सकते थे । शीत ऋतु में शीताधिक्य और पिशाचों के अधिवास के कारण घाटी को छोड़ दिया जाता था । ब्राह्मण चन्द्रदेव की प्रार्थना पर नील में वहाँ शीतकाल में भी मानव-निवास की अनुमति दी । साथ ही नील ने उस ब्राह्मण को आदेश दिया कि स्थायी रूप से यहाँ रहने वाले मनुष्यों को कुछ पूजा विधियों का पालन करना होगा । अत: प्रथम हिमपात उत्सव में नील का पूजन होता है । इरामंजरीपूजा (चैत्र में) वरुणापंचमी(भाद्र) को नील और नागों से सम्बद्ध उत्सव मनाये जाते थे । कश्मीर के दिक्पाल विन्दुसार , श्रीमदक, एलापत्र और उत्तरमानस नाग थे । नीलमत पुराण में उल्लिखित नागों की संख्या ५२७ वर्णित है । आज भी काश्मीर में अनन्तनाग आदि नागों में नागपूजा की प्राचीनता सीलोन चीन और तिब्बत के विवरणों से भी समर्थित है ।[३]

बिल्हण के समय में भी नागपूजा का महत्त्व था । उन्होंने लिखा है जगत् का सारभूत प्रवरपुर की स्थिति के कारण काश्मीर सदा के लिए उरगाधीश तक्षक की रक्षा का पात्र हो गया ।[४] अन्यत्र उन्होंने प्रवरपुर से डेढ़ गव्यूति

---

१. एपी०,कं० ७, शिकारपुर,१७०

२. दी महामण्डलेश्वरज्, पृ० ४१८,४१६

३. अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ काश्मीर, पृ० १४०— ४१

४. यस्मिन्नन्त: स्थितवति जगत्सारभूते प्रयाता:
काश्मीरास्ते नियतमुरगाधीशरक्षास्पदत्वम् ।।
— विक्रमा० १८।१६।।

की दूरी पर स्थित जयवन के निकट सर्पराज तक्षक के पवित्र जल वाले कुण्ड का उल्लेख किया है।[१] केशर की उत्पत्ति तक्षक नाग से मानी गई है।[२] पड़ोसी तीर्थ हर्षेश्वर के माहात्म्य में (श्लोक ८०) तक्षक नाग का उल्लेख है। कल्हण[३] ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी में तक्षक नाग यात्रा उत्सव का उल्लेख करते हैं। महाभारत (३।८२।९०) भी विशिष्ट तीर्थों के प्रसंग में कश्मीर नाग के वर्णन से कश्मीर में नागपूजा का महत्त्व प्रतिपादित करता है।

<u>तीर्थ</u> —

तृ-प्लवनतरणयोः धातु से `पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्` सूत्र (उणादि) द्वारा थक् प्रत्यय् लगाने पर `तीर्यते अनेन` अर्थात् इससे तर जाता है, अर्थ में तीर्थ शब्द निष्पन्न होता है। भाव यह है कि जिस साधन से मनुष्य भवसागर को पार करने में समर्थ होता है वह तीर्थ कहलाता है। वैदिक काल में `तीर्थ` का प्रयोग जलावतार द्वारा स्वर्गगमन के अर्थ में किया गया है। अथर्ववेद में कहा गया है` यज्ञकृत सुकृती लोग जिस मार्ग से तर जाते हैं।`[३क] अन्यत्र तीर्थ के जल, तट, तटवर्ती तृणों, कुशाङ्कुरों और जल के फेनों में निवास करने वाले भगवान् को नमस्कार किया गया है।[४] परन्तु कालान्तर में `तीर्थ` शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग होने लगा —

निपान (जलावतार), आगम (शास्त्र), ऋषिजुष्टजल (ऋषि सेवित जल) तथा गुरु भी तीर्थ कहे गये।[५] साथ ही यज्ञ, क्षेत्र, उपाय भी इसी के अन्तर्गत आते हैं।[६]

---

१. वही १८।७०

२. चतुर्थ राज० ६३१

३. राज० १।२२०

३क. तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृत: सुकृतो येन यन्ति। — अथर्व० १८।४।७

४. नमस्तीर्थ्याय च कुल्याय च नम: शष्प्याय च फेन्याय च। — यजुर्वेद १६।४२

५. निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टे जले गुरौ — अमरकोश ३।३।८६
(माहेश्वर टीका सहित) झलकीकर, १८९० ई० बम्बई।

६. मेदिनीकोश, १७।७

महाभारत , पुराणादि ग्रन्थ तीर्थों के माहात्म्य से भरे पड़े हैं। उनकी दृष्टि में इन तीर्थों का प्रभूत धार्मिक महत्त्व था। ऋषियों का परम गुह्य मत है कि निर्धनों के लिए तीर्थाभिगमन से प्राप्त पुण्य (व्ययसाध्य) यज्ञों से भी श्रेष्ठ होता है। विष्णुस्मृति का कथन है कि पातकी महापातकी सभी तीर्थानुसरण से शुद्ध हो जाते हैं।[२] तीर्थयात्रा पौराणिक धर्म का विशिष्ट अंग है। नाना अवतारों की उदयस्थली तथा लीलाभूमि होने के कारण ही तीर्थों का तीर्थत्व है। नदियों की धार्मिक महत्ता भी पुराणोंमें वर्णित है। साधक के मन को रमाने के हेतु ये तीर्थ सदा रमणीय स्थलों- पहाड़ी, पर्वत , वन में या नदियों के संगम, समुद्र तट, जलप्रपातों, गर्म जल स्रोतों के निकट होते थे। जलतीर्थों पर तर्पण किया जाता था। बिल्हण ने मानस सर को सप्तर्षियों द्वारा दी गई तिलांजलियों से युक्त कहा है।[३] मरीचिस्मृति में वर्णित है कि तीर्थ या तीर्थ विशेष अथवा गंगा में प्रेतपक्ष में निषिद्ध दिन होने पर भी तिलमिश्रित तर्पण करे।[४] यही नहीं तीर्थस्थानों पर आत्मघात कर लेने पर भी मनुष्य को परमपद प्राप्त होता था[५]। आह्वमल्ल ने दक्षिणापथजाह्नवी तुंगभद्रा में आकण्ठ प्रविष्ट होकर शिव का चिन्तन करते हुए जलसमाधि लेकर शिव के धाम को प्राप्त किया था

धार्मिक महत्त्व के अतिरिक्त इन तीर्थों का सांस्कृतिक महत्त्व भी स्वल्प न था। देश के कोने कोने से विविध भाषा, वेशभूषा और रीति-रिवाजों वाले लोग एक स्थान पर एकत्र होते थे , जिससे राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता था। तभी तो काश्मीर नरेश हर्ष ने ताड़ के पंखों से हवा करना, लम्बे तिलक , कटि में लम्बी कटारें धारण करना और टंक सिक्के का प्रयोग

---

१. महाभारत, वनपर्व ८२।१७,१६

२. विष्णुस्मृति ३५।६,३६।८

३. विक्रमां० १८।३६

४. तीर्थे तीर्थविशेषे च गंगायां प्रेतपक्षके।
निषिद्धे पि दिने कुर्यात् तर्पणं तिलमिश्रितम् ।। -(मरीचिस्मृति)
— तीर्थाङ्क कल्याण, पृ०६१६,टि० १,में उद्धृत।

५. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, काणे, जि० २, ख-२, पृ० ६२५
दृष्टव्य-रैलीजस स्युसाइड एट प्रयाग, शैलेशचन्द्र चट्टोपाध्याय , ज०यू०पी० हिस्टारिकल सोसायटी, जि० १०, पृ० ६५ आगे भी।

६. विक्रमां० ४।४६-६८

दाक्षिणात्य पद्धति के अनुरूप ही ग्रहण किया था ।[१] इन तीर्थों की विद्वद्गोष्ठियों में दूर दूर के विद्वान्-भाग लेते थे । फलस्वरूप उनकी अन्तिम रचनाएं भी शीघ्र ही प्रसिद्ध हो जाया करती थीं । बिल्हण के साथ गये हुए उसके काव्यों ने उसकी यश: पताका दूर दूर तक प्रसारित की ।[१क]

इसके अतिरिक्त तीर्थ स्थानों पर भव्य मंदिर और मूर्तियों के निर्माण ने जन साधारण की अभिरुचि को तथा उनकी कलात्मक रुचियों को विकसित किया । फलत: कला की विविध शैलियों का विकास हुआ । तीर्थों के इतिहास का निरीक्षण करने से प्रतीत होता है कि समय समय पर जन्म लेने वाले धार्मिक सम्प्रदायों के कारण नये नये तीर्थों का जन्म होता रहा और तीर्थों के अपने महत्व भी घटते बढ़ते रहे ।

इस युग के तीर्थों के विवरण अभिलेखों और साहित्य में उपलब्ध हैं । पवित्र तीर्थों का संरक्षण राजाओं का परम कर्तव्य हो गया था । चन्द्रदेव गाहडवाल अपने को काशी, कुशिक,उत्तर कोशल और इन्द्रप्रस्थ का रक्षक कहता है[२]। इसका कारण यह था कि तुर्कों और दस्युओं के आक्रमण इन तीर्थों पर होते रहते थे।बिल्हण ने कुछ प्रसिद्ध तीर्थों और पवित्र नदियों के विवरण प्रस्तुत किये हैं ।

उन्होंने काश्मीर से सम्बद्ध नदियों और तीर्थों का उल्लेख किया है । उनका कथन है कि उत्तर मानस में सिद्धों का निवास है और सप्तर्षियों द्वारा वहां तिलांजलि दी जाती थी ।[३] यह काश्मीरी मानस प्रतीत होता है,जिसकी पहचान स्टायन महोदय ने मानसबल झील के साथ की है । इसका प्राचीन नाम और पवित्रता तिब्बतस्थ`मानस`से ग्रहण कर ली गयी है और भाद्रपद माह में प्रतिवर्ष यात्री यहां आते हैं और मृतकों की सद्गति के हेतु अस्थियां प्रवाहित करते हैं ।[४] लक्ष्मीधर और बल्लालसेन भी इसका तीर्थत्व स्वीकार

---

१. राज. ७।६२८-७.

१. विक्रमां० १८।८३,८६-१०३

~~१क- वही-१८।८३~~

२. एपी०इं०१५, पृ० ७, पंक्ति ४

३. विक्रमां० १८।३६

४. स्टायन - २, पृ० ४२२,४०७,ब्यूलर रिपोर्ट, पृ० ६

करते हैं।[१] अनन्त ने दरद और शकों को पराजित करने के पश्चात् पवित्र जन्हु-कन्या में अपना कृपाण प्रक्षालित किया था।[१] यह जन्हुकन्या संभवत: किशनगंगा रही होगी। इसी प्रकार नाकनदी में कलश ने मानस से उपलब्ध कमल अर्पित किये थे।[३] माहात्म्यों में दोनों नदियों को गंगा और गंगावत् पवित्र कहा गया है।[४] गंगा का अनुकरण करने वाली मधुमती भी यात्रियों के स्नान और श्राद्ध के हेतु पवित्र नदी थी।[५] पवित्र नदियों वितस्ता और सिन्धु के संगम पर अनेक मन्दिर और अग्रहार थे।[६] नीलमतपुराण (२६७) सिन्धु को गंगा, वितस्ता को यमुना और उनके संगम को प्रयाग की संज्ञा देता है -

गंगा सिन्धु तु विज्ञेया वितस्ता यमुना तथा ।
स प्रयागसमो देशस्तयोर्यत्र तु संगम: ।।

प्रद्युम्न पर्वत काश्मीर का उत्तमांग और हर मुकुट या हरमुख पर्वत पवित्र नाक नदी (सिन्धु) का जनक कहा गया है।[७] सारिका माहात्म्य में प्रद्युम्न पर्वत का माहात्म्य वर्णित है[८] और हरमुकुट शिव का निवास तथा प्रसिद्ध नन्दिक्षेत्र तीर्थ से सम्बद्ध है।[९]

काश्मीर के प्रधान तीर्थ शारदापीठ और तक्षक तीर्थ का विवरण

---

१. कृत्य कल्पतरु, तीर्थ विवेचन काण्ड, पृ० २४८, १९४२ बड़ौदा सीरीज, दासमार, ३७।
२. विक्रमां०, १८।३३
३. वही, १८।५५
४. स्टायन, जिल्द २, पृ० २८१, नीलमत, २६७
५. विक्रमां० १८।५
स्टायन - २, पृ० २८१
६. विक्रमां० १८।१९, २२,२३,
स्टायन २, पृ० ३२९-३३६ पर संगम पर विस्तृत टिप्पणी की है।
७. विक्रमां० १८।१५,५५
८. व्यूलर रिपोर्ट, पृ० १७
९. नीलमत, १०४९

अपेक्षया अधिक विस्तृत है । बिल्हण ने शारदा तीर्थ की स्थिति और महत्व का उल्लेख इस प्रकार किया है —

" कैलास पर्वत भी, स्फटिक (मणियों) की उज्ज्वल कान्ति के द्वारा निर्मल बनाने वाली जिस शारदा के निवास के कारण, मानों शिर को ऊंचा उठाये हुए है, गंगा की स्पर्धा करने वाली मधुमती(नदी) के पुलिन वर्ती सैकत का भूषण हंसी रूपी उस शारदा ने स्वयं विद्यारक्षा के कार्य से जिस प्रवरपुर को अपने अधिकार में कर लिया ।"[१] शिशिर ऋतु के वर्णन में बिल्हण ने उत्तर दिशा की हिममिश्रित वायु को कैलाश पर्वत से प्रस्थान करा कर 'शारदागृह' (मन्दिर) वितस्ता तट आदि से होकर विक्रमांकदेव के पास कर्णाट पहुंचाया है ।[३] ऐसा उन्होंने शारदा के प्रति अपार श्रद्धा के कारण ही किया है । बिल्हण के विवरण से शारदा मन्दिर वितस्ता (के उत्तर में) और कैलाश पर्वत के मध्य मधुमती नदी के तट पर स्थित था । परन्तु शारदा तीर्थ के महत्व के कारण ही बिल्हण ने समग्र कश्मीर को शारदादेश कहा है ।[४]

स्टायन ने अपनी यात्रा में शारदा मन्दिर की स्थिति का जो चित्र अंकित किया है वह बिल्हण के विवरण से साम्य रखता है , — 'शारदा मंदिर मधुमती नदी के दाहिने तट पर महत्वपूर्ण ढंग से स्थित है उसके बिल्कुल बाद ही उत्तर-पश्चिम में मधुमती और किशनगंगा का संगम है । वहां एक छोटा सा सैकत-पुलिन है, जहां तीर्थयात्री श्राद्ध करते हैं । दक्षिण-पूर्व में मधुमती की यह घाटी संकुचित होती हुई संकरे मार्ग में मिल जाती है, जो कश्मीर जाने का सीधा मार्ग उत्तरपूर्व , जहां किशनगंगा का उद्गम स्थान है, की ओर हिमाच्छादित पर्वत शिखर है[५]। यह शारदातीर्थ वर्तमान शर्दि (ऊपरी किशनगंगा घाटी) जिसकी ७४ं १५' लम्बाई ३४ं ४८' चौड़ाई है ।[६]

---

१ विक्रमां० १८।५

३ वही १६।५१,५२, १८।८५ में भी शारदा का निवास कैलाश शिखर पर कहा गया है ।

४ विक्रमां० १।२१, १८।५ कश्मीर को शारदापीठ और शारदामण्डल आदि नामों से भी पुकारा गया है — स्टायन, जि० २, पृ० २८६ कर्णसुन्दरी श्लोक ४ पृ० ५५

५ स्टायन, जि० २, पृ० २८२

६ वही, जि० १, पृ० ८, टि० ३७

माहात्म्य में वर्णित पशुहोम से ज्ञात होता है कि शारदाकी उपासना शक्ति के रूप में होती थी । बिल्हण के अनुसार शारदा विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती थीं ।[१] शारदा मंदिर के पास ही शारदाकुण्ड था, जिसके जल के संस्पर्श से मृतक के भी जी उठने का प्रवाद था ।[२] माधव कृत शंकर दिग्विजय (सर्ग १६) के अनुसार यहीं सर्वज्ञपीठ पर शंकराचार्य ने अधिरोहण किया था ।

कश्मीर को शारदादेश या शारदाक्षेत्र कहा जाना, प्राचीन काल में शारदा को वहां का मुख्यतम तीर्थ सिद्ध करता है । अल्बेरूनी इसका उल्लेख भारत के प्रमुख तीर्थों में करता है ।[३] कश्मीर के परिचय में कल्हण भी उसका उल्लेख करना नहीं भूलते ।[४] दूर दूर से यात्री इसके दर्शनार्थ आते थे । ललितादित्य के शासनकाल में गौड देश से यात्री आये थे ।[५] यद्यपि वर्तमान काल में श्रीनगर के पंडितों के लिए यह तीर्थ अज्ञातप्राय है, तथापि शर्दि क्षेत्र के पड़ोसी स्थानों के ब्राह्मण आज भी वहां की यात्रा करते हैं ।[६]

शारदा मन्दिर के उत्तर में भगवान शंकर की विलासभूमि तुहिनगिरि कैलाश है ।[७] रावण ने कैलाश सहित शिव को उठा लिया था ।[८] कैलाश से गंगावतरण हुआ था ।[९] इस प्रकार कैलाश पौराणिक कथाओं में शिव लीला स्थल के रूप में अंकित है । लगभग ३२ मील की कैलाश की परिक्रमा यात्री लोग ३ दिनों में पूर्ण करते हैं ।[१०]

---

१. विक्रमा० १८,५,६,८५,१।२१
२. श्री शंकराचार्य — डा० बल्देव उपाध्याय, हिन्दु० एके०, प्रयाग, १९५६, पृ० ११६
३. इंडिया, १, पृ० ११७
४. राज० १।३७
५. रा० ४।४३५
६. स्टायन, जि० २, पृ० २७९
७. विक्रमा० १६।५१
८. वही १८।५४
९. वायु० अ० ४७, ~~नन~~ मत्स्य, अ० १२१
१०. तीर्थाङ्क, पृ० ४०

बिल्हण ने लिखा है उस प्रवरपुर से डेढ़ गव्यूति की दूरी पर (३कोस) जयवन नामक उन्नत चैत्य स्थान है, जहां सर्पराज तक्षक का पवित्र जल वाला जलकुण्ड धर्मनाश करने के लिए उद्यत् कलि के लिए चक्र (अस्त्र) का कार्य करता था।[१] अर्थात् तक्षक कुण्ड की स्थिति से वहां कलि प्रवेश नहीं कर पाता था।

बिल्हण खोनमुष(खुनमोह) का निवासी था , जो जयवन से लगभग एक मील पर स्थित है। ऊपरले खुनमुह और निचले खोनमोह से होकर क्रमश: दामोदर नाग और सोमनाग कहलाता है। इसके अतिरिक्त निकट में ही प्रसिद्ध तीर्थ भुवनेश्वरी नाग और स्वयंभूलिंग हर्षेश्वर हैं।[२] इससे स्पष्ट है कि बिल्हण की जन्मभूमि में नागपूजा का प्रभूत प्रचार था।

तक्षक कुण्ड बिल्हण के समय में प्रधान तीर्थ माना जाता था। इस कुण्ड के निकट केशर की पैदावार बहुत होती है और केशर पुष्प की उत्पत्ति तक्षक नाग से मानी गयी है।[३] यही नहीं अक्बर के शासन काल में इस सरोवर पर केशर की उपज की ऋतु में तीर्थयात्रियों के आगमन का उल्लेख है।[४] इस प्रकार ज्येष्ठ माह में यहां का माहात्म्य रहता है। पड़ोसी तीर्थ हर्षेश्वर तीर्थ के माहात्म्य में (श्लोक ८०) तक्षक नाग का उल्लेख है और हर्षेश्वर तीर्थ यात्रा का पर्व ज्येष्ठ पूर्णिमा कहा है। अत: ज्येष्ठ माह में ही आसपास के तीर्थों की यात्रा की जाती थी। कल्हण ने भी ज्येष्ठ ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी में तक्षक नाग की यात्रा होने का उल्लेख किया है।[५] प्रवरपुर से तीन कोस की दूरी जैवन में स्थित यह तक्षक तीर्थ प्रवरपुर का महत्त्वपूर्ण स्थान था।[६] बिल्हण ने प्रवरपुर की एक विशेषता यह भी बताई है कि वहां उरगाधीश तक्षक का निवास था — जगत् का

---

१. विक्रमां० १८।७०

२. रिपोर्ट, पृ० ४-६

३. चतुर्थराज ६३१

४. आयने-अक्बरी, २ पृ० ३५८ स्टायन का अनुमान है कि केशर के कृषक नि:सन्देह मुसलमान थे, जो परम्परागत तक्षक कुण्ड की पूजा करते थे — स्टायन जि०२, पृ० ४५८

५. राज० १।२२०, समयमातृका २।८८ में भी तक्षकयात्रा का उल्लेख हैं।

६. वही , नरपुर की कथा, १।२०१-२७४,४।२१६, नीलमत, ६०४

सारभूत वह काश्मीर अपने अन्तर्गत जिस(प्रवरपुर) की स्थिति के कारण सर्पराज तक्षक की (सदा के लिए) रक्षा का पात्र बन गया[१]।" महाभारत में विशिष्ट तीर्थों की गणना के प्रसंग में उल्लिखित कश्मीर नाग निस्सन्देह यही तक्षकतीर्थ रहा होगा।[२]

विक्रमांकदेवचरित में शिवपुराणोक्त द्वादश ज्योतिर्लिंगों[३] में सोमनाथ और त्र्यम्बकेश्वर का उल्लेख है तथा मल्लिकार्जुन और रामेश्वरम् का संकेत है। बिल्हण ने गुजरातियों के सम्पर्क से उत्पन्न संताप का निवारण सोमनाथ के दर्शन के द्वारा किया था।[४] बिल्हण के समय में यह प्रसिद्ध तीर्थ था। यद्यपि १०२४ ई० में महमूद गजनवी ने सोमनाथ मन्दिर को ध्वस्त कर दिया था तथापि शीघ्र ही चौलुक्य भीम ने उसका जीर्णोद्धार करा दिया।[५] इब्न असीर (११६०) का कथन है कि सूर्यग्रहण के अवसर पर यहां सहस्रों यात्री आते थे, जिनके केशोच्छेदन के लिए ३०० नाई और पूजा कराने वाले सहस्र ब्राह्मण नियुक्त थे।[६] बिल्हण को त्रिनयन लिंग पर अपार श्रद्धा थी, इसीलिए वे कहते हैं --"स्फटिक निर्मित वर्तुलाकार त्रिनयन शिवलिंग में देवबुद्धि रखने वाले मूर्ख होते हैं --ऐसा सोचकर मूर्ख राजा लोग त्रिनयन लिंग को भी मिथ्या समझते हैं।[७] त्र्यम्बेश्वर लिंग नासिक से १७ मील पर गोदावरी तट पर स्थित है। ध्यानसेदेखने पर वहां एक अर्घा में तीन लिंग, जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु,महेश का प्रतीक समझा जाता है, दृष्टिगत होते हैं किन्तु पूजा काल में उन पर सोने या चांदी के पंचमुख का मुखौटा लगा दिया जाता है।[८] श्रीशैलस्थ मल्लिकार्जुन के दर्शन के लिए चालुक्य नरेश अक्सर जाया करते थे।[९] अत: विक्रमांकदेवचरित (२।४०) में उल्लिखित आहवमल्ल

---

१ विक्रमां०, १८।१६

२ महाभारत ३।८२।६०

३ शिवपुराण १।१४-३३,४।१-१८,२१-२४

४ विक्रमां०, १८।६७

५ वैरावल प्रशस्ति श्लोक १५, चौलुक्याज़ आफ-गुजरात, पृ० ३७१

६ हिस्ट्री आफ इंडिया (ऐज़ टोल्ड वाई इट्ज़ आनै हिस्टोरियन्स) जि० २, अलीगढ़, पृ० ४७४

७ विदधति कुधियोत्र देवबुद्धिं स्फटिकशिलाघटनासु वर्तुलासु।
इति मनसि विधाय दग्ध भूपास्त्रिनयनलिंगमपिस्पृशन्तिमिथ्या।। — विक्र०,६।३३

८ कल्याण, तीर्थाङ्क, पृ० २४७ और ७।५७त्र्यम्बकनर्पालः। पृ०३४-४३

९ अ०हि०इ०, पृ० ४४, विक्रमांका०--पृ० ३४-४३

के कुलप्रभु मल्लिकार्जुन महादेव ही रहे होंगे । बिल्हण सेतु तक गया था, लंका नहीं गया (१८।६६) । उसने रामेश्वर लिंग का उल्लेख नहीं किया है तथापि सेतुबन्ध तक जाने का अर्थ रामेश्वरम् का दर्शन ही प्रतीत होता है । लंका पर आक्रमण के पूर्व स्वयं राम ने इसकी स्थापना की थी । स्कन्दपुराण (ब्रं०खण्ड से० मा०अ० ४५) कहा गया है कि रामनाथेश्वर के दर्शन से मनुष्य कृतार्थ हो जाता है । सहस्र योजन पर स्थित रह कर स्मरण मात्र से शिव सायुज्य को प्राप्त होता है ।

बिल्हण श्री कृष्ण और राधा की लीलास्थली वृन्दावन गये थे , और मथुरा में विद्वत् समूह को शास्त्रार्थ में पराजित किया था ।[१] मथुरा-वृन्दावन (ब्रजमण्डल) एक प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ है । ह्वेनसांग ने यहां केवल पांच देवमन्दिरों का उल्लेख किया है, परन्तु ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ में उनकी संख्या दो सहस्र से भी अधिक हो गयी थी ।[२] वस्तुत: ब्रजमण्डल का वैशिष्ट्य श्रीकृष्ण की लीलास्थली होने के कारण ही था । इसी युग में कृष्ण लीलाओं के विस्तृत व्याख्यान किये जाने लगे थे । वाराह पुराण (१५२।८-६) में भगवान् मथुरा को समस्त लोकों में प्रिय और रम्य अपनी जन्मभूमि कहते हैं । यहां प्राप्त होने वाले पुण्य की महिमा पुराणों में प्रचुर मिलती है ।[३] यहां जन्माष्टमी , यम-द्वितीया और ज्येष्ठा शुक्ला द्वादशी के स्नान और भगवद्दर्शन का विपुल माहात्म्य है ।[४]

बिल्हण ने गंगा प्रवाह रूपी कोश में प्रविष्ट होती हुई यमुना से युक्त (संगम) तीर्थनाथ प्रयाग में, अर्जित धन को कई बार दान में दिया ।[५] नारायण भट्ट ने प्रधानतम तीर्थ प्रयाग, वाराणसी और गया को त्रिस्थली कहा है ।

---

१. विक्रमा० १८।८७

२. भक्त प्रसाद मजूमदार, सोसियो इकोनामिक हिस्ट्री आफ नादर्न इंडिया, पृ० ३३५

३. वाराह १५२।१३-१६ , पद्म० पाताल खण्ड, ६६-८३ आदि ।

४. विष्णुपुराण अ० ६, अध्याय ८

५. विक्रमा० १८।६१

लक्ष्मीधर ने प्रयाग को पवित्र तीर्थों में दूसरा स्थान दिया है और मत्स्यपुराण (१०४ से १०६ अध्याय) से उसके और उसके अन्तर्गत तीर्थों के माहात्म्य से सम्बद्ध उद्धरण दिये हैं ।[१] प्रयाग में अक्षयवट के मूल में आत्मघात करने से स्वर्ग प्राप्ति के माहात्म्य के अनेक वर्णन मिलते हैं ।[२] प्रयाग के महत्व के कारण ही उसे तीर्थनाथ कहा गया है और चतुर्थदश प्रयाग की परिकल्पना कर ली गयी है जिसमें से प्रत्येक नदियों के संगम पर ही स्थित हैं ।[३] आज भी प्रयाग का धार्मिक महत्व अक्षुण्ण है ।

बिल्हण प्रयाग से वाराणसी गया और कलियुग के भय से समीप आये हुए धर्म की थकान का जल की छींटों से निवारण करने वाली गंगा में स्नान करके कुत्सित नरेशों के दर्शन से उत्पन्न कलंक को दूर कर दिया ।[४] काशी प्रसिद्ध शैवतीर्थ है , समस्त पुराण इस बात पर एकमत हैं ।[५] अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस समय तक यहाँ शैवधर्म की प्रधानता हो चुकी थी । डा० मोतीचन्द का कथन है आठवीं सदी से सारनाथ में वज्रयानियों का बहुत जोर बढ़ा और इसके फलस्वरूप वहाँ अनेक बोधिसत्वों और देवियों की पूजा बढ़ी । जान पड़ता है -धीरे धीरे शैवों, शाक्तों और वज्रयानियों का भेदभाव कम होने लगा और अक्सर बौद्ध भी शैव और शाक्त प्रतिमाएं स्थापित कराने लगे[६]। पंथ के आठवीं सदी के लेख से ज्ञात होता है कि यहाँ दूर दूर से यात्री लोग जन्म मरण के बन्धन से मोक्षप्राप्त करने की इच्छा से आते थे । काशी अविमुक्त तीर्थ (शिव ने काशी कभी न छोड़ने की प्रतिज्ञा की थी -यह पौराणिक कथा का संकेत है) माना जाने लगा था ।[७]

---

१. तीर्थ विवेचन, काण्ड, पृ० १३६-१५३

२. पद्मपुराण १।३२।३६, अग्निपुराण, अ० १०६।१८
यश: कर्ण के ११:२२ ई० के जबलपुर अभिलेख में कहा गया है कि गांगेयदेव ने प्रयागस्थ वटमूल में सौ पत्नियों सहित मोक्ष प्राप्त किया -एपी०इं०२,४

३. कल्याण (तीर्थाङ्क) पृ० ५३१ ४. विक्रमां०.१८।६२

५. स्कन्द पुराण, काशी खण्ड, और लक्ष्मीधर-तीर्थविवेचन, पृ० ३९-४०,१९४२ई०

६. काशी का इतिहास, पृ० ११०, बम्बई, १९६२ ई०

७. एपी० इं० ६।५६ पंक्ति १,२

नीलकुण्ठ की विलासपूर्ण भूमि कालिंजर पर्वत भी एक तीर्थ था ।[१] करवी से २० मील पर स्थित बदौसा स्टेशन से १८ मील पर कालिंजर ग्राम स्थित है । वहीं पर कालिंजर पर्वत पर नीलकण्ठ महादेव का प्राचीन मन्दिर है ।[२] कालंजर का माहात्म्य पद्मपुराण और महाभारत में वर्णित है ।[३]

विल्हण ने रावण का बध करने वाले सीतापति राम की राजधानी सरयूतट पर स्थित अयोध्या को अपने सूक्ति निर्झर से सिंचित किया था ।[४] अयोध्या प्राचीन काल से ही उत्तर कोशल की राजधानी कही गयी है । रामायण के अनुसार मनु ने इसका निर्माण किया था ।[५] स्कन्दपुराण अयोध्या तीनों वर्णों से यहाँ क्रमश: ब्रह्मा, विष्णु, महेश की एकत्र स्थिति बताता है ।[६] इसमें अयोध्या का विस्तृत माहात्म्य वर्णित है । यहाँ पर किया गया जप, तप, ध्यान अध्ययन आदि अक्षय होता है । यह प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ है यहाँ सरयू में स्थान का इतना महत्त्व है कि स्वयं प्रयागराज भी कार्तिक मास में शुद्धि के लिए आते हैं ।[७] यह सप्तपुरियों में एक है और राम की लीलास्थली के रूप में प्रसिद्ध है ।

विक्रमांकदेवचरित से ज्ञात होता है कि बिल्हण सौराष्ट्र से सुपाड़ी वन से मण्डित समुद्र तट पर पहुँचा, जहाँ भार्गव के तीक्ष्ण शरों के प्रहार से बनी अर्गला उस समय भी समुद्र के प्रसार को नियंत्रित करती थी ।[८] पौराणिक कथा है कि परशुराम ने अपने निवास के हेतु भूमि पृथ्वी से निकाली थी । उस कथा का प्रचलन हो चुका था । यहाँ पर प्रसिद्ध परशुरामक्षेत्र तीर्थ है यह स्थान रत्नगिरि जिले के चिपलूण तालुके के चिपलूण ग्राम से एक मील दूर एक पहाड़ी पर स्थित है ।

---

१ विक्रमा० ६।१०६

२ तीर्थाङ्क(कल्याण), पृ० १२४

३ पद्मपुराण आदि० ३६।५२-५३, महा० वनपर्व ८५।५६-५७

४ विक्रमा० १८।६४,६।८८-६०

५ बाल्मी०रामा० ५।६

६ स्कन्द-वैष्णवखण्ड, अयोध्या माहात्म्य १।६०-१

७ वही ३।६,७,१४, ६।१७८,१८२

८ विक्रमा०, १८।६८, १।१०७-११२

वैशाख अक्षय तृतीया को, परशुराम जयन्ती पर विशाल समारोह होता है ।[१]

नदियों में गंगा, यमुना, सरयू तो पवित्र नदियों के रूप में मान्य हैं ही। दक्षिणापथ जाह्नवी तुंगभद्रा भी पवित्र नदी के रूप में वर्णित हैं । आहवमल्ल ने उसमें जलसमाधि ली थी । मानसोल्लास[२] में जाह्नवी यमुना, नर्मदा, ताप्ती, गौतमी(गोदावरी), सरस्वती, वंजरा, भीमरथी (भीमा), कृष्णा, वृहन्नदी (महानदी), मालापहारिणी (मालप्रभा), पवित्र नदियां कही गयी हैं, तुंगभद्रा का उल्लेख नहीं है ।

(घ) कला—

विक्रमांकदेवचरित से तात्कालिक कर्णाट और काश्मीर के निवासियों के और वहां के शासकों के कलात्मक जीवन पर भी प्रचुर प्रकाश पड़ता है ।

संगीत—

गीत वाद्य और नृत्य के समाहार को संगीत कहते हैं ।[३] संगीत की शास्त्रीय पद्धति का विकास प्राचीन काल से ही होता आ रहा है । विक्रमांकदेव की महिषी चन्द्रलेखा को गान्धर्वसर्वस्व विशारद और पंचम तान में आलाप लेने वाला कोकिल उसका शिष्य कहा गया है ।[४] कोकिल के सदृश मधुर कण्ठ वाली उसने , गायनों से वीणा को भी मात दे दिया ।[५] नारियां दोला क्रीडा में गाती थीं । (७।२७) । दूसरी महिषी लोकमहादेवी को संगीत में रुचि थी । वह सुयोग्य गायकों को भूमिदान देने में अपार हर्ष का अनुभव करती थी ।[६]

---

१. कल्याण तीर्थाङ्क, पृ० २४६

२. मानसो० विंशति १, अ० १८ (तीर्थस्नान अध्याय), बड़ौदा सीरीज़,२८)

३. गीतं वाद्यं नर्तनं च त्रयं संगीतमुच्यते । —आप्टे (अंग्रेजी) कोश, पृ० ५७७

४. विक्रमा० १०।२६ —पुंस्कोकिलस्ते मधुमासलक्ष्म्या गान्धर्वसर्वस्वविशारदाया:
प्रकाशितुं शिष्य इवैष पश्य रागं मुहु: पंचममातनोति ।।

५. वही ८।५३

६. इंडि० ऐंटी०, १०, पृ० १६६

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अग्रहार और मठों में संगीत की शिक्षा दी जाती थी । बैला में विद्यापीठ में एक संगीत के आचार्य को संगीत के द्वारा चालुक्य नरेशों का मनोरंजन करने वाला कहा गया है ।[१]

बिल्हण ने तीन मधुर ध्वनि वाले ग्रामों या स्वरों का उल्लेख किया है ।[२] ये तीन मधुर स्वर षड्ज , मध्यम और पंचम हैं । स्वर सप्त होते हैं -- सा रे ग म प ध नी । प्रत्येक स्वर पशु और पक्षी के स्वर से लिया गया है -जैसे षड्ज मयूर से , ऋषभ पपीहा से, गंधार बकरे से, माध्यम सारस से , पंचम कोकिल से, धैवत अश्व से और निषाद गज से । बिल्हण कोकिल के पंचम स्वर का बार बार उल्लेख करते हैं ।[३] उनके अनुसार दबाए हुए तालू के उच्च भाग की संकरी नाली से होकर निकलने वाला स्वर पंचम स्वर कहलाता है ।[४]

विवाह, पूजा, उत्सव युद्ध आदि विशिष्ट अवसरों पर विविध वाद्यों का प्रयोग किया जाता था । नान्दी निनाद, मंगलतूर्य , मांगल्य शंख,[५] शुभ अवसरों पर युद्ध अभियानमें सैन्यतूर्य भैरव-दुन्दुभि डिण्डिम ध्वनि, सान्द्रशंखस्वन[६] और संगीत में वीणा और मृदंग का प्रयोग होता था[७] । इसी प्रकार प्रवीर गायक लोग अवसर के अनुकूल गीत गाते थे । विक्रमांकदेव के जन्म पर गायकों, चारणों ने सन्नद्ध गीत गाया था ।[७]

नृत्त का प्रयोग भी विविध अवसरों पर किया जाता था । सोमेश्वर ने विवाह, पुत्रजन्म, वसंत, मनुष्यों के उत्सव में एकत्र होने, दूर से जय प्राप्ति की हर्षवर्धक सूचना, चित्तोत्तेजककाम, नर्तकी के विलास के उपभोग, आमर्ष युक्त विवाद और विद्यागत प्रवीणता की परीक्षा के अवसरों पर नृत्य के प्रयोग का उल्लेख किया है ।[९] कल्याणपुरी की ललनाये नृत्यकला का अभ्यास करती थीं घर घर नृत्त होते

---

१. मैसूर इंस्क्रिप्शन्स, सं० ४६,
२. अयं त्रयाणां ग्रामाणां निधनं मधुरध्वनि:
रेखात्रयमितीवास्या: सूत्रितं कण्ठकन्दले ।।८।५१।।
३. विक्रमां, ८।५३,१०।२६,३३ आदि ।
४. ताम्यत्तालुविटंकसंकटतटी संचारत: पंचम:
सोऽयं कोकिलकामिनीगलबिलादामूलमुन्मूलति ।। ७।७६ ।
कोकिलाएं सिर ऊपर उठाकर गले के मूल से शब्द करती हैं ।
५. २।८६,६०, ६।१३
६. ४।११६,५।२४,६३,६।११,६७,८।१५
७. १।१०,८।५३,१३।३६ । ८. २।६०
९. मानसो -४।१८।९८०-९८

रहते थे ।[१]

विक्रम के जन्म के अवसर पर नृत्योत्सव होने लगा था । (प्रारब्ध-नृत्योत्सवम्–२।६०) । चन्द्रलेखा स्वयं लास्य नृत्य में निपुण थी (८।८७), । विक्रम चन्द्रलेखा से कहते हैं" विहार वाटिका रूपी रंगमंच पर लास्य नृत्य के दर्शनार्थ तुम्हारे आने पर लता रूपी अंगनाएं मानों पुष्पवृष्टि कर रही हैं ।"[२] चन्द्रलेखा का पंचमस्वर में किया गया गान, तिरछी दृष्टि और नूपुर का सिंचन तीनों मादक थे ।[३] पेशेवर नर्तकियां भी थीं, जो नाटकों में अभिनय करती थीं ।[४] कमलाविलासी के मन्दिर में पुरन्ध्रियों के नृत्य होते थे, वहां नृत्य मण्डप में जड़े हुए रत्नों में प्रतिबिम्बित नर्तकियां विद्याधर सुन्दरियों के सदृश लगती थीं ।[५] इस युग में प्रत्येक मन्दिर में किसी न किसी रूप में वाद्य और गेय संगीत का प्रयोग होता था, वहां गायिकाओं के अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं ।[६] मन्दिर धर्मस्थल के साथ साथ सामाजिक संस्थाएं भी थे । वहां रहने वाले गायकों के लिए सम्पत्ति दी जाती थी । विक्रम ने नीलकुण्ड में स्थित भीमेश्वर मन्दिर में नृत्य,गान, वाद्य के हेतु भूमि दान दिया था ।[७] शिवनूर मंदिर में चार नर्तक , ढोल वादक, और बांसुरी वादक थे ।[८]

बिल्हण ने चारण, वैतालिक (२।६०), और नर्तकी या लासिका (१०।५७, १७।२०,२१) तीन प्रकार के नर्तकों का उल्लेख किया है । मानसोल्लास में इनकी संख्या छह है – नर्तकी, नट, नर्तक, वैतालिक, चारण और लटिका ।[६]
चारण हास्य और स्वरों के प्रयोग में प्रगल्भ , वैतालिक बहुभाषा प्रयोग में

---

१ वही २।२४

२ १०।२३ ३ ८।३३

४ विरेजिरे कुन्तलराजदाराःप्रसूनशुल्करवर्णिकाभिः ।
निजेषु दोर्विक्रमनाटकेषु कामेन नीता इव नर्तकीत्वम् ।।१०।५७।।

५ १७।२०/२१

६ एपी०इं०,जि० १२, पृ० १४६,३३४,जि०१३,पृ० ३३, एपी०क०- ७,शिकारपुर २६५ आदि ।

७ एपी०इं०, जि० १२, पृ० १४६

८ वही, जि० १५, पृ० ६३, गायक, वादक, नर्तक के हेतु बेलगामे के केदारेश्वर मन्दिर में निःशुल्क भोजन-व्यवस्था थी-एपी०क० ७,शिकारपुर १०२

६ मानसो० ४।१८।२८५८-६

दक्ष होती हैं ।[१] सुरूपा, तरुणी, तन्वी, श्यामा और चारु पयोधर, प्रगल्भ और सरस नर्तकी श्रेष्ठ होती है ।[२]

विक्रमांकदेवचरित में ताण्डव और लास्य दो नृत्तों का उल्लेख हुआ है। वर्णन से प्रतीत होता है कि ताण्डव उद्धत नृत्त होने से मुख्यत: पुरुष नृत्त था ।[३] उन्होंने लास्य नृत्य को सदा अंगनाओं से सम्बद्ध उल्लिखित किया है ।[४] यही नहीं लास्य नृत्त करने वाली नर्तकी को लासिका कहा है ।[५] भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार एक बार बृह्मा जी के कथन पर शिव ने नृत्त करना प्रारम्भ किया था । इस नृत्त में १०८ करण, नृत्तमातृका संघात, ३२ प्रकार के अंगहार, और पाद, कटि कर, कंठ,—चार रेचकों के विषय में शंकर ने तण्डुमुनि को उपदेश दिया अत: यह नृत्त ताण्डव कहलाया ।[६] शंकर को विविध रेचक और अंगहारों के प्रयोग के साथ नृत्त करते हुए देखकर पार्वती भी नाच उठीं । उन्होंने सुकुमार प्रयोगों से नृत्त किया । शंकर के नृत्त में मृदंग, भेरी, पटह, भण्ड, डिण्डिम, गोमुख, पणव, दर्दुर आदि सभी वाद्यों के स्वरों का प्रयोग किया गया । इस नृत्त को सान्ध्यवेला में दक्षयज्ञ को विध्वंस करने के पश्चात् महेश्वर ने अनेक प्रकार के अंगहारों के साथ लय के अनुवर्तन के आधार पर सम्पादित किया था ।[६] इस प्रकार शंकर का परुष नृत्त ताण्डव है और पार्वती का सुकुमार नृत्त लास्य है ।

बिल्हण ने प्रवरपुर में होने वाले नाटकों (अभिनयों) में मादक नयनों वाली अंगनाओं या नर्तकियों के सुकुमार करणों और अंगहारों से युक्त अभिनय कला कौशल को देख कर नाटक में रम्भा (अप्सरा) स्तम्भित हो जाती है । चित्रलेखा (अप्सरा) की गणना नहीं रह जाती और गर्वीली उर्वशी (अप्सरा) गर्व रहित

---

१. मानसो० ४।१८२८६१-२

२. वही २८५६ सुरूपा तरुणी तन्वी श्यामा चारुपयोधरा ।,
प्रगल्भा सरसा विज्ञैर्नर्तकी सा प्रशस्यते ।।

३. तडिन्ताण्डवमेघमण्डली - २।२३

४. नारिकेलफलखण्डताण्डव-क्षुण्णतत्कुहरवारिवीचय: । •
यत्र यान्ति मरुत: स्मरास्त्रतां धूपक्वकदलीसमृद्धय: ।। —विक्रमा० ५।२२

५. लास्याभ्यासचन्द्रलेखा द्वारा —८।८७ और १७।२१,१०।२३

५. नाट्यशास्त्र, खण्ड १, (डा० रघुवंश कृत हिन्दी अनुवाद , व्याख्या सहित)४।१-२१

६. वही ४।२५४-२५७

हो जाती है ।"[1] भरत ने (चतुर्थ अध्याय) १०८ करणों और ३२ अंगहारों का वर्णन किया है । उनके अनुसार[2] अंगहार करणों पर आश्रित होते हैं । इनमें हस्त और पाद संचालन के कौशल का प्रयोग होता है । सभी अंगहारों की निष्पत्ति करणों के द्वारा होती है । नृत्य में हाथों और पैरों का संयोग करण कहलाता है । दो नृत्तकरणों की एक मातृका होती है, दो तीन और मातृकाओं का एक अंगहार होता है । इसके अतिरिक्त नाट्यके पारिभाषिक शब्दों - सूत्रधार और नान्दी का उल्लेख हुआ है ।[3] देवता द्विज, नृप आदि के आशीर्वचनों से युक्त होने से यह अनिवार्य प्रयोग नान्दी कहलाता है । बीजसहित नाटक के अनुष्ठान को सूत्र कहते हैं, उसको धारण करने वाला सूत्रधार होता है । यही सूत्रधार नान्दी का पाठ करता है ।[4]

---

१. दृष्ट्वा यस्मिन्नभिनय कलाकौशलं नाटकेषु
स्मेराक्षीणां मसृणकरणासङ्गदत्ताङ्गहारम् ।
रम्भा स्तम्भं भजति लभते चित्रलेखा न रेखां
नूनं नाट्ये भवति च चिरं नोर्वशी गर्वशीला ।।

— विक्रमा० १८।२६

श्री भारद्वाज जी ने 'करणासङ्ग दत्ताङ्गहारम्' का अर्थ करणासङ्ग नामक भाव व्यंजक अंगविक्षेप विशेष से युक्त किया है । वस्तुत: यहां 'करणों से युक्त अंगहारों के सहित' अर्थ होगा ।

२. एतेषां तु प्रवक्ष्यामि प्रयोगं करणाश्रयम् ।
हस्तपादप्रचारश्चयथा योज्य: प्रयोक्तृभि: ।।२८
अंगहारेषु वक्ष्यामि करणेषु च वै द्विजा: ।
सर्वेषामङ्गहाराणां निष्पत्ति: कर्णयत: ।। २६।।
तान्यत: सम्प्रवक्ष्यामि नामत: कर्मतस्तथा ।
हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत् ।।३० ।।
द्वे नृत्तकरणे चैव भवतो नृत्तमातृका । द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वाप्यङ्गहारस्तु मातृभि: , नाट्यशास्त्र, अ० ४, श्लो ३१ ।

३. लतावधूविभ्रमसूत्रधार: —७।३ , नान्दीनिनाद: २।८६

४. नाट्यशास्त्र ५।२४,१०४,१०५

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि बिल्हण ने भरत नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था। कुट्टनीमतम् (१२४) से ज्ञात होता है कि भरत कृत नाट्यशास्त्र को पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त था। कल्हण भी संगीत और नृत्य पर भरत सिद्धान्त से परिचित थे।[1] विद्यामठ और सुभटा मठों के विवरण से प्रतीत होता है कि बिल्हण के समय में नृत्य शिक्षा की भी व्यवस्था थी। विद्यामठ में कलकल करती हुई कामिनियों की मेखलाएं कामदेव का पीछा करते हुए शंकर को भयभीत करती थीं।[2] इसी प्रकार सुभटा मठ में नृत्य की शोभा नेत्रों के लिए अमृतशलाका का काम करती थी।[3] कर्णाट की भाँति प्रवरपुर में भी मन्दिरों में नृत्य की शोभा के लिए नृत्यमण्डप होते थे। प्रवरपुर के भीमगौरीश्वर-मन्दिर में स्थित गुणनिका मण्डप में रमणियों का अभिनय कौशल योगियों को भी रोमांचित करता था।[4]

कल्हण के अनुसार अनेक काश्मीरी नरेश नृत्य और संगीत के प्रेमी थे और राजप्रासाद के सभामण्डप में उनकी गोष्ठियां होती थीं।[5] हर्षदेव को नृत्य और गाने में रुचि थी ही, वह नर्तकियों को अभिनय की शिक्षा भी देता था।[6] कुट्टनीमतम् के अनुसार काश्मीर में आकर्षक नाट्यशालाएं थीं, जिनमें बैठने के लिए गद्दियां लगी हुई थीं। ये नाट्यशालाएं धनिकों के लिए थीं।[7] परन्तु सामान्य जनता के अभिनय समारोह उन्मुक्त आकाश के नीचे हुआ करते थे। अत:

---

१. राज० ४।४२३

२. यस्मिन्नङ्गीकृतकलकलमेखला: कामिनीनां
पृष्ठे लग्नं कुसुमधनुषस्त्र्यक्षमप्याक्षिपन्ति ।। १८।२१ विक्रमा०

३. यस्मिन्विचारसिकमनसामास्पदे दैशिकानां
का नामाक्ष्णोर्व्रजति न सुधावर्तितां नर्तितश्री: ।। वही १८।४४

४. वही १८।२३

५. राज० ५।३५६-८८, ७।६४४-६, ८।१२६४

६. नर्तकी: शिक्षयन्रात्रावुत्थायाभिनयं स्वयम् ।। ७।११४० ।। वही।

७. श्रेष्ठिवणिग्विटकितवप्रधानरंगस्य सुमहतो मध्ये।
शूलापालस्थापितकतिपयबद्धोरुपीठिकासीन: ।। ६८ ।।
—कुट्टनीमतम्, अत्रिदेवविद्यालंकार, १९६१ ई०, वाराणसी

वृष्टि होने पर लोगों को इधर उधर भागना पड़ता था ।[१] हरवां में गायिका ढोल बजाती हुई और एक नर्तक नृत्य मुद्रा में उत्कीर्ण है ।[२]

स्थापत्य

पुर

स्थिति—नगरों का निर्माण सुरक्षा और समृद्धि की दृष्टि से किया जाता था । कौटिल्य ने नदियों के संगम पर नगर निर्माण करने पर अधिक बल दिया है ।[३] नदी संगम के अभाव में नदी तट या पर्वत के समीप नगर निर्माण करने का विधान था ।[४] शुक्रनीति (अ० १।२१३-४) के अनुसार नगर विविध वृक्ष, लता, पशु और पक्षियों से पूर्ण, विविध धान्य तथा प्रचुर उदक से युक्त हो तथा पर्वत, नदी, समुद्र और रम्य स्थान उसके निकट हों । भोज नगर भूमिका एक गुण खनिज पदार्थों की प्राप्ति भी मानते हैं ।[५] बिल्हण द्वारा उल्लिखित नगर उक्त कसौटी पर खरे उतरते हैं ।

स्वरूप—नगरों के चतुर्दिक् सुरक्षा के लिए वप्र और प्राकार का निर्माण किया जाता था । कल्याणपुरी में स्फटिक निर्मित वप्र था, जिसमें कपिशीर्ष मालिकाएं (बुर्ज) बनी हुई थीं ।[६] गांगकुण्ड चोलपुर भी कांचन वप्रमण्डल से युक्त कहा गया है ।[७] अर्थशास्त्र और समरांगणसूत्रधार से ज्ञात होता है कि नगर के चतुर्दिक् परिखा निर्माण करते समय खोदी गयी मिट्टी से वप्र का निर्माण किया जाता था ।[८] वप्र की मिट्टी का हस्तियों एवं वृषभों से मर्दन करवा

---

१ सवृष्ट्यम्बुहतो रंगप्रेक्षिलोक इवागमत् ।। राज० १७।१६०६

२ एन्शेन्ट मानूमेन्ट्स आफ काश्मीर, श्रीरामचन्द्र काक, फलक, २७, चित्र ११,१२

३ वास्तुप्रशस्ते देशे नदीसंगमे । —अर्थ०प्र०११,पृ० ३१और अपराजितापृच्छा,पृ०११३भी

४ अर्थ०प्र० २१, पृ० ३१, समराङ्गणसूत्रधार, पृ० ३०

५ समरांगणसूत्रधार, पृ० २६, श्लोक १४-१५

६ प्रकर्षवत्या कपिशीर्षमालया यदुद्भटस्फाटिकवप्रसंहति.।
विलोक्यत्यम्बरकेलिदर्पणो विलासधौतामिव दन्तमण्डलीम् ।। विक्रमां० २।७

७ वही ६।२३

८ खाताद्वप्रं कारयेत् —अर्थ०पृ० ५१, (शास्त्री सम्पादित), समरांगण,पृ० ४०

कर उस पर विषवल्लियाँ और कंटीली झाड़ियाँ लगायी जायें।[१] उसी वप्र के ऊपर प्राकार का निर्माण करना चाहिए। पांसु इष्टका और प्रस्तर के निर्मित होने से प्राकार तीन प्रकार के होते थे। बिल्हण ने लिखा है कि विक्रम के आक्रमण से कांची नगरी का प्राकार मात्र शेष बचा था।[२] पेरिय-पुराणम् भी कांची के चतुर्दिक् सुदृढ प्राकार और परिखा का उल्लेख करता है।[३] शिल्प शास्त्र वप्र और प्राकार को भिन्न भिन्न कहते हैं, परन्तु बिल्हण ने, सम्भवत: दोनों का, एक के ऊपर दूसरा स्थित होने से, एक ही सम्मिलित नाम दिया है। वस्तुत: स्फटिक निर्मित वप्र पर कपि शीर्षमालिकाओं के वर्णन से प्रस्तर प्राकार का संकेत मिलता है।[४] सोमेश्वर ने भी कल्याणनगर को गम्भीर परिखा और उन्नत तथा सुधाधवलित प्राकार से आवृत कहा है।[५]

प्राकार में प्रवेश द्वार होते थे। मथुरा से चल कर बिल्हण ने द्वार पर कलकल करती हुई गंगा को तिरस्कृत कर कान्यकुब्ज नगर में प्रवेश किया था।[६] पुरद्वार को गोपुर कहते थे।[७] बिल्हण के भोज की अनुपस्थिति में धारा पहुंचने पर, द्वार के ऊंचे ऊंचे बुर्जों में स्थित कपोत खेद व्यक्त कर रहे थे।[८] इससे व्यक्त होता है कि द्वार के ऊपर छोटी छोटी बुर्जियां होती थीं। आज भी बुलन्द

---

१. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, पृ० २४५(डा० रायकृत)

२. विक्रमां० ४।२८

३. टाउन प्लैनिंग इन ऐंशेन्ट डेक्कन, रैय्यर, पृ० ७०

४. विक्रमां० २।७

५. गम्भीरपरिखासमुपजनिताम्भोनिधिभ्रमेण ..... समुन्नततरेण सुधाधवलेन प्राकारेण परिगता, — विक्रमांकाभ्युदयम्, पृ० १०

६. विक्रमां० १८।९०, यह द्वार मथुरा की ओर स्थित रहा होगा —पाणिनि-कालीन भारतवर्ष, पृ० १४५

७. पुरद्वारं तु गोपुरम् — अमर २।२।१६

८. विक्रमां० १८।९६

दरवाजा फतेहपुर सीकरी (आगरा) को देखकर बिल्हणकालीन धारा के द्वार का सहज अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार के घेरे को पुर या दुर्ग कहते थे। डा० भगवतशरण उपाध्याय का कथन है 'पुर प्रारम्भ में नगर का पर्याय नहीं था, इस प्रकार के घेरे का नाम था और इस अर्थ में वह दुर्ग का भी प्राय: पर्याय ही था, क्योंकि दोनों का भाव प्रदेश की दुरूहता प्रस्तुत करता है। प्राकार आदि के गुरुतर, पुष्टतर प्रयोग के कारण ~~के कारण~~ बड़े गांव अथवा नगर 'पुर' कहलाने लगे। इसी घेरे के अभाव से नगर भी जब तब दुर्ग-दुर्गम्य- कहलाने लगा।'[1] बिल्हण ने लोहर दुर्ग का उल्लेख किया है।[2] वर्तमान पर्वतीय राज्य लोहरिन या लोरन् उपजाऊ भूमि पर घना बसा हुआ है। लोहरिन् उप-जाऊ भूमि पर घना बसा हुआ है। लोहरिन घाटी की सुरक्षा की दृष्टि से पलेरा दर्रे तक महत्वपूर्ण स्थिति है। स्टायन ने उक्त दुर्ग की पहचान लोहरिन घाटी के केन्द्रस्थ टीले से की है।[3]

प्रासाद- बिल्हण ने विमान, सौध और हर्म्य प्रासादों का उल्लेख किया है। 'अपने वंश के नरेशों के भोग के लिए पृथ्वी को विशाल बनाने के हेतु केयूर में प्रतिबिम्बित विमान के मिष से मानों भुजाओं से पर्वतों या राजाओं को उठाये हुए सा दृष्टिगत होता हुआ' (वीर उत्पन्न हुआ)।[4] डा०प्र०कु० आचार्य ने विमान प्रासाद का उल्लेख किया है जो सतमंजिला होता था।[5] अन्यत्र बिल्हण ने रत्नमण्डित फर्श पर महागृहों के प्रतिबिम्बित होने की कल्पना की है।[6] अत: प्रतीत होता है कि केयूर पर सतमंजिले प्रासाद विमान के बिम्ब

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, खण्ड १, ना०प्र०सभा, पृ० ५२०

२. विक्रमा० १८।४७,६७

३. दी कैसेल आफ लोहर -राज० (अनु०) खण्ड २, पृ० ३००

४. केयूरसंक्रान्त विमान भंग्या भुजोद्धृतक्ष्माभृदिवेक्ष्यमाण:। विक्रमा० १।४६

५. डिक्शनरी आफ हिन्दू आर्किटेक्चर, पृ० ५५१, आप्टे, संस्कृत अंग्रेजी कोश, पृ० ५१७

६. महागृहाणां प्रतिबिम्बदम्भै: प्रणम्यमानेवकुलाचलैरपि।। २।७१। विक्रमा०

की कल्पना की गई है। कल्याणी और विक्रमांकदेव के नगर के वर्णन में ऊंचे सौध[1] और हर्म्य[2] का उल्लेख है। सुधा का अर्थ चूना होता है। अत: चूने से पुते महल सौध कहे जाने लगे। सफेदी युक्त भवनों के उल्लेख महाभारत (आदि
(५-२।२३) में मिलते हैं। कल्याणी
पर्व (१६६।१३२) और रामायण के उत्तुंग हर्म्यों की पंक्ति के दीपों से नभमण्डल[2] काला हो रहा था। मानसार (२५,२६) में हर्म्य को सात मंजिलों का प्रासाद कहा गया है।

कल्याणी के प्रासादों पर ध्वजपट्टपट्टिकाएं लगी हुई थीं।[3] सुन्दरता के हेतु ध्वज (पताका या केतु) प्रासादों के ऊपर लगाये जाते थे। द्वारिका अयोध्या और दशपुर के भवन पताकाओं से युक्त वर्णित हैं।[4]

प्रासादों में वातायन के उल्लेख हैं। विक्रमपुर में प्रासादों के वातायन में स्थित अंगनामुख चन्द्रवत् प्रतीत होते थे।[5] प्रवरपुर में भी उन्नत प्रासादों के क्रीडा वातायन में वनिताएं दीख पड़ती थीं।[6] प्रासादों के वातायन से फांकते हुए अंगना मुखों के वर्णन साहित्य[7] में तो मिलते ही हैं, गुप्त कला में इनका अंकन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।[8]

राजप्रासादों में विशेष प्रकार के स्नानागार बने होते थे, जिन्हें काव्यों में धारागृह की संज्ञा दी गयी है। उसमें यन्त्रचालित फुहारों की व्यवस्था रहती थी। बिल्हण ने विक्रम के धारागृह का सजीव चित्र खींचा है। ग्रीष्म ऋतु के

---

१. ~~सकुच्च~~ वही २।१८;१८।३०-४. १८. वही-२।१

२. यदुच्चहर्म्यावलिदीपसंपदा विभाव्यते कज्जलसंनिभं नभ: ।२।१

३. यदीयसौधध्वजपट्टपट्टिका: आदि २।१८

४. महा० सभा० अ० ५७।१६, रामायण जि० ५,२।३२, दि०च०,सरकार सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, पृ० २९१

५. विक्रमां०, १७।३०

६. वही १८।३०

७. रघु० ६।२४

८. हर्षचरित -एक सांस्कृतिक अध्ययन, डा० अग्रवाल, पृ० ८६, फलक १३, चित्र ५० ।

मध्याह्न काल में विक्रम अंगनाओं के साथ धारागृहों में निवास करता था । उसमें चतुर्दिक् स्फटिक निर्मित फर्श थी, जो जमी हुई वर्फ के सदृश प्रतीत होती थी । वह सहस्रों घण्टियों के सदृश केवड़े के पत्तों से सुशोभित था तथा छिद्र रहित, और मेघवत् श्याम कदली पत्रों से आच्छादित था । अतः सूर्य की किरणें प्रवेश नहीं कर पाती थीं । उसमें गवाक्षों के मध्य से निरन्तर जल-धाराएं निःसृत हो रहीं थीं ।[१] अन्यत्र बिल्हण ने शुभ्र ज्योत्स्ना के प्रवाह से युक्त चन्द्र का साम्य धारागृह के साथ स्थापित किया है ।[२] रघुवंश में भी ग्रीष्म ऋतु में यन्त्रचालित प्रवाहों से युक्त धारागृहों का वर्णन है ।[३] ग्रीष्म-कालीन उपभोग के लिए सम्राट अकबर ने फतेहपुर सीकरी में भी इसी प्रकार की व्यवस्था की थी ।

बसंत ऋतु में दक्षिणानिल से व्याकुल नारियों के भूमिगृह में रहने का उल्लेख है ।[४] यह भूमिगृह आधुनिक तहखानों की भाँति होते थे । प्रासाद में एक और तल्पसद्म होता था । यह राजा का शयन कक्ष था, जहाँ वह क्रीडाओं के पश्चात् शयन करता था ।[५] आहवमल्ल की महिषी प्रसव के लिए सूतिका गृह में गयी थी ।[६] यह भी महल का एक भाग रहा होगा । वहीं पर मन्दुरामन्दिर या अश्वशाला भी थी ।[७]

राजप्रासाद में क्रीडा विनोद के साधन भी उपलब्ध थे । एतदर्थ क्रीडा-गृह बने हुए थे ।[८] चन्द्रलेखा वहाँ कन्दुक क्रीडा करती थी ।[९] इसी प्रकार केलिवन

---

१. विक्रमा०, १२।५०-५४

२. वही ११।६४

३. यंत्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान्रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य ।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ।। १६।४९ ।।

४. वही ७।१४

५. वही ११।६८

६. वही २।८०-१

७. ११।६१

८. १।६०

९. ८।२२

. . . .

. . . . भी थे । इन गृह उद्यानों में विविध पुष्प, औषधि एवं वनस्पतियों के वृक्ष लगाये जाते थे और केलिदीर्घिका, झूले आदि की व्यवस्था रहती थी । सोमेश्वर के अनुसार क्रीडावन सुगन्धित पुष्पों से मनोरम, नागकेसर, पुन्नाग की रेणु से युक्त विविध फलों से मण्डित , कुल्या, तडाग, कूप, लता मण्डप आदि से युक्त रहता था ।[१] वसन्त ऋतु में विक्रम पुष्पमण्डित उपवन में दोला, पुष्पावचय, मधुपान आदि क्रीडाओं में रमा रहता था ।[२] मानसोल्लास (गृहोपभोग प्रकरण) में इन क्रीडाओं का विशद वर्णन है । विक्रम ने केलिवन में स्थित वनदीर्घिका का में अंगनाओं के साथ विहार किया । यह दीर्घिका निर्मल जलयुक्त, कमलमण्डित थी ।[3] बिल्हण ने हर्म्यांङ्गण में भी केलिवापी का उल्लेख किया है ।[४] डा० अग्रवाल ने लिखा है कि गृहोद्यान और धवलगृह के अन्य भागों में पानी की एक नहर बहती थी । लम्बी होने से उसे दीर्घिका कहते थे । दीर्घिका के बीच बीच में गन्धोदक से पूर्ण क्रीडावापी बना ली जाती थी, जो कमल हंस आदि के विहार स्थल थे ।[५] इस प्रकार प्रासाद विलासिता के समस्त साधनों से युक्त थे । जयपुर के आमेर प्रासाद से तात्कालिक भवन का अनुमान किया जा सकता है ।

नगरों में सार्वजनिक जलाशय, उपवन, मन्दिर मठ आदि भवन, एवं ब्रह्मपुरी अग्रहार रहते थे । कल्याणपुरी में निर्मल जल से युक्त जलाशय का उल्लेख है ।[६] भारत में वापी, जलाशय ,कूप, उपवन, आदि के निर्माण के अनेक उल्लेख मिलते हैं । ये धर्मशास्त्रों में वर्णित गृहस्थ के इष्ट और पूर्त कर्मों के अन्तर्गत आते थे । बिल्हण के पिता राजकलश ने द्राक्षा उद्यानों, कूप और प्रपा तथा व्याख्या भवन के निर्माण किये थे ।[७] प्रवरपुर में स्थित सार्वजनिक द्राक्षा उद्यान भी थे ।

---

१. मानसो० २।२।१२६-४६

२. विक्रमा०, सर्ग ८,१०,११,१२,१३

३. वही १२।५७-७८

४. वही १२।३४

५. हर्षचरित - एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २०६

६. विक्रमा० २।६

७. वही १८।७८,८०

जो कैलिवृक्षों और कैलिवापी से युक्त थे। जहाँ अंगनाएं वनविहार और जल-क्रीडाएं करती थीं।[१] वहाँ वितस्ता जल में नौकाओं पर स्थित स्नानागार भी थे।[२] विक्रम ने विक्रमपुर को ब्रह्मपुरियों से आवृत्त बसाया था और प्रवरपुर में भी काश्मीर नरेशों द्वारा बसाये हुए अनेक ब्राह्मण अग्रहारों के उल्लेख हैं।[३]

मन्दिर — कर्णाट के मन्दिरों में बिल्हण ने केवल विक्रम द्वारा निर्मित[४] विष्णु कमलाविलासी के मन्दिर का वर्णन किया है। यह मंदिर गगन-चुम्बी था। इसके शिखरों पर कांचनकुम्भ पंक्ति थी।[५] उस मन्दिर में रत्न निर्मित शालभंजिकाओं का सजीव अंकन था।[६] कालिदास ने रघुवंश(१६।१७) में स्तम्भों पर अंकित योषित्वों का अभिराम चित्र खींचा गया है —

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।

स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ता ।।

अश्वघोष ने तोरणशालभंजिका का उल्लेख किया है।[८] डा० अग्रवाल की धारणा है कि पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में शालभंजिका क्रीडा का उल्लेख हुआ है। गौतम बुद्ध की माँ इसी मुद्रा में बुद्ध जन्म के समय खड़ी थीं। कालान्तर में उक्त मुद्रा में खड़ी स्त्री के लिए शालभंजिका शब्द रूढ़ हो गया। साँची, भरहुत और मथुरा में तोरण की बड़ेरी और स्तम्भ के बीच में तिरछे शरीर से खड़ी हुई स्त्री तोरण-शालभंजिका कहलाती थी। मथुरा के वेदिका ~~स्त्री तत~~ स्तम्भों पर अंकित स्त्री-

---

१. विक्रमां० १८।१३।२०

२. वही १८।३१

३. वही, १७।२६, सर्ग १८

४. वही, १७।१५

५. वही, १७।१६, कल्याणी के देवमन्दिरों पर भी सुवर्णकुम्भ का उल्लेख है २।१३

६. श्रियं सजीवा इव यत्र सन्ततं वहन्ति रत्नोत्करशालभंजिकाः ।। १७।२०

७. वही

८. बुद्ध चरित, ५।५२

मूर्त्तियों को स्तंभ शालभंजिका कहा गया है ।[१] बिल्हण ने सम्भवत: उक्त दोनों रूपों में नृत्य मण्डप में अंकित शालभंजिका का उल्लेख किया है । मंदिर में नृत्य-मण्डप था जहां वितान में जड़े हुए रत्नों में प्रतिबिम्बित होने से विद्याधर राज सुन्दरी सी नर्तकियां, नृत्य करती थीं ।[२] मण्डप(के स्तम्भों और 'तोरणों) पर) में शालभंजिकाएं अंकित थीं । मंदिर के सम्मुख विक्रम ने निर्मल जलों से युक्त अगस्त्य मुनि का दर्पदलन करने की इच्छा करने वाले विशाल तड़ाग का निर्माण किया ।[३] मधुसूदन के (नागै: से प्राप्त १०६२ ई० के) अभिलेख[४] में मधुसूदन मंदिर के लिए कहा गया है कि इसका चमकदार कलश नभमंडल को छूता था । इसके बड़े बड़े कक्ष आकर्षक मूर्त्तियों से अलंकृत थे । उसमें नाट्यशाला भी थी और स्वर्ण-निर्मित गरुडस्तम्भ था, जो तीन मंजिलों में इन्द्र के विमान के सदृश था । वहां अनुष्ठान भवन में विविध सम्प्रदाय के पुजारी पूजन पद्धतियों के अनुसन्धान में रत रहते थे । साथ ही एक मठ था, जिसमें वेद वेदांगों का अध्ययन होता था । उसमें अनेक तोरण द्वार और प्रासाद प्राकार के द्वारा परिवेष्टित थे । इस विवरण से कमलाविलासिन् के मन्दिर के स्वरूप का सहज अनुमान किया जा सकता है।

डाहल कर्ण की सभा से धारा होता हुआ बिल्हण १०७३-४ ई० में गुजरात पहुंचा था । वहां सौराष्ट्र में उसने प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग सोमनाथ के दर्शन किये थे ।[५] यह कहना कठिन है कि बिल्हण के समय सोमनाथ मन्दिर का क्या स्वरूप था, परन्तु काल दृष्टि से प्रतीत होता है कि यहमन्दिर चौलुक्य भीम प्रथम द्वारा निर्मित था , जो विशाल चट्टानों का रत्नकूट शिखर से युक्त था ।[६]

---

१. हर्षचरित- एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ६१-२, फलक ८

२. विक्रमा० १७।२१ वितान रत्नप्रतिबिम्बडम्बरैर्वहन्ति यत्प्रांगणसीम्निलासिका: ।
अवाप्तविद्याधरराजसुन्दरीपदां इवं व्योम्नि विवर्तुमुद्यता ।।

३. वही १७।२२-२८

४. हैदराबाद आर्कि० सीरीज़, जि० ८, पृ० ३०-१, खण्ड २, २३१-६,
अ०हि०डे०, पृ० ४२५-६

५. विक्रमा० १८।६५—६७

६. वैरावल प्रशस्ति श्लोक १५ (अनुवाद) चौलुक्याज़ —आफ गुजरात, पृ० ३७१ पर उद्धृत ।

अल-बैरूनी ने इस मन्दिर को सौ वर्ष प्राचीन कहा है ।[१] अत: डा० मजूमदार का अनुमान है कि यह मंदिर दशम शती के पूर्वार्द्ध में निर्मित हुआ था और उत्खननों में गर्भगृह की उत्तरी दीवाल में क्रमश: एक दूसरे के ऊपर स्थित तीन प्रणालियों के प्राप्त होने से प्रतीत होता है कि सौ सौ वर्षों के अन्तर से क्रमश: भीम प्रथम और कुमारपाल ने इसका जीर्णोद्धार कराया था ।[२] अपने परिवर्द्धित रूप में इसमें मुख्य मन्दिर के अतिरिक्त नृपशाला, रसोईघर, नाट्यशाला और तोरण के उत्तर तथा दक्षिण पार्श्व में दुर्ग थे ।[३] उत्खनन से ज्ञात होता है कि प्रथम मन्दिर विशिष्ट प्रकार के बारीक कण वाले रक्तिम बलुआ पत्थर से बना था । दूसरे की पीठिका पहले मन्दिर की पीठिका पर निर्मित थी । प्रथम मन्दिर के मलवे पर निर्मित होने से उसकी अन्दर और बाहरी भूमि की सतह ऊँची हो गयी थी । बनावट में दोनों के गर्भगृह और मण्डप एक से समकोणात्मक थे । तीसरा मन्दिर (कुमारपाल द्वारा निर्मित) बनावट और शैली में बिल्कुल भिन्न था । इसकी निम्नलिखित विशेषताएं थीं (१) महापीठ पर आधारित होना । (२) मण्डप और गर्भगृह का आमने सामने होना (३) परिवर्धित मण्डप और प्रदक्षिणामार्ग उत्तर, दक्षिण और पश्चिम में खुलते थे । (४) गर्भगृह और मण्डप दोनों की फर्शों पर काले कठोर पत्थर (बैसाल्ट) का प्रयोग किया गया था ।[४]

बिल्हण के विवरण से शारदा मंदिर वितस्ता नदी और कैलाश के मध्य मधुमती नदी के तट पर स्थित था ।[५] स्टायन का कथन है कि शारदा

---

१. इंसी०सचउ॰, जि० २, पृ० १०५

२. चौलुक्याज् आफ गुजरात, पृ० ३७२

३. वही

४. बी०के० थापर द्वारा प्रस्तुत सोमनाथ उत्खनन ; १९५० ई० का विवरण
क०मा० मुंशी कृत, सोमनाथ में उद्धृत ।

५. विक्रमा० १८।५, १९।५१, १८।८५

मन्दिर मधुमती के दाहिने तट पर स्थित है, उसके पास ही मधुमती किनगंगा का संगम है। दक्षिणपूर्व में यह घाटी संकुचित होती हुई संकरे मार्ग में मिल जाती है। इस क्षेत्र का आधुनिक नाम 'शर्दि' है।[१] यह एक महत्वपूर्ण तीर्थ है। यहाँ शारदामंदिर मधुमती के दक्षिण तट के कगार पर स्थित है। स्टायन ने वर्तमान शारदा मन्दिर का मेजर वेट्स तथा स्वयं के निरीक्षण के आधार पर विस्तृत विवरण दिया है।[२] मंदिर के आयताकार प्रांगण के केन्द्र में काश्मीरी शैली का एक गर्भगृह है, जो २४×५×३ ऊँचे चौकोर पीठ पर स्थित है। इसमें प्रवेशार्थ पश्चिम दिशा में द्वार हो, जो सीढ़ियों से सम्बद्ध है। सामने खुला पोर्टिको है। गर्भगृह अन्दर से आयताकार और अलंकृत है। वहीं एक विशाल पत्थर है, जिसके नीचे शाण्डिल्य के दर्शनार्थ प्रकट हुई शारदा का कुण्ड है। यहाँ पर शंख घंटी आदि सामग्री रखी रहती है। गर्भगृह भुरभुरे बलुआ पत्थर से निर्मित है, जो दो भागों में विभक्त है।

गर्भगृह के आकार, अलंकरण तथा अन्य विशेषताओं से यह भवन अधिक प्राचीन नहीं प्रतीत होता। शैली से यह कपोतेश्वर (कोठेर) (भोज के समकालीन-राज ७।१९०) के गर्भगृह के अवशेष से कुछ साम्य रखता है। इस मन्दिर के प्राचीन काल से चले आते महत्त्व और प्रसिद्धि से अनुमान होता है कि इसका बार बार जीर्णोद्धार होता रहा है। अत: इस प्रसिद्ध मन्दिर का वर्तमान रूप बहुत बाद का है।

बिल्हण लिखता है - ' जहाँ (प्रवरपुर में) प्रवरसेन (द्वितीय) का जिरिजावल्लभ शंकर का वह अद्भुत मन्दिर अमरावती नगरी में पहुँच जाने की आशा का विस्तार किसमें नहीं करता। जो (मन्दिर) सशरीर स्वर्गारोहण किये हुए प्रवरसेन नरेश के स्वर्ग द्वार के सदृश बने हुए, छिद्र को आज भी धारण

---

१. स्टायन, जि० २, पृ० २८२

२. वही, पृ० २८३-८४

करता है ।`[१] गोनन्द राजवंश में उत्पन्न प्रवरसेन द्वितीय कल्हण के विवरण से शैव प्रतीत होता है क्योंकि शिव की उपासना उसने राज्य प्राप्ति की इच्छा से की थी ।[२] राजतरंगिणी में उल्लिखित है कि वैताल ने प्रवरसेन के लिए नगर निर्माण के उपयुक्त स्थान पर रेखांकित कर दिया ।[३] `प्रवरसेन ने भक्ति,भाव से प्रेरित होकर उस स्थान पर जैसे ही प्रवरसेन प्रवरेश्वर`(शिवलिंग) की प्रतिष्ठा करने की इच्छा की वैसे ही यन्त्र को फोड़ कर जयस्वामी (विष्णु) स्वयं पीठ पर स्थापित हो गये ।[३] इस विवरण के अनुसार प्रवरसेन ने जयस्वामी का विष्णुमन्दिर बनवाया था, शिव का नहीं, जबकि बिल्हण स्पष्टत: उसे गिरिजावल्लभ का मन्दिर कहता है । ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में वह शैवथा । प्रवरेश्वरकी स्थापना या प्रवरगिरिजावल्लभ की स्थापना की थी । बिल्हण के अनुसार यह मन्दिर अत्यधिक ऊंचा और अद्भुत था । कालान्तर में प्रवरसेन या तो वैष्णव हो गया था अथवा सभी देवताओं में आस्था होने के कारण मूर्त्ति-कार `जय ` के नाम पर जयस्वामी विष्णु की भी स्थापना की ।[४]

स्टायन के अनुसार` यह प्रवरसेन शिव मन्दिर श्रीनगर के मध्य में हर पर्वत (बिल्हण का प्रद्युम्न पर्वत) के नीचे दक्षिण में और जामा मस्जिद के पास था जहां आजकल जिआरात बहा-उद्-दीन साहिब स्थित है । इस कब्रिस्तान की दीवाल और मकबरों में अनेक प्राचीन अवशेष अन्तर्हित हैं । कब्रिस्तान के दक्षिण पश्चिम कोण पर लम्बा-चौड़ा विशाल फाटक है । देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी छत प्राचीन काल में ही गिर चुकी थी । ब्राह्मण अनुश्रुति इसे प्रवरेश्वर मन्दिर का अवशेष मानती है और प्रवरसेन के स्वर्गारोहण का स्थान

स्वक---

१. विक्रमां०, १८।२८

२. राज० ३।२६७-२७६

३. वही ३।३४८-४६

३क. भक्त्या प्रतिष्ठां प्राक्तस्मिन्ननीषो प्रवरेश्वरम् ।
जयस्वामी स्वयं पीठे भित्वा यन्त्रमुपाविशत् ।। -राज० ३।३५०

४. वही ३।३५० -३५१

स्वीकार करती है । बिल्हण और कल्हण दोनों इस घटना का समर्थन करते हैं[१]।

कल्हण के अनुसार प्रवरसेन द्वितीय की शासन अवधि ६० वर्ष है । स्टायन की गणना से उसने ७४५ से ८०५ ई० तक शासन किया ।[२] ढाई सौ वर्षों से प्रवरेश्वर मन्दिर के साथ प्रवरसेन के सदेह स्वर्गारोहण की अनुश्रुति का जुड़जाना असंभव नहीं है । बिल्हण ने यह उल्लेख अनुश्रुति के आधार पर ही किया है । कल्हण के समय (११४८ ई०) में यह मन्दिर अपने मूल रूप में स्थित था ।[३]

प्रवरपुर में वितस्ता के संगम के पश्चात् क्षेमगौरीश्वर मन्दिर का वर्णन है ।[४] इससे प्रतीत होता है कि यह मन्दिर संगम के निकट स्थित था । बिल्हण ने यह उल्लेख नहीं किया कि वितस्ता का संगम किसके साथ हुआ था । श्रीनगर में वितस्ता के साथ दो नदियों महासरित् और दुग्ध गंगा के संगमों के उल्लेख मिलते हैं । स्टायन का अनुमान है कि बिल्हण द्वारा उल्लिखित यह संगम दुग्धगंगा (श्वेत गंगा या वर्तमान छत्तिकुल और वितस्ता का संगम रहा होगा ।[५] दुग्धगंगा दक्षिण की ओर श्रीनगर के पश्चिमी छोर पर , अन्तिम सेतु के नीचे, वितस्ता के साथ मिलती है । बिल्हण ने दुग्ध गंगा का उल्लेख दुग्धसिन्धु नाम (१८।७) से किया है । कल्हण के विवरण से ज्ञात होता है क्षेमगुप्त ने संग्राम नामक डामर का बध करने के लिए वधिकों को भेजा था । संग्राम के श्री जयेन्द्र-विहार में छिप जाने पर निर्दयी नरेश ने उसमें आग लगवा दी और विहार के जल जाने पर उसमें से कांस्य की बुद्धप्रतिमा तथा पत्थर निकलवा कर नगर (श्रीनगर) के बाजार मार्ग पर क्षेमगौरीश्वर मन्दिर की स्थापना की ।[६] प्राचीन

---

१. विक्रमां० १८।२८, प्रासादे प्रवरेशस्य सिद्धिक्षेत्रे क्षमापते: ।
स्वर्गद्वारप्रतिभटं द्वारमद्यापि लक्ष्यते ।। —राज० ३।३७८

२. स्टायन,जि० १, परिशिष्ट, १, पृ० १३६

३. राज० ३।३७८

४. विक्रमां०, १८।२३

५. स्टायन, जि० १, पृ० २४८ , २४९, टि० १७२-३

६. राज० ६।१७१-१७३

भवनों से उखाड़े गये पत्थर नये भवनों में हिन्दूकाल से प्रयुक्त होते रहे हैं ।[१] यह मन्दिर विद्यामठ के सामने था ।[२] क्षेमगुप्त पर्वगुप्त का पुत्र था और उसने ९५० से ९५५ ई० तक शासन किया ।[३] उसके शासन काल की दो प्रमुख घटनायें थीं, एक तो जयेन्द्र विहार को जलाना , दूसरे क्षेमगौरीश्वर मन्दिर की स्थापना । नागर जी ने क्षेमगौरीश्वर का आधुनिक नाम 'खैमेसरदेव' दिया है ।[४]

बिल्हण के वर्णन से ज्ञात होता है कि क्षेमगौरीश्वर का मंदिर काफी ऊंचा था और उसमें विशाल नृत्य मण्डप (गुणनिका) भी था ।

बिल्हण ने प्रवरपुर में सुभटा के शंकर मन्दिर का उल्लेख किया है और अन्यत्र वितस्ता तट पर स्थित एक मन्दिर का नाम बिल्हण ने 'कामारि' दिया है ।[५] कल्हण ने सुभटा को गौरीश्वर मन्दिर और सुभटा मठ वितस्ता तट पर बनवाने का श्रेय दिया है ।[६] गौरीश्वरम मन्दिर भी सदाशिव मन्दिर के निकट था ।[७] सदाशिवपुर समुद्रमठ के समीप था ।[८] स्टायन ने समुद्रामठ की एकता वर्तमान सुदरमर के साथ स्थापित की है जो वितस्ता के दक्षिण तट पर स्थित है । उसके दूसरी ओर वायें तट पर जैन्दार महल, पुरुषयार, करफति महल, मलिक्यार (जिला ताषवान में) हैं यही पर कहीं सदाशिव मन्दिर रहा होगा । हाल में ही प्राचीन लिंग जो कुछ वर्षों पूर्व पुरुषयार घाट पर था और जिसे वृद्ध पुरोहित सदाशिव कहते हैं वितस्ता के वाये तट पर एक मन्दिर

---

१. स्टायन, जि० १, पृ० २४६, टि० १७२त- ७३

२. वही, जि० २, पृ० ४५२

३. स्टायन, जि० १, भू०पृ० १०४,राज०६।१५०-१८७

४. विक्रमां० १८।२३ पर टिप्पणी

५. वही १८।२६,४६

६. राज०७।१८०

७. वही ७।६७३, सुभटा ने गौरीश की स्थापना के पश्चात् सदाशिव मन्दिर की स्थापना पर दान दिये । ७।१८०-८१

८. वही ७।५०२। ६।७६ आगे

में स्थापित कर दिया गया है ।[१] अपने महत्व के कारण ही आज भी 'सदाशिव' नाम उक्त स्थान पर सुरक्षित है । सम्भवत: अधिक महत्वपूर्ण होने के कारण ही बिल्हण ने इसी शंकर मन्दिर का उल्लेख प्रवरपुर के विशिष्ट मन्दिर के रूप में किया है ।[२] सुभटा का दूसरा कामारि मन्दिर, जो वितस्ता तट पर था, कल्हण द्वारा उल्लिखित गौरीश्वर मन्दिर रहा होगा ।[३]

मठ और अन्य भवन-

बिल्हण ने अनेक मठों के विवरण दिये हैं । उनका पृथक् पृथक् अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ये मठ आकार में काफी वृहद् थे । राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि विशालता और सुदृढ़ता के कारण इनके विविध उपयोग थे । रानी दिद्दा ने संकट काल में अपने शिशु को शूरमठ में भेज दिया था ।[४] सुस्सल सुरक्षा की दृष्टि से राजप्रासाद का परित्याग कर नवमठ में रहने लगा था ।[५] स्टायन महोदय का कथन है कि काश्मीरी मठों का निर्माण संभवत: आधुनिक सरायों की भाँति हुआ था । सभी दिशाओं से सुरक्षित होने से नगर के अन्य भवनों की अपेक्षा सुरक्षा कार्यों के लिए अधिक उपयुक्त था ।[६]

जिस प्रवरपुर में श्रीमद्भट्टारकमठपुर के समीपस्थ अंगनाओं के कटाक्ष की दृष्टि-छटा में कोई अवर्णनीय कान्ति प्रस्फुटित होती है ।[७] अत: श्रीमद्भट्टारकमठपुर' प्रवरपुर में स्थित था और उसके निकट किसी उत्सव के कारण नारियों का आना जाना लगा रहता था । व्यूलर ने श्रीनगर में स्थित

---

१. स्टायन, जि० १, पृ० २८३, टि० १८६-८७

२. विक्रमां० १८।२६

३. वही १८।४६, राज० ७।१८०

४. राज० ६।२२३

५. वही ८।१०५२

६. स्टायन, जि० २, पृ० ४४८

७. यस्मिन्कापि स्फुरति ललिता श्री: कटाक्षच्छटासु
श्रीमद्भट्टारकमठपुरोपान्तसीमन्तिनीनाम् । ....
विक्रमां० १८।११

`ब्रुडिमर` के साथ भट्टारकमठपुर की एकता स्थापित की है । पण्डित-परम्परा से ज्ञात होता है कि यह स्थान ही प्राचीनभट्टारकमठ था ।[१] मार को पार करने के पश्चात् दक्षिण की ओर अग्रसर होने पर श्रीनगर का `ब्रुडिमर` नामक स्थान पड़ता है, जो नदी के दक्षिण तट पर चतुर्थ और पंचम सेतु के मध्य में स्थित है[२]। किल्हण उसका सम्मान सूचक विशेषण `श्रीमद्` के साथ उल्लेख करता है और अन्त में `पुर` शब्द को उसके साथ जोड़ कर नगरवत् विशालता घोतित करता है । कल्हण के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि भट्टारकमठ एक विशाल भवन था ।[३]

अनन्तदेव की रानी सुभटा ने राजधानी प्रवरपुर के (अधिष्ठान) मध्य में अत्यन्त सुन्दर अपने नाम वाला सुभटामठ बनवाया था ।[४] कल्हण ने लिखा है कि पहले नगर में जो अग्निकांड हुआ था उसमें सूर्यमती (सुभटा) मठ जल गया था । उसका जीर्णोद्धार जयसिंह ने कराया था ।[५] अत: स्पष्ट है कि यह मठ भी प्रवरपुर में स्थित था । कल्हण ने गौरीश्वर , सदाशिव मन्दिर के पास ही सुभटा मठ की स्थिति बताई है, जो वर्तमान सुन्दरमर मोहल्ले की विपरीत दिशा में उसी के पास ही स्थित रहा होगा ।[६]

---

१. व्यूलर रिपोर्ट , पृ० १६, ब्रारि(भट्टार (देवता) (ब्रारिनम्बल> भट्टारकनउवला) की भाँति ब्रुडि भी संस्कृत `भट्टारक` से उद्भूत हुआ है —स्टायन , जि० २, पृ० —४४८,टि० १२, पृ० ४५०,टि० ३७

२. स्टायन, जि० २, पृ० ४४८, व्यूलर रिपोर्ट, पृ० १६

३. राज० ८।२४२६ में शृंगारभट्ट के मठ को समुद्रवत् विशाल भट्टारकमठ की तुलना में कूप कहा गया है ।

४. विक्रमा० १८।४४, `अधिष्ठानमध्य` के लिए नागर ने टिप्पणी में वर्तमान भाषा में `अहीठाणमाही` दिया है । वस्तुत: अधिष्ठान राजधानी को कहते थे। अलबेरूनी ने अदिदश्टान कश्मीर की राजधानी श्रीनगर के लिए प्रयुक्त किया है । —स्टायन, जि० २, पृ० २६२

५. राज० ८।३३२१

६. राज० ७।१८०-८१ और स्टायन जि० १, पृ. २८२- ८३ पर टिप्पणी१८० और १८६-८७

बिल्हण के विवरण से प्रतीत होता है कि सुभटामठ आकर्षक और विशाल था । वहाँ विद्वान् लोग निवास करते थे । इसके अतिरिक्त उस मठ में उत्कृष्ट नृत्य उत्सव भी हुआ करते थे ।[१]

बिल्हण ने अनन्त को विजयक्षेत्र के अग्रहारों के समीप वितस्ता के जल से पूरित खाइयों से युक्त दुर्गानुकारि विशाल मठ बनवाने का श्रेय दिया है[२]। परन्तु राजतरंगिणी में सुभटा द्वारा अपने भाई सिल्लन और पति (अनन्त) के नाम पर विजयेश और अमरेश के पास मठ बनवाये जाने का उल्लेख है ।[३] यद्यपि अनन्त ने स्वयं यह मठ नहीं बनवाया था तथापि उसकी पत्नी द्वारा उसके नाम से बनवाये जाने के कारण इस मठ का निर्माता बिल्हण अनन्त को ही कहता है क्योंकि सुभटा राज्य की आन्तरिक व्यवस्था करती थी । स्टायन के अनुसार अमरेश या अमरेश्वर (वर्तमान अम्बुरेहर ग्राम), जो श्रीनगर से सिन्द घाटी को जाने वाली सड़क पर ४ मील उत्तर में स्थित है,। में रहा होगा और विजयेश शिव का मन्दिर वर्तमान विजब्रोर रहा होगा । ब्रोर (देवता) संस्कृत भट्टारक से उद्भूत है, जिसका अर्थ ईश्वर होता है ।[५] आज भी वीजब्रोर ग्राम में ब्राह्मण वस्ती[६] बिल्हण के काल में वहाँ ब्राह्मणों के अग्रहार की स्थिति सिद्ध करती है । बिल्हण के दुर्गानुकारि[७] विशेषण से स्पष्ट है कि अनन्तमठ दुर्ग की भाँति विशाल एवं सुदृढ़ था ।

---

१. यस्मिन्विधारसिकमनसामास्पदे दैशिकानां
 का नामाकर्णोर्वृजति न सुधावर्तितां नर्तितश्रीः ।। — विक्रमां० १८।४४

२. विक्रमां० १८।३६

३. सिल्लनाख्यस्य च भ्रातुर्भर्तुश्चाभिधया सती ।
 मठौ चाकारयत्पार्श्वे विजयेशामरेशयोः ।।७।१८३

४. स्टायन, जि० १, पृ० २८२, टि० १८३

५. वही, पृ० ६, टि० ८३, राज० १।३८

६. रिपोर्ट, पृ० १६

७. विक्रमां० १८।४४

"जिस प्रवरपुर में संग्राम नामक नरेश के मठ के द्वारा सीमाबद्ध चन्द्र-सीमा प्रदेश नेत्रों के लिए सुधावर्षण करता है ।"[१] इससे व्यक्त होता है कि संग्रामराजमठ चन्द्र सीमा प्रदेश की सीमा पर स्थित था । चन्द्रसीमा.प्रदेश से सम्बद्ध एक अनुश्रुति है । नीलमत पुराण में उल्लिखित है कि महापद्म नाग के अनुरोध पर महाराज विश्वगश्व ने चन्द्रपुर से दो योजन की दूरी पर विश्वगश्व-पुर बसाया और नागों के निवास के हेतु चन्द्रपुर को झील के रूप में परि-वर्तित कर दिया । अत: इसका नाम महापद्मसरस पड़ा । वर्तमान वोलुर झील उसी का स्थानापन्न है ।[२] झील का तटवर्ती प्रदेश मनोहारी है । इसीलिए बिल्हण ने उसे नेत्रों के लिए सुधा वर्षण करने वाला कहा है । उस झील (अनुश्रुति का चन्द्रपुर) की सीमा या तट पर स्थित प्रदेश की ओर श्रीनगर की सीमा संग्राम मठ स्थित रहा होगा ।

यह 'संग्राम' नृपति कौन था ? कल्हण ने संग्रामापीड प्रथम , द्वितीय संग्रामापीड, संग्रामदेव और संग्राम राज कई 'संग्राम' नाम वाले नरेशों का उल्लेख किया है ।[३] इनमें से किसी नरेश को मठ बनवाने का श्रेय नहीं दिया गया है । संग्राम राज्य की पत्नी श्रीलेखा ने अपने पति (संग्रामराज) तथा पुत्र (हरिराज) के नाम मठ बनवाये थे ।[४] श्री संग्राम मठ का उल्लेख कल्हण ने दूसरे प्रसंग में किया है — कल्याण आदि जो संग्राममठ के समीपवर्ती महल में थे, नरेश के प्रांगण में प्रवेश करने पर युद्ध से विरत हो गये ।"[५] इससे स्पष्ट है कि इस संग्राममठ का निर्माण संग्रामराज के नाम पर उसकी रानी श्रीलेखा ने किया

---

१. विक्रमां० १८।२४

२. नीलमत, ९७६-१००८, व्यूलर रिपोर्ट, पृ० १० और स्टायन, जि० २, पृ० ४२३-१

३. क्रमश: राज ४।४००, ४।४७४,६।११४ (९४९ ई०) ७।३५५ (१००३ ई०)

४. मठद्वयं तत: कृत्वा स्वस्य भर्तु: सुतस्य च ।
तस्थौ व्ययवती राज्ञी राज्यद्रोहोद्यतानिशम् ।। ७।१४२ ।। राज०

५. श्रीसंग्राममठाभ्यर्णमन्दिरस्था नृपे स्वयम् ।
संक्रान्ते प्रांगणं युद्धात्कल्याणाद्या व्यरंसिषु: ।। ८।६०९ (राज०)

था । संग्रामराज का कथन था कि धन अन्याय से उपलब्ध हुआ है, इसीलिए उसने एक प्रपा तक की स्थापना नहीं की थी ।[१] अत: संग्राममठ का निर्माता वह स्वयं नहीं हो सकता ।

बिल्हण ने प्रवरपुर में स्थित भवनों से सुभटा निर्मित शंकर या सदाशिव मन्दिर के निकट अत्यन्त ऊंचा, आकर्षक गंजधाम का उल्लेख किया है, जहां नगर कन्याएं कपोतों के कूजन की अनुकृति में दक्ष हो जाती हैं ।[२] सदाशिव मन्दिर वर्तमान सुदरमर के सामने वितस्ता के बायें तट पर स्थित था ।[३] अत: यह गुंजधाम भी उसी के पास कहीं रहा होगा ।

सुभटा ने विद्वानों के उपभोग के लिए अनेक भाण्डागार बनवाये थे[४]। आज भी भारत में साधुओं का `भण्डारा` होता है जो कभी एक ही धनी करवा

---

१. राज० ७।१२२

२. यत्रानन्तक्षितिपगृहिणीशंकरागारपार्श्वे
तद्गुंगिनाम्ना त्रिभुवनमनोरंजनं गंजधाम ।
श्रुत्वा श्रुत्वा रुतमविरतं यत्र पारावतानां
दक्षा:कण्ठध्वनिषु शनकै: पौरकन्या भवन्ति ।। विक्रमा० १८।२६
राज० ४।५८६, २६६, ७।५७०, ४।२६६,५८६,७।१२५,१२६,५७० आदि उल्लेखों से `गंज` कोष का पर्याय प्रतीत होता है —स्टायन , जि० १, पृ० २७७, टि० १२५-२६, और राज० ५।१७७ में गंजवर `कोषाध्यक्ष` के लिए प्रयुक्त हुआ है, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में सुभटा के शंकर मन्दिर के साथ गंजधाम का उल्लेख है । अत: यहां उसका अर्थ `गोशाला` (मो०विलियम्स , पृ० ३४२) अधिक संगत है । श्री भारद्वाज (विक्रमा० जि० ३, पृ० १६८) ने उसका अर्थ अन्नागार किया है, जो असंभव है । सुभटा के भाण्डागार का उल्लेख अन्यत्र आया है । (१८।४५) ।

३. स्टायन, जि० १, पृ० २८३, टि० १८६-७

४. विक्रमा० १८।४५ ।

देता है अथवा अनेक लोगों के सम्मिलित चन्दे से किया जाता है। बिल्हण के विवरण से प्रतीत होता है कि ये भाण्डागार (अन्नागार) विविध स्थानों पर रहे होंगे, जहां विद्वानों को बिना मूल्य अन्न दिया जाता रहा होगा।

उपसंहार—

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि विक्रमांकदेवचरित ने जहां ऐतिहासिक तथ्यों के साथ पर्याप्त न्याय किया है, वहां वह तद्कालीन भारत के सांस्कृतिक तथ्यों को भी भली भांति अभिव्यक्त कर सका है।

सहायक ग्रन्थानुक्रमणिका

वेद, पुराण, उपनिषद —

१. अथर्ववेद संहिता — एस०पी० पंडित, बम्बई १८९५-८

२. ऐतरेय ब्राह्मण — आनन्दाश्रम प्रेस

३. ऋग्वेद संहिता — मैक्स म्यूलर, आक्सफोर्ड, १८९०-२

४. निरुक्त

५. नीलमतपुराण — दी ब्रीज, लीडन, १९३६ ई०

६. न्याय भाष्य

७. छान्दोग्योपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर

८. पद्मपुराण

९. ब्रह्मवैवर्त पुराण — गीता प्रेस

१०. भागवतपुराण — गीता प्रेस

११. मत्स्य पुराण — रामप्रताप शास्त्री कृत अनुवाद हि०सा०स०, प्रयाग

१२. महाभारत, विष्णु सुकुथंकर, १९४२ ई०

१३. रामायण — टी०आर०कृष्णामाचार्य, नि०सा०प्रेस, बम्बई १९०५ ई०

१४. बृहद्धर्मपुराण

१५. वायु पुराण — आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि ; ४९, १९०५ ई०

१६. विष्णु पुराण (अंग्रेजी अनुवाद), विल्सन, कृत, पुन्थी पुस्तक माला, कलकत्ता, १९६१, गीता प्रेस का संस्कृत संस्करण

१७. विष्णुधर्मोत्तर पुराण — वैंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

१८. शबर भाष्य

१९. स्कन्द पुराण — कलकत्ता, ६ भागों में

२०. हरिवंश पुराण — [illegible], प्रकाशन, पूना, १९३९ अनुवाद, मन्मथनाथ दत्त कृत कलकत्ता, १८९७ ई०

धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, कला —

१. अर्थशास्त्र — कौटिल्य, शामा शास्त्री

२. अश्वशास्त्र — नकुलकृत, तंजौर सरस्वती महल सीरीज़

३. अपरा- [illegible]

४. आश्वालायन गृह्यसूत्र

५. कथासरित्सागर — सोमदेव, दुर्गाप्रसाद और परैब, नि०सा०प्रैस, बम्बई १९३१
एच० ब्रौकहॉस ३ भाग लीज़िंग, १९३९-६६

६. कामसूत्र — वात्स्यायन, नि०सा०प्रैस, बम्बई १९००संबत्

७. कामन्दकीय नीतिसार

८. कौशिकसूत्र

९. कृत्यकल्पतरु - कै०पी० रंगस्वामी ऐयांगर की भूमिका सहित

१०. गौतम धर्म सूत्र

११. गृहस्थरत्नाकर — बिब्लौथिका इंडिका, कलकत्ता

१२. दानसागर — बल्लालसेन भबतोश भट्टाचार्य

१३. दीघनिकायपोट्ठपादसुक्त

१४. प्रपंच हृदय — टी०गणपति शास्त्री त्रिवैन्द्रम सीरीज

१५. प्रबन्धचिन्तामणि — मैरुतुंग, सिंधी जैन ग्रन्थमाला १, १९३३ ई० जिन, विजयमुनि संपादित और सी०एच० टानी कृत अंग्रेजी अनुवाद तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी अनुवाद।

१६. पाराशर गृह्यसूत्र

१७. मनुस्मृति

१८. मानसोल्लास — सोमेश्वरकृत — श्री गजानन श्रिंगौंदेकर, बड़ौदा सीरीज़, नं० २८, ८४ और मैसूर विश्व विद्यालय सं० सीरीज, नं० ६९

१९. माधवनिदान — चौखम्बा सीरीज, १५८, १९६०

२०. माध्यमिक कारिका — लैनिनग्राड संस्करण

२१. मानसार — डा० आचार्य, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रैस

२२. मिलिन्द प्रश्न — महाबोधि सोसायटी, सारनाथ वाराणसी

२३. याज्ञवल्क्य स्मृति — नि०सा०प्रैस, बम्बई (समिताक्षरा) १९४९ ई०

२४. राजनीति रत्नाकर

२५. वशिष्ठ धर्मसूत्र

२६. विष्णु स्मृति

२७. बौधायन धर्मसूत्र

२८. शुक्रनीतिसार—अनु० विनयकुमार-सरकार, पाणिनि आफिस (मूल कलकत्ता संस्करण) भुवनेश्वरीआश्रम, बहादुरगंज, प्रयाग १६१४ ई०

२६. संस्कार प्रकाश (वीरमित्रोदय)वाराणसी

३० समरांगणसूत्रधार —शास्त्री, सेन्ट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा, १६२४ ई०

३१. सुश्रुत उत्तर तंत्र—चौखम्बा सीरीज़, १६५६

३२. हरिहरचतुरंग—गोदावर मिश्र कृत, संपा० रामनाथ शास्त्री, मै० गवर्नमेन्ट ओरियन्टल सीरीज, नं० १७,१६५०

काव्य—

१. अच्युतरायाभ्युदय—श्याम भट्ट भारद्वाज कृत संपादित व अनुदित श्री विश्वनाथ शास्त्री, भारद्वाज,अ०भा०सं० विद्यापीठ,दिल्ली,१६६६

२. कर्णसुन्दरी—दुर्गाप्रसाद व परब, नि०सा० प्रे० १८८८ ई०

३. कवीन्द्रवचनसमुच्चय--एफ० डब्ल्यू० थामस

४. कादम्बरी—साहित्य भंडार मेरठ,१६६४

५. कुमारपालचरित या द्वयाश्रय काव्य —हेमचन्द्र कृत (संस्कृत १-२० सर्ग)

६. कुट्टनीमतम् —बम्बई,१६२४ और इंडोलाजिकल बुक हाउस,वाराणसी,१६६१

७. क्षेमेन्द्रलघुकाव्य संग्रह —संस्कृत परिषद् ग्रन्थावली, ७,१६६१ ई० ,हैदराबाद संपा० डा० आर्येन्द्र शर्मा

८. गउडवहो—वाक्पतिराज, एस०पी० पंडित, २ रा संस्करण, भ०ओ०रि०, इंस्टीट्यूट, पूना, १६२७

६. चौरपंचाशिका—सोल्फ, १८८६ई०

१०. जैन राजतरंगिणी — श्रीवर कलकत्ता, १८३५

११. द्वितीय राजतरंगिणी —जोनराज कलकत्ता, १८३५ और पीटर्सन ,बम्बई , १८६६ ई०

१२.नवसाहसांकचरित—श्री बी०एस० इस्लामपुरकर,, बम्बई संस्कृत सीरीज़, १८६५ ई० और हिन्दी अनुवाद सहित, श्री जितेन्द्रचन्द्र भारतीय चौ० भ० सीरीज़,वाराणसी, १६६३

१३. पृथ्वीराज विजय—जयानक, जौनराज टीका सहित, वैल्वेल्कर, कलकत्ता, १९१४-२२
१४. पृथ्वीराज विजय—जयानक, ~~जौनराज, टीका सहित~~ अनु० श्यामसुन्दरदास, १९०४
१५. प्रबोधचन्द्रोदय—गोप व दीक्षितवर कृत टीका युक्त, बम्बई १८९८ ई०
१६. बुद्धचरित, अश्वघोष कृत चौखम्बा, सीरीज़।
१७. मालविकाग्निमित्र—कालिदास, आर०डी० करमरकर, पूना
१८. मृच्छकटिक —शूद्रक, वाराणसी
१९. यशस्तिलकचम्पू —~~सोमेर~~ सोमदेवसूरिकृत, महावीर जैन ग्रन्थमाला, २, वारा०१९६०
२०. रत्नावली नाटिका —श्री हर्षवर्धन, चौखम्बा सीरीज़
२१. रघुवंश, कालिदास, चौखम्बा सीरीज़
२२. राजतरंगिणी कल्हण कृत —स्टायन, संपादित, १९६१, अनुवाद दो भाग, १९६२, मोतीलाल बनारसीदास, अनुवाद आर०एस०पंडित, इलाहाबाद, १९३५ ई०
२३. रामचरित—सन्धाकरनन्दी कृत, मजूमदार, बसाक, बैनर्जी, राजशाही, १९३९
२४. वसंतविलास—बालचन्द्रसूरि-सी०डी० दलाल, बड़ौदा सीरीज़, १९१७
२५. विक्रमांकदेव चरित —बिल्हण कृत
    —श्री० व्यूलर, बं०सं०, सीरीज़, बम्बई, १८७५ ई०
    —श्री रामावतार शर्मा, बनारस, १९२७ ई०
    —श्री मुरारीलाल नागर, बनारस, १९४५ ई०
    —श्री [illegible] शास्त्री भारद्वाज, बनारस हिन्दू विश्वविद्या०, ३ भागों में, १९५८, १९६२, १९६४ ई०
२६. विक्रमांकाभ्युदय—सोमेश्वर कृत-नागर संपादित बड़ौदा सीरीज, नं० १५०, १९६६ई०
२७. शिशुपालवध—माघ, वही सीरीज, ८, १९५५ ई०
२८. श्रीकण्ठचरित—मंखक कृत, काव्यमाला, ३ जोन राजटीका, समेत, संपा०-दुर्गाप्रसाद, २ रा संस्करण, नि०सा०प्रेस
२९. सदुक्तिकर्णामृत—सुरेश चन्द्र बनर्जी, फर्मा के०एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९६५
३०. सार्गंधरपद्धति—पीटर्सन, १८८८ बम्बई
३१. सुभाषितावलि —वल्लभदेव कृत, पीटर्सन १८८६, बम्बई
३२. सूक्तिमुक्तावलि—जल्हण कृत, बड़ौदा, १९३८
३३. हर्षचरित —बाण कृत, जीवानन्द (संस्करण) कलकत्ता, १८७६, काणे, बम्बई, १९१८, थामस कावेल कृत अनुवाद, लंदन, १८९७ ई०

काव्यशास्त्र -

१. अग्निपुराण

२. काव्यमीमांसा—राजशेखर, वि०रा०परिषद्, पटना, १९५४ ई०, बड़ौदा सीरीज़

३. काव्यादर्श—दण्डी- चौखम्बा संस्करण ।

४. काव्यानुशासन- हेमचन्द्र

५. काव्यालंकार—भामह

६. काव्यालंकार—रुद्रट-कृत रामदेव शुक्ल, चौखम्बा ग्रन्थ, १३६, १९६६ ई०

७. काव्यप्रकाश-मम्मट, झलकीकर, टीका सहित ।

८. दशरूपक सावलोक—धनंजय कृत, भोलाशंकर व्यास कृत भाष्य सहित

९. ध्वन्यालोक-(सलोचन) आनन्दवर्धन कृत , काशी, संस्कृत सी०, १३५, चौ०, १९४०

१०. नाट्यशास्त्र- भरत कृत, डा० रघुवंश, मोतीलाल बनारसीदास, १९६४

११. वक्रोक्ति जीवित, कुन्तक, एस०के० डे ,कलकत्ता, आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली,
राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा, वाराणसी ।

१२. सरस्वतीकंठाभरण —भोज, काव्यमाला, १९३४

१३. साहित्यदर्पण —विमला टीका ,शालिग्राम शास्त्री कृत, लखनऊ ।

१४. प्रतापरुद्रयशोभूषण

कोश —

१. अमरकोश, झलकीकर, संपादित, पूना १८९०

२. मेदिनी कोश

३. वाचस्पत्यम्

४. शब्दार्थ कल्पद्रुम

५. संस्कृत अंग्रेजी कोश —बी०एस० आप्टे, १९६६ मोतीलाल बनारसीदास

६. ,, ,, ,, मोनियर विलियम्स

आधुनिक विद्वानों के ग्रन्थ —

१. अलबेरूनीज़ इंडिया- २भाग, ई०सखउ० द्वारा अनूदित ।

२. अर्ली हिस्ट्री आफ डेक्कन, रा०गो०भन्डारकर, १९५७ ,पूना ।

३. अर्ली हिस्ट्री आफ दी डेक्कन, २ भाग - जी याज़दानी, लंदन, १९६०

४. अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ काश्मीर—डा०सु०च०रे०,कलकत्ता, १६५७
५. अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ कामरूप —के०एल० बरुआ
६. अर्ली हिस्ट्री आफ एन्शैन्ट इंडिया - वि० स्मिथ, आक्सफोर्ड .
७. ए शार्ट हिस्ट्री आफ सीलोन —एच० डब्ल्यू कार्ड्रिंगटन, १६२६ ई० .
८. एन्शैन्ट इंडिया (एण्ड साउथ इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, के० कृष्णास्वामी ऐयान्गार,मद्रास ।
६. ए शार्ट हिस्ट्री आफ साउथ इंडिया- मद्रास, १६५८,श्रीनीलकण्ठ शास्त्री ।
१०. एनल्स एण्ड एन्टीक्विटी आफ राजस्थान, कर्नल टाड कृत, आक्सफोर्ड,१६२०
११. एन०एसे० आन दी हिन्दू हिस्ट्री आफ कश्मीर —विल्सन ।
१२. एन्शैन्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन्स, एफ०ई०,पार्जीटर,लंदन,१६२२
१३. एन्शैन्ट हिस्टोरियन्स आफ इंडिया (स्टडी आफ हिस्टारिकल बायोग्राफीज़) डा० विश्वम्भर शरण पाठक, एशिया पब्लि०हा०,१६६६
१४. एन्टीक्विटी आफ दी चम्बा स्टेट —जे०पी० एच० वोगल,१६११
१५. एन्शैन्ट मानूमैन्ट्स आफ कश्मीर, लंदन,१६३३ , रामचन्द्र काक कृत
१६. कदम्बकुल—जी०एम० मोरेज़, बम्बई, १६३१
१७. काशी का इतिहास— डा० म[illegible],बम्बई ४,१६६२
१८. कामरूपशासनावली—पद्मनाभ भट्टाचार्य
१६. कास्ट एण्ड क्लासेज़ इन इंडिया, १६५० न्यूयार्क, जी०एस० घुर्ये ।
२०. क्रोनालाजी आफ एन्शैन्ट इंडिया —एम०एन० प्रधान, कलकत्ता,१६२७
२१. क्वायन्स आफ मिडीवियल इंडिया, कनिंघम ।
२२. क्लासिकल अकाउन्ट्स, डा० र०च० मजूमदार,कलकत्ता ।
२३. चन्देलों का राजत्वकाल—केशवचन्द्र मिश्र, ना०प्र०सभा, काशी,विक्रमा०२०११
२४. चौलुक्याज आफ गुजरात—डा० अशोककुमार मजूमदार, भारती विद्या स्टडी,५६
२५. जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी, हि०सा०सम्मेलन,प्रयाग ।
२६. ज्याग्रफी आफ पुराणाज़—एस०एम० अली,१६६६,दिल्ली ।
२७. ज्याग्रफिकल डिक्शनरी आफ एन्शैन्ट एण्ड मिडीवियल इंडिया,नन्दलाल डे
२८. ज्याग्रफी आफ एन्शैन्ट एण्ड मिडीवियल इंडिया- डा०डी०सी०सरकार,१६६०
२६. टाउन प्लैनिंग इन एन्शैन्ट डैक्कन —अय्यर ।

३० . ट्रैवेल्स आफ मार्कोपोलो, जि० १, सरहैनरी यूल,लंदन, १६०३

३१ . डायनैस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, २ भाग, हेमचन्द्र रै, कलकत्ता,१६३१

३२ . डानैस्टीज़ आफ कनारीज़ डिस्ट्रिक्ट्स (बाम्बेगजेटियर्स जि० १,ख० २) जे०एफ० फ्लीट,१८६६

३३ . डिक्शनरी आफ हिन्दू आर्किटेक्चर- डा० प्रसन्नकुमार आचार्य; आक्सफोर्ड, यूनीवर्सिटी प्रैस ।

३४ . दी चौलज़ —नीलकण्ठ शास्त्री मद्रास,१६३३-५, और १६५५

३५ . दी पाण्ड्यन किंगडम—नीलकण्ठ शास्त्री, १६२६,लंदन

३६ . दी हौयसलज़- जे०डी० एम०डिरेट,१६५७

३७ . दी राष्ट्रकूटज़ एण्ड देअर टाइम्स- अ०स०अल्तेकर,१६३४ ई०

३८ . दी महामण्डलेश्वरज़ अण्डर दी चालुक्याज़ आफ कल्याणी—दिनकर देसाई, इण्डियन हिस्टारिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट,बम्बई, १६५१

३६ . दी इकोनामिक लाइफ आफ नार्दर्न इंडिया (६००-१२००) डा० लल्लन जी गोपाल,मोतीलाल बना०,१६६५

४० . दी आर्ट आफ वार इन एन्शैन्ट इंडिया—गोविन्द त्र्यम्बक डाटे,आक्सफोर्ड,१६२६

४१ . दी हैह्याज़ आफ त्रिपुरी एण्ड देअर मानूमेन्ट्स—आर०डी० बनर्जी ।

४२ . दी अर्ली रूलर्स आफ खजुराहो —शिशिरकुमार मित्र, कलकत्ता, १६५८

४३ . दी ईस्टर्न चालुक्याज —डी०सी० गांगुली ।

४४ . ध्वनिसिद्धान्त और उसकी आलोचनाएं —श्री सुरेशचन्द्र पाण्डेय, १६६४ (इलाहाबाद विश्व विद्यालय का अप्रकाशित शोधप्रबन्ध)

४५ . नया मध्यप्रदेश (एक परिचय) —सूचना विभाग, मध्यप्रदेश,नवम्बर,१६५६

४६ . पुराण विमर्श—डा० बल्देव उपाध्याय,चौखम्बा,१६६५

४७ . पौलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शैन्ट इंडिया—डा० हेमचन्द्र रायचौधरी,कलकत्ता

४८ . प्राचीन भारत में सांग्रामिकता—रामदीन पाण्डेय,बि०रा०परिषद्, पटना ,

४६ . प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन- डा० उदयनारायण राय,हिन्दुस्तानी एकेडेमी,इलाहाबाद,१६६५

५० . प्राचीन भारत का भौगौलिक स्वरूप—डा० अवधविहारी लाल अवस्थी,प्रथम संस्क० लखनऊ ।

५१. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल- भरतसिंह उपाध्याय, हि०सा०सम्मेलन, प्रयाग, २०१८वि०

५२. भारतभूमि और उसके निवासी - जयचन्द्र विद्यालंकार, दूसरा संस्करण

५३. भारतवर्ष का बृहत् इतिहास, जि० १, श्री भगवद्दत्त लाहौर ।

५४. महाभारत में नारी —डा० वनमाला भवालकर, अभिनव साहित्य प्रका०, सागर

५५. मानसोल्लास- एक अध्ययन — डा० शिवशेखर मिश्र, विद्याभवन ग्रेन्थ०६६, १९६६

५६. माहिष्मती और त्रिपुरी के कलचुरि—रामनारायण शर्मा (जबलपुर विश्व०वि०
(अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, १९६६)

५७. राजा भोज—विश्वेश्वरनाथ रेऊ, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग १९३२

५८. लाइफ आफ ह्वेनसांग, लंदन १९११, एस०बील द्वारा, अनूदित

५९. वैदिक इन्डेक्स, २ भाग, कीथ ।

६०. वार इन एन्शेन्ट इंडिया—वी०आर०आर० दीक्षितार, मैक्मिलियन एण्ड कं०, १९४८.

६१. ~~वार इन एन्शेन्ट इंडिया—वी०आर०आर०, १९४८~~

६२. श्री शंकराचार्य—डा० बल्देव उपाध्याय, हिन्दु एके०, प्रयाग, १९५६ ई०

६३. श्री विष्णुधर्मोत्तर में मूर्तिकला—श्री बद्रीनाथ मालवीय, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद

६४. सी-यु-कि-बुद्धिस्ट रिकार्ड आफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड- २ भाग, लंदन, १८८३, एस०
बील द्वारा अनूदित

६५. सक्सेसर्स आफ दी सातवाहनाज़ —डा० डी०सी० सरकार

६६. सोलंकियों की प्राचीन इतिहास —गौरीशंकर हीराचन्द, ओझा, अजमेर

६७. सोर्सेज आफ मिडीवियल हिस्ट्री आफ दी डेक्कन, भाग १, जी०एच०खरे ।

६८. सोसियो इकोनामिक हिस्ट्री आफ नादर्न इंडिया (१०३०-११९४ ई०)भक्त
प्रसाद मजूमदार, फर्मा के०एल०मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९६०

६९. सोसल लाइफ इन एन्शेन्ट इंडिया- स्टडीज इन वात्स्यायनज कामसूत्र—एच०
सी० चाकलदार, ग्रेटर, इंडिया सोसायटी, कलकत्ता, १९२९

७०. स्ट्रगल फार एम्पायर— भारतीय विद्या०सीरीज, बम्बई, १९५७

७१. हर्षचरित- एक सांस्कृतिक अध्ययन, वि०रा० परिषद् पटना, डा० वासुदेवशरण
अग्रवाल ।

७२. हर्ष एण्ड हिज टाइम्स —डा० बैजनाथ शर्मा १९६५ (जबलपुर विश्वविद्यालय,
शोध प्रबन्ध—अप्रकाशित) ।

७३. हिस्ट्री आफ परमारडायनेस्टी—डीसी० गांगुली,ढाका,१९३३
७४. हिस्ट्री आफ कन्नौज—डा०र०श०त्रिपाठी, १९५९,बनारस
७५. हिस्ट्री आफ गाहड़वालाज़—रमा नियोगी,कलकत्ता,१९५९
७६. हिस्ट्री आफ तुलुव (एन्शैन्ट कर्णाटक,भाग १)—भास्कर आनन्द सालातौर, १९३६,पूना
७७. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र,५ भाग - काणे ।
७८. हिस्ट्री आफ मिडीवियल इंडिया—डा० ईश्वरीप्रसाद,दूसरा संस्करण ।
७९. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास प्रथम भाग(हिन्दी साहित्य की पीठिका) संपा० डा० राजबली पाण्डेय,ना०प्र०सभा,काशी,२०१४ वि०.
८०. हिस्ट्री आफ चन्देलाज़ —एनएस० बोस,१९५६ ,कलकत्ता
८१. हिस्ट्री आफ हिन्दू मिडीवियल इंडिया,३ भाग , पूना ।
८२. हिस्ट्री आफ सिविलाइजेशन एण्ड पीपुल आफ आसाम-प्रतापचन्द्र चौधरी, गौहाटी,१९५९
८३. हिन्दू संस्कार- डा० राजबली पाण्डेय , चौखम्बासीरीज,वाराणसी,१९६६
८४. हिस्टोरियन्स आफ इंडिया पाकिस्तान एण्ड सीलोन—संपा० सी०एच० फिलिप्स,लंदन, १९६१
८५. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर जि० १, दासगुप्त और डे, कलकत्ता वि०वि०,४७६०
८६. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर- कीथ,आक्सफोर्ड,१९५३
८७. हिस्ट्री आफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर-एम० कृष्णमाचारियर,मद्रास,१९३७
८८. हिस्ट्री आफ एन्शैन्ट लिटरेचर,इलाहाबाद, १९२६ ई० (मैक्समूलर कृत)
८९. हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर,२ भाग- विन्टरनित्ज़ , श्रीमती कैतकर द्वारा अनूदित,कलकत्ता, १९२७,१९३३
९०. हिस्ट्री आफ इंडिया, ऐज़ टौल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स,२ भाग, लन्दन-इलियट एण्ड डाउसन
९१. हिस्टारिकल ज्याग्रफी आफ इंडिया- कनिंघम ।
९२. हिस्टारिकल ज्याग्रफी—विमलचन्द्र ला ।
९३. हैंडबुक आफ आर्कैलाजिकल एण्ड न्यूमिस्मैटिक सैक्सन्स आफ श्री प्रतापसिंह म्यूजियम श्रीनगर,कलकत्ता,१९२३

अभिलेख—

१. इंस्क्रिप्शन्स आफ बंगाल, जि० ३, एन०जी० मजूमदार, राजशाही, प्रका०, १९२९ ई०

२. कामरूप शासनावली (बंगाली में) रंगपुर १९३१, पद्मनाथ भट्टाचार्य

३. कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इन्डीकेरम् भाग ३, (फ्लीट द्वारा संपादित) भाग ४ (ख०१,२) वा०वि० मीराशी, ओटकमण्ड, १९५५

४. गौडलेखमाला, जि० १—ए०के०मैत्रेय, कलकत्ता ।

५. प्राचीन लेखमाला—काव्यमाला, ६४, १८९७ ई०

६. बाम्बे कर्णाटिक इंस्क्रिप्शन्स जि० १,२, मद्रास, १९४०, १९४३

७. भवनगर इंस्क्रिप्शन्स

८. लिस्ट आफ इंन्स्क्रिप्शन्स इन दी सेन्ट्रल प्राविंशिज़ एण्ड बेरार, राय हीरालाल, नागपुर १९१६, १९३२

९. साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शन्स जि० १२, खण्ड २, लक्ष्मी नारायण राव

१०. साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शन्स, भाग ५—एच०कृष्णा शास्त्री, और ई० हुश मद्रास, १८७०- १९२६

११. सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स , जि० १, डी०सी०सरकार, कलकत्ता , विश्वविद्यालय, १९४२

१२. सोर्सेज आफ कर्णाटि हिस्ट्री १, श्री कण्ठ शास्त्री, १९४० ई०

१३. हिस्टारिकल इंस्क्रिप्शन्स आफ सदर्न इंडिया, सीवेल एण्ड ऐयान्गर, मद्रास, १९३२

पत्रिकाएं —

१. एनुअल रिपोर्ट आफ मैसूर एपीग्रैफी

२. एनुअल रिपोर्ट आफ साउथ इंडियन एपीग्रैफी

३. एनुअल रिपोर्ट आफ मैसूर आर्केलाजिकल डिपार्टमेन्ट

४. एनुअल रिपोर्ट आफ आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया

५. एपीग्राफिका इण्डिका, ओटकमण्ड

६. एपीग्राफिया कर्णाटिका

७. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता

८. इंडियन कल्चर, कलकत्ता

९. इंडियन एन्टीक्वैरी बम्बई

१०. कल्याण, गीताप्रेस, गोरखपुर
११. जर्नल आफ बाम्बे ब्रान्च आफ रायल एशियाटिक सोसायटी
१२. जर्नल आफ दी इंडियन सोसायटी आफ इंडियन आर्ट
१३. जर्नल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी
१४. जर्नल आफ आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी
१५. जर्नल आफ यू०पी० हिस्टारिकल सोसायटी, लखनऊ
१६. जर्नल आफ डिपार्टमैन्ट आफ लैटर्स, कलकत्ता
१७. जर्नल आफ दी इंडियन हिस्ट्री, त्रिवेन्द्रम
१८. डिस्ट्रक्ट गजेटियर्स
१९. बुलेटिन आफ एन्शैन्ट इंडियन हिस्ट्री एण्ड आर्कैलाजी, सागर
२०. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी
२१. यूनीवर्सिटी आफ इलाहाबाद स्टडीज
२२. हैदराबाद आर्कैलाजिकल सीरीज
२३. हिन्दुस्तानी, इलाहाबाद ।